जैन धर्म में दान

एक समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

सम्पादक

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय पुष्प : ८८

राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन समारोह
के उपलक्ष्य मे प्रकाशित

- जैनधर्म में दान एक समीक्षात्मक अध्ययन

- लेखक
  उपाध्याय श्री पुष्करमुनि

- भूमिका
  श्री विजयमुनि शास्त्री

- सम्पादक
  श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
  श्रीचन्द सुराना 'सरस'

- पृष्ठ सख्या ५९६

- प्रथमावृत्ति
  वि० स० २०३४, आश्विन शुक्ला चतुर्दशी
  अक्टूबर १९७७

- मुद्रक
  श्रीचन्द सुराना के लिए
  दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

- अभिनन्दन समारोह के उपलक्ष्य मे प्राप्त सहयोग से रियायती मूल्य
  मात्र बीस रुपये
  Rs. 20/ Only

प्रकाशक की ओर से

अपने विचारशील पाठको के पाणि-पद्मो मे "जैन धर्म मे दान एक समीक्षात्मक अध्ययन" प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

'दान' दो अक्षरो का बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है जो हृदय को विराट् बनाता है, मन को विशाल बनाता है और जीवन को निर्मल बनाता है। भारतीय धर्म-दर्शन, और सस्कृति मे दान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। दान धर्म का प्रवेश द्वार है। बिना दान दिये धर्म मे प्रवेश नही हो सकता। दान से आत्मा का अन्धकार नष्ट होता है। अन्तर के अन्धकार को नष्ट करने के लिए दान सूर्य के समान है। कलियुग मे दान से बढकर धर्म नहीं है। एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है—They who scatter with one hand, gather with two, Nothing multiplies so much as kindness अर्थात् जो एक हाथ से बाँटता है वह दोनो हाथो से प्राप्त कर लेता है, दया-दान की तरह वृद्धि पाने वाली अन्य वस्तु नहीं है। विश्व मे दान के सदृश अन्य कोई वस्तु नही है जिसका गुणाकार होता हो। एक अन्य विचारक ने भी कहा है—The hand that gives, gathers अर्थात् जो अपने हाथ से दान देता है वह इकट्ठा करता है। अत दान का गहरा महत्त्व है।

परमश्रद्धेय उपाध्याय अध्यात्मयोगी प्रसिद्धवक्ता श्री पुष्कर मुनि जी महाराज वर्तमान युग के एक प्रसिद्ध विचारक सन्त हैं। ध्यानयोग तथा साधना के क्षेत्र मे उनकी विशिष्ट उपलब्धि है। वे गम्भीर विद्वान्, गहन आत्मज्ञानी, ओजस्वी वक्ता, प्रखर कवि, विशिष्ट चिन्तक और सुलेखक हैं। आपश्री की प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर है। जब किसी भी विषय पर आप बोलते हैं तो श्रोता आपके अमृतोपम वचनो को सुनते हुए कभी भी थकावट या व्यग्रता का अनुभव नही करते। गम्भीर से गम्भीर विषय को इतना सुन्दर, सरस, सरल और मधुर बनाकर प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता झूम उठते हैं।

धर्म का कल्पवृक्ष, श्रावक धर्मदर्शन, सस्कृति के स्वर, रामराज्य, मिणखपणा रो मोल, ओकार एक अनुचिन्तन आदि आपश्री के प्रवचनो की अनूठी पुस्तकें हैं जिनमे विविध विषयो का सागोपाग विवेचन है। उनका सम्पादन श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री द्वारा हुआ है जो सोने मे सुगन्ध की कहावत चरितार्थ करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आपश्री के द्वारा समय-समय पर किये गये दान सम्बन्धी प्रवचनो का सकलन, आकलन और सम्पादन है। जहाँ एक ओर गम्भीर विश्लेषण है

वहाँ दूसरी ओर रूपक, दृष्टान्त आदि के द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक प्रवचन मे आपश्री की गम्भीर विद्वत्ता झलक रही है। दान के सम्बन्ध मे बहुत प्रचलित भ्रांतियाँ और अज्ञानमूलक धारणाओ का निरसन किया है। और दान के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचार भी रखे हैं जो नयी पीढी के विचारशील युवको के लिए पठनीय और मननीय है। दान के सम्बन्ध मे आज तक जो कुछ लिखा गया सक्षिप्त ही था, किन्तु दान के सम्बन्ध मे सर्वांगीण दृष्टिकोण से आज तक लिखने का प्रयत्न नही हुआ। वस्तुत यह अपने विषय का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—यदि यह कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक हैं देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री जो गुरुदेव श्री के प्रधान अन्तेवासी हैं। और दूसरे सम्पादक हैं श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' जो सम्पादन कला मे दक्ष हैं। इन सम्पादको ने तो इन प्रवचनो का विस्तारपूर्ण सम्पादन कर इसे एक शोध-प्रबन्ध का ही रूप दे दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन मे स्नेहमूर्ति मुनि श्री नेमिचन्द्र जी का भी हार्दिक सहयोग मिला है।

प्रसिद्ध विचारक सन्त श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखकर ग्रन्थ की गरिमा मे वृद्धि की है, हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे हमे जिन दानी महानुभावो का आर्थिक सहयोग सम्प्राप्त हुआ है, उसे भी हम विस्मृत नही हो सकते जिसके कारण ग्रन्थ शीघ्र मुद्रित हो सका है। हम उन सभी का हार्दिक आभार मानते हैं जिसके कारण ग्रन्थ प्रकाश मे आ सका।

पूज्य गुरुदेव श्री की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहले अवसर पर श्री तारक गुरु ग्रन्थालय ने महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठ ग्रन्थो का प्रकाशन कर अपने श्रद्धा के सुमन प्रस्तुत किये हैं। उसी लडी की कडी मे प्रस्तुत ग्रन्थरत्न भी हैं। इस सुनहरे अवसर पर गुरुदेव श्री की कथाएँ, काव्य, निबन्ध और प्रवचन साहित्य का प्रकाशन करना हमारा सलक्ष्य है। और हमे आह्लाद है कि हम अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ रहे हैं। जैन कथाओ के तीस भाग, ज्योतिर्धर जैनाचार्य, विमल विभूतियाँ, जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा, शूली और सिंहासन, सोना और सुगन्ध, जम्बूस्वामी, ऋषभदेव एक परिशीलन, अमर ज्योति आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। तथा अन्य अनेक ग्रन्थ प्रेस मे हैं जो शीघ्र ही प्रकाशित होगे।

आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थरत्न का सर्वत्र स्वागत होगा—इसी आशा और विश्वास के साथ यह ग्रन्थरत्न समर्पित कर रहे हैं।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

सम्पादकीय

भगवान महावीर का प्रथम समवसरण मध्यमपावापुरी मे हुआ। भारतवर्ष के दिग्गज वैदिक विद्वान इन्द्रभूति गौतम विजिगीषु बनकर समवसरण मे आये। जैसे-जैसे वे प्रभु के निकट आये विनम्र होते गये। श्रमण भगवान महावीर ने गौतम के अन्तर् मन मे छुपे सन्देह का निराकरण करते हुए कहा—'गौतम ! जीव के अस्तित्व के विषय मे क्या तुम अभी भी सन्देहशील हो ? जबकि तुम्हारे अधीत वेद व उपनिषद् के वाक्य स्पष्ट ही उसका अस्तित्व घोषित करते हैं।' उदाहरण देकर महावीर ने बताया—'उपनिषद् के एक प्रसग मे कहा है—देव-असुर-मनुष्यो ने मिलकर एक बार ब्रह्मा से पूछा—हमे कर्तव्य-ज्ञान दीजिए। हम क्या करें ?"

ब्रह्मा ने 'द' 'द' 'द' की ध्वनि की देवताओ ने इसका आशय समझा 'इन्द्रिय-दमन' करो। असुरो ने इसका अर्थ लगाया—जीवो पर 'दया' करो। मनुष्यो को बोध प्राप्त हुआ—'दान' करो (बाटकर खाओ)।

"गौतम ! दमन, दया और दान—कौन करेगा ? अगर जीव (आत्मा) न होगा।" प्रसग लम्बा है, अन्त मे प्रबुद्ध गौतम महावीर के शिष्य बन गये।

इस प्रस्तावना के बाद हम कहना चाहते हैं कि मनुष्यो के लिए 'दान' का उपदेश सृष्टि का सर्वप्रथम उपदेश माना गया है। 'दान' मनुष्य के सहअस्तित्व, सामाजिकता और अन्तर् मानवीय सम्बन्धो का मूल घटक है। कही वह 'सविभाग', कही 'सम-विभाग' कही त्याग, और कही 'सेवा' के रूप मे प्रकट होता है। 'दान' इसलिए नही दिया जाता कि इससे व्यक्ति बडा बनता है, प्रतिष्ठा पाता है, या उसके अहकार की तृप्ति होती है, अथवा परलोक मे स्वर्ग, अप्सराएँ तथा समृद्धि मिलती है। किन्तु 'दान' मे आत्मा की करुणा, स्नेह, सेवा, बधुत्व जैसी पवित्र भावनाएँ लहराती है, दान से मनुष्य की मनुष्यता तृप्त होती है, देवत्व की जागृति होती है और ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति जगती है।

यह कहना कि 'दान' का महत्व भारतवर्ष मे ही अधिक है, गलत होगा। ससार के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय अथवा धार्मिक आस्था से रहित समाज मे भी दान की परम्परा है, रही है और इसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता मानी जाती है। हाँ, चूंकि भारतीय मनीषा प्रारम्भ से ही चिन्तनशील व वैज्ञानिक रही है, अत वह किसी भी वस्तु को धर्म मानकर उसका अन्धानुकरण नही करती, अपितु उस पर दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से भी विचार करती है। उसके स्वरूप प्रक्रिया, विधि, देश-कालानुसार उपयोगिता, गुण-दोष आदि समस्त पहलुओ पर चिन्तन कर धर्म-अधर्म का

निर्णय करने मे भारतीय चिन्तक विश्व मे सदा अग्रणी रहे हैं। 'दान' जैसे जीवन और जगत् से अटूट सम्बन्ध रखने वाले विषय पर भी भारतीय विचारको ने और खासकर जैन मनीषियो ने व्यापक चिन्तन किया है, तर्क-वितर्क कर उसमें गुत्थियाँ पैदा भी की हैं और उन्हें सुलझाई भी है।

'दान' को अमृत और मुक्ति का प्रथम सोपान कहने वाले जैन आचार्यों ने 'दान' के सम्बन्ध मे जो चिन्तन प्रस्तुत किया है, जो बहुमुखी विचार-चर्चाएँ की हैं वह भारतीय विचार साहित्य की अद्वितीय निधि कही जा सकती है। वैसे तो अनेकातवादी जैन मनीषियो का यह जन्मसिद्ध विचार है—"अनेकधर्मात्मक वस्तु" वस्तु, पदार्थ के अनेक पहलू होते हैं, तब फिर यह सहज ही है कि वे प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओ पर विचार करें, उसे अनेक दृष्टिकोणो से परखें, पहचानें और गहराई तक जाकर उसकी छानबीन कर सभी स्वरूपो का विवेचन करें—एक निष्ठावान वैज्ञानिक की भाँति।

उपाध्याय अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जैन धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् महान चिन्तक हैं। जैन समाज आपश्री के शील-स्वभाव और गम्भीर विद्वत्ता से भलीभाँति परिचित हैं। आपश्री अपने युग के सुप्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक और तत्त्वचिन्तक हैं। आपश्री जब किसी भी विषय पर बोलते हैं या लिखते हैं तो साधिकार लिखते हैं, उस विषय के अन्तस्तल तक पहुँचते हैं, और अन्तस्तल तक पहुँचकर अपनी प्रखर प्रतिभा से देखते हैं कि इसमे तर्कसगत कितना तथ्य है और तर्कहीन कितना। तर्कहीन की उपेक्षा कर तर्कसगत सत्य और तथ्यो को अभिव्यक्ति देते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे गुरुदेवश्री के द्वारा समय-समय पर दिये गये दान सम्बन्धी प्रवचनो का सकलन है। और कुछ उनके निबन्ध तथा दान के सम्बन्ध मे लिखे गये उनकी डायरियो के नोट्स के आधार पर विवेचन तैयार किया गया है। इस प्रकार दान सम्बन्धी सम्पूर्ण विचारधारा जो सद्गुरुदेवश्री की थी, उसका आकलन इसमे किया गया है। सद्गुरुदेवश्री के विचारो को व उनके गम्भीर चिन्तन को व्यवस्थित रूप देना हमारा कार्य रहा है। इस सम्पादन कार्य मे पण्डित प्रवर स्नेह सौजन्यमूर्ति मुनिश्री नेमिचन्द्र जी म० का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ है। अत हम उन्हे भी साधुवाद प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मे दान के विविध लाभ, उसकी गौरव गरिमा आदि विषयो पर विचार किया गया है। जैन एव जैनेतर विचारको ने दान की महिमा पर भरपूर लिखा है। उन्होने विविध लाभो पर चिन्तन करते हुए पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय हितो पर भी विचार करते हुए यह बताया है कि दान सम्पूर्ण मानव जाति का आधारभूत तत्त्व है। मानव का ही नही, पशु-पक्षियो का भी वह जीवन तत्त्व है। दान के बिना उनकी जीवन गति ही अवरुद्ध

हो जाती है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा—दान देना ही आमदनी का एकमात्र द्वार है। पाश्चात्य चिन्तक विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—ज्यो-ज्यो धन की थैली दान मे खाली होती है दिल भरता जाता है—As the purse is emptied the heart is filled अत Give without a Thought. "कुछ भी विचार किये बिना देते जाओ।" प्रार्थना मन्दिर मे जाकर प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोडने के बजाय एक बार दान के लिए हाथ ऊपर उठाना अधिक महत्त्वपूर्ण है

द्वितीय खण्ड मे दान की परिभाषा और उसके भेदोपभेद पर विचार किया गया है। भगवान महावीर से लेकर वर्तमान तक दान की जितनी महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ की गयी हैं उन पर व्यापक दृष्टि से चिन्तन-मनन प्रस्तुत किया गया है और उनके गम्भीर रहस्यो को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। दान के भेद-प्रभेद के सम्बन्ध मे भी जैनाचार्यों ने विशेष कर दिगम्बराचार्यों ने बहुत ही विस्तारपूर्वक चर्चाएँ की हैं। आचार्य जिनसेन, आचार्य अमितगति, आचार्य वसुनन्दि आदि ने इस विषय पर विस्तृत चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहाँ पर सद्गुरुवर्य ने दोनो ही परम्पराओ के आचार्यों का चिन्तन प्रस्तुत किया है, जिससे पाठक अपनी-अपनी दृष्टि से उन पर सोच सकें।

तृतीय खण्ड मे पात्र, विधि और द्रव्य—दान के तीन महत्त्वपूर्ण अगो पर विविध दृष्टि बिन्दुओ को सामने रखकर चर्चा की गयी है। दान का सम्पूर्ण दर्शन इन तीन ही तत्त्वो पर टिका हुआ है। और इस विषय मे परम्परागत विचार भेद भी कई हैं। सद्गुरुदेव का प्रयत्न यह रहा है, साम्प्रदायिक भेदो को महत्त्व न देकर शास्त्रीय व व्यावहारिक दृष्टि से उस पर चिन्तन किया जाय। सिर्फ व्यक्ति-विशेष तक दान को सीमित न रखकर सम्पूर्ण प्राणि जगत् के लिए इस अमृत (दानामृत) का उपयोग होना चाहिए।

दान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर गुरुदेव श्री का तैयार किया हुआ प्रस्तुत विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुरुदेव श्री के प्रवचन तथा विवेचन की शब्द सज्जा व काट-छाँट आदि का दायित्व हमे सौपा गया, यह उनका आत्मीय स्नेह तथा सद्भाव है जो हमारी प्रसन्नता का विषय है। हम अपने दायित्व को निभाने मे कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय प्रबुद्ध पाठको के हाथ मे है। यदि शास्त्रीय दृष्टि से कही पर स्खलना, वैचारिक भूल या कही पर अपूर्णता रही हो तो पाठक स्नेह सद्भावना के साथ हमे सूचित करें ताकि भूल का परिष्कार किया जा सके।

गुरुदेव श्री का अन्य प्रवचन साहित्य भी हम शीघ्र ही सम्पादित कर प्रस्तुत करेंगे जिससे पाठक गुरुदेव श्री के विराट् व विमल विचारो से परिचित हो सके।

दिनाक २१-१०-७७
विजया-दशमी

—देवेन्द्रमुनि
—श्रीचन्द सुराना

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन मे अर्थ सहयोगी

स्व० श्रीमान हस्तीमल राका तथा स्व० श्री वशराज जी राका

की पुण्य स्मृति मे

द्वारा—मोहन प्लास्टिक्स

१०, ओ० के० रोड, बेंगलोर-५६०००२
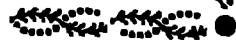
धर्मप्रेमी सुश्रावक गुरुभक्त स्व० श्रीमान हस्तीमलजी गाका

(गढसिवाना)
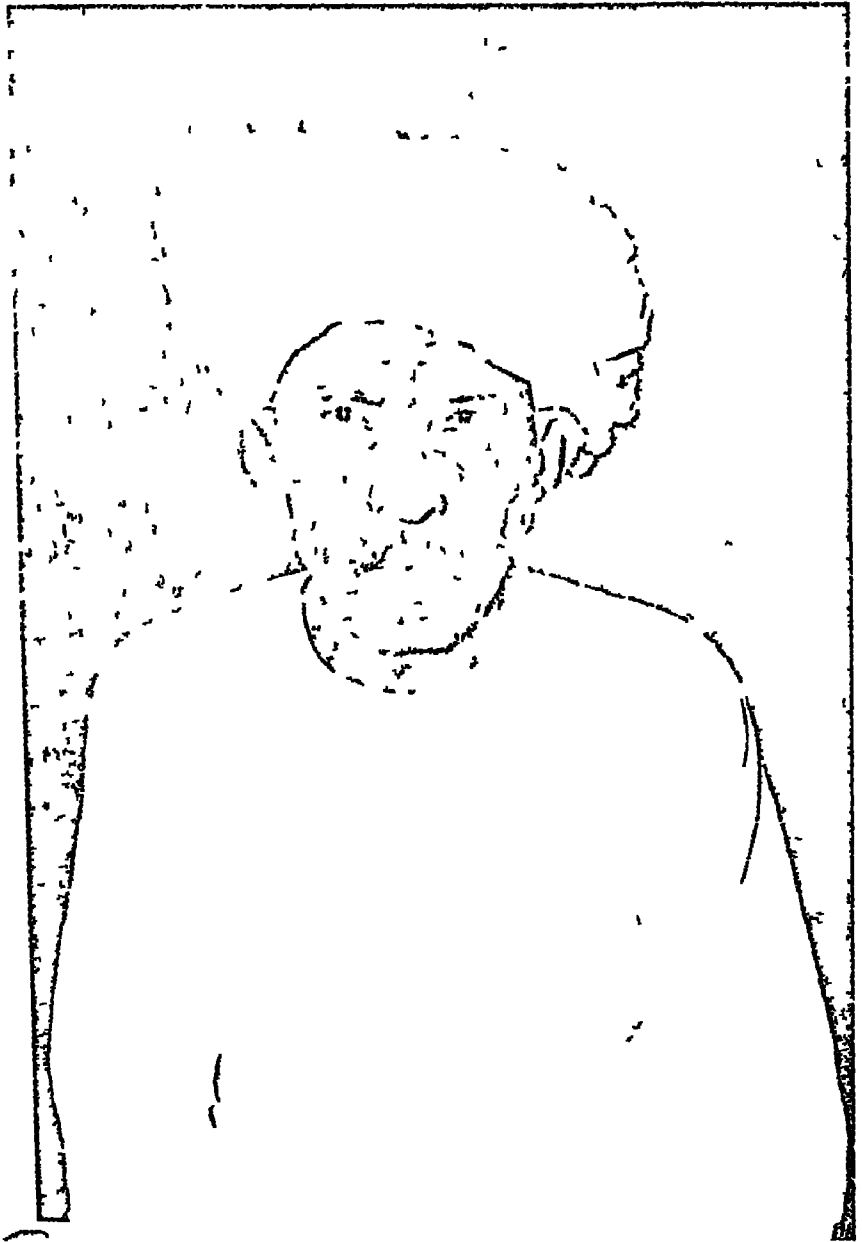
धर्मप्रेमी सुश्रावक स्व० श्रीमान वशराज जी राका
(गढ़सिवाना)

प्रस्तुत ग्रन्थ के उदार अर्थ सहयोगी

श्रीमान् घिसुलाल जी साहब रांका

एक परिचय

जिमका जीवन अगरवत्ती की तरह सुगन्धित, मोमवत्ती की तग्ह प्रकाशित और मिश्री की तरह मधुर है। वही जीवन भारतीय मम्कृति मे आदरणीय और स्मरणीय माना गया है।

श्रीमान धर्मप्रेमी सुश्रावक सेठ घिसुलाल जी साहव राका का जीवन इसीप्रकार का जीवन है। युवक होने पर भी आपश्री के मन मे धर्म के प्रति गहरी निष्ठा है। आप राजस्थान मे गढसिवाना के निवामी है। आपके पूज्य पिताश्री का नाम श्रीमान हस्तीमल जी साहव था। जो वहुत ही समझदार, विवेकशील, धर्मप्रेमी श्रावक थे। आपकी पूजनीया मातेश्वरी का नाम खमाबाई है, जो स्वभाव से सरल, प्रकृति से भद्र, उदार हृदयी और धर्मानुरागिणी है। आपके लघु भ्राता का नाम मोहनलाल जी है। आपश्री के तीन पुत्र है—सुरेश-कुमार, राजेन्द्रकुमार और सजयकुमार तथा मोहनलाल जी के एक पुत्र है अरविन्दकुमार। आप दोनो ही भाइयो मे राम-लक्ष्मण की तरह प्रेम है।

श्रीमान हस्तीमल जी साहव के ज्येष्ठ भ्राता श्रीमान हजारी-मल जी साहव थे और उनके सुपुत्र मुल्तानमल जी साहव थे। जो स्वभाव से सरल, भद्र व धर्मनिष्ठ थे। जिन्होने वल्लारी के जैन स्थानक के भव्य भवन के निर्माण हेतु अत्यधिक श्रम किया था अनेक वाधाओ के वावजूद भी आपने अन्त मे स्थानक का कार्य पूर्ण करवाया।

श्रीमान हस्तीमल जी साहव के लघु भ्राता वशराज जी साहव थे। वे भी धर्मनिष्ठ और गुरुभक्त थे। उनके सुपुत्र वावूलाल जी

है। वाबूलाल जी के—अशोककुमार, प्रवीणकुमार और विनयकुमार ये तीन पुत्र है। श्रीमान घिसुलाल जी, वाबूलाल जी और मोहनलाल जी तीनो भाइयो मे धर्म के प्रति अत्यधिक आस्था है। आप राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्करमुनि जी महाराज के परम भक्तो मे से है आप तीनो का व्यवसाय सम्मिलित रूप से है।

आपका व्यवसाय कर्णाटक मे पहले वल्लारी मे "हजारीमल हस्तीमल एण्ड सन्स" के नाम से था। आपने वहा पर प्रामाणिकता के साथ व्यापार कर जन-मानस का आदर प्राप्त किया। सम्प्रति बैंगलोर मे—

मोहन प्लास्टिक्स, १०, ओ० के रोड,
बेंगलोर-५६०००२

के नाम से आपका व्यवसाय है।

सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और सास्कृतिक कार्यो के लिए आप उदारता के साथ समय-समय पर दान प्रदान करते रहते है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे आपका स्नेहपूर्ण आर्थिक सहयोग सप्राप्त हुआ है। जिसके कारण ग्रन्थ का मुद्रण शीघ्रता से सम्भव हो सका है। भविष्य मे भी आपका सहयोग सदा मिलता रहेगा, इसी मगल आशा के साथ।

—चुन्नीलाल धर्मावत
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल
उदयपुर (राजस्थान)

— ——

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में दान की महिमा

—विजय मुनि, शास्त्री

भारत के समस्त धर्मों मे, इस तथ्य मे किसी भी प्रकार का विवाद नही है, कि 'दान' एक महान् धर्म है। दान की व्याख्या अलग हो सकती है, दान की परिभाषा विभिन्न हो सकती हैं, और दान के भेद-प्रभेद भी विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु 'दान' एक प्रशस्त धर्म है' इस सत्य मे जरा भी अन्तर नही है। दान धर्म, उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी मानव-जाति है। मानव-जाति मे, दान कब से प्रारम्भ हुआ ? इसका उत्तर सरल न होगा। परन्तु यह सत्य है, कि दान का पूर्व रूप सहयोग ही रहा होगा। सकट के अवसर पर मनुष्यो ने एक-दूसरे को पहले सहयोग देना ही सीखा होगा। सहअस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग आवश्यक भी था। सहयोग के अभाव मे समाज मे सुदृढता तथा स्थिरता कैसे आ पाती ? समाज मे सभी प्रकार के मनुष्य होते थे—दुर्बल भी और सबल भी। अशक्त मनुष्य अपने जीवन को कैसे धारण कर सकता है ? जीवन धारण करने के लिए भी शक्ति की आवश्यकता है। शक्तिमान् मनुष्य ही अपने जीवन को सुचारू रूप से चला सकता था, और वह दुर्वल साथी को सहयोग भी कर सकता था। यह 'सहयोग' समानता के आधार पर किया जाता था, और बिना किसी प्रकार की शर्त के किया जाता था। न तो सहयोग देने वाले मे अहभाव होता था, और न सहयोग पाने वाले मे दैन्य भाव होता था। भगवान महावीर ने अपनी भाषा मे, परस्पर के इस सहयोग को 'सविभाग' कहा था। सविभाग का अर्थ है—सम्यक् रूप से विभाजन करना। जो कुछ तुम्हे उपलब्ध हुआ है, वह सब तुम्हारा अपना ही नही है, तुम्हारे साथी का तथा तुम्हारे पडौसी का भी उसमे सहभाव तथा सहयोग रहा हुआ है। महावीर के इस 'सविभाग' मे न अहका भाव है, और न दीनता भाव। इसमे एकमात्र समत्व भाव ही विद्यमान है। लेने वाले के मन मे जरा भी ग्लानि नही है, क्योकि वह अपना ही हक ग्रहण कर रहा है, और देने वाला भी यही समझ रहा है, कि मैं यह देकर कोई उपकार नही कर रहा हूँ। लेने वाला मेरा अपना ही भाई है, कोई दूसरा नही है। तो, यह सविभाग शब्द अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

वाद मे आया 'दान' शब्द। इसमे न 'सहयोग' की सहृदयता है, और न सविभाग की व्यापकता एव दार्शनिकता ही है। आज के युग मे 'दान' शब्द काफी वदनाम हो चुका है। देने वाला दाता देता है, अहकार मे भरकर और लेने वाला

ग्रहीता लेता है, सिर नीचा करके। देने वाला अपने को उपकारी मानता है और लेने वाला अपने को उपकृत। लेने वाला बाध्य होकर लेता है, और देने वाला भी दवाव से ही देता है। आज के समाज की स्थिति ही इस प्रकार की हो गई है, कि लेना भी पडता है, और देना भी पडता है। न लेने वाला प्रसन्न है, और न देने वाला ही। यही कारण है, कि 'दान' शब्द से पूर्व कुछ विशेषण जोड दिए गए हैं—"करुणा दान, अनुकम्पादान एव कीर्तिदान आदि।"

'दान' शब्द का अर्थ है—देना। क्या देना ? किसको देना ? क्यो देना ? इसका कोई अर्थ-बोध दान शब्द से नही निकल पाता। शायद, इन्ही समस्याओ के समाधान के लिए 'दान' शब्द को युग-युगान्तर मे परिभाषित करना पड़ा है। परन्तु कोई भी परिभाषा 'दान' शब्द को बाँधने मे समर्थ नही हो सकी। 'दान' शब्द के सम्बन्ध मे भेद-प्रभेद होते ही रहे हैं, मत-मतान्तर चलते ही रहे हैं, वाद-विवाद बढते ही रहे हैं। धर्म के भवन मे, मतवाद की जो भयकर आग एक बार भभक उठती है, वह कभी भी बुझ नही पाती।

दान की मान्यता पर मतभेद

दान की मान्यता के सम्बन्ध मे, जो मतवाद की आग कभी प्रज्वलित हुई थी, उसके तीन विस्फोटक परिणाम सामने आए—(१) दान पुण्य का कारण है, (२) दान पाप का कारण है और (३) दान धर्म का कारण है। जो लोग दान को शुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पुण्य होगा और पुण्य से सुख। जो दान को अशुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पाप होगा, पाप से दु ख। शुभ उपयोग पुण्य का हेतु है और अशुभ उपयोग पाप का। पुण्य और पाप—दोनो आस्रव हैं, ससार के कारण हैं। उनसे कभी धर्म नही हो सकता। धर्म है, सवर। धर्म है, निर्जरा। सवर और निर्जरा—दोनो ही मोक्ष के हेतु हैं, ससार के विपरीत, मोक्ष के कारण हैं। तब, दान से ससार ही मिला, मोक्ष नही। दान का फल मोक्ष कैसे हो सकता है ? इस मान्यता के अनुसार दान, दया, व्रत और उपवास आदि पुण्य बन्ध के ही कारण हैं। क्योकि ये सब शुभ भाव हैं।

इसके विपरीत एक दूसरी मान्यता भी रही है, जिसके अनुसार दान भी और दया भी—दोनो पाप के कारण हैं। पाप के कारण तभी हो सकते हैं, जबकि दोनो को अशुभ भाव माना जाए। अत उनका तर्क है, कि दया सावद्य होती है। जो सावद्य है, वह अशुभ होगा ही। जो अशुभ है, वह निश्चय ही पाप का कारण है। दान के सम्बन्ध मे, उनका कथन विभज्यवाद पर आश्रित है। उन लोगो का तर्क है, कि दान दो प्रकार का हो सकता है—सयतदान और असयतदान। साधु को दिया गया दान, धर्म दान है। अतएव उसका फल मोक्ष है। क्योकि साधु को देने से निर्जरा होती है, और निर्जरा का फल मोक्ष ही हो सकता है, अन्य कुछ नही। परन्तु असयत दान, अधर्म दान है। उसका फल पाप है। पाप, कभी शान्ति का कारण नही हो सकता। यह पापवाद की मान्यता है।

पुण्यवाद और पापवाद के अतिरिक्त, एक धर्मवाद की मान्यता भी रही है। इसके अनुसार दान भी धर्म है, और दया भी धर्म है। दान, यदि पाप का कारण होता, तो तीर्थंकर दीक्षा से पूर्व वर्षीदान क्यो करते? दान परम्परा की स्थापना न करके निषेध ही करते। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरो ने दान दिया था। उन लोगो का तर्क यह है, कि दान की क्रिया ममता और परिग्रह को कम करती है। ममता और परिग्रह का अभाव ही तो धर्म है। जितना दिया, उतनी ममता कम हुई, और जितना दिया, उतना परिग्रह भी कम ही हुआ है। अत दान से धर्म होता है। ममता और परिग्रह को कम करने से तथा उसका अभाव करने से, दान धर्म ही हो सकता है, पाप कभी नही। यह धर्मवादी मान्यता है।

पुण्यवाद, पापवाद और धर्मवाद की गूढ ग्रन्थियो को सुलझाने का समय-समय पर प्रयास हुआ है, परन्तु कोई भी मान्यता जब रूढ हो जाती है, तब वह मिट नही पाती। किसी भी मान्यता को मिटाने का प्रयास भी स्तुत्य नही कहा जा सकता। मानव-जाति के विचार के विकास की वह भी एक कडी है, उसकी अपनी उपयोगिता है, अपना एक महत्त्व है।

भारत के वैदिक षड्दर्शनो मे एक मीमासा दर्शन ही पुण्यवादी दर्शन कहा जा सकता है। उसकी मान्यता है कि यज्ञ से पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है, स्वर्ग मे सुख है। पुण्य क्षीण होने पर फिर ससार है। मोक्ष की स्थिति मे उसे जरा भी रुचि नही है। यज्ञ से, तप से, जप से और दान से पुण्य होता है, यह इसी मीमासा दर्शन की मान्यता रही है। यज्ञ नही करोगे, तो पाप होगा और यज्ञ करोगे, तो पुण्य होगा। पाप और पुण्य की मीमासा करना ही, मीमासा दर्शन का प्रधान ध्येय रहा है। दान पर सबसे अधिक बल भी इसी दर्शन ने दिया है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण को दान देने से सबसे बडा पुण्य होता है। श्रमण परम्परा के दोनो सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध, कहते हैं कि ब्राह्मण को दिया गया दान, पुण्य का कारण नही है। वह पाप दान है, वह धर्म दान नही हो सकता। मीमासा-दर्शन भी जैन श्रमणो को और बौद्ध भिक्षुओ को दिये गये दान को पाप का कारण मानता है, धर्म का नही। इस प्रकार की मान्यताओ ने दान की पवित्रता को नष्ट कर डाला। अपनी मान्यताओ मे आवद्ध कर दिया। अपनो को देना धर्म, और दूसरो को देना पाप, इसी का परिणाम है।

वेद-विरोधी दर्शनो मे एक चार्वाक दर्शन ही यह कहता है, कि न पुण्य और न पाप। न दान करने से पुण्य होता है, और नही करने से न पाप होता है। पाप और पुण्य—यह लुब्धक लोगो की परिकल्पना है, अन्य कुछ नही। न पाप है, न पुण्य है, न लोक है, और न परलोक है। जो कुछ है, यही है, अभी है, आज ही है, कल कुछ भी नही। उसकी इस मान्यता के कारण ही चार्वाक दर्शन मे दान पर कुछ मीमासा नही हो सकी। दान पर विचार का अवसर ही वहाँ पर उपलब्ध नही है। वर्तमान भोग ही वहाँ जीवन है।

वैदिक षडदर्शनो मे दान-मीमांसा

वेदगत परम्परा के षड्दर्शनो मे साख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन ज्ञान-प्रधान रहे हैं। दोनो मे ज्ञान को अत्यन्त महत्त्व मिला है। वहाँ आचार को गौण स्थान मिला है। साख्य भेदविज्ञान से मोक्ष मानता है। प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान ही साधना का मुख्य तत्त्व माना गया है। वहाँ प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्त्वो का ही विश्लेषण किया गया है। इन दोनो का सयोग ही ससार है, इन दोनो का वियोग ही मोक्ष है। प्रकृति मोक्ष-शून्य है, तो पुरुष कर्तृत्व-शून्य है। इस दर्शन मे कही पर भी आचार को महत्त्व नही मिला। करना कुछ भी नही है, जो कुछ है, जानना है और समझना है। आचार पक्ष की गौणता होने के कारण 'दान' की मीमासा नही हो सकी। दान का सम्बन्ध करने से है, आचार से है क्रिया और कर्म से सम्बद्ध माना गया है।

वेदान्त दर्शन की स्थिति भी यही रही है। कुछ मौलिक भेद अवश्य है। साख्य द्वैतवादी है, तो वेदान्त अद्वैतवादी रहा है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। यदि कुछ भी प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या ही है। 'अह ब्रह्मास्मि' इस भावना से समग्र बन्धन परिसमाप्त हो जाते हैं। वस्तुत बन्धन है ही कहाँ? उसकी तो प्रतीति मात्र हो रही है। अपने को प्रकृति और जीव न समझकर, एकमात्र ब्रह्म समझना ही विमुक्ति है। इस दर्शन मे भी ज्ञान की प्रधानता होने से आकार की गौणता ही है। शम तथा दम आदि कुछ साधनो की चर्चा अवश्य की गई है, परन्तु वे साधना के अनिवार्य अग नही हैं। यही कारण है कि वेदान्तदर्शन मे भी दान की मीमासा नही हो पाई। दान का सम्बन्ध चारित्र से है, और उसकी वहाँ गौणता है।

न्यायदर्शन मे तथा वैशेषिकदर्शन मे, पदार्थ-ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है। वैशेषिकदर्शन मे सप्त पदार्थों का तथा न्यायदर्शन मे षोडश पदार्थों का अधिगम ही मुख्य माना गया है। न्याय-शास्त्र मे तो पदार्थ भी गौण है, मुख्य है, प्रमाणो की मीमासा। वैशेषिक की पदार्थ-मीमासा और न्याय की प्रमाण-मीमासा प्रसिद्ध है। साधना अथवा आचार का वहाँ कुछ भी स्थान नही है। फिर दान की मीमासा को वहाँ स्थान मिलता भी कैसे? अत. वहाँ पर दान का कोई विशेष महत्त्व नहीं कहा जा सकता। उसका कोई दार्शनिक आधार नही है। न्यायदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए समग्र शक्ति लगा दी, और वैशेषिक ने परमाणु को सिद्ध करने के लिए। जीवन की व्याख्या वहाँ नही हो पाई।

योगदर्शन ज्ञान-प्रधान न होकर क्रिया-प्रधान अवश्य है। आचार का वहाँ विशेष महत्त्व माना गया है। मनुष्य के चित्त की वृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसकी साधना का मुख्य लक्ष्य है—समाधि की सम्प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को साधन के

नही कहा जा सकता। 'धम्मपद' मे भी दान के सम्बन्ध मे बुद्ध ने बहुत सुन्दर कहा है—"धर्म का दान, सब दानो से बढकर है। धर्म का रस, सब रसो से श्रेष्ठ है।" धर्म-विमुख मनुष्य को धर्मपथ पर लगा देना भी एक दान ही है।

बौद्ध परम्परा मे अनेक व्यक्तियो ने सघ को दान दिया था। अनाथपिण्ड ने जेतवन का दान बौद्ध सघ को दिया था। राजगृह मे, वेणुवन भी दान मे ही मिला है। वैशाली में, आम्रपाली ने अपना उपवन बुद्ध को दान मे दे दिया था। सम्राट् अशोक ने भी हजारो विहार बौद्ध भिक्षुओ के आवास के लिए दान मे दे डाले थे। बौद्ध परम्परा का इतिहास दान की महिमा से और दान की गरिमा से भरा पडा है। बौद्ध धर्म मे दान को एक महान् सत्कर्म माना गया है। यह एक महान् धर्म है। यही कारण है, कि इस धर्म मे दान को बहुत बडा महत्त्व मिला है।

जैन परम्परा मे भी दान को एक सत्कर्म माना गया है। जैन धर्म न एकान्त क्रियावादी है, न एकान्त ज्ञानवादी है और न एकान्त श्रद्धावादी ही है। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—इन तीनो के समन्वय से ही मोक्ष की सप्राप्ति होती है। फिर भी जैन धर्म को आचार-प्रधान कहा जा सकता है। ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ मे उसका आचरण नही है, तो जीवन का उत्थान नही हो सकता। जैन परम्परा मे, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा गया है। दान का सम्बन्ध चारित्र से ही माना गया है। आहारदान, औषधदान और अभयदान आदि अनेक प्रकार के दानो का वर्णन विविध ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। भगवान महावीर ने 'सूत्रकृताग' सूत्र मे अभयदान को सबसे श्रेष्ठ दान कहा है—"अभयदान ही सर्व-श्रेष्ठ दान है।" दूसरो के प्राणो की रक्षा ही अभयदान है। आज की भाषा मे इसे ही जीवन दान कहा गया है। दान के सम्बन्ध मे, महावीर ने, 'स्थानाग सूत्र' मे कहा है—"मेघ चार प्रकार के होते हैं—एक गर्जना करता है, पर वर्षा नही करता। दूसरा वर्षा करता है, पर गर्जना नही करता। तीसरा गर्जना भी करता है, और वर्षा भी करता है। चौथा न गर्जना करता है, और न वर्षा करता है।" मेघ के समान मनुष्य भी चार प्रकार के हैं—कुछ बोलते हैं, देते नही। कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नही। कुछ बोलते भी हैं, और देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं, न देते ही हैं। महावीर के इस कथन से दान की महिमा एव गरिमा स्पष्ट हो जाती है। जैन परम्परा मे धर्म के चार अग स्वीकार किये हैं—दान, शील, तप एव भाव। इनमे दान ही मुख्य एव प्रथम है। "सुखविपाक सूत्र" मे दान का ही गौरव गाया गया है।

ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य मे दान-विचार

वेद-परम्परा के साहित्य मे भी दान की मीमासा पर्याप्त हुई है। मूल वेदो में भी यत्र-तत्र दान की महिमा है, उपनिषदो मे ज्ञान-साधना की प्रधानता होने से आचारो को गौण स्थान मिला है। परन्तु आचारमूलक ब्राह्मण साहित्य मे आरण्यक

भाव के आधार पर दान के परिणाम भी तीन प्रकार के बताए गये हैं। सत्त्वभाव से दिया गया दान दाता और पात्र दोनो के लिए हितकर है। रजोभाव से दिया गया दान, चित्त मे चचलता ही उत्पन्न करता है। तमोभाव से दिया गया दान, चित्त मे मूढता ही उत्पन्न करता है।

भगवान् महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दो का प्रयोग किया है—मुधादायी और मुधाजीवी। दान, वही श्रेष्ठ दान है, जिससे दाता का भी कल्याण हो, और ग्रहीता का भी कल्याण हो। दाता स्वार्थ रहित होकर दे, और पात्र भी स्वार्थ-शून्य होकर ग्रहण करे। भारतीय साहित्य मे इन दो शब्दो से सुन्दर शब्द, दान के सम्बन्ध में अन्यत्र उपलब्ध नही होते। दाता और ग्रहीता तथा दाता और पात्र—शब्दो मे वह गरिमा नही है, जो मुधादायी और मुधाजीवी मे है। 'मुधा' शब्द का अभिधेय अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ है—व्यर्थ। परन्तु लक्षणा के द्वारा इसका लक्ष्यार्थ होगा—स्वार्थ रहित। व्यञ्जना के द्वारा व्यग्यार्थ होगा—वह दान, जिसके देने से दाता के मन मे अहभाव न हो, और लेने वाले के मन मे दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है, यह दान ही वस्तुत मोक्ष का कारण है। न देने वाले को किसी प्रकार का भार और न लेने वाले को किसी प्रकार की ग्लानि। यह एक प्रकार का धर्मदान कहा जा सकता है। शास्त्रो मे जो दान की महिमा का कथन किया गया है, वह इसी प्रकार के दान का है। यह भव-बन्धन काटने वाला है। यह भव-परम्परा का अन्त करने वाला दान है।

रामायण-महाभारत में दान की महिमा

सस्कृत साहित्य के इतिहास मे, जिसे इतिहासविद् विद्वानो ने महाकाव्य काल कहा है, उसमे भी दान के सम्बन्ध मे उदात्त विचारो की झलक मिलती है। महाकाव्य काल के काव्यो मे सबसे महान् एव विशाल काव्य दो हैं—रामायण और महाभारत। अन्य महाकाव्यो के प्रेरणा स्रोत ये ही महाकाव्य हैं आचार्य आनन्द वर्धन ने अपने प्रसिद्ध काव्यशास्त्र ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' मे कहा है—'रामायण' महाकाव्य है, करुण रस उसका मुख्य रस है, अन्य रस, उसके अगभूत हैं। 'महाभारत' भी एक महाकाव्य है, शान्त रस, उसका प्रधान रस है। शान्त रस अगी है, और अन्य रस उसके अग हैं। कथित दोनो महाकाव्यो मे यथाप्रसग अनेक स्थानो पर दान के सम्बन्ध वर्णन उपलब्ध होते हैं। कुछ प्रसग तो अत्यन्त हृदयस्पर्शी कहे जा सकते हैं। 'रामायण' मे एक प्रसग है—राजा दशरथ अपनी रानी कैकेयी को राम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे समझा रहे हैं। राम के गुणो का वर्णन करते हुए दशरथ कह रहे हैं—"सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनो की सेवा—ये सब गुण राम मे निश्चित रूप से विद्यमान हैं।" यही राम का व्यक्तित्व है। इन गुणो मे दान की भी परिगणना की है। यह कथन 'अयोध्या काण्ड' मे किया गया है। दान से सर्वजन-प्रियता उपलब्ध होती है। राम अपने मित्रो के प्रति ही उदार नही थे, अपने विरुद्ध

आचरण करने वालो के प्रति भी उदार थे। उदार व्यक्ति मे ही दाता होने की क्षमता होती है। राम के दान गुण का रामायण मे अनेक स्थलो पर वर्णन प्राप्त होता है। एक प्रसंग पर राम ने कहा है, कि दान देना हो, तो मधुर वचन के साथ दो।

'महाभारत' मे विस्तार के साथ दान का वर्णन अनेक प्रसगो पर किया गया है। 'महाभारत' मे कर्ण, 'दानवीर' के रूप मे प्रसिद्ध है। अपने द्वार पर आने वाले किसी भी व्यक्ति को वह निराश नही लौटने देता। अपनी कितनी भी हानि हो, पर याचक को वह निराश नही लौटा सकता। धर्मराज युधिष्ठिर का भी जीवन अत्यन्त उदार वर्णित किया गया है। महाभारत मे एक प्रसग पर कहा गया है—"तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता, सर्वभूतो पर दया—सन्तो ने स्वर्ग के ये सात द्वार कहे हैं।" इस कथन मे भी दान की महिमा गाई गई है। एक अन्य प्रसग पर कहा गया है—"धन का फल दान और भोग है।" धन प्राप्त करके भी जिसने अपने जीवन मे न तो दान ही दिया और न उसका उपभोग ही किया है, उसका धन प्राप्त करना ही निष्फल कहा गया है। महाभारत मे युधिष्ठिर और नागराज के सवाद मे कहा गया है—"सत्य, दम, तप, दान, अहिंसा, धर्म-परायणता आदि सद्‌गुण ही मनुष्य की सिद्धि के हेतु हैं, उसकी जाति और कुल नही।" इस कथन से फलित होता है, कि दान आदि मनुष्य की महानता के मुख्य कारण रहे हैं। किसी जाति मे जन्म लेना और किसी कुल मे उत्पन्न होना, उसकी महानता के कारण नही हैं। इस प्रकार महाभारत मे स्थान-स्थान पर दान की गरिमा और दान की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। दान भव्यता का द्वार है, दान स्वर्ग का द्वार है, दान मोक्ष का द्वार है। दान से महान् अन्य कौन-सा धर्म होगा ? इन महाकाव्यो मे दान का वर्णन व्याख्या रूप मे ही नही, आख्यान रूप मे भी किया गया है। कथाओ के आधार पर दान का गौरव बताया गया है।

सस्कृत महाकाव्यो में दान पर विचार

सस्कृत साहित्य मे महाकाव्यो को दो विभागो मे विभक्त किया गया है—लघुत्रयी और बृहत्‌त्रयी। लघुत्रयी मे महाकवि कालिदास कृत तीन काव्यो की गणना की गई है—'रघुवश, 'कुमार सम्भव' और 'मेघदूत'। मेघदूत एक खण्ड काव्य है शृंगार प्रधान काव्य है। काव्यगत गुणो की दृष्टि से यह श्रेष्ठ काव्य माना गया है। उसमे दान की महिमा के प्रसग अत्यन्त विरल रहे हैं, फिर भी शून्यता नही रही। काव्य का नायक यक्ष अपने मित्र मेघ से कहता है—हे मित्र ! याचना करनी हो, तो महान् व्यक्ति से करो, भले ही निष्फल हो जाए, परन्तु नीच व्यक्ति से कभी कुछ न मांगो। भले ही वह सफल भी हो जाए।' इसमे कहा गया है कि महान् व्यक्ति से ही दान की मांग करो, हीन व्यक्ति से नही। इस कथन मे कालिदास ने दान का महान् रहस्य प्रकट कर दिया है।

'कुमार सम्भव' महाकाव्य मे महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती का वर्णन किया है। यथाप्रसग जीवन के अनेक रहस्यो के मर्म का प्रकाशन भी किया

है। शिव को कवि ने आशुतोष कहा है। शिव सबको वरदान देते है, किसी को भी अभिशाप नही। कवि ने अनेक स्थलो पर शिव की दान-वीरता का मधुर भाषा मे वर्णन किया है। शिव ने अपनी भोग साधना मे विघ्न डालने वाले कामदेव को जब तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया, तो उसकी पत्नी रति विलाप करती हुई, शिव के समक्ष उपस्थित होकर, अपने पति का पुन जीवन का वरदान मांगती है। रति के शोक से अभिभूत होकर शिव उसे जीवनदान का वरदान दे बैठते हैं। यह कवि की अलकृत भाषा है। परन्तु इस कथन से शिव की दान-शीलता का स्पष्ट चित्रण हो जाता है, यही अभीष्ट भी है।

कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवश' मे रघुवश के राजाओ का विस्तार से वर्णन किया है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम और लव-कुश आदि का कवि ने प्रस्तुत काव्य के अनेक सर्गों मे रघुवशीय राजाओ की दानशीलता का वर्णन किया है। एक स्थल पर कहा गया है—'जैसे मेघ पृथ्वी से पानी खीच कर, फिर वर्षा के रूप मे उसे वापिस लौटा देता है वैसे ही रघुवशीय राजा अपने प्रजाओ से कर लेकर, दान के रूप मे वापिस लौटा देते हैं।' रघुवश काव्य में ही एक दूसरा सुन्दर प्रसग है—'वरतन्तु का शिष्य कौत्स, अपने गुरु को दक्षिणा देने का सकल्प करता है। वह याचना करने के लिए राजा रघु के द्वार पर पहुँचा, पर पता लगा, कि राजा सर्वस्व का दान कर चुका है। निराश लौटने को तैयार, पर रघु लौटने नही देता। तीन दिनो तक रुक जाने की प्रार्थना करता है। राजा रघु उसकी इच्छा पूरी करके उसे गुरु के आश्रम मे भेजता है।' रघुवश महाकाव्य का यह प्रसग अत्यन्त सुन्दर हृदयस्पर्शी और मार्मिक बन पडी है। दान की गरिमा का और दान की महिमा का इससे सुन्दर चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है।

महाकवि कालिदास भारतीय सस्कृति के मधुर उद्गाता कवि हैं। अपने तीन नाटको मे—शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय मे—भी अनेक स्थलो पर दान के सुन्दर प्रसगो की चर्चा की हैं, कही सकेत देकर ही आगे बढ गये हैं। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्यो मे और नाटको मे दान के सम्बन्ध मे काफी कहा गया है। यहाँ पर अधिक विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही उल्लेख किया गया है।

सस्कृत महाकाव्यो मे बृहत्त्रयी मे तीन का समावेश होता है—किराताजुर्नीय, शिशुपालवध और नैषधचरित। महाकवि भारवि ने अपने काव्य 'किरातार्जुनीय, मे किरातरूपधारी और अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया है। शिव के वरदान का और उसकी दानशीलता का काव्यमय भव्य वर्णन किया है। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वध' मे अनेक स्थलो पर दान का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। माघ स्वय भी उदार एव दानी माने जाते रहे हैं। कोई भी याचक द्वार से खाली हाथ नही लौट पाता था। कवि का यह दान गुण उनके समस्त काव्य मे परिव्याप्त है। श्री हर्ष ने अपने प्रसिद्ध काव्य नैषध मे राजा नल और दमयन्ती का वर्णन किया है, जिसमे राजा नल की उदारता और दान-शीलता का भव्य वर्णन किया गया है।

संस्कृत के पुराण साहित्य में दान

संस्कृत के पुराण साहित्य मे, दान का विविध वर्णन विस्तार से किया गया है व्यास रचित अष्टादशपुराणो मे से एक भी पुराण इस प्रकार का नही है, जिसमे दान का वर्णन नही किया गया हो। दान के विषय मे उपदेश और कथाएँ भरी पडी हैं। रूपक तथा कथाओ के माध्यम से दान के सिद्धान्तो का सुन्दर वर्णन किया गया है। जैन-परम्परा के पुराणो मे—आदिपुराण, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि मे दान सम्बन्धी उपदेश तथा कथाएँ प्रचुर मात्रा मे आज भी उपलब्ध हैं, जिनमे विस्तार के साथ दान की महिमा वर्णित है। इसके अतिरिक्त धन्यचरित्र, शालिभद्रचरित्र तथा अन्य चरित्रो मे दान की महिमा, दान का फल और दान के लाभ बताए गए हैं। बौद्ध परम्परा के जातको मे दान सम्बन्धी कथाएँ विस्तार के साथ वर्णित हैं। बुद्ध के पूर्व-भवो का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है। बुद्ध ने अपने पूर्व भवो मे दान कैसे दिया और किसको दिया, कितना दिया और कब दिया आदि विषयो का उल्लेख जातक कथाओ मे विशदरूप मे किया गया है। जैन-परम्परा के आगमो की संस्कृत टीकाओ मे तथा प्राकृत टीकाओ मे तीर्थंकरो के पूर्वभवो का जो वर्णन उपलब्ध है, उसमे भी दान के विषय मे विस्तार से वर्णन मिलता है। आहार दान, पात्रदान, वस्त्रदान और औषध दान के सम्बन्ध मे कही पर कथाओ के आधार से तथा कही पर उपदेश के रूप मे दान की महिमा का उल्लेख बहुत ही विस्तार से हुआ है। इन दानो मे विशेष उल्लेख योग्य है—शास्त्र दान। हजारो श्रावक एव भक्त जन साधुओ को लिखित शास्त्रो का दान करते रहे हैं। अन्य दानो की अपेक्षा इस दान का विशेष महत्त्व माना जाता था। शिष्य दान का भी उल्लेख शास्त्रो मे आया है। पुराणो मे आश्रम दान, भूमिदान और अन्नदान का स्थान-स्थान पर उल्लेख उपलब्ध है। जैन-परम्परा के श्रमण, मुनि और तपस्वी आश्रम और भूमि को दान के रूप मे ग्रहण नही करते थे। रजत और सुवर्ण आदि का दान भी ये ग्रहण नही करते थे। परन्तु सन्यासी, तापस और बौद्ध भिक्षु इस प्रकार के दानो को सहर्ष स्वीकार करते रहे हैं, और दाताओ की खूब प्रशसा भी करते रहते थे।

संस्कृत-साहित्य के पुराणो मे भागवत पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है, उसमे कृष्ण जीवन पर बहुत लिखा गया है, साथ ही दान के विषय मे विस्तार से लिखा गया है। भागवत के दशम स्कन्ध के पञ्चम अध्याय मे, दान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है—"दान न करने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है, दरिद्र होने से वह पाप करने लगता है, पाप के प्रभाव से वह नरकगामी बन जाता है, और बार-बार दरिद्र तथा पापी होता रहता है।" दान न देने के कितने भयकर परिणाम भोगने पडते हैं। दान के अभाव मे, मनुष्य का कैसा एव कितना पतन हो जाता है। फिर उससे अगले ही श्लोक मे, दान के सद्भाव का वर्णन किया गया है—"सत्पात्र को

दान देने से मनुष्य धन सम्पन्न हो जाता है, धनवान होकर वह पुण्य का उपार्जन करता है, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गगामी बन जाता है, और फिर बार-बार धनवान और दाता बनता रहता है।" इसमे बताया गया है, कि दान का परिणाम कितना सुखद और कितना सुन्दर होता है। दान न करने से क्या हानि हो सकती है और दान करने से क्या लाभ हो सकता है ? गुण-दोषो का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है। अन्य पुराणो मे भी दान के सम्बन्ध मे यथाप्रसग काफी लिखा गया है। कही पर उपदेश के द्वारा, तो कही पर कथा के द्वारा दान की गरिमा तथा दान की महिमा का विशद निरूपण किया गया है। सत्पात्र को देने से पुण्य और अपात्र को देने से पाप होता है, इसका भी उल्लेख किया गया है। दाता की प्रशसा और अदाता की निन्दा भी की है।

संस्कृत के नीति काव्यो में दान की गरिमा

जैन-परम्परा के कथात्मक नीति ग्रन्थो मे दान का बहुत विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। महाकवि धनपाल द्वारा रचित 'तिलकमञ्जरी' मे जीवन से सम्बद्ध प्राय सभी विषयो का वर्णन सुन्दर और मधुर शैली मे तथा प्राञ्जल भाषा मे हुआ है। उसमे दान की महिमा का वर्णन अनेक स्थलो पर किया गया है। दान का फल क्या है। दान कैसे देना चाहिए। दान किसको देना चाहिए ? इन विषयो पर विस्तार से लिखा गया है। आचार्य सोमदेवसूरि कृत 'यशस्तिलकचम्पू' मे धार्मिक, सास्कृतिक तथा अध्यात्म भावो का बडा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है। सस्कृत साहित्य मे यह ग्रन्थ अद्वितीय एव अनुपम माना जाता है। मनुष्य जीवन से सम्बद्ध बहुविध सामग्री उसमे उपलब्ध होती है। साधु जीवन और गृहस्थ जीवन के सुन्दर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। भाव-भाषा और शैली सुन्दर ही है। उसमे यथाप्रसग अनेक स्थलो पर दान की महिमा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य ग्रन्थो मे, कथात्मक ग्रन्थो मे और चरित्रात्मक ग्रन्थो मे भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का कही पर सक्षेप मे और कही पर विस्तार मे वर्णन किया है। जैन-परम्परा के नीति प्रधान उपदेश ग्रन्थो मे तथा सस्कृत और प्राकृत के सुभाषित ग्रन्थो मे और धर्मग्रन्थो मे भी दान का बहुमुखी वर्णन उपलब्ध होता है। कुछ ग्रन्थ तो केवल दान के सम्बन्ध मे ही लिखे गये हैं। अत दान के विषय पर लिखे गये ग्रन्थो की बहुलता रही है। नीतिवाक्यामृत और अर्हन्नीति जैसे ग्रन्थो मे अन्य विषयो के प्रतिपादन के साथ-साथ दान के विषय मे भी काफी प्रकाश डाला गया है, जो आज भी उपलब्ध होता है।

सस्कृत साहित्य के नीति प्रधान ग्रन्थो मे भर्तृहरिकृत शृगार शतक, वैराग्य-शतक तथा नीतिशतक जैसे मधुर नीति काव्यो मे मनुष्य जीवन को सुन्दर एव सुखद बनाने के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। भर्तृहरि ने अपने दीर्घ-जीवन के अनुभवो के आधार पर जो कुछ भी लिखा था, वह आज भी उतना सत्य एव जनप्रिय माना जाता है उनके शतक त्रय मे दान के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा गया है।

उन्होने दान को अमृत भी कहा है। दान मनुष्य जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कहा गया है। मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले गुणो मे दान सबसे ऊँचा गुण माना गया है। एक स्थल पर कहा गया है—"मनुष्य के धन की तीन ही गति हैं—दान, भोग और नाश। जो मनुष्य न दान करता हो, न उपभोग करता हो, उसका धन पडा-पडा नष्ट हो जाता है।" सस्कृत के नीति काव्यो मे 'कविकण्ठाभरण' भी बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। उसमे दान के विषय मे विस्तार से वर्णन किया गया है। "सुभाषित रत्नभाण्डागार" एक विशालकाय महाग्रन्थ है, जिसमे दान के विषय मे अनेक प्रकरण हैं। 'सूक्ति सुधा सग्रह' सुभाषित वचनो का एक सुन्दर सग्रह किया गया है, उसमे भी दान के सम्बन्ध मे बहुत लिखा गया है। 'सुभाषित सप्तशती' मे भी दान के विषय बहुत सुभाषित कथन मिलते हैं। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रन्थ भी सूक्तियो का एक विशालकाय ग्रन्थ है। जिसमे सस्कृत, प्राकृत और पालि ग्रन्थो से सग्रह किया गया है। इसमे दान के विषय मे अद्भुत सामग्री प्रस्तुत की गयी है। वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के धर्मग्रन्थ और अध्यात्मग्रन्थो मे दान के विषय मे काफी सुन्दर सकलन किया गया है। प्रवक्ता, लेखक और उपदेशको के लिए एक सुन्दर कृति कही जा सकती है। एक ही ग्रन्थ मे तीन परम्पराओ के दान सम्बन्धी विचार उपलब्ध हो जाते हैं। अपने-अपने युग मे वैदिक, जैन और बौद्ध आचार्यों ने लोककल्याण के लिए, लोक मगल के लिए और जीवन उत्थान के लिए बहुत-से सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था। उनमे से दान भी एक मुख्य सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक परम्परा ने दान के विषय मे अपने देश और काल के अनुसार दान की मीमासा की है, दान पर विचार-चर्चा की है और दान पर अपनी मान्यताओ का विश्लेषण भी किया है। दान की मर्यादा, दान की सीमा, दान की परिभाषा और दान की व्याख्या सबकी एक जैसी न भी हो, परन्तु दान को भारत की समस्त परम्पराओ ने सहर्ष स्वीकार किया है, उसकी महिमा की है।

हिन्दी कवि और दान

हिन्दी साहित्य की नीति-प्रधान कविताओ मे भी दान के विषय मे काफी लिखा गया है। 'तुलसी दोहावली', 'रहीम दोहावली' और 'बिहारी सतसई' तथा सूर के पदो मे भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का विस्तार से उल्लेख हुआ है। तुलसी का 'रामचरितमानस' तो एक प्रकार का सागर ही है, जिसमे दान के विषय मे अनेक स्थलो पर बहुत कुछ लिखा गया है। हिन्दी के अनेक कवियो ने इस प्रकार के जीवन चरितो की रचना भी की है, जिनमे विशेष रूप से दान की महिमा का ही वर्णन किया गया है। राम भक्त कवियो ने, कृष्ण भक्त कवियो ने और प्रेममार्गी सूफी कवियो ने अपने काव्य ग्रन्थो मे, दान के विषय मे यथाप्रसग काफी लिखा है। दान की कोई भी उपेक्षा नही कर सका है। कबीर ने भी अपने पदो मे और दोहो मे दान के विषय मे यथाप्रसग बहुत लिखा है। अपने एक दोहे

मे कबीर ने कहा है—'यदि नाव मे जल बढ जाए और घर मे दाम बढ जाए तो उसे दोनो हाथो से बाहर निकाल देना चाहिए, बुद्धिमानो का यही समझदारी का काम है।' तुलसी दोहावली मे भी दान के विषय मे कहा गया है—सरिता मे से, जो भर कर बह रही है, यदि पक्षी उसमे से थोडा जल पान कर लेता है, तो उसका पानी क्या कम पड जाएगा ? ठीक इसी प्रकार दान देने से भी धन घटता नही है।' स्वामी रामतीर्थ ने दान के सम्बन्ध मे कहा है—'दान देना ही धन पाने का एकमात्र द्वार है।' सन्त विनोबा ने कहा है—'बुद्धि और भावना के सहयोग से जो क्रिया होती है, वही सुन्दर है। दान का अर्थ—फैकना नही, बल्कि बोना ही है।'

भारत के धर्मों के समान बाहर से आने वाले धर्म ईसाई और मुस्लिम धर्मों मे भी दान का बडा ही महत्त्व माना गया है। दान के सम्बन्ध मे बाइबिल और कुरान मे भी ईसा और मुहम्मद ने अनेक स्थलो पर दान की महिमा का यथाप्रसग वर्णन ही नही किया, बल्कि दान पर बल भी डाला है। दान के अभाव मे ईसा मनुष्य का कल्याण नही मानते थे। ईसा ने प्रार्थना और सेवा पर विशेष बल दिया था, पर दान को भी कम महत्त्व नही दिया। बाइबिल मे दान के विषय मे कहा गया है—'तुम्हारा दाँया हाथ जो देता है, उसे बाँया हाथ न जान सके, ऐसा दान दो।' इस कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि दान देकर उसका प्रचार मत करो। अपनी प्रशसा मत करो। जो दे दिया, सो दे दिया। उसका कथन भी न करो। कुरान मे दान के सम्बन्ध मे बहुत ही सुन्दर कहा गया है—'प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है। उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता है, और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं।' इस कथन मे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जीवन मे दान का कितना महत्त्व रहा है। प्रार्थना और उपवास से भी अधिक महत्त्व यहाँ पर दान का माना गया है। मुसलिम विद्वान् शेखसादी ने कहा है—'दानी के पास धन नही होता और धनी कभी दानी नही होता।' कितनी सुन्दर बात कही गई है। जिसमे देने की शक्ति है, उसके पास देने को कुछ भी नही, और जिसमे देने की शक्ति न हो वह सब कुछ देने को तैयार रहता है। अत दान देना, उतना सरल नही है, जितना समझ लिया गया है। दान से बढकर, अन्य कोई पवित्र धर्म नही है। जो अपनी सम्पदा को जोड-जोडकर जमा करता रहता है। उस पाषाण हृदय को क्या मालूम कि दान मे कितनी मिठास है। जो बिना माँगे ही देता हो, वही श्रेष्ठ दाता है। एक कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है—'दान से सभी प्राणी वश मे हो जाते हैं, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। अधिक क्या कहे, दान सभी विपत्तियो का नाश कर देता है।' कवि के इस कथन से दान की गरिमा और दान की महिमा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समग्र साहित्य दान की महिमा से भरा पडा है। ससार मे न कभी दाताओ की कमी रही है, और न दान लेने वाले लोगो की ही कमी रही है। दान की परम्परा ससार मे सदा चलती ही रहेगी।

ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि सम्भवत यह ग्रन्थ आचार्य ने दान की महिमा के लिए ही लिखा हो ?

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ मे ही आचार्य ने कहा है—दान, पूजा, शील और उपवास भवरूप वन को भस्म करने के लिए, ये चारो ही आग के समान हैं। पूजा का अर्थ है—जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य ने किया है। दान क्रिया के पाँच अग माने गए हैं—दाता, देयवस्तु, पात्र, विधि और मति। यहाँ पर मति का अर्थ है—विचार। विना विचार के, विना भाव के दान कैसे दिया जा सकता है ? आचार्य अमितगति ने दाता के सात भेदो का उल्लेख किया है—भक्तिमान् हो, प्रसन्नचित्त हो, श्रद्धावान् हो, विज्ञान सहित हो, लोलुपता रहित हो, शक्तिमान् हो और क्षमावान् हो। 'विज्ञान वाला हो' से अभिप्राय यह है, कि दाता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता हो। अन्यथा, दान की क्रिया निष्फल हो सकती है, अथवा दान का विपरीत परिणाम भी हो सकता है। दाता के कुछ विशेष गुणो का भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे उल्लेख किया है—विनीत हो, भोगो मे नि स्पृह हो, समदर्शी हो, परीषह सही हो, प्रियवादी हो, मत्सररहित हो, सघवत्सल हो और वह सेवा परायण भी हो। दान की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है—"जिस घर मे से योगी को भोजन न दिया गया हो, उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन ? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाए, तो क्या ? योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा सयम से होती है, राजा की शोभा सत्यवचन से और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।" आचार्य ने यह भी कहा है—जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है। साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।'

दान के चार भेद किए हैं—अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञान दान। अन्नदान को आहारदान भी कहा गया है, और ज्ञानदान को शास्त्रदान भी कहते हैं। पञ्च महाव्रत धारक साधु को उत्तम पात्र कहा है, देशव्रत धारक श्रावक को मध्यम पात्र कहा है, अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है। दशम परिच्छेद के प्रारम्भ मे पात्र, कुपात्र और अपात्र की व्याख्या की है। विधि सहित दान का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने कहा—"विधिपूर्वक दिया गया थोडा दान भी महाफल प्रदान करता है। जिस प्रकार धरती मे बोया गया छोटा-सा वट-बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप मे चारो ओर फैल जाता है, जिसकी छाया मे हजारो प्राणी सुख भोग करते हैं, उसी प्रकार विधि सहित छोटा दान भी महाफल देता है।" दान के फल के सम्बन्ध मे, आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है—जैसे मेघ से गिरने वाला जल एक रूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रो को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है।" कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। अपात्र को दिए गए दान के सम्बन्ध मे आचार्य ने कहा है—"जैसे कच्चे घडे मे

डाला गया जल, अधिक देर तक नही टिक पाता और घडा भी फूट जाता है, वैसे ही विगुण अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है, और लेने वाला नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ मे और उसके दशम परिच्छेद मे दान, दान का फल आदि विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ विचार किया है।

एकादश परिच्छेद मे आचार्य ने विस्तार के साथ अभयदान, अन्नदान, औषध दान और ज्ञानदान—इन चार प्रकार के दानो का वर्णन किया है। वस्तुत देने योग्य जो वस्तु है, वे चार ही होती हैं, अभय, अन्न, औषध और ज्ञान अर्थात् विवेक। अभय को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अभय से बढकर अन्य कोई इस जगत् मे हो नही सकती। भीत को अभय देना ही परमदान है। अन्न अर्थात् आहार देना भी एक दान है। यह शरीर, जिससे मनुष्य धर्म की साधना करता है, बिना अन्न के कैसे टिक सकता है? सयमी को, त्यागी को भी अपने सयम को स्थिर रखने के लिए अन्न की आवश्यकता पडती है। अन्न के अभाव मे साधना भी कब तक चल सकती है। कितना भी बडा तपस्वी हो, कितना भी लम्बा तप किया जाए। आखिर, अन्न की शरण मे तो जाना ही पडता है। स्वस्थ शरीर से ही धर्म और कर्म किया जा सकता है। रुग्ण काय से मनुष्य न धर्म कर सकता है, और न कोई शुभ या अशुभ कर्म ही कर सकता है। आरोग्य परम सुख है। उसका साधन है, औषध। अत शास्त्रकारो ने औषध को भी दान मे परिगणित किया है, देय वस्तुओ मे उसकी गणना की है। ज्ञान, आत्मा का गुण है। वह तो सदा ही सप्राप्त रहता है। अत ज्ञान का अर्थ है, विवेक। विवेक का अर्थ है—करने योग्य और न करने योग्य का निर्णय करना। यह शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। जिसने शास्त्र नही पढे, उसे अन्धा कहा गया है। विधि और निषेध का निर्णय शास्त्र के द्वारा ही होता है। अत शास्त्र को भी दान कहा गया है।"

इतिहास के संदर्भ में दान-विचार

भारत देश एक धर्म-प्रधान देश रहा है। भारत के जन-जन के जीवन मे धर्म के सस्कार गहरे और अमिट हैं। यहाँ का मनुष्य अपने कर्म को, धर्म की कसौटी पर कस के देखता है। भारत का मनुष्य धन को, जन को, परिवार को, समाज को अपने जीवन को भी छोड सकता है, परन्तु अपने धर्म को नही छोड सकता। धर्म, उसे अत्यन्त प्रिय रहा है। धर्म के व्याख्याकार ऋषि एव मुनि सदा नगर से दूर वनो मे रहा करते थे। गुरुकुल और आश्रमो की स्थापना नगरो मे नही, दूर वनो मे की गई थी। गुरुकुल और आश्रमो मे हजारो छात्र तथा हजारो साधक रहा करते थे। भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था का प्रश्न बडा जटिल था। छात्रो के अध्ययन मे किसी प्रकार का विघ्न न हो, और साधको की साधना मे किसी प्रकार की बाधा न पडे इसलिए राजा और सेठ-साहूकार गुरुकुलो को और आश्रमो को

दान दिया करते थे। दान के बिना सस्थाओ का चलना कैसे सम्भव हो सकता था ? दान का प्रारम्भ इन गुरुकुलो और आश्रमो से ही हुआ था। फिर मन्दिर आदि धर्म-स्थानो को तथा तीर्थभूमि को भी दान की आवश्यकता पडी। दान के क्षेत्रो का नया-नया विकास होता रहा और दान की सीमा का विस्तार भी धीरे-धीरे आगे बढता ही रहा।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि भारत मे तीन विश्वविद्यालय थे—नालन्दा, तक्षशिला और विक्रमशिला। इन विश्वविद्यालयो मे हजारो छात्र अध्ययन करते थे और हजारो अध्यापक अध्यापन कराते थे। ये सब विद्यालय भी दान पर ही जीवित थे, दान पर ही चला करते थे। दान के बिना इन सस्थाओ का जीवित रहना ही सम्भव नही था। राजा और सेठ साहूकारो के उदार दान से ही ये सब चलते रहते थे। साहित्य रचनाओ मे भी दान की आवश्यकता पडती थी। अजन्ता की गुफाओ का निर्माण, आबू के कलात्मक मन्दिरो का निर्माण बिना दान के कैसे हो सकता था। दान एक व्यक्ति का हो, या फिर अनेक व्यक्तियो के सहयोग से मिला हो, पर सब था, दान पर अवलम्बित ही। कवि को यदि रोटी की चिन्ता बनी रहे, तो वह काव्य की रचना कर ही नही सकता। कलाकार यदि जीवन की व्यवस्था मे ही लगा रहे, तो कैसे कला का विकास होगा ? कवि को, दार्शनिक को, शिल्पी को और कलाकार को चिन्ताओ से मुक्त करना ही होगा, तभी वह निर्माण कर सकता है। इन समस्याओ के समाधान मे से ही दान का जन्म हुआ है। व्यक्ति अकेला जीवित नही रह सकता, वह समाजगत होकर ही अपना विकास कर सकता है। अत दान की प्रतिष्ठा समाज के क्षेत्र मे निरन्तर बढती रही है। आज भी सस्थाओ को दान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कभी पहले थी। सस्था कैसी भी हो, धार्मिक, सामाजिक हो और चाहे राष्ट्रीय हो। सब को दान की आवश्यकता रही है, और आज भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है। शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, विवेकानन्द आश्रम और गाधी जी के आश्रम—इन सब का जीवन ही दान रहा है। जिसके दान का स्रोत सूख गया, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। अत दान की आवश्यकता आज भी उतनी है, जितनी कभी पहले रही है। भारत के इतिहास मे अनेक सम्राटो का वर्णन आया है, जिन्होने जनकल्याण के लिए अपना सर्वस्व का दान कर दिया था। सम्राट अशोक के दान का उल्लेख स्तूपो पर और चट्टानो पर अंकित है। सम्राट् हर्ष प्रति पञ्चवर्ष के बाद अपना सब कुछ दान कर डालते थे। सन्यासी, तपस्वी, मुनि और भिक्षुओ को सत्कारपूर्वक दान दिया जाता था। ब्राह्मणो को भी दान दिया जाता था। साधु, सन्यासी, भिक्षु और ब्राह्मण—ये चारो परोपजीवी रहे हैं। दान पर ही इनका जीवन चलता रहा है। आज भी दान पर ही ये सब जीवित हैं। दान की परम्परा विलुप्त हो जाए, तो सब समाप्त हो जाए। स्मृति मे कहा गया है, कि गृहस्थ जीवन धन्य है, जो सबके भार को उठाकर चल रहा है।

गृहस्थ जीवन पर ही सब सस्थाएँ चल रही हैं। अन्य सब दानोपजीवी हैं, एकमात्र गृहस्थ ही दाता है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक : सम्पादक

प्रस्तुत पुस्तक का नाम है—"जैनधर्म मे दान।" यह तीन भागो मे विभक्त है—प्रथम अध्याय है—'दान महत्त्व और स्वरूप।' इसमे एकादश परिच्छेद हैं—मानव जीवन का लक्ष्य, मोक्ष के चार मार्ग, दान जीवन के लिए अमृत, दान कल्याण का द्वार आदि। द्वितीय अध्याय है—'दान परिभाषा और प्रकार।' इसमे उन्नीस परिच्छेद हैं—दान की व्याख्याएँ, दान और सविभाग, अधर्मदान और धर्मदान, दान के विविध पहलू, दान के चार भेद, अभयदान महिमा और विश्लेषण। तृतीय अध्याय है—'दान प्रक्रिया और पात्र।' इसमे चौदह परिच्छेद हैं—दान की कला, दान की विधि, दान के दूषण और भूषण, दान और भावना, दाता के गुण-दोष और दान और भिक्षा आदि। इस प्रकार दान के समस्त विषयो को समेट लिया गया है। व्याख्याता का दृष्टिकोण विशाल और उदार रहा है। सामग्री का सचय बहुमुखी रहा है। मैंने पुस्तक का विहगम दृष्टि से अवलोकन किया है, जिस पर से मेरा मत बना है कि दान विषय पर यह एक अधिकृत पुस्तक कही जा सकती है। विद्वान लेखक ने विविध दृष्टियो से दान पर व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है। स्वय का चिन्तन तो है ही, किन्तु उसकी पुष्टि मे श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के सैकडो ग्रन्थो के सदर्भ, उदाहरण और इतर ग्रन्थो के भी अनेक उद्धरण देने मे लेखक ने दानशील-वृत्ति का ही परिचय दिया है। इतिहास एव लोक-जीवन की घटनाओ के प्रकाश मे दान विषयक अनेक उलझे हुए प्रश्नो को बडी सरलता से सुलझाने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक की भाषा और शैली सुन्दर एव मधुर है। विषय का प्रतिपादन विस्तृत तथा अभिरोचक है। अध्येता को कही पर भी नीरसता की अनुभूति एव प्रतीति नही होती। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्पराओ के शास्त्रो से यथाप्रसग प्रमाण उपस्थित किए गए हैं। इससे लेखक की बहुश्रुतता अभिव्यक्त होती है, और साथ ही विचार की व्यापकता भी। विषय का वर्गीकरण भी सुन्दर तथा आधुनिक बन पड़ा है। बीच-बीच मे विषय के अनुरूप रूपक, दृष्टान्त और कथाओ का प्रयोग करके विषय की दुरूहता और शुष्कता का सहज ही परिहार कर दिया गया है। इतना ही नही, विषय का प्रस्तुतीकरण भी सरस, सरल एव सुन्दर हो गया है। आबाल वृद्ध सभी इसके अध्ययन का आनन्द उठा सकते हैं। आज तक दान पर जिन पुस्तको का प्रकाशन हुआ, यह पुस्तक उन सबमे उत्तम, सुन्दर तथा सग्रहणीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक अथवा व्याख्याता पण्डितप्रवर, उपाध्याय श्रीपुष्कर मुनिजी हैं। उपाध्यायजी का व्यक्तित्व प्रभावक एवं मधुर है। उनका जीवन ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय कहा जा सकता है। उनमे एक साथ अनेक गुणो का

प्रकटीकरण हुआ है—वे विचारक हैं, तत्त्वद्रष्टा हैं, शास्त्रो के पण्डित हैं, मधुर प्रवक्ता हैं, भावो के व्याख्याता हैं और साथ ही साधक भी हैं। 'ध्यान और जप' साधना मे उपाध्यायजी को प्रारम्भ से ही विशेष रस रहा है। स्वभाव से मधुर हैं, प्रकृति से सरल हैं, कर्म से पटु हैं और ज्ञान से गम्भीर हैं। सबसे मिलकर चलना आपके जीवन का व्यावहारिक सूत्र है। साहित्य रचना मे अथवा ग्रन्थ निर्माण मे आपको अपने अध्ययन काल से रुचि रही है, जो आज विविध विषय के ग्रन्थो के लेखन और प्रकाशन से प्रकट हो रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक द्वय हैं, स्वनामधन्य प्रसिद्ध लेखक पण्डितप्रवर श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री तथा प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस'। आप दोनो ही विद्वान् सपादको की साहित्य-साधना नित्यप्रति निखर रही हैं। वर्षों से साहित्य की सर्जना कर रहे हैं। अनेको विषयो पर शताधिक ग्रन्थो का लेखन और सम्पादन आप कर चुके हैं, आज भी आप सरस्वती के भण्डार को भरने मे सलग्न हैं। आपकी लेखनी का लोहा, समाज के मूर्धन्य विद्वान लेखक भी स्वीकार कर चुके हैं। सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के अनेक ग्रन्थो का सम्पादन करके आपने अपनी कला की सार्थकता सिद्ध कर दी है। आपने इस ग्रन्थ का सम्पादन एव प्रकाशन करके अपनी बहुश्रुतता का तो परिचय दिया ही है, साथ मे लोक भोग्य ग्रन्थो का प्रकाशन करके आप सामान्य जनता पर अत्यन्त उपकार भी कर रहे हैं।

मेरा निवेदन

मैं अपनी भूमिका के सम्बन्ध मे क्या कहूँ। अवकाश, मुझे जरा भी नही था। अन्य कार्यों मे बहुत व्यस्त भी था। परन्तु 'सरस' जी का स्नेहमय अत्यन्त आग्रह था, कि मैंने उनकी माग को स्वीकार कर लिया। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक एव व्याख्याता उपाध्याय जी महाराज के साथ भी मेरे मधुर सम्बन्ध रहे हैं। आज भी उनके मधुर जीवन की स्नेहमयी स्मृतियाँ मेरी स्मृति मे सचित हैं। बस, इन्ही कारणो से मैंने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया। भूमिका मे, मैंने अपने विचार मात्र दिये हैं, उद्धरणो से मैं बच कर चला हूँ। क्योकि काफी उद्धरण ग्रन्थ मे दे दिये गये हैं। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ, कि यह पुस्तक अपने आप मे बहुत सुन्दर सिद्ध होगी।

—विजय मुनि शास्त्री

जैन भवन, मोतीकटरा आगरा
२ अक्टूबर, १९७७

द्वितीय अध्याय

दान : परिभाषा और प्रकार (१६७ ४०९)

तृतीय अध्याय

दान : प्रक्रिया और पात्र (४११-५४५)

2

मोक्ष के चार मार्ग

एक भोलाभाला यात्री जा रहा था। यात्री सरल और जिज्ञासु था। उसे काशी पहुँचना था। अतः अपने पड़ाव से चलते ही एक महात्मा से उसने पूछा—'महात्माजी ! काशी जाने का रास्ता कौन-सा है ?"

महात्मा बोले—"भाई ! काशी जाने के चार मार्ग हैं। एक गंगानदी के किनारे-किनारे होकर जाता है, दूसरा रास्ता सड़क का है, तीसरा रेलपथ का है, जिस पर होकर ट्रेन जाती है और चौथा है—हवाई मार्ग, जो आकाश में होकर जाता है।

यात्री जिज्ञासु था, इसलिए सुनकर घबराया नहीं, उसने विनम्र भाव से पूछा—'मेरे लिए कौन-सा रास्ता आसान, अल्पव्ययसाध्य रहेगा ?

महात्मा ने उसकी जिज्ञासु बुद्धि देखकर कहा—"देखो, हवाई मार्ग से बहुत जल्दी पहुँचा जा सकता है, परन्तु है वह बहुत ही खर्चीला, वह तुम्हारे बस का नहीं है, रहा जलमार्ग—वह भी कष्टपूर्ण है, तीसरा रेलमार्ग है, वह भी खर्चीला है। इसलिए सड़क का मार्ग ही तुम्हारे लिए आसान और सुलभ रहेगा। इस राजमार्ग पर जगह-जगह तुम्हें मार्गदर्शक पत्थर भी लगे हुए मिलेंगे, जिन पर काशी कितनी दूर है और कितनी दूर तक तुम चल चुके हो, यह भी अंकित रहेगा। दोनों ओर सघन पेड़ों की ठण्डी छाया मिलेगी। जगह-जगह तुम्हें कई सहयात्री भी मिल जायेंगे। विश्रामस्थल भी स्थान-स्थान पर मिलेंगे, जहाँ बैठ कर तुम अपनी थकान भी मिटा सकोगे, शीतल मधुर जल पीकर अपनी प्यास भी बुझा सकोगे।"

जिज्ञासु यात्री महात्मा की बात समझ गया और उसी सड़क पर चल पड़ा।

यही बात जीवन यात्री के सम्बन्ध में है। मानव को अपनी जीवन-यात्रा भी मोक्ष रूपी लक्ष्य की ओर करनी है। मोक्ष तक पहुँचने के भी महापुरुषों ने चार मार्ग बताये हैं। आचार्य विनय-विजयजी ने शान्त सुधारस भावना में इन्हीं चार मार्गों का
सार निरूपण किया है—

1

मानव जीवन का लक्ष्य

व्यापार के विषय मे अनभिज्ञ एक श्रेष्ठीपुत्र, अपने पिता से आग्रह करके पिता की अनुमति लेकर अपने मुनीम के साथ बम्बई पहुँचा। पिता ने उसे बम्बई भेजा तो था माल खरीद कर शीघ्र ही वापिस लौटने के लिए, किन्तु वह मनमोजी, नौसिखिया एव अनुभवहीन श्रेष्ठीपुत्र बम्बई की चकाचौंध देख कर, विविध मनोहारिणी वस्तुओ से सजी हुई दूकानें, विविध प्रकार के आकर्षक आमोद-प्रमोद के स्थान और नाट्य-शालाओ मे होने वाले रम्य नाटको को देखकर मुग्ध और लुब्ध हो गया। उसे पता ही नही चला कि किस प्रकार एक के बाद एक दिन बीतते चले गये ? उसे यह भान ही नही रहा कि मैं यहाँ किसलिए आया था ? मुझे पिताजी ने किस कार्य के लिए भेजा था ? मुझे क्या करना चाहिए ? कार्यसिद्धि के लिए कहाँ-कहाँ जाना चाहिए ? वैसे उसका मुनीम उसे बार-बार याद दिला दिया करता था—"बाबू ! आपको बडे बाबूजी ने किस काम के लिए भेजा है ? कितने दिन हो गए हैं ?" पर, वह मुनीमजी को सदा टरका दिया करता—"अजी मुनीमजी ! अभी तो बहुत दिन बाकी हैं। बम्बई पहलेपहल आये हैं तो जरा सैर-सपाटा कर लें, बम्बई के दर्शनीय स्थानो को देख लें। बार-बार बम्बई थोडे ही आना होता है ? यहाँ एक प्रसिद्ध नाटक चल रहा है, उसे भी पूरा देख लें। जी भरकर बम्बई के रमणीय पदार्थों का आस्वादन कर लें, कुछ आमोद-प्रमोद की वस्तुएँ भी खरीद लें।"

इस प्रकार श्रेष्ठीपुत्र अपने अभीष्ट कार्य को भूलकर अन्यान्य कार्यों मे लग गया। अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए जहाँ जाना था, वहाँ न जाकर वह केवल सैरसपाटे और आमोद-प्रमोद के स्थलो मे ही जाता था। किसी-किसी ने बीच-बीच मे उससे पूछा भी था—"बाबूजी ! कहा जाना है ? आप तो किसी व्यापारी के लडके मालूम होते हैं !" तब उसका घडाघडाया यही उत्तर होता—"मुझे चौपाटी, हैंगिग गार्डन, फ्लोरा फाउन्टेन आदि स्थलो पर जाना है, बम्बई के दर्शनीय स्थानो और प्रेक्षणीय पदार्थों को देखने के लिए।"

आखिर एक महीना बीतते ही उसके पिता का तार आया—"मुनीमजी ! बाबू को लेकर जल्दी लौट आओ।" मुनीम ने जब बाबू को तार पढाया तो उसे एक-

दम झटका-सा लगा। वह सोचने लगा —'अभी कल-परसो की बात है, बम्बई आए को हमे एक महीना हो गया। अरे! अभी तो हमने कुछ भी नही किया है? जिस कार्य के लिए हम बम्बई आये थे, वह कार्य तो अभी कुछ नही हुआ है। क्या इतनी जल्दी ही वापिस लौटना पडेगा? हाँ, अब याद आया पिताजी ने मुझे एक महीना होते ही माल खरीद कर वापिस लौटने को कहा था। यहाँ आकर तो मैंने अभीष्ट कार्य के सम्बन्ध मे न किसी से बातचीत की, न कही मैं गया ही, न किसी से मिला। मुनीमजी! एक सप्ताह और ठहर जाइए न!"

मुनीम ने कठोर शब्दो मे कहा—"बाबू! मैंने आपको कितनी ही बार साव-धान किया था, अन्यत्र भटकते हुए आपको रोका था। अभीष्ट कार्य के लिए भी बार-बार चेतावनी दे दी थी, इसके बावजूद भी आपने मेरी बात पर कोई ध्यान नही दिया, न अन्य किसी हितैषी की बात ही मानी। अब मैं क्या करूँ? सेठजी का आदेश आ गया है, जल्दी लौटने का! एक मास पूरा हो गया है, अब हमे वापिस लौटना ही होगा।"

सेठ का लडका बहुत पछताया, पर अब क्या हो सकता था। माल लिये बिना खाली हाथ अपने पिता के पास वह वापिस लौट आया। पिताजी ने उसके चिन्तित चेहरे पर से ही अनुमान लगा लिया कि यह खाली हाथ आया मालूम होता है। मुनीमजी से सारी पूछताछ की, जिससे उन्हे पता लग गया कि लडका बम्बई की भूलभुलैया मे फँस गया, इस कारण कुछ भी माल (सौदा) नही खरीद सका और लौट आया।

यह एक रूपक है। इस रूपक का उद्देश्य—लक्ष्य के सम्बन्ध मे विचार करना है।

मानव भी एक व्यापारी पुत्र है। ससार की विविध योनियो और गतियो रूपी नगरो और राष्ट्रो में घूम आया है। अब यह मानव रूपी व्यापारी का पुत्र बना है। अभी इसे पता ही नही है कि मानवगति मे, मनुष्ययोनि मे वह किसलिए आया है? वह यह भी भूल जाता है ससार नगर मे उसे कौन-सा माल खरीदना है? उस माल के लिए कहाँ-कहाँ किसके पास जाना है और वापिस कब लौटना है? ससार नगर मे पहुँचा हुआ मानवपुत्र नगर की सासारिक चकाचौंध मे, इन्द्रिय–विषयो रूपी माल से सजी हुई दूकानो मे, कषायोत्तेजक दर्शनीय स्थलो मे, स्वैर विहार में, अधर्म की गलियो मे इधर-उधर भटकता रहता है। उसे चलना था मोक्ष ले जाने वाले मार्गों पर, परन्तु चलने लगता है, पाप, अधर्म एव दुष्कृत्य की ओर ले जाने वाली 'राहो पर' उसे पहुँचना था, अपने लक्ष्य—मोक्षनगर को, लेकिन वह ससार नगर की भूलभुलैया मे, चक्करदार गलियो मे, विषयो की चकाचौंध मे, और कषायो की धमाचौकडी मे ही भटक जाता है, उसी मे रम जाता है। इसी मे उसका आयुष्य रूपी मास पूरा हो जाता है और मृत्यु (यमराज) का बुलावा आ जाता है। परन्तु वह आयुष्य पूर्ण होते समय

घबराता है, पश्चात्ताप करता है कि हाय ! मैंने ससार नगर मे आ कर कुछ भी नही खरीदा, कोई भी चीज नही ली। किसी से भी नही मिला ? इस प्रकार अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति के लिए जो सत्कार्य करने थे, उन्हे नही कर सका और खाली हाथ रह गया। मौत का वारण्ट आते ही उसे अपने कार्य की सुध आती है, पर अब क्या हो सकता है ? और इस प्रकार लक्ष्यहीन मानवपुत्र हाथ मलते-मलते रह जाता है। अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो कार्य करने चाहिए, उन्हे नही कर पाता और जिन्हे नही करना चाहिए, उन कार्यों मे प्रसन्नतापूर्वक जुट जाता है, उन्हे धडल्ले के साथ करता है। यही कारण है कि इस ससार मे आकर मानव विषय कषायो और दुर्व्यवहारो मे प्रवृत्त होकर अपने आपको, अपने लक्ष्य को और लक्ष्य के अनुरूप कार्यों को भूल जाता है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपने जीवन का लक्ष्य, जो सर्वधर्मो एव सर्वदर्शनो द्वारा मान्य है, जिसे सभी ऋषियो, मुनियो, तीर्थंकरो और अवतारो ने एक स्वर से स्वीकारा है, उसे इस ससार मे आकर भूलना नही है। साथ ही, लक्ष्य से भटकाने वाले, लक्ष्य के अनुकूल कार्यों से विमुख करने वाले कार्यों से हटकर लक्ष्यानुकूल कार्यों मे अहर्निश सलग्न रहना चाहिए।

इस जीवन का लक्ष्य नहीं है, विश्रान्ति भवन मे टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस मजिल पर जिसके आगे राह नहीं ॥

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है ? और लक्ष्य के अनुकूल प्रमुख कार्य क्या है ? अपना स्वरूप क्या है ? अपना असली स्थान कहाँ है ? इसका जिस मानव-व्यापारी को पता नही, वह लक्ष्यविहीन होकर फुटबॉल की तरह इधर से उधर चक्कर काटता रहता है।

आचारागसूत्र मे भगवान् महावीर ने कहा है कि बहुत-से जीवो को यह पता ही नही होता कि, मै पूर्व-दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, उत्तर दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ ?' मुझे कहाँ जाना है ? क्या करना है ? यह वे नही जानते।[1]

गृहस्थ साधक कवि श्रीमद् राजचन्द जी के शब्दो मे कहे तो—

हु कोण छुं ? क्या थी थयो ? शु स्वरूप छे मारु खरु ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखु के ए परिहरु ?
लक्ष्मी अने अधिकार वधता शु वध्यु ते तो कहो ?
शु कुटम्ब के परिवार थी वधवापणु ए नय ग्रहो।
वधवापणु ससारनु नर देह ने हारी जवो,
ऐनो विचार नहीं अहो हो, एक पल तमने हवो !

---

१ इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ त जहा . —आचाराग १।१।१

इन पंक्तियो का भाव स्पष्ट है। अधिकाश मनुष्यो को आज यह पता भी नही है कि मैं कौन हूँ? हाँ, पूछने पर वे तपाक से यह तो कह देते हैं कि मैं प्रेमचन्द हूँ, पवनकुमार हूँ, विमलचन्द हूँ आदि। अथवा यो भी कह देते हैं—मैं वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ अथवा डॉक्टर, वकील, इजीनियर या व्यापारी हूँ। पर अपना असली स्वरूप, असली नाम वे नही जानते। इसी कारण वे ससार के रग-महल मे प्रविष्ट होकर अपना सब कुछ नाम, रूप भूल जाते हैं, और इन नकली, बनावटी नाम, रूपो, जातियो या पेशो के चक्कर मे पड जाते हैं।

अधिकाश मनुष्यो को यह भी पता नही होता कि वे आये कहाँ से है? कहाँ से या किस पुण्यकर्म से वे मनुष्य बने हैं? उनके मनुष्य जन्म पाने के पीछे क्या रहस्य है? ज्यादा पूछने पर वे यह कह देते हैं—हम अमुक माता-पिता से पैदा हुए हैं? अमुक खानदान के हैं, अमुक वश और कुल के हैं अथवा अमुक देश या नगर से आकर यहाँ बसे हैं। उन्हे यह ज्ञान नही होता कि वे मनुष्य गति से, तिर्यंचगति से, देवगति से या नरकगति से आए है? कदाचित् वे शास्त्रो से सुनकर या किसी सन्मार्ग दर्शक गुरु के बता देने पर कुछ बातें यथार्थ बता देते हैं, लेकिन उनके दिल दिमाग मे या सस्कारो मे असली बात नही जम पाती। कई लोगो को अपने स्वरूप का भान नही रहता। वे मनुष्य जन्म पाकर भी अपने आत्मगुणो या अहिंसादि गुणो या स्वभाव के विपरीत हिंसादि दुष्कर्म करते रहते हैं। स्वार्थ-त्याग के बदले अति-स्वार्थ मे फँसे हैं।

साराश यह है कि लक्ष्यविहीन, निजस्वरूप के भान से रहित एव कर्त्तव्य-बोध से भ्रष्ट मानव की यही दशा है। अत मनुष्य को सर्वप्रथम अपने लक्ष्य का भान होना आवश्यक है।

यह तो हम प्रारम्भ मे स्पष्ट कर आये हैं कि मानव जीवन का परमलक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का स्वरूप भी लगभग स्पष्ट है कि समस्त विकारो, कर्मों एव वासनाओ से रहित हो जाना, कर्म और कर्मबध के कारणो का पूर्ण अभाव हो जाना, सभी सासारिक झमेलो से दूर हो जाना मोक्ष है।

अब प्रश्न यह है कि उस परमलक्ष्य—मोक्ष के प्राप्त करने के उपाय कौन-कौन-से हैं? मोक्ष-प्राप्ति के साधन कौन-कौन-से हैं? यह विषय बहुत ही गहन है। इसका स्पष्टीकरण हम अगले अध्याय मे करेंगे।

☆

2

मोक्ष के चार मार्ग

एक भोलाभाला यात्री जा रहा था। यात्री सरल और जिज्ञासु था। उसे काशी पहुँचना था। अत अपने पडाव से चलते ही एक महात्मा से उसने पूछा—"महात्माजी ! काशी जाने का रास्ता कौन-सा है ?"

महात्मा बोले—"भाई ! काशी जाने के चार मार्ग हैं। एक गगानदी के किनारे-किनारे होकर जाता है, दूसरा रास्ता सडक का है, तीसरा रेलपथ का है, जिस पर होकर ट्रेन जाती है और चौथा है—हवाई मार्ग, जो आकाश मे होकर जाता है।

यात्री जिज्ञासु था, इसलिए सुनकर घबराया नही, उसने विनम्र भाव से पूछा—"मेरे लिए कौन-सा रास्ता आसान, अल्पव्ययसाध्य रहेगा ?"

महात्मा ने उसकी जिज्ञासु बुद्धि देखकर कहा—"देखो, हवाई मार्ग से बहुत जल्दी पहुँचा जा सकता है, परन्तु है वह बहुत ही खर्चीला, वह तुम्हारे बस का नही है, रहा जलमार्ग—वह भी कष्टपूर्ण है, तीसरा रेलमार्ग है, वह भी खर्चीला है। इसलिए सडक का मार्ग ही तुम्हारे लिए आसान और सुलभ रहेगा। इस राजमार्ग पर जगह-जगह तुम्हे मार्गदर्शक पत्थर भी लगे हुए मिलेंगे, जिन पर काशी कितनी दूर है और कितनी दूर तक तुम चल चुके हो, यह भी अकित रहेगा। दोनो ओर सघन पेडो की ठण्डी छाया मिलेगी। जगह-जगह तुम्हें कई सहयात्री भी मिल जायेंगे। विश्रामस्थल भी स्थान-स्थान पर मिलेंगे, जहाँ बैठ कर तुम अपनी थकान भी मिटा सकोगे, शीतल मधुर जल पीकर अपनी प्यास भी बुझा सकोगे।"

जिज्ञासु यात्री महात्मा की बात समझ गया और उसी सडक पर चल पड़ा।

यही बात जीवन यात्री के सम्बन्ध मे है। मानव को अपनी जीवन-यात्रा भी मोक्ष रूपी लक्ष्य की ओर करनी है। मोक्ष तक पहुँचने के भी महापुरुषो ने चार मार्ग बताये हैं। आचार्य विनय-विजयजी ने शान्त सुधारस भावना मे इन्ही चार मार्गों का इस प्रकार निरूपण किया है—

दान च शील च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन ।
निरूपितो यो जगता हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्रम् ॥

दान, शील, तप और भाव ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, धर्म के अग है, वीतराग परमात्मा ने ससार के प्राणियो के कल्याण के लिए इनका निरूपण किया है। यह चतुर्विध मोक्षोपाय मेरे हृदय मे सतत रमण करे।

चारो मार्गों मे सबसे आसान मार्ग—दान

ये चार मार्ग हैं—मोक्षोपाय हैं, जो मानवयात्री को अपनी मजिल तक पहुँचा देते हैं, परन्तु यात्री के सामने फिर वही प्रश्न खडा होता है कि इन चारो मार्गों से कौन-सा मार्ग उसके लिए आसान, अल्पकष्टसाध्य, सुलभ और आरामदेह होगा।

जैसे उस जिज्ञासु यात्री को महात्मा ने सडक का मार्ग सबसे आसान, अल्प-कष्ट-साध्य राजमार्ग बता दिया, वैसे ही यहाँ दान, शील, तप और भाव इन चारो मार्गों मे आसान और सर्वजनसुलभ मार्ग दान का है। क्योकि तप प्रत्येक व्यक्ति के लिए आसान नही है, और लम्बा बाह्य तप सबके लिए अनुकूल भी नही होता और तप प्रतिदिन सम्भव भी नही है। इसलिए तप आबलवृद्ध सबके लिए इतना सुलभ नही है। और शील भी विषयासक्त मनुष्यो के लिए सुगम नही है। जो सामान्य गृहस्थ हैं, उनके लिए शीलपालन दु शक्य है। फिर प्रत्येक गृहस्थ के लिए प्रतिदिन शीलपालन भी दुष्कर है। त्यागी मुनियो के लिए पूर्णरूपेण शील (ब्रह्मचर्य) का पालन विहित है, नव बाड (गुप्ति) पूर्वक ब्रह्मचर्य का विशुद्ध पालन अत्यन्त दुष्कर है।

जो व्यक्ति आरम्भ-समारम्भ मे सलग्न रहते हैं, रात-दिन गृहकार्यों मे व्यापार व्यवसाय मे या खेती आदि मे अथवा कल-कारखाने आदि आजीविका के कार्यों मे जुटे रहते हैं, उनके लिए शुद्ध भाव भी सुकर नही है। भाव तो हृदय की वस्तु है, जहाँ तक व्यक्ति आरम्भादि मे लगा रहता है, उसका दिल-दिमाग भी प्राय उसी ओर लगा रहता है। प्रतिक्षण या प्रतिदिन भाव का लगातार बना रहना भी दुष्कर है। इसीलिए एक आचार्य ने इस विषय मे बताया है—

गृहस्थो के लिए तप करना सरल नही होता,[१] विषयासक्तो के द्वारा शील-पालन भी नही होता, और आरम्भयुक्त लोगो के हृदय मे शुभ भाव पैदा होना भी कठिन है, क्योकि भाव सदा मन-मस्तिष्क के स्वाधीन होने पर ही उत्पन्न होता है।

---

१ 'न तवो सुट्ठु गिहीण, विसयासत्ताण होइ न तु सील।
सारंभाण न भावो तो साहीण सया भाव ॥

—अभिधान राजेन्द्रकोष

व्यापार आदि की चिन्ता मे उलझे हुए मन-मस्तिष्क मे उत्तम भाव कहाँ से उत्पन्न हो सकते हैं ?

इस पर से आप स्वय समझ सकते हैं कि उपर्युक्त चतुर्विध मोक्षमार्ग मे से कौन-सा मार्ग आसान और सर्वजन सुलभ है ? जब तप, शील और भाव सबके लिए सुगम और सुलभ नही हैं, तो फिर दान ही एक ऐसा मार्ग है, जो सुगम भी है, सर्वजनसुलभ भी है। दान एक छोटा-सा बालक भी कर सकता है, एक वृद्ध भी कर सकता है, एक युवक भी कर सकता है, एक महिला भी कर सकती है। भोगी एव गृहस्थ सभी के लिए दान का मार्ग आसान है, अल्प कष्ट साध्य है, असम्भव भी नही है। दान एक ऐसा राजपथ है जिस पर आसानी से चलता हुआ मनुष्य अपनी मजिल के निकट पहुँच सकता है। इसलिए दान का मार्ग ससार के सभी मानवो के लिए सुलभ है। दान के लिए तपस्या की तरह कोई कष्ट सहना नही पडता, न उसके लिए पूर्ण कठोर ब्रह्मचर्य-पालन की ही अनिवार्यता है, और न ही प्रतिक्षण उत्तम भावो से ओतप्रोत होने की आवश्यकता है। तप, शील और भाव सबसे प्रतिदिन नही हो सकते, तपस्या कोई करेगा, तभी किसी अमुक दिन या अमुक तिथियो को, उसके बाद उसे पारणा करना ही होगा, अन्न ग्रहण करना होगा, आजीवन तपस्या नही हो सकती, लेकिन दान तो प्रतिदिन हो सकता है, जिन्दगी भर हो सकता है। शील का पालन भी प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति के लिए प्रतिदिन सम्भव नही है, लेकिन दान तो बच्चे, बूढे महिला और युवक सभी के लिए प्रतिदिन सम्भव है। इसी प्रकार भावो का सातत्य भी सबके लिए आसान नही है, दान का सातत्य फिर भी सम्भव है, कम से कम प्रतिदिन तो दान का क्रम चल ही सकता है। इसलिए मोक्ष के चार मार्गों मे दान सर्वसुलभ, आसान और अल्पकष्टसाध्य होने से मानव-यात्री के लिए सर्वश्रेष्ठ राजमार्ग है।

इसीलिए उपदेशतरगिणी मे दान को इस भूमण्डल मे सर्वश्रेष्ठ बताया है—'पृथिव्या प्रवर दानम्।'

धर्म के चार चरण

मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के लिए धर्म ही उत्तम साधन है। क्योकि धर्म के द्वारा व्यक्ति अपने सचित कर्मो का क्षय कर सकता है, दानादि गुणो को अपनाकर अपने मन, वचन, काया को पवित्र बना सकता है। दुर्गति मे जाने से अपने आपको रोक सकता है। उस शुद्ध धर्म के[1] चार चरण महापुरुषो ने बताए हैं। जिनके आचरण से ही मनुष्य उपर्युक्त स्थिति प्राप्त कर सकता है। आचरण ही मनुष्य के

---

१ सो धम्मो चउभेओ उवइट्ठो सयलजिणवरिंदेहि।
दाण सील च तवो भावो वि य, तस्सिमे भेया॥"

जीवन को उन्नति के पथ पर ले जाता है। मगर धर्म का आचरण तीव्रगति मे न हो तो व्यक्ति आगे नही बढ सकता, अपने अभीष्ट लक्ष्य को भी प्राप्त नही कर सकता। इसीलिए नीतिकारो ने कहा है—

'धर्मस्य त्वरिता गति , चत्वार पादा.'

धर्म की गति तीव्र है, उसके चार चरण हैं।

नीतिकार तो इतनी-सी बात कहकर रह गए, अथवा ऊपर-ऊपर ही तैरते रह गए। मगर इसके तत्त्व की तह तक नही पहुंच सके। वास्तव मे धर्म के ये ही[1] चार चरण हैं—दान, शील, तप और भाव, जिनके सहारे से धर्म अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति कर सकता है।

यद्यपि धर्म के[2] चारो चरण महत्त्वपूर्ण हैं, धर्मरथ को चलाने के लिए इन चारो की समय-समय पर जरूरत पडती है। किन्तु दान न हो तो शेष तीनो अगो से काम नही चल सकता। दान के अभाव मे शेष तीनो चरणो से नम्रता और उदारता सक्रिय रूप नही ले सकती। दान मानव-जीवन मे स्वार्थ, लोभ, तृष्णा और लालसा का त्याग कराता है, मानवहृदय को वह करुणा, परोपकार और परसुख वृद्धि मे सहायता के लिए प्रेरित करता है। जैसे खेती करने से पहले किसान खेत की धरती पर उगे हुए कटीले झाड-झखाडो, काटो, ककड-पत्थरो, फालतू घास आदि को उखाड कर उस धरती को साफ, समतल और नरम बना लेता है, तभी उसमे बोये हुए बीज अनाज को सुन्दर फसल दे सकते हैं। वैसे ही मानव की हृदयभूमि पर उगे हुए तृष्णारूपी घास, लालसा, स्वार्थ और अहतारूपी काटो, कटीले झाड-झखाडो एव ककर-पत्थरो को उखाड कर उसे नम्र एव समरस बनाने के लिए दान की प्रक्रिया की जरूरत है, जिससे अन्य शील, तप आदि साधनाएँ भलीभाँति हो सके, धर्म भावो की फसल तैयार हो सके। निष्कर्ष यह है कि हृदयभूमि को नम्र व समरस बनाकर बोये हुए दानबीज से धर्म की उत्तम फसल तैयार होती है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो धर्म के चार चरणो मे सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक चरण दान है, वही शेष तीनो चरणो मे तीव्र गति पैदा कर सकता है।

धर्म के चार अंगो मे दान प्रथम क्यो ?

मोक्षमार्ग के चार प्रकार बताये गये हैं, जिन्हे हम धर्म के चार अग कह

---

१ 'दान सील च तवो भावो एव चउविहो धम्मो।
सव्वजिणेहि भणिओ, तहा दुहा सु आचरिते हि ॥'

—सप्ततिशतस्थान प्रकरण गा ९६

२ दुर्गति-प्रपतज्जन्तु धारणाद् धर्म उच्यते।
दानशील-तपोभावभेदात् स तु चतुर्विध ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १।१।१५२

सकते हैं, उनमे दान को प्राथमिकता दी गई है। प्रश्न यह होता है कि इन चारो मे से शील, तप या भाव को पहला स्थान न देकर दान को ही पहला स्थान क्यो दिया गया है ? इसके पीछे भी कुछ न कुछ रहस्य है, जिसे प्रत्येक मानव को समझना अनिवार्य है।

दान को प्राथमिकता देने के पीछे रहस्य यह है कि शील, तप या भाव के आचरण का लाभ तो उसके आचरणकर्ता को ही मिलता है, अर्थात् जो व्यक्ति शील का पालन करेगा, उसे ही प्रत्यक्ष लाभ मिलेगा, इसी प्रकार तप और भाव का प्रत्यक्ष फल भी उसके कर्ता को ही मिलेगा, जबकि दान का फल लेने वाले और देने वाले दोनो को प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। यद्यपि शील, तप और भाव का फल परोक्ष रूप से कुटुम्ब या समाज को भी मिलता है, किन्तु प्रत्यक्ष फल इन्हे नही मिलता। जबकि दान देने से लेने वाले की क्षुधा शान्त होती है, पिपासा बुझ जाती है, उसकी अन्य आवश्यकताओ या इच्छाओ की पूर्ति होती है, उसके दुःख का निवारण होकर सुख मे प्रत्यक्ष वृद्धि होती है और देने वाले को भी आनन्द, सन्तोष, औदार्य, सम्मान एव गौरव प्राप्त होता है। यदि दान लेने वाले को कोई लाभ न होता तो वह उसे लेता ही क्यो ? इसी प्रकार दान देने वाले को भी प्रत्यक्ष कोई लाभ न होता तो वह भी देता ही क्यो ? दान का लाभ दाता और सगृहीता दोनो को साक्षात् प्राप्त होता है। कभी-कभी दान का प्रत्यक्ष लाभ समाज को या अमुक पीडित, शोपित या अभावग्रस्त मानव को भी मिलता है। इसी कारण दान को धर्म के चार अगो मे या मोक्ष के चतुर्विध मार्ग मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

दूसरी बात यह है कि शील का पालन या तप का आचरण कभी-कभी प्रत्यक्ष दिखाई नही देता, आम जनता सहसा नही जान पाती कि अमुक व्यक्ति ने तप किया है या अमुक आभ्यन्तर तप करता है, तथा अमुक व्यक्तिशील का पालन करता है या कुशील का सर्वथा त्याग कर दिया है। जबकि दान का आचरण सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। तप और शील कदाचित् सक्रिय नही भी होते, जबकि दान सदा सक्रिय होता है। और भाव तो सदा ही परोक्ष, अज्ञात और निष्क्रिय रहता है। भाव का प्रत्यक्ष दर्शन तो सिवाय मन पर्यायज्ञानी या केवल ज्ञानी के और किसी को हो नही सकता। इस कारण भी दान को सबसे पहला नम्बर दिया गया है।

तीसरा कारण यह है कि मनुष्य जब से इस दुनिया मे आँखें खोलता है, तब से आँखें मूदने तक यानी मनुष्य-जीवन प्राप्त होने से मृत्युपर्यन्त दान की प्रक्रिया जीवन मे चल सकती है, व्यक्ति दान दे सकता है, ले सकता है, जबकि शील, तप या भाव की प्रक्रिया इतनी लम्बी, दीर्घकाल तक या जन्म से लेकर मृत्यु तक नही चलती। शील की प्रक्रिया ज्यादा से ज्यादा चलती है तो समझदारी प्राप्त होने से लेकर देहान्त तक चल सकती है। जबकि दान की प्रक्रिया तो व्यक्ति के मरणोपरान्त भी उसके नाम से पीढी-दर-पीढी तक चलती रहती है। तपश्चर्या की

प्रक्रिया भी ज्यादा से ज्यादा समझदारी प्राप्त होने से देहावसान तक चलती है, वह भी प्रतिदिन नही चलती और शरीर मे रोग, मानसिक चिन्ता या शोक हो तो तप की प्रक्रिया ठप्प हो जाती है। दान का आचरण तो रोग, व्याधि, बुढापा, शोक आदि के होते हुए भी होता रहता है। और भावो की प्रक्रिया भी समझदारी—पक्की समझ प्राप्त होने से जीवनपर्यन्त चल सकती है, लेकिन बीच-बीच मे रोग, चिन्ता या लोभादि अन्य कारण आ पडने पर उसकी धारा टूट भी जाती है। इसलिए दीर्घकाल तक, जिन्दगी भर और कभी-कभी कई पीढियो तक दान की धारा ही अखण्डरूप से बह सकती है, इस दृष्टि से भी दान को सर्वाधिक उपयोगी समझकर प्राथमिकता दी गई है।

चौथा कारण यह है कि बालको मे या पारिवारिक व सामाजिक जीवन मे उदारता, नम्रता, परदु खकातरता, सेवा, सहानुभूति एव सहृदयता के सस्कार दान से ही जग सकते हैं, दान के आचरण से ही बालको मे उदारता आदि के सुसस्कार बद्धमूल हो सकते हैं, परिवार एव समाज मे भी दूर-दूर दानाचरण के पवित्र परमाणु अपना प्रभाव डालते हैं, सारे वायुमण्डल को दान का आचरण स्वच्छ बना देता है, जबकि तप, शील या भाव के सस्कार सहसा नही पडते, न ही छोटे बच्चे उन सस्कारो को ग्रहण कर सकते हैं। दान के आचरण से या बालक के हाथ से स्वय दान कराने से उसमे बहुत ही शीघ्र उदारता, सहानुभूति आदि के सस्कार जड जमा लेते हैं। यही कारण है कि तप, शील या भाव को प्राथमिकता न देकर दान को इन चारो मे प्राथमिकता दी गई।

पाँचवाँ कारण दान को प्राथमिकता देने का यह है कि दान से समाज को सहयोग मिलता है, समाजपर दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ, सूखा, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप आ पडने पर दान से ही उस आपत्ति का निवारण हो सकता है, वह सकट मिट सकता है, जबकि तप, शील या भाव से समाज को ऐसे प्राकृतिक दु ख निवारण मे प्रत्यक्ष मे उतना सहयोग या सहारा नही मिलता। समाज के अनाथ, अपाहिज, दीन-दु खी या अभावग्रस्त व्यक्ति को दान से ही तुरन्त सहारा मिल सकता है, उनका सकट मिटाया जा सकता है। इसलिए दान को ही पहला स्थान दिया जाना उचित है।

छठा कारण दान को प्रथम स्थान मिलने का यह प्रतीत होता है कि समाज मे व्याप्त विषमता, अभाव, शोषण या असमानता को मिटाने के लिए दान का होना अनिवार्य है। धनिको के धन का, यदि समाज मे व्याप्त विषमता को कुछ अश तक कम करने के लिए दान के रूप मे व्यय होता जाय अथवा समाज की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे उनकी धनराशि व्यय होती रहे, जैसे कि औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि सस्थाओ को दिया जाता रहे तो समाज मे व्याप्त असन्तोष और प्रतिक्रिया दूर हो सकती है, समाज में सुव्यवस्था और सुख-शान्ति

व्याप्त हो सकती है। इसी दृष्टिकोण से दान जितना समाज के लिए लाभदायक, सुख-शान्तिवर्द्धक एव विषमतानाशक हो सकता है, उतने अन्य नही। अत दान को उत्कृष्ट मानकर प्रथम स्थान दिया गया है। श्रमण भगवान् महावीर ने इसी दृष्टि से गृहस्थ साधको के लिए अतिथि सविभागव्रत या यथासविभागव्रत निश्चित किया है, ताकि गृहस्थ अपनी आय एव साधनो मे से यथोचित सविभाग उत्कृष्ट साधको, सेवाव्रती सस्थाओ एव अभावग्रस्त व्यक्तियो के लिए करे।

एक और कारण है, दान को प्राथमिकता देने का, वह यह है कि गृहस्थ के जीवन मे कूटने, पीसने, पकाने, पानी के घडो को भरने तथा सफाई करने आदि मे अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ होते रहते हैं, अत इनके जरिये घर मे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र एव अतिथि आदि को देने पर पुण्य तथा नि स्वार्थ व उत्कट भावना से योग्य पात्र को देने पर धर्म का लाभ हो सकता है। इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए दान अनिवार्य तथा प्रतिदिन की शुद्धि का कारण होने से उसे महाधर्म भी कहा है। पद्मनन्दि पचविंशतिका मे स्पष्ट कहा गया है—

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जै,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि।
उच्चै फल विदधतीह यथैकदाऽपि,
प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ॥२।१३

—लोक मे अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए दिया गया दान जैसे उन्नत फल को देता है, वैसा फल घर की अनेक झझटो से उत्पन्न हुए पापसमूहो के द्वारा कुबडे यानी शक्तिहीन किये हुए गृहस्थ के व्रत नही देते।

इस विषय मे आचार्यों ने और अधिक स्पष्टीकरण किया है—प्रश्न उठाया गया है कि[1] दानादि ही श्रावको (गृहस्थो) का परमधर्म कैसे है? इसका उत्तर दिया है—"वह यो है कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के अधीन हैं, इस कारण इनके आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए निश्चयरत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके ठिकाना ही नही है, यानी अवकाश ही नही है।"

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के द्वारा हुए आरम्भजनित पापो की शुद्धि के लिए दानधर्म जितना आसान होता है, उतना शील, तप और भाव नही। इसलिए दान को गृहस्थ के लिए परमधर्म कहा है, और यही कारण उसको प्राथमिकता देने का है।

---

१ कस्मात् स एव परमोधर्म इति चेत् निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरताना निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति।
—परमात्मप्रकाश टीका २।१११

वैदिकधर्म के व्यवहारपक्ष का प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थो मे गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु 'पच वैवस्वदेवयज्ञ' का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होने वाले आरम्भजनित दोषो को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एव अतिथि इन पाचो के लिए ग्रास निकाला जाय। शील, तप या भाव का विधान वहाँ सभी गृहस्थों के लिए नही किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नही। इसीलिए परमात्मप्रकाश मे स्पष्ट कहा है—गृहस्थो के लिए आहारदान आदि परमधर्म हैं।[1]

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी सम्भव है कि जगत् मे नि स्पृह, त्यागी साधु, सन्त या तीर्थंकर आदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन न देते या न दें तो मनुष्य दुर्लभबोधि, बर्बर, नरभक्षी या पिशाचवत् अतिस्वार्थी बना रहता, अफ्रीका के नरभक्षी मनुष्यो को मानव (इन्सान) बनाने मे वहाँ के साधुओ (पादरियो व धर्मगुरुओ) ने बहुत कष्टसाध्य तप किया है। परन्तु उनमे जो भिक्षाजीवी या गृहस्थो को दान पर आश्रित साधु, सन्त हैं, उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ गृहस्थ लोग दान मे देकर पूर्ति करें तभी वे साधु अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वस्थ और सशक्त रखकर सघ (समाज) सेवा का उक्त महान् कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार के मुनियो, श्रमणो या साधु-सन्तो को आहारादि दान देकर गृहस्थ को शेष अन्न को प्रसाद के रूप सेवन करना चाहिए तथा ऐसे सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म बताया है। रयणसार मे इसी बात का समर्थन स्पष्टरूप से किया गया है—

जो मुणिभुत्तसेस भु जइ सो भु जए जिणवद दिट्ठ।
ससारसारसोक्ख कमसो णिव्वाणवरसोक्ख ॥[2]
दाण पूजामुक्ख सावय धम्मे, ण सावया तेण विणा।[3]

अर्थात्—जो भव्यजीव मुनिवरो को आहार देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है, वह ससार के सारभूत उत्तमसुखो को पाता है और क्रमश उत्तम मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है।

सुपात्र को आहारादि चार प्रकार का दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है, जो प्रतिदिन इन दोनो को मुख्य कर्तव्य मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि है। दान के बिना श्रावक श्रावक नही रहता।

---

१ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्म।—परमात्म प्रकाश टीका २/१११
२ रयणसार २२
३ रयणसार ११

इस पर से जाना जा सकता है कि दान जब जीवन मे अनिवार्य कर्तव्य है तो उसे प्राथमिकता दिया जाना कथमपि अनुचित नही है।

दान को पहला स्थान केवल इस लोक मे ही नही, देवलोक मे भी दिया जाता है। यहाँ से आयुष्य पूर्ण करके जो भी व्यक्ति स्वर्ग मे पहुँचता है, उसके लिए पहला प्रश्न यह अवश्य पूछा जाता है—किं वा दच्चा, किं वा भुच्चा किं वा किच्चा, किं वा समायरित्ता ? अर्थात् यह मनुष्यलोक से स्वर्ग मे आया हुआ जीव वहाँ क्या दान देकर, क्या उपभोग करके, क्या कार्य करके अथवा क्या आचरण करके आया है ? मतलब यह है कि देवलोक मे पहुँचते ही सर्वप्रथम और बातो का स्मरण न करके दान के विषय मे ही पूछा जाता है, दान की ही बात सबसे पहले याद की जाती है, अन्य बातें बाद मे पूछी जाती हैं।

इससे आप अदाजा लगा सकते हैं कि महापुरुषो ने दान को धर्म के चार अगो या मोक्ष के चार मार्गों मे पहला स्थान क्यो दिया है ?

☆

3

दान से विविध लाभ

दान से क्या लाभ ?

कई लोग लाभवादी दृष्टिकोण के होते हैं, वे किसी काम को करने से पहले उसके हानि-लाभ के बारे मे अवश्य सोचेंगे, एक बार नही, बार-बार। अगर उस काम से कुछ फायदा नजर आता है तो वे उस कार्य को करने मे वे प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा हर्गिज नही। अगर उन्हें उस कार्य मे जरा-सी हानि मालूम होती है तो वे उस कार्य को करने मे हिचकिचाते हैं।

समझदारो की एक उक्ति है—प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् किसी भी काम मे मूर्ख या मन्दबुद्धि भी तब तक प्रवृत्त नही होता, जब तक वह उस कार्य का प्रयोजन न जान ले अथवा उस कार्य का महत्त्व न समझ ले। मतलब यह है कि समझदार मनुष्य किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही कार्य करता है।

दान के सम्बन्ध मे भी यह बात तर्कशील व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं कि दान हम क्यो दें ? एक तो हम अपनी चीज से वंचित हो, और फिर उसके देने से कोई प्रयोजन (मतलब) भी सिद्ध न होता हो, दान देने से तिजोरी या भण्डार खाली भी हो और बदले मे कुछ भी लाभ न मिले, तो ऐसे दानकार्य मे विवेकी व्यक्ति सहसा कैसे प्रवृत्त होगा ? क्योकि दान मे तो अपने स्वामित्व की कुछ-न-कुछ चीज निकाली या छोडी ही जाती है, अगर दान के रूप मे किसी वस्तु को छोडने से कोई लाभ भी न हो, तब ऐसा घाटे का सौदा भला कौन बुद्धिमान करना चाहेगा।

दिया हुआ कुछ भी निष्फल नहीं जाता—

इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर मे नीतिकार कहते हैं—

पात्रे धर्मनिबन्धन तदितरे श्रेष्ठ दयाख्यापकम्,
मित्रे प्रीतिविवर्धन तदितरे वैरापहारक्षमम्,
भृत्ये भक्तिभरावह नरपतौ सम्मानसम्पादकम्,
भट्टादौ सुयशस्कर वितरणं न क्वाऽप्यहो निष्फलम् ॥

—सिन्दूर प्रकरण—८१

दान कही भी निष्फल नही जाता। देखो, सुपात्र को दान देने से वह धर्म

का कारण बनता है। दीन-दुःखी या अनुकम्पा योग्य पात्रो को देने से वह दाता की दया को बखानता है। मित्र को देने से परस्पर प्रेम बढाता है, और शत्रु को दान देने से वह वैर भाव को नष्ट कर देने मे समर्थ है। भृत्य (सेवक) को दान देने से उसके दिल मे भक्ति का प्रवाह पैदा करता है। राजा को देने से सम्मान दिलाता है। चारण भाट आदि को देने से वह कीर्त्ति फैलाता है। सचमुच, दान कभी निष्फल नही जाता।

सुपात्रदान से एकान्त धर्म-प्राप्ति

वास्तव मे दान कभी व्यर्थ नही जाता। दान से एकान्त धर्म-प्राप्ति होती है। एक सुपात्र महामुनि श्रमण या त्यागी साधु को दान देने से वह धर्म का कारण बनता है। बशर्ते कि उस दान के पीछे कोई नामना-कामना-लोभ या स्वार्थ की भावना न हो। विधिपूर्वक दिया हुआ दान सवर और निर्जरा का कारण बनता है।

उस दान मे वस्तु महत्त्वपूर्ण नही होती, भाव ही महत्त्वपूर्ण होता है, भावो से ही कर्मों का क्षय होता है और भावो से ही आते हुए कर्मों का निरोध होता है। आचाराग सूत्र मे इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से बताया गया है कि—"केवल ज्ञानी[1] (मतिमान) वर्द्धमान स्वामी ने बताया है, कि समनोज्ञ व्यक्ति, समनोज्ञ (सुविहित) साधु को अशन-पान-खादिम या स्वादिम आहार-वस्त्र-पात्रया शय्या प्रदान करे, उसे निमन्त्रित करे, परम आदरपूर्वक उसकी वैयावृत्य (सेवा) करे तो वह धर्म का आदान (ग्रहण) करता है।"

सुबाहुकुमार ने सुदत्त अनगार को भक्ति बहुमानपूर्वक प्रासुक एषणीय आहार दिया था, जिसके फलस्वरूप उसे अपार ऐश्वर्य तथा अन्त मे मोक्ष प्राप्त होगा। यानि तत्काल तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई, परन्तु उसके बाद वह महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनेगा। यह है सुपात्र दान का महाफल, जिसका महत्त्व जैन-वैदिक-बौद्ध आदि सभी धर्म-ग्रन्थो ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

जैनागम भगवती सूत्र मे तथारूप श्रमण या माहण को दिये गये दान को एकान्त निर्जरा-धर्म का कारण स्पष्ट रूप से बताया गया है।[2]

---

१ धम्ममायाणह, पवेदिय वद्धमाणेण मइमया, समणुण्णे समणुण्णस्स असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा वत्थ वा पाय वा सेज्ज वा पाएज्जा-णिमतेज्जा कुज्जा-वेयावडिय पर आढायमाणे। —आचाराग १ श्रु० ८-अ २ उ

२ समणोवासगस्सण भते ! तहारूव समण वा, माहण वा फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?

गोयमा ! एगतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ। —भगवती ८।६

'भगवन् ! श्रमणोपासक (सद्‌गृहस्थ) यदि तथारूप श्रमण या माहन को प्रासुक एषणीय आहार देता है तो उसे क्या लाभ होता है ?'

'गौतम ! वह एकान्त कर्म निर्जरा (धर्म प्राप्ति) करता है, किन्तु किञ्चित् भी पापकर्म नही करता।'

यह है दान से धर्म-प्राप्ति रूप फल का ज्वलन्त प्रमाण ! इसीलिए चाणक्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र मे दान को धर्म (दान धर्म) स्पष्ट रूप से कहा है।

इससे आगे बढकर दान का फल समाधि प्राप्ति बताया है।

दान से समाधि-प्राप्ति

(जिस समाधि (मानसिक शान्ति, परम आनन्द) के लिए लोग जगलो की खाक छानते हैं, पहाडो मे घूमते हैं, यौगिक क्रियाएँ करते हैं, दीर्घ तप और त्याग करते हैं, फिर भी उन्हे वास्तविक समाधि प्राप्त नही होती। लेकिन भगवती सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि त्यागी श्रमण-माहनो को जो श्रमणोपासक (सद्‌गृहस्थ) उनके योग्य कल्प्य वस्तुओ का दान देकर उनको समाधि (सुखशान्ति) पहुँचाता है, उस समाधि-कर्ता को समाधि प्राप्त कराने के कारण समाधि प्राप्त होती है।[1])

(शालिभद्र ने पूर्व जन्म मे ग्वाले के पुत्र के रूप मे एक मासिक उपवास के तपस्वी मुनि को उत्कट भावो से दान देकर सुखसाता पहुँचाई थी। उसका फल उसे भी सुख शान्ति (साता वेदनीय) के रूप मे मिला।)

इटली की एक ऐतिहासिक घटना है। शर्दियो के दिन थे। लोग गर्म कपडे पहने हुए बाजारो मे घूम रहे थे। तभी एक बालक अपनी माँ के साथ बाजार आया। बालक की आयु ७ वर्ष से अधिक न थी। सडक पर एक बूढा भिखारी बैठा था। वह भीख माग रहा था। बूढा शर्दी से ठिठुर रहा था। बेचारे के शरीर पर फटे-पुराने चिथडे थे। बालक की नजर भिखारी पर पडी। अपनी माँ की उँगली छोड कर वह बूढे को एकटक देखने लगा और अपनी माँ से कहा—"माँ ! इसे जरूर कुछ दो। बेचारा भूखा होगा। देखो न, बेचारा ठड से काँप रहा है।"

बूढे भिखारी की आँखो से खुशी के आँसू टपकने लगे। वह बोला—"यह बालक एक दिन बडा आदमी बनेगा। दु खियो के लिए इसके दिल मे बडा दर्द है। फिर बूढे ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसे आशीर्वाद दिया।

यही बालक बडा होने पर इटली का नेता—'मेजिनी' बना।

अत दु खियो और पीडितो को दान देकर उनके दु ख मिटाने से उनके हृदय

---

१ 'समणोवासएण तहारूव समण वा जाव पडिलामेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति। समाहिकारएण तमेव समाहिं पडिलभई॥
—भगवती सूत्र श ७ उ १

से भी आशीर्वाद के फूल बरस पडते हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र मे आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट कहा है—दान से सातावेदनीय (शारीरिक, मानसिक सुख-शान्ति और समाधि) की प्राप्ति होती है। अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा करना, वृत्ति (आजीविका) देना यथोचित रूप से दान देना—सराग सयम आदि का योग, क्षमा और शौच ये सातावेदनीय के बन्ध के कारण है।[1]

दान से दूसरो के हृदय को शान्ति और समाधि पहुँचती है, इस कारण दानदाता को उन दु खितो और पीडितो के अन्तर की हजार-हजार दुआएँ और आशीषें मिलती हैं।

ससार मे अनेक मनुष्य ऐसे हैं, जिनके पास अपना कहने को कोई मकान तो दूर रहा, पर सिर छिपाने को भी झोपडा भी नही, जो फटेहाल है, जिनके तन पर पूरे कपडे भी नही हैं सर्दी से शरीर ठिठुर रहा है, अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके पास खाने के लिए एक जून की रोटी भी नही है, और न ही उनके पास पर्याप्त पैसा है। विश्व मे कई लोग अन्धे, अपाहिज और अशक्त हैं, दरिद्र हैं, असाध्य रोग से ग्रस्त हैं, ऐसे जरूरतमन्द एव दयनीय व्यक्तियो को अनुकम्पा-पात्र समझ कर दान देने से उनकी अन्तरात्मा मे सन्तोप पैदा होता है, उनके अन्तर से ऐसे दाता के प्रति आशीर्वाद फूट पडता है। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि दान मानव-जीवन मे समाधि प्राप्त करने का उत्कृष्ट कारण है। जो जिसको साता पहुँचाता है, दानादि के द्वारा, उसे अवश्य ही सुखसाता मिलती है। उससे भी बढकर उसे हजारो-लाखो व्यक्तियो द्वारा आशीर्वाद, प्रशसा और सद्भावना के शुभ शब्द सुनने को मिलते हैं।

दान : सद्भावना पैदा करने का करण

अगर ऐसे अनुकम्पापात्रो को समय पर दान न दिया जाय तो ससार मे विपमता फैलती है, ऐसे दीन-हीन दु खीजनो के हृदय मे भयकर प्रतिक्रिया पैदा होती है, कभी-कभी तो वह विद्रोह का रूप ले लेती है।

अत इस प्रकार की गरीबी-अमीरी की विपमता, भयकर प्रतिक्रिया, विद्रोह की भावना आदि उत्पातो को मिटाकर ससार मे शान्ति और सुव्यवस्था, रखने के लिए सद्भावना पैदा करने के लिए दान ही ऐसा अमोघ परम मत्र है। हरिभद्रसूरि ने अष्टक मे इसी रहस्य का उद्घाटन किया है[2]—

"दान देने वाले और लेने वाले दोनो मे शुभ आशय को पैदा करता है, धनसम्पन्न की धन के प्रति जो ममता और अहता का अभिनिवेश (आग्रह) है, उसे वह

---

१ 'भूतवृत्त्यनुकम्पादान सरागसयमादियोग क्षान्ति शौचमिति सद्वेद्यस्य।'

२ "दान शुभाशयकर ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च।
सदभ्युदयसाराङ्गमनुकम्पाप्रसूति च॥"

तोड देता है, दान अभ्युदय की परम्परा को बढाता है, धर्म का सारभूत (श्रेष्ठ) अग है और हृदय मे अनुकम्पा को जन्म देने वाला है।"

दान का यह लाभ क्या कम है ? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक सस्था या समाज दूसरी सस्था या समाज को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दु ख, कष्ट, अभाव, तगी, प्राकृतिक प्रकोप, आफत या जरूरत के समय सद्भावना और सदाशयता बनाये रखने के लिए दान देता है। साथ ही समय पर दान देने से वहाँ की सुरक्षा व सुव्यवस्था बनी रहती है। इसलिए समाज या राष्ट्र आदि की सुव्यवस्था को टिकाए रखने के लिये तथा सुख-शान्ति के लिये भी दान की प्रवृत्ति जारी रखना अनिवार्य है। मान लो, किसी प्रान्त, या राष्ट्र पर आफत या सकट के समय उसे दान नही मिलेगा तो वह भूख या किसी अभाव से पीडित होकर अनीति, चोरी, हत्या, लूटपाट या अन्य बुराइयाँ करने पर उतारू हो जाएगा।

भारत का इतिहास साक्षी है कि जब-जब भारत के किसी प्रान्त मे दुष्काल की छाया पडी है और मनुष्य त्राहि-त्राहि करके मरने लगा है, उस समय यातायात के साधनो के अभाव मे या अन्य किसी कारणवश उस भूखी जनता को अन्नदान के रूप मे सहायता नही पहुंचाई गई है तो वे चोरी करने पर, अपने स्वय के दुधमुँहे बच्चो को मारकर खाने पर या लूटपाट आदि करने पर आमादा हो गये हैं। भूखा आदमी धर्म-कर्म को ताक मे रख देता है, उस समय उसे सिवाय पेट भरने के और कुछ नही सूझता—'बुभुक्षित न प्रतिभाति किंचित्।' इसीलिए नीतिकार कहते हैं— भूखा आदमी कौन-सा पाप नही कर बैठेगा, यह नही कहा जा सकता—बुभुक्षित किं न करोति पापम्' भूखा आदमी या पीडित व्यक्ति जब यह देखता है कि अमुक सम्पन्न व्यक्ति के कोठार मे अनाज भरा पडा है, अमुक व्यक्ति अच्छा खाते-पीते और पहनते हैं, और मैं भूख के मारे मरा जा रहा हूँ, कमाई कुछ होती नही, या शरीर से अशक्त या अपाहिज हूँ, तब वह लूटपाट और अपहरण करने पर उतारू हो जाता है, ऐसी स्थिति समाज या राष्ट्र मे विषमता और अव्यवस्था को जन्म देती है। आखिर ऐसे दु खी, दीनहीन एव भूखे व्यक्ति अमुक समाज, व्यक्ति या सस्था को कोसते हैं, उनकी आँखों मे धनवान और साधन-सम्पन्न के धन और साधन खटकने लगते हैं। वे फिर कम्युनिस्टो या नक्सलपथियो की शरण मे जाते हैं और वे हिंसा और मारपीट या जबरन लूट द्वारा समानता स्थापित करने की सलाह देते हैं।

पोचमपल्ली (हैदराबाद) मे जब एक रात मे साम्यवादियो की राय से कई जमीदारो का सफाया कर दिया गया, तो उस नृशस हत्याकाण्ड को देखकर चारो ओर त्राहि-त्राहि मच गई तो राष्ट्र सन्त विनोबाजी पैदल यात्रा करके वहाँ पहुँचे। सारी स्थिति का अध्ययन किया तो पता लगा कि जमीदारो ने गरीबो के पास रोटी का कोई साधन (जमीन) नही दिया है, बार-बार चेतावनी देने के बावजूद भी ये जमीदार नहीं समझे, न उन्होने अपनी जमीन मे से गरीबो को रोटी का साधन दिया

और न ही उन्हे कही रोजगार धधा दिया, फलत साम्यवादियो से मिलकर उन्होने एक ही रात मे बहुत-से जमीदारो का कत्ल कर दिया है। विनोबाजी ने इसका अहिंसक हल खोज निकाला—'भूदान'। उन्होने बताया कि दान ही वह सजीवनी औषध है, जो जमीदारो और गरीबो (भूमिहीनो) को जिला सकती है। उन्होंने अपनी सभा मे उपस्थित लोगो के सामने 'भूमिदान' की माग की "है कोई इन भूमिहीन गरीबो को भूमि देकर विषमता को मिटाने के लिए तैयार ?"

सभा मे से रामचन्द्रन् रेड्डी नामक एक जमीदार खडा हुआ और उसने अपनी जमीन मे से १०० एकड जमीन भूमिहीनो मे बाट देने की घोषणा की। बस, वही से भूदान की गगा वह चली और सारे हिन्दुस्तान मे फैल गई। स्वेच्छा से दिये गए भूदान के प्रभाव से जमीदारी अत्याचार बन्द हो गए, भूमिहीन लोग शान्त हो गए। भूमिधरो के हृदय मे भी करुणा और सहानुभूति प्रगट हुई। कई जगह तो भूमिहीनो ने भूदाताओ को अन्तर से दुआ दी है।

इसीलिए भारतवर्ष मे जब-जब किसी प्रान्त या प्रदेश मे दुष्काल पडा है या बाढ, भूकम्प आदि की आफत आई है, साधनसम्पन्न लोगो ने मुक्तहस्त से सद्भावना-पूर्वक दान दिया है, साधन जुटाएँ हैं।

गुजरात मे जब भयकर दुष्काल पडा था। जनता दाने-दाने को तरस रही थी। तभी गुजरात के खेमाशाह देदराणी जैसे कई शाहो ने मिलकर उस भयकर दुष्काल-निवारण का जी-तोड प्रयत्न किया।

इसी प्रकार जगडूशाह ने अकेले ने विक्रम सम्वत् १३१२ के बाद ३ साल तक गुजरात मे पडे हुए भयकर दुष्काल के निवारण के लिए मुक्तहस्त से अन्नादि देकर उस प्रदेश की सुखशान्ति और सुव्यवस्था कायम रखी। जगडूशाह की दानवीरता की प्रशसा सुनकर अणहिलवाडे के राजा वीसलदेव ने अपने मत्री को भेजकर जगडूशाह को बुलाया। राजदरबार मे जगडूशाह का बहुमान करने के बाद राजा ने उनसे पूछा—"सुना है, तुम्हारे पास ७०० गोदाम अन्न के हैं। अत दुष्काल पीडितो की भूख की पीडा मिटाने के लिए तुमसे अन्न लेने के विचार से मैंने तुम्हे कष्ट दिया है।"

जगडूशाह ने राजा की बात सुनकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—"महाराज! वह अन्न प्रजा का ही है। यदि मेरे कथन पर विश्वास न हो तो गोदामो मे लगे ताम्रपत्र देख लीजिए।" फौरन ताम्रपत्र मगवाया गया। जिस पर लिखा था—

'जगडू कल्पयामास रकार्थं हि कणानमून्।'

—और ८ हजार मूडे यानी ३२ हजार मन अन्न जगडूशाह ने महाराजा वीसलदेव को यह कहकर सौंप दिया—"अगर किसी का भी प्राण दुर्भिक्ष से गया तो मुझे भयकर पाप लगेगा।" उस समय दुष्काल का प्रभाव लगभग सारे देश मे

था। इसलिए जगडूशाह ने सिन्धु देश के राजा हमीर को १२ हजार मूडे, मोइज्जुद्दीन को २१ हजार मूडे, काशी के राजा प्रतापसिंह को ३२ हजार मूडे और स्कंधिल के राजा को १२ हजार मूडे अन्न दुष्काल निवारण के लिए दिया। ११२ दानशालाएँ खुलवाई तथा कुलीन तथा मागने मे शर्माने वाले व्यक्तियो के लिए करोडो सोने की दीनारें मोदक मे गुप्तरूप से रखकर भिजवाई।

इस पर से सहज ही समझा जा सकता है कि दुर्भिक्ष आदि के समय दान का कितना मूल्य है? उस समय भी निरहकारिता पूर्वक दान देने वाले जगडूशाह को कितना गौरव प्रत्यक्ष मे मिला, कितने अन्तर से आशीर्वाद मिले होगे। और दानवृत्ति के साथ करुणाभावना के कारण कितना पुण्य, कितनी निर्जरा और सवररूप धर्म उपार्जित किया होगा! इसीलिए पचाशक-विवरण मे कहा है—

दानात्कीर्ति सुधा शुभ्रा दानात्सौभाग्यमुत्तमम्।
दानात्कामार्थमोक्षा स्युर्दानधर्मो वरस्तत ॥

(—दान से अमृत के समान उज्ज्वल कीर्ति फैलती है, दान से मनुष्य को उत्तम सद्भाग्य (पुण्य) प्राप्त होता है। दान से काम, अर्थ और मोक्ष का लाभ होता है। इसलिए दानधर्म श्रेष्ठ है।)

जहाँ शक्ति और साधन होते हुए भी अगर दान न किया जाय तो उससे भयकर परिणाम आता है, यह प्राचीनकाल के इतिहास से भी प्रमाणित हो चुका है और वर्तमान मे भी कई जगह ऐसी घटनाएँ होती देखी जाती है।

जिस समय राष्ट्र एव समाज पर कोई आफत आती है, कई वार भूकम्प, बाढ या दूसरे राष्ट्र द्वारा आक्रमण का खतरा बढ जाता है, उस समय भारत के लोगो से जब-जब राष्ट्रीय सरकार ने अपील की है, तब-तब भारत के दीर्घद्रष्टा उदारचेता लोगो ने राष्ट्र के आपद्ग्रस्त, बाढपीडित या भूकम्पग्रस्त मानवो को बचाने के लिए तन, मन, धन एव साधनो से जी-जान से मुक्तहस्त से दान दिया है, यहाँ की नारियो ने उदारहृदय से अपने गहने, खाने-पीने का सामान एव नकद रुपये भारत पर चीन एव पाकिस्तान के आक्रमण के समय दिये हैं। वास्तव मे, देश को बचाया है तो भारत की जनता के दान ने ही, बगलादेश को भी बचाया है तो भारत की जनता के उदारहृदय से दान के रूप मे सहायता ने ही।

दान से देश की सुरक्षा और शत्रुता का नाश

दान से किस प्रकार नगर, राष्ट्र या प्रदेश को शत्रु के द्वारा होने वाले विनाश एव लूटपाट से बचाया जाता है और वैरी को भी कैसे वश मे किया जा सकता है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण पढिए—

अहमदाबाद उस समय घोर विपत्ति मे डूबा हुआ था। सूबेदार इब्राहीम कुलीखाँ और सिपहसालार हमीदखाँ का झगडा इस विपत्ति का कारण था। हमीदखाँ

निजाम-उल-मुल्क का चाचा था। उसके पास मराठा सेना थी। अहमदावाद की रक्षा का भार इब्राहीम कुलीखाँ के हाथो मे था। परन्तु वह हमीदखाँ के आगे टिक न सका। भद्र के किले को आँधी की तरह घेर लिया। इब्राहीम कुलीखाँ डर कर घर-किले मे जा छिपा। अहमदावाद का कोई रक्षक नही रहा ज्यो ही भद्र का किला टूटा, हमीदखाँ की सेना ने शहर मे लूटपाट, हत्या, मारपीट, अग्निकाण्ड आदि करके विनाशलीला प्रारम्भ कर दी। सोचा—द्वार पर आए हुए इस विनाश को कैसे रोका जाय ? जनता को जय-पराजय से कोई सरोकार नही था, वह शान्ति से सम्मान-पूर्वक जीना चाहती थी।

जव विनाशलीला किसी तरह न रुकी तभी एक जैन वणिक्, जैन-जीवन का सच्चा उपासक, कधे पर दुशाला डाले आगे आया। नाम था—नगरसेठ खुशालचन्द्र ! अनेक वर्षो से कई पीढियो से अहमदावाद की १८ जातियो की नगरसेठाई उसको मिली हुई थी। सेठ शान्तिदास के समय से उसे नगरसेठ पद मिला था। इसी कारण नगरसेठ का कर्तव्य होता था—विपत्ति से शहर की सुरक्षा करना, नष्ट होने से वचाना। वे यह वखूवी जानते थे कि शहर की समृद्धि की रक्षा के विना अपनी समृद्धि की रक्षा हर्गिज नही हो सकती। निर्धन वने हुए शहर मे धनिक व्यक्ति शान्ति से नही रह सकता। अपनी समृद्धि की रक्षा के लिए नगर की समृद्धि की रक्षा अनिवार्य है।' अत नगरसेठ खुशालचन्द्र स्वय उस आग से खेलने गए। समय ऐसा था कि आने-जाने वाला सुरक्षित नही था, तथापि वे सेनापति हमीदखाँ के पास सकुशल पहुँच गए। उन्होने उससे विनम्र प्रार्थना की कि नगर को अराजकता से वचाकर शीघ्र सुव्यवस्था एव अमनचैन किया जाय।'

सेनापति आरक्त नेत्रो से नगरसेठ की ओर घूरकर देखने लगा। अहमदावाद की जरी की पगडी और स्वर्णकुण्डलो से सुशोभित सोम्याकृति से सेनापति प्रभावित हो गया। उसने कहा—"पहले धन का ढेर सामने रखो ! उसके विना सेना वापिस नही लौट सकती।" "धन दूंगा, माँगो जितना दूंगा, लेकिन सेना को वापिस लौटाओ। ये अग्नि की ज्वालाएँ, सम्पत्ति का सर्वनाश, दीनो के आश्रयस्थानो का सत्यानाश और निर्दोष नागरिको की हत्याएँ मुझसे नही देखी जाती।" नगरसेठ के शब्दो मे हृदयद्रावकता थी। "अहमदावादी वनिये ! माँगू जितना धन देगा ?" सेना-पति ने गरजकर कहा। "हाँ, अवश्य दूंगा।" नगरसेठ ने कहा। किन्तु 'हाँ' कहने वाला यह वनिया जानता था कि इस प्रकार सारा उत्तरदायित्व उसके अपने कन्धो पर आएगा। एक 'हाँ' के पीछे तिजोरी का पेंदा दिख जाएगा। फिर भी नगरसेठ अपने वचन पर दृढ रहे। अपनी सम्पत्ति वचा लेने का स्वार्थी विचार उनके मन को छू भी नही सका। "आदेश दो, सेना वापिस लौट जाए। आपके कथनानुसार रकम अभी ले आता हूँ।"

सेना को वापिस लौटाने की रणभेरी वजी। लूटमार करने वाली सेना उसी

समय शिविरो मे पहुँच गई। अग्नि से जले हुए मकान बुझाए गए। जनता ने निश्चिन्तता की ठण्डी साँस ली।

कुछ ही देर बाद ४ बैलो के सुन्दर रथ मे रुपयो की थैलियाँ आ गई। सेनापति के सामने रुपयो का ढेर लग गया। सेनापति नगरसेठ की इस दानवीरता से प्रसन्न हो उठा। उसने नगरसेठ की प्रशसा करते हुए कहा—"सेठ! तुम्हारा नगर अब सुरक्षित है। तुम्हारे उदारतापूर्वक धनदान ने नगर को बचा लिया।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने सन्तुष्ट होकर कहा—"मुझे धन की परवाह नही, मुझे चिन्ता थी कि किसी तरह शहर विनाश-लीला से बच जाय। धन तो समाज से ही कमाया है और समाज के चरणो मे—सकट से रक्षा के लिए इसे अर्पण करने मे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।"

पीढियो से उपार्जित और सचित धन को एक विदेशी के द्वार पर उडेल दिया। कल हुडियाँ कैसे सिकरेंगी? थोडी पूंजी से इतना बडा व्यापार कैसे चलेगा? इसकी चिन्ता उन्हे नही थी। सोचा—"चलो, अच्छा हुआ। पैसा देना पडा, किन्तु शहर बच गया। विरोधी अपना बन गया, यह क्या कम हुआ!"

नगरसेठ घर पहुँचे। बात चारो ओर फैल गई—"अजी! नगरसेठ खुशालचन्द्र ने हमको—हमारे शहर को बचाया है। आज शहर की सम्मान रक्षा और लूट-मार, उपद्रव आदि से सुरक्षा सिपाहियो ने नही, सरदारो ने नही, एक सेठ ने की। अपना सर्वस्व धन देकर। अत अब हमे अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। शहर के प्रमुख व्यापारी एकत्र हुए। उन्होने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि नगरसेठ के समक्ष हम सब बडे व्यापारी यह प्रतिज्ञापत्र लिखकर दें कि अहमदाबाद के बाजार मे जितना माल कांटे पर तुलेगा, उस पर चार आने प्रतिशत नगरसेठ को दिया जाएगा।" तुरन्त प्रतिज्ञापत्र लिखा गया। उस पर हिजरी सवत् ११३७, १० माह शाबान तारीख डाली गई। उस पर राजमुद्रा भी लगाई गई। किशोरदास, रणछोडदास आदि प्रसिद्ध व्यापारियो के हस्ताक्षर थे। तब से नगरसेठ को यह रकम बराबर मिलती गई।

यह है दान के द्वारा नगर की सुरक्षा और विरोधी को अपना बनाने की कला! जब मेवाड भूमि यवनो द्वारा पददलित होने से बचाई न जा सकी। हल्दीघाटी के युद्धत्याग के बाद महाराणा प्रताप मेवाड के पुनरुद्धार की इच्छा से वीरान जगलो मे भटक रहे थे। वे पेचीदा उलझन मे थे। महाराणा प्रताप निराश और असहाय होकर मेवाडभूमि को अन्तिम नमस्कार करके जाने वाले थे, उनके मन्त्री भामाशाह को यह पता लगा। उनकी आँखो मे आँसू छलक आए। उन्होने सोचा—धन तो मुझे फिर मिल सकता है, लेकिन खोई हुई मेवाडभूमि की स्वतन्त्रता फिर मिलनी कठिन है।" अत भामाशाह २५ लाख रुपये तथा २० हजार अशर्फियाँ लेकर प्रताप के पास पहुँचे। उनसे भामाशाह ने कहा—"ओ अन्नदाता! आप ही

मेवाड भूमि को अनाथ छोडकर चले जायेंगे तो उसका क्या हाल होगा ? "भामा ! क्या करूं ! लडाई लडने के लिए मेरे पास सेना नही है, न सेना के लिए रसद है और न ही उन्हे वेतन देने के लिए रुपये हैं। मैं स्वय थक कर निराश हो गया !" —राणा ने कहा। भामाशाह—"अन्नदाता ! इसकी चिन्ता न करें। ये लीजिए २५ लाख रुपये की थैलियाँ और २० हजार सोने की मुहरे। इनसे २५ हजार सैनिको का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकेगा। आप मेवाड भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट (दान) स्वीकार करें।" महाराणा प्रताप भामाशाह द्वारा दिये गये इस दानस्वरूप धन को देखकर खुश हो गए। उनकी आँखो मे चमक आ गई। उन्होने भामाशाह को विश्वास दिलाया कि अब मैं पूरे जी जीन से मेवाड की स्वतन्त्रता के लिए लडूंगा।

यह था दानवीर भामाशाह के दान का अद्भुत प्रभाव !

दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है

यह पहले कहा जा चुका है कि दान से बडे-से बडा वैर-विरोध शान्त हो जाता है। इसका फलितार्थ यह भी होता है कि दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है। महापुरुषो द्वारा यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब भी कोई व्यक्ति उदार बन जाता है, अपने शत्रु को शत्रु नही मानता, घर आने पर उसका दान-सम्मान से स्वागत करता है, उसके साथ मैत्रीभाव या बन्धुभाव रखता है तो वह दान—चाहे थोडी ही मात्रा मे हो, शत्रु का हृदय बदल देता है, उसका शत्रुभाव मित्रभाव मे परिणत हो जाता है। पद्मपुराण इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है—

'शत्रावपि गृहाऽऽयाते नास्त्यदेय तु किञ्चन'

—अगर शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नही है। देने से मधुरता बढती है।

इस्लामधर्म के सस्थापक हजरत मुहम्मद पैगम्बर जिन दिनो मक्का मे इस्लामधर्म का प्रचार कर रहे थे, उन दिनो धर्म और रूढियो के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जिंदा जला देता था। अरबस्तान मे ऐसे व्यक्ति के लिए जिंदा रहना बहुत बडी समस्या थी, फिर धर्म का प्रचार करना तो और भी दुष्कर कार्य था। परन्तु हजरत मुहम्मद बडे कष्टसहिष्णु और उदार थे। उन्हे लोगो को खुदा का पैगाम सुनाना था। इसलिए वे सभी विपत्तियो का धैर्य से सामना करने के लिए तैयार रहते थे। चाहे वे सहनशील थे, किसी व्यक्ति को पीडा नही पहुँचाते थे, फिर भी पुरानी परम्परा के बहुत-से लोग उनका विरोध करते थे।

एक बार एक विरोधी ने प्रण किया कि "मैं जब तक मुहम्मद का सिर नही काट लूंगा, तब तक खाना नही खाऊंगा और इस तलवार को भी तब तक म्यान

मे नही डालूंगा ।" वह व्यक्ति दोपहर मे ही रेगिस्तान पार करता हुआ मक्का आ धमका । उसने एक मकान के पास किसी को बैठा देखकर पूछा—"क्यो भाई ! मुहम्मद यहाँ कहाँ रहता है ?" उस व्यक्ति ने कहा—"भाई ! तुम बहुत ही घबराये हुए हो, अत पहले सुस्ता लो, फिर मुहम्मद की तलाश करना ।"

आगन्तुक—"मैं जब तक मुहम्मद का सिर नही काट लूंगा, तब तक और कुछ नही करूगा ।" "तुम इतनी तेज धूप मे आए हो, पहले जरा ठडे हो लो, फिर मुहम्मद को बतला देंगे, और तब तुम उसका सिर काट लेना । मालूम होता है, तुम बहुत ही भूखे-प्यासे हो ।" उस व्यक्ति ने पुन सहानुभूति बतलाई । विरोधी ने कहा—"चाहे मुझे कितनी ही भूख-प्यास हो, मगर पहले अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है ।" आगन्तुक को समझा-बुझाकर ठहराया, और वह अपने घर मे गए । अपनी बीबी से बची हुई रोटी ली, और बकरी के दूध मे चूर कर तथा पानी का गिलास लेकर बाहर आए । समझाने पर आगन्तुक ने पानी पीकर खाना शुरू किया । आगन्तुक इस प्रकार के दान-सम्मान से बहुत प्रभावित होकर आभार स्वरूप कहने लगा—"भाई ! तुम कितने भले हो ! उस मुहम्मद के गाँव मे तुम कैसे रहते होगे ?" जब उसने खा-पी लिया, तब पूछा—"हाँ, अब ले चलो, मुझे मुहम्मद के पास ।"

उस आदमी ने मुस्करा कर कहा—"मुहम्मद सामने ही हाजिर है, सिर उतार लो ।"

"अरे ! यह क्या ? मुहम्मद और इतना उदार व दयालु ! तो क्या यह भोजन और ठडा जल मुहम्मद ने ही दिया है ? क्या मैं अभी तक मुहम्मद से ही बातें कर रहा था ?" आगन्तुक ने पूछा ।

मुहम्मद ने कहा—"हाँ, भाई ! मुहम्मद यही है । यही आपकी खिदमत मे हाजिर था ।" यह सुनते ही विरोधी पानी-पानी हो गया । उसके हाथ से तलवार छूट गई उसने नतमस्तक होकर हजरत मुहम्मद से क्षमा मागी और कहा—आज से मुझे अपना मित्र और सेवक समझें ।" मुहम्मदसाहब ने उसे गले लगाया और उसे अपना पट्ट शिष्य बनाया ।

वास्तव मे मुहम्मदसाहब के उदारतापूर्वक दान, सम्मान का ही यह प्रभाव था, कि शत्रु भी मित्र बन गया ।

दान मैत्री का अग्रदूत

भारतवर्ष मे जब-जब इस प्रकार के प्राकृतिक प्रकोप या सकट आए है, तब-तब जनता ने और नरपतियो ने दिल खोलकर भरसक सहायता दान के रूप मे की है । उन्होने मुक्तहस्त से अपना अन्न भडार खोल दिया है, कई लोगो ने अपनी हैसियत के अनुसार दुष्काल के समय क्षुधापीडितो को किसी भी प्रकार के जाति पाँति या धर्म-कौम के भेदभाव के बिना अपनी सम्पत्ति एव साधन दिए हैं ।

कई बार शासक अपनी प्रजा को किसी सकट से पीडित देखकर दयार्द्र होकर अपनी सम्पत्ति का सहायता के रूप मे या अन्न के रूप मे दान देता था। भागवत-पुराण मे राजा रतिदेव की कथा आती है कि उन्होने यह प्रणकर लिया था कि जब तक एक भी व्यक्ति मेरे राज्य मे भूख से पीडित होगा, तब तक मैं स्वय आहार नही लूंगा। कहते हैं, ४९ दिन तक वे निराहार रहे। अपने अन्न के भडार भूखी जनता के लिए उन्होने खुलवा दिये जिससे शीघ्र ही दुष्काल मिट गया। महाराजा रतिदेव का दान एक महान् चमत्कार बन गया।

हिरात का शेख अब्दुला अन्सार अपने शिष्यो से कहा करता था—"शिष्यो! आकाश मे उडना कोई चमत्कार नही है, क्योकि गदी से गदी मक्खियां भी आकाश मे उड सकती हैं। पुल या नौका के बिना नदियो को पार कर लेना भी कोई चमत्कार नही, क्योकि एक साधारण कुत्ता भी ऐसा कर सकता है, किन्तु दु खी हृदयो को दान देकर सहायता करना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा ही कर सकते हैं।"

दान प्रीति और मैत्री का सवर्द्धक

दान प्रीतिवर्द्धक है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। वास्तव मे शास्त्र की यह उक्ति अक्षरश सत्य है—

"अहवा वि समासेण साधूण पीतिकारओ पुरिसो।
इह य परत्थाय पावति, पीदीओ पीवतराओ॥[1]

—सारी बात का निचोड यह है कि दान से मनुष्य साधुओ का भी प्रीतिपात्र बन जाता है। जिसके फलस्वरूप वह दानी व्यक्ति इस लोक मे भी जनता का प्रेम सम्पादन कर लेता है और परलोक मे भी अतिशय प्रीतिभाजन बनता है।"

साथ ही दान से सर्वत्र मित्र बन जाते हैं, यहां तक कि विरोधी शत्रु भी मित्र बन जाता है, दान के प्रभाव से वह मैत्री परलोक मे भी जाती है, वहां भी सभी उसके मित्र, सुहृदय और अनुकूल बन जाते हैं। इसलिए—तथागत बुद्ध ने कहा है—

"दत्त मित्तानि गथति"[2]

—दान से मित्र गाढे बन जाते है।

अत्रिसहिता मे भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

'नास्ति दानात् पर मित्रमिह लोके परत्र च।'

—दान के समान इस लोक और परलोक मे कोई मित्र नही है।

---

१ निशीथचूर्णि

२ सुत्तनिपात १।१०।७

दान . एक वशीकरण मत्र

इससे भी आगे बढकर कहे तो दान एक वशीकरण मन्त्र है, जो सभी प्राणियों को मोह लेता है, पराया (शत्रु) भी दान के कारण बन्धु बन जाता है, इसलिए सतत् दान देना चाहिए।[१] दान की देवता मनुष्य और ब्राह्मण सभी प्रशसा करते हैं। दान से मनुष्य उन समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओ को प्राप्त कर लेता है, जिनकी वह कामना करता है।[२]

राजस्थान मे एक लौकिक कहावत है—'हाथ पोलो तो जगत् गोलो' वह भी इसी कथन की पुष्टि करती है। वस्तुत दान से शत्रु ही नही, क्रूर पशु पक्षी भी वश मे किये जा सकते है। कुत्ता, गाय, भैंस, घोडा आदि सब पशु दान से ही मालिक के वश मे हो जाते हैं, मालिक की सेवा वफादारीपूर्वक करते हैं। दान का पशुओ पर इतना जबर्दस्त प्रभाव पडता है कि वे मालिक के द्वारा खाने-पीने को कुछ दिये जाने पर अपनी सतान की इतनी परवाह नही करते, जितनी अपने मालिक की वफादारी-पूर्वक सेवा का ध्यान रखते हैं। इसी दृष्टि से एक विचारक ने कहा है—

पुत्रादपि प्रियतर खलु तेन दान,
मन्ये पशोरपि विवेक विवर्जितस्य।
दत्ते खलेन निखिल खलु येन दुग्ध,
नित्य ददाति महिषी ससुताऽपि पश्य ॥

—मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि विवेकरहित पशु को भी अपने पुत्र से भी बढकर प्रिय दान है। देखिये, भैंस मालिक के द्वारा खल, बिनौले आदि देने पर अपने पुत्र (पाडे) के होते हुए भी प्रतिदिन सारा का सारा दूध अपने मालिक को दे देती है।

दया एव दान से आयु बढती है

महाराष्ट्र मे महिला जागरण के अग्रदूत महर्षि कर्वे को पत्रकार परिषद् मे प्रश्न पूछा गया कि 'आपकी शतायु का रहस्य क्या है? लोग अनुमान ही अनुमान मे गुम हैं कि आप नियमित व्यायाम करते होगे या दूध और फल पर रहते होगे, इस कारण आपकी आयु सौ साल की होगी।"

उत्तर मे कर्वे ने कहा—"मेरे यहाँ कई दशको पहले एक नौकरानी रहती थी। वह एक दिन अपने पति के ऑपरेशन के लिए एक हजार रुपये माँगने आई। पति के स्वस्थ हो जाने पर रुपये वापस लौटाने की बात थी। परन्तु दुर्भाग्य से ऑप-रेशन काल मे उसके पति का देहान्त हो गया। वह नौकरानी रोती हुई मेरे पास

---

१ दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात् तस्माद्धि दान सतत प्रदेयम् ॥ —धर्मरत्न

२ दान देवा प्रशसन्ति मनुष्याश्च तथा द्विजा।
दानेन कामानाप्नोति यान्काश्चिन्मनसेच्छति ॥

आई और आँसू बहाते हुए बोली—"मुझे सबसे अधिक वेदना तो इस बात की हो रही है कि मैं अब आपके रुपये कैसे चुका सकूगी ? अब तो मेरे वेतन मे से आप प्रतिमास काटते रहना।"

"मैंने (कर्वे ने) गद्गद होकर कहा—"बहन तेरे इतने महान् दु ख के सामने इन मुट्ठीभर (१०००) रुपयो का क्या मूल्य है ? मुझे वे रुपये तुमसे बिलकुल नही लेने हैं। वे रुपये मैंने तुम्हे अपनी बहन मानकर दे दिये, समझ लो।" आभारवश हर्षाश्रुओ से पूर्ण आँखे ऊँची करते हुए वह विधवा नौकरानी, जिसकी आँतें ठडी हो गई थी, बोली—"भाई ! तू सौ वर्ष का हो।"

कर्वे आगे कहने लगे—"चिकित्सा विज्ञान भले ही मेरे शतायु होने का कारण दूध-फल खाना और नियमित घूमना बताए, परन्तु मैं सौ वर्ष जीया हूँ, उसका कारण मुझे तो नि सहाय नौकरानी जैसी कई बहनो व दीन-दु खी भाइयो के अन्तर से मिला हुआ आशीर्वाद ही मालूम होता है और जिसे भी मैंने इस प्रकार से दान के रूप मे सहायता दी, वह मेरे वश हो गया, मेरा अपना बनकर जिन्दगी भर तक रहा।'

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह भी फलित होता है कि दान करने से मनुष्य दीर्घायु होता है। इसीलिए नीतिकारो ने बताया 'दानादायुर्विवर्धते'दान देने से आदाता की ओर से हार्दिक आशीषें मिलती हैं, जिससे आयु का बढना स्वाभाविक है। जापान के शिटोमत के देवता 'इतिभान' ने तो स्पष्ट कहा है, अपने भक्तो से—"पुजारियो ! तुम दरिद्रता और कोढ से चुहचुहाते मानवो के प्रति दया और करुणा का व्यवहार करो। इन निरीह प्राणियो की भी रक्षा करो। जो दया करते हैं और दान देते हैं, उनकी आयु बढती है। जैनशास्त्र मे भी इसी बात की पुष्टि मिलती है—यहाँ बताया गया है—श्रमणेभ्यो प्रासुकदानेन दीर्घायुरिति' अर्थात् श्रमणो को प्रासुक (निर्दोष) आहार का दान देने से गृहस्थ दीर्घायु होता है।

इन सबका निष्कर्ष यह है कि दान शत्रु को मित्र बनाने वाला, प्रीतिवर्द्धक, वैर भाव को मिटाने वाला, धर्म लाभ का कारण, आयुष्यवर्द्धक सम्मान और यश का सम्पादक एव वशीकरण मत्र है, वह कभी निष्फल नही जाता।

दान समाज मे व्याप्त विषमता का निवारक

समाज मे दान का प्रवाह जारी रहने से गरीबी-अमीरी की जो खाई है, वह चौडी नहीं होती, और न ही गरीब मे हीन-भावना पनपती है और अमीर मे अहकार की भावना आती है। जिस समाज मे या जाति मे ऐसी भावना होती है, वहाँ विषमता या शोषण की भावना प्राय नही पनपती। वहाँ निर्धन को प्रचुर धन सम्पन्न न होने पर भी अपनी निर्धनता नही अखरती, वह यही समझता है कि मुझे अधिक धन रख कर करना क्या है ? जितना और जब मुझे जरूरत होता है, उतना मुझे अपने धन्धे मे मिल जाता है, तथा आपातकाल मे या किसी आकस्मिक सकट के समय धनिक स्वेच्छा से दे ही देता है, मुझे सचित करने या सहेज कर रखने की चिन्ता, चोरो से

बचाने की चिन्ता या अन्य अनेक चिन्ताएँ नही करनी पडती, मैं इन चिन्ताओ से बरी रहता हूँ। इस प्रकार धनिक को वह अपना रिजर्व बैंक समझता है कि जहाँ से जब चाहे और जितना आवश्यक हो, उसे मिल ही जाता है। अत धनिक का धन निर्धन की आँखो मे इसलिए नही खटकता कि वह वक्त जरूरत पर निर्धनो को देता रहता है, उनकी अतिरिक्त आवश्यकताओ या बीमारी, दु ख, सकट या असुरक्षा के खतरे के समय वह उदार दिल से दान द्वारा मदद करता रहता है।

भारतवर्ष मे ऐसी कई कौमे हैं, जिनमे दरिद्रता नाम की कोई चीज नही मिलती। मुसलमानो मे बोहरा कौम ऐसी है, जिनमे अगर किसी व्यक्ति की स्थिति बिगडने लगती है, अथवा कोई आकस्मिक सकट, बेरोजगारी या बेकारी आ जाती है तो जाति के सभी व्यक्ति मिलकर उसे चन्दा करके सहायता पहुँचा देते हैं और अपने बराबर का व्यापारी बना देते हैं या अन्य किसी उपयुक्त व्यवसाय मे लगा देते हैं। उसे दान देकर भी यह महसूस नही होने देते कि मैं दीन-हीन हूँ या निर्धन हूँ।

इसी प्रकार की परिपाटी पारसी कौम मे है। पारसी लोग अपनी बिरादरी मे किसी व्यक्ति को निर्धन या साधनहीन नही रहने देते। उनमे यह विशेषता है कि वे जब भी किसी भाई को सकटग्रस्त देखते हैं तो उसे कोई न कोई रोजगार धन्धा दे या दिलाकर उसकी दरिद्रता को मिटा देते हैं।

प्राचीनकाल के ओसवाल जैन बन्धुओ मे भी इसी प्रकार की दान-परम्परा थी, जिसे वे दान कहकर अपने अहकार का प्रदर्शन नही करते थे, बल्कि समाज या जाति मे व्याप्त होने वाली विषमता को मिटाने के हेतु, वे अपनी सम्पत्ति का इस प्रकार सहायता के रूप मे उपयोग करते थे, जो सामूहिक दान का ही एक प्रकार होता था। कभी-कभी ऐसा दान-प्रयोग सामूहिक न होकर व्यक्तिगत भी होता था।

निजाम हैदराबाद स्टेट के एक शहर मे एक उदार पूंजीपति थे। वे अपनी पूंजी को समाज की धरोहर समझते थे। इसलिए पूंजी के साथ-साथ उनका हृदय बडा उदार और दानशील था। उनकी इच्छा थी कि राजस्थान मे बहुत पिछडापन और गरीबी है, इसलिए कुछ अच्छे कर्मठ लोगो को कुछ सहायता देकर यहाँ बसाया जाय, उन्हे उनकी रुचि के अनुसार कपडे, अनाज आदि की दूकान करा दी जाय। अपनी उदार भावना के अनुसार राजस्थान से कुछ गरीब और बेरोजगार भाइयो को उन्होंने बुलाया और जो भी आता, कुछ कार्य करने की इच्छा प्रगट करता, उसे उसकी इच्छानुसार वे कपडे, अनाज आदि की दूकान करवा देते, प्रत्येक व्यक्ति को लगभग पाँच-सात सौ रुपयो की मदद कर देते और उसे कहते—देखो, यह दूकान सभालो, न्याय नीति से व्यापार करके पैसा कमाओ और अपनी कमाई मे से अमुक हिस्सा हमे बराबर देते रहा करना। जब दो-तीन साल मे उसकी दूकान जम जाती तो सेठ अपना हिस्सा निकाल लेते और पिछली जो कुछ हिस्से की रकम उन्होने उस नये व्यापारी ली थी, उसे वापिस उसे दे देते। इस प्रकार वह स्वतन्त्र रूप से सेठजी द्वारा दी

हुई उक्त सहायता (दान की रकम) से कार्य करने लगता और फलता-फूलता था। इस तरह उन्होंने अपने शहर मे करीव १५० परिवारो को वसाया, व्यवसाय के लिए अर्थ-सहयोग दिया और उन्हे अच्छी स्थिति मे पहुँचाकर उनका हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त किया। सेठजी को समाज की विषमता (दान द्वारा) मिटाने का सन्तोष हुआ और आदाता की दरिद्रता समाप्त हुई। इसीलिए दान के लिए चाणक्यनीति मे स्पष्ट कहा गया—

'दारिद्र्यनाशन दानम्'

दान वास्तव मे दरिद्रता को नष्ट करता है।

विषमता मिटाने का इससे भी बढकर सामूहिक दान का ज्वलन्त उदाहरण है—माण्डवगढ का। वर्षो पहले की बात है। माण्डवगढ के जैन बन्धुओ ने यह निश्चय किया कि हम जैसे धर्म से समान हैं, वैसे ही अर्थ से भी सबको समान रखेंगे। हमारे नगर मे बसने वाला कोई धनवान भी नही कहलाएगा और न कोई निर्धन कहलाएगा।" जो भी जैनवन्धु यहाँ बसने के लिए आता उसका आतिथ्य प्रत्येक घर से एक-एक रुपया और एक-एक ईंट देकर किया जाता। यानी इस प्रकार के सामूहिक दान से प्रत्येक आगन्तुक को वहाँ बसे हुए एक लाख घरो से एक लाख रुपये व्यापार के लिए और एक लाख ईंटें घर बनाने के लिए दी जाती। माडवगढ के जैनो के इस दान के नियम ने उन्हे और नगर को अमर बना दिया। आज भी नालछाप से लेकर माण्डवगढ तक की ६ मील लम्बी खण्डहर के रूप मे एक सरीखे मकानो की पक्ति इस सामूहिक दान की कहानी कह रही है। इसलिए अनेक प्रमाणो और अनुभवो के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दान ही वह वज्र है, जो अमीरी और गरीवी की, विषमता और विभेद की दीवारें तोड सकता है। दान की अमोघ वृष्टि ही, मानव जाति मे प्रेम, मैत्री, सद्भाव और सफलता की शीतल धारा प्रवाहित कर सकती है। ☆

4

दान का माहात्म्य

दान के लाभ और उसके सुपरिणाम के विषय मे कुछ चर्चा पिछले प्रकरण मे की गई है। वास्तव मे दान वह शतशाखी या सहस्रशाखी कल्पवृक्ष है जिसके सुपरिणाम सुफल हजारो रूप मे प्रकट होते हैं।

जैसे वर्षा की बूंद धरती पर जहाँ भी गिरती है वहाँ ही हरियाली, वनस्पति, फल, फूल, वृक्ष आदि अगणित वस्तुएँ पैदा कर देती है वैसे ही सद्भावपूर्वक दिये गये दान की बूंदें हजारो-हजार रूप मे नये-नये विचित्र फल पैदा करती है। दान की अचिंत्य महिमा का विषय बहुत ही विशाल है, आज भी हम इस विषय पर चिन्तन करेंगे।

प्राप्त करने के लिए दान ही अचूक उपाय

धरती से अनाज की फसल प्राप्त करने के लिए किसान को सर्वप्रथम धरती को बीजवपन के रूप मे, पानी के रूप मे, खाद तथा सेवा के रूप मे देना पडता है, बिना दिये धरती एक दाने से हजार दाने नही देती, इसी प्रकार जगत् का यह अचूक नियम है कि यदि प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित करना सीखो। दान ही प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। दान प्रीजर्व (रक्षित करना) नही, अपितु ग्रो (सवर्द्धन वृद्धि करना) है। कोल्डस्टोरेज मे यदि मौसम मे आम रख दिये जाय तो वे सुरक्षित रहते हैं, और जितने रखे हैं उतने के उतने मौसम बीतने पर निकालते समय निकलते हैं, यह प्रीजर्व है, किन्तु उन्ही आमो को बो दिये जाते हैं, तो उनमे से अकुर फूटते हैं, टहनियाँ, फूल आदि के बाद प्रत्येक आम के पेड मे हजारो आम लगते हैं, यह सब सवर्द्धन='ग्रो' है। इसी प्रकार दान किया धन सवर्द्धन—'ग्रो' का कारण बनता है। इसीलिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था—

यदि तुम प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित (दान) करना सीखो॥

बैंक मे रुपये जमा कर देने पर जैसे सुरक्षित भी रहते हैं और जब चाहे तब व्यक्ति को वे रुपये ब्याज सहित मिल जाते हैं, वैसे ही दान भी पुण्य रूपी बैंक मे जमा किया हुआ सुरक्षित धन है, समय आने पर यह धन भी अनेको गुनी पुण्यवृद्धि होने से ब्याज सहित प्राप्त हो जाता है। साधारण मनुष्य को विश्वास नही होता कि दिया

गया दान निधि मे सुरक्षित रहेगा और समय आने पर कई गुना अधिक मिलेगा। किन्तु जिस व्यक्ति का विश्वास होता है, वह मुक्त मन से दान के बीज बोता है। चाहे वह नकद धन के रूप मे मिले, या पुण्यवृद्धि के कारण सुख-साधन प्राप्ति के रूप मे मिल जाता है।

ईरान का महादानी राजा साइरस अपने दान के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वह प्रतिदिन राजभण्डार से बहुत-सा धन दान दे दिया करता था। एक दिन उनके यहाँ दूसरे देश का एक अति धनाढ्य राजा आया। उसने साइरस की यह दानप्रवृत्ति देखी तो उसे बहुत बुरा लगा। उसने कहा—"अगर आप इस तरह अपना धन लुटाते रहे तो एक दिन खजाना खाली हो जाएगा। वक्त जरूरत पर आपको कौन मदद देगा ?"

साइरस बोला—"मुझे पक्का विश्वास है कि मुझे जब और जितने रुपयो की जरूरत होगी, तब उतने ही रुपये प्रजा अवश्य देगी। अगर आपको विश्वास न हो तो मैं कल ही आपको बताऊँ।" अतिथि राजा बोला—"आप एक लाख खर्व रुपये माँगिए।"

राजा ने घोषणा करवाई कि 'कल मुझे एक लाख खर्व रुपयो की जरूरत है।' बस, घोषणा की देर थी। तुरन्त ही प्रजाजनो ने अपने प्रिय राजा के लिए अपनी थैलियाँ खाली करनी शुरू कर दी। बहुत-से लोगो ने राजा के लिए हीरे, पन्ने, माणक, मोती और सोने के आभूषण भेंट दिये। कुछ ही दिनो मे जब सबकी जोड़ लगाई गई तो रकम एक लाख खर्व से ऊपर पहुँच चुकी थी। राजा साइरस ने अतिथि राजा से कहा—देखिये, राजन्! मेरी प्रजा ने मेरी माँग पूरी कर दी है। यह रकम एक लाख खर्व रुपयो से काफी अधिक है। अगर मैं प्रतिदिन की लाखो की आमदनी सञ्चित करके रखता तो मुझे उसके सचय, रक्षा व व्यय की कितनी चिन्ता करनी पड़ती। फिर प्रजाजन मुझसे ईर्ष्या करते। इस दान ने तो मुझे निश्चिन्त बना दिया है।" साइरस ने प्रजा के द्वारा दी गई वह सम्पत्ति भी दान कर दी।

यह है, निश्चिन्तता, और समय पर अर्थप्राप्ति के अमोघ उपाय—दान का माहात्म्य।

दान धन की सुरक्षा का रिजर्व बैंक

इसीलिए नीतिकार दान को धन की सुरक्षा का सर्वोत्तम उपाय बतलाते हैं—

उपार्जितानामर्थाना त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसस्थाना परीवाह इवाम्भसाम्॥ —पचतन्त्र २।१५५

—उपार्जित किये (कमाये) हुए धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा है। जैसे—तालाब के पानी का बहते रहना ही उसे गन्दा न होने देने का कारण है।

महाकवि नरहरि सम्राट् अकबर के दरबार मे प्रसिद्ध कवि थे। एक बार उन्होने दिल्ली से अपने पुत्र हरिनाथ के पास विपुल धनराशि भेजी। हरिनाथ ने वह सारा धन गरीब ब्राह्मणो को दान कर दिया।

कुछ समय बाद जब नरहरि घर आए तो उन्होंने अपने पुत्र से पूछा—"बेटा हरिनाथ! मेरा भेजा हुआ धन तुमने कहाँ रखा है?"

हरिनाथ ने विनयपूर्वक कहा—"पिताजी! आप निश्चिन्त रहें। मैंने उसे पूर्णतया सुरक्षित कोष मे जमा कर दिया है। शाम को दिखाऊँगा।"

नरहरि सुनकर चुप हो गए।

हरिनाथ ने उन सब ब्राह्मणो को कहला भेजा कि आप लोग सायकाल जब आएँ तो जिस-जिसको मैंने जो-जो द्रव्य-वस्त्र आदि आपको मैंने दान दिए हैं, उन्हे साथ लेकर आवें।"

सायकाल ब्राह्मणो को अपनी गढी पर सामान साथ मे लिए हुए उपस्थित होने पर हरिनाथ ने अपने पिता नरहरि से कहा—"पिताजी! चलिए अपनी सम्पत्ति देख लीजिए। मैंने उसे कितने अच्छे सुरक्षित कोष में जमा कर रखा है।"

नरहरि ने जब ब्राह्मणो को साधन-सामग्री पाने से हर्षयुक्त देखा तो वे एकदम अवाक् हो गये। ब्राह्मणो को विदा करके उन्होने हरिनाथ से कहा—"बेटा! किया तो तूने खूब! जन्म-जन्मान्तर के लिए सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का इससे बढकर और कोई सुन्दर तरीका नही हो सकता। परन्तु यह सब दान अपनी कमाई से करते तो अच्छा रहता!"

कहते हैं, अपने पिताजी के इस अन्तिम वाक्य से तेजस्वी पुत्र के हृदय को बहुत चोट पहुँची। वह घर छोडकर चला गया। उसने अपनी विद्वत्ता से लाखो रुपये कमाए और जरूरतमन्दो और दीनदुखियो को दान कर दिये।

जलाशय मे पानी सचित होकर पडा रहे तो वह गन्दा हो जाता है, उस पानी का बहते रहना जरूरी है, इसी प्रकार धन का भी बहते रहना अच्छा है, अगर दान का प्रवाह बहता रहता है, तब तो धन अनेक हाथो मे जाकर सुरक्षित हो जाता है। दान के साथ ही पुण्यरूपी धन की भी सुरक्षा हो जाती है। दूसरे शब्दो मे कहें तो दान पुण्य का रिजर्व बैंक है। इसमे पुण्यरूपी धन सुरक्षित हो जाता है। नकद रुपयो के रूप मे भले ही धन दान देने से कम होता प्रतीत होता हो, लेकिन ईरान के राजा साइरस की तरह दाता चाहे तो नकद के रूप मे भी उसे मिल सकता है, कई गुना अधिक मिल सकता है, क्योकि ऐसा उदार दानी व्यक्ति लोकप्रिय हो जाता है। इसलिए उसके लिए किसी बात की कमी आने पर नही रहती। बशर्ते कि उसमे अपने दान के प्रति अटल विश्वास हो। इसीलिए तथागत बुद्ध ने कहा—

'दिन्नं होति सुनीहितं'

दिया हुआ दान ही चिरकाल तक निधि रूप मे सुरक्षित रहता है।

दिया गया दान ही वास्तविक धन है

बहुत-से लोग यह सोचते हैं कि दान देने से तो हमारी तिजोरी खाली हो जाएगी, हमे तो तिजोरी भरी हुई देखने मे सन्तोप होता है। परन्तु विचारणीय बात तो यह है कि द्रव्य का अगर दान नही दिया जाएगा तो उसकी दो गति होगी—या तो वह खाने (उपभोग) में खर्च होगा, अथवा उसका नाश किसी न किसी रूप मे हो जाएगा। एक विचारक ने कहा है—

[1]प्रदत्तस्य प्रभुक्तस्य दृश्यते महदन्तरम्।
दत्त श्रेयासि ससूते, विष्ठा भवति भक्षितम्॥

दिये हुए एव खाये हुए द्रव्य मे वडा-भारी अन्तर है। दिया गया द्रव्य श्रेय अर्जित करता है, पुण्योपार्जन करता है और खाये हुए का मल वनता है।

इस प्रकार से आप समझ सकते हैं कि प्राप्त पदार्थ का स्वय सर्वस्व उपभोग कर लेने की अपेक्षा दूसरो को देना अभीप्ट है। जो दूसरो को दिया जाता है, वही वास्तविक धन है, क्योकि वही परलोक मे साथ आने वाला है, और इहलोक मे भी पुण्यवृद्धि करके मनुप्य को सुख पहुँचाने वाला है। इसीलिए अत्रिसहिता मे भारतीय ऋपि का अनुभवसिद्ध चिन्तन फूट पडा—

'नास्ति दानात्परं मित्रमिहलोके परत्र च'

दान के समान इहलोक और परलोक मे कोई मित्र नही है। दान इस लोक मे भी मित्र की तरह पुण्यवृद्धि होने से सुख-सुविधा और सुख-सामग्री प्राप्त करा देता है, सुख पहुँचाता है और परलोक मे भी दान मित्रवत् पुण्य उपार्जित कराकर प्राणी को उत्तम सुख व सामग्री जुटा देता है। इसलिए दान मित्र से भी वढकर है।

हाँ, तो खा जाना तो दान के फल को या सुकृत को खो देना है, और दान देना सुकृत का अर्जन है। इसी से मिलती-जुलती एक कहावत लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध है—

'खा गया, सो खो गया, दे गया, सो ले गया।
जोड गया, सिर फोड गया, गाड गया, झख मार गया॥'

इसका तात्पर्य यह है कि इस ससार मे व्यक्ति ने जो कुछ भी धनादि साधन जुटाए हैं, उन्हें स्वय खाने वाला सब कुछ खो देता है, वह सुकृत के सुन्दर अवसर को हाथ से गँवा देता है, और जो धन आदि पदार्थ कमा-कमा कर जोडता है, न खाता है, न खर्च करता है, न दान देता है, ऐसा व्यक्ति सारे के सारे पदार्थ जोड-जोडकर रख जाता है, उसने अपने उपार्जित द्रव्य मे कुछ भी सुकृत नही कमाया, और न ही

---

1 चन्दचरित्रम्, पृ० ७१

स्वय उपभोग किया, उसके पल्ले तो सिर्फ जोडने और सहेज कर रखने की मायाकूट ही पडी, इतनी सिरफोडी करके भी वह कुछ भी लाभ नही उठा सका। जो दूसरो की पूंजी को हजम कर जाता है, या गाड जाता है, वह तो व्यर्थ ही झक मारता है। इसलिए मनुष्य का वास्तविक धन तो वही है, जो वह दूसरो को दान दे देता है। उसकी वही पुण्य की पूंजी परलोक मे उसके साथ जाने वाली है।

इन्दौर के सर सेठ हुक्मीचन्दजी से किसी ने पूछा—"आपके पास कुल सम्पत्ति कितनी है? लोगो को आपके धन की थाह ही नही मिल रही है। आप लक्ष्मीपुत्र हैं। जनता अनुमान ही अनुमान मे गुम है। कोई दस करोड रु० का अनुमान लगाते हैं, कोई बीस करोड रुपये का। वास्तविक स्थिति क्या है?" सेठ मुस्कराते हुए बोले—"मेरी सम्पत्ति बहुत थोडी है। आपको सुनकर आश्चर्य होगा—२७½ लाख।"

प्रश्नकर्ता ने अविश्वास की मुद्रा मे कहा—"क्यो फुसलाते हैं, आप! पचास लाख रुपये का तो केवल शीशमहल ही होगा। इसके सिवाय मिलें वगैरह हैं सो अलग।"

सेठ बोले—"आप मेरे कहने का आशय नही समझे। अभी तक इन हाथो से सिर्फ २७॥ लाख ही दिये जा सके हैं। जो इन हाथो से दिये गये हैं और जनता के हित मे जिनका उपयोग हुआ है, वे ही केवल मेरे हैं। कितनी थोडी-सी पूंजी है मेरी।" इसलिए हाथ से दिया गया दान ही अपना धन है।

दान मे दिया हुआ धन ही साथ जायगा

इसीलिए नीतिकार कहते हैं कि "किसी विशिष्ट कार्य के लिए जिसे धन तू देगा, या जिसका उपभोग प्रतिदिन करेगा, उसे ही मैं तुम्हारा धन मानता हूँ। फिर बाकी का धन किसके लिए रखकर जाते हो?"[1]

व्यक्ति की वास्तविक पूंजी तो वही है, जो उसके हाथ मे दान मे दी गई है, जो केवल गाड कर रखी गई है, वह पूंजी तो यही रह जाने वाली है, वह धूल या पत्थर के समान है। इसलिए दान दिया हुआ धन ही परलोक मे पुण्य के रूप मे साथ जाता है, अन्य धन या साधन तो यही पडा रह जाता है।

प्रत्येक मनुष्य प्राय इस बात को भली-भाति जानता है कि मेरे मरने के बाद यह सम्पत्ति मेरे साथ आने वाली नही है, यह यही पडी रहेगी। मेरे साथ मेरे द्वारा किये हुए अच्छे-बुरे कर्म साथ चलेंगे। फिर भी भ्रान्तिवश वह यह सोचकर सग्रह करता रहता है कि मेरे मरने के बाद धन मेरे पीछे आएगा या ठाठबाठ से मेरा दाहसस्कार किया जाएगा। मगर मरने के बाद उस धन को परलोक मे ले जाया

---

१ "यद् ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने-दिने।
तत्ते वित्तमह मन्ये, शेष कस्यापि रक्षसि॥"

नही जा सकता। केवल धन को देख-देखकर जीते-जी मनुष्य अपने मन को भले ही आश्वासन दे दे, पर वह धन भी कभी-कभी आँख-मिचौनी कर जाता है, मनुष्य के साथ। इसलिए सर्वोत्तम उपाय यही है कि उस धन का जितना हो सके, अपने हाथ से दान कर दे। जो धन दान कर दिया जाता है वही साथ मे चलता है।

सिकदर बादशाह ने मरने तक आधी दुनिया की दौलत इकट्ठी कर ली थी, और आधी दुनिया का राज जीत लिया था। किन्तु जिस समय वह मरने लगा तो अपने दरबारियो को बुलाकर कहा—"मेरे धन का मेरे सामने ढेर लगा दो, जिससे मै देखकर सतुष्ट हो सकूं और साथ मे ले जा सकू।" उन्होंने तथा बडे-बडे विद्वानो ने कहा—"जहाँपनाह ! इसमे से जमीन या पदार्थ का जरा-सा कण भी, एक तागा भी आपके साथ आने वाला नही, है, यह धन और धरती यही पडे रह जाएँगे, किसी के साथ मे आते नही।" कहते हैं—सिकदर को यह जानकर बहुत ही अफसोस हुआ, वह रोने लगा कि "हाय ! मैंने व्यर्थ ही लोगो को सताकर, उखाड-पछाड करके इतनी दौलत इकट्ठी की और इतनी धरती पर कब्जा किया। यह तो यही धरी रह जायेंगी।" अन्तत उसे एक विचार सूझा और उसने चोबदारो से कहा—"मेरी अर्थी निकाली जाय, उस समय मेरे दोनो हाथ उस जनाजे (अर्थी) से बाहर रखे जायें, ताकि दुनिया यह नसीहत ले सके कि इतना धन या जमीन अपने कब्जे मे करने पर भी इन्सान मरने के बाद खाली हाथ जाता है। साथ मे कुछ नही ले जा सकता।" उन्होंने ऐसा ही किया। निष्कर्ष यह है कि जो धन अपने हाथो से दान मे दे दिया जाता है, वही सार्थक है, वही अपना है।

"जो लक्ष्मी पानी मे उठने वाली तरगो के समान चचल है, दो-तीन दिन ठहरने वाली है, उसका सदुपयोग यही है कि दयालु होकर योग्य पात्र को दान दिया जाय। ऐसा न करके जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल सचय ही करता रहता है, न उसे जघन्य, मध्यम और उत्तम पात्रो मे दान देता है, वह अपनी आत्मवचना करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना वृथा है।"[1]

इसीलिए क्रियाकोपकार ने तो बहुत ही कठोर शब्दो मे उसे फटकारा है, जो धन को दान न देकर, यो ही पडा रखता है या गाडे रखता है—

"जानो गृद्ध-समान ताकै सुतदारादिका।
जो नहीं करे सुदान, ताकै धन आमिष समा॥"

---

१ लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जलतरग चवला दो-तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ ॥१२॥
जो पुण लच्छि सचदि णय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाण वचदि, मणुयत्त णिप्फल तस्स ॥१३॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा

जो दान नही करता, उसका धन मास के समान है, और उस धन का उपभोग करने वाले पुत्र-स्त्री आदि गिद्धो की मडली के समान हैं।

दान देने से ही जीवन व धन सफल

उसी मनुष्य का जीवन सफल है जो समाज से अर्जित धन एव साधनो का दान करता है, जरूरतमदो को विना हिचक के दे देता है। जो व्यक्ति अपने धन से चिपटा रहता है, रात-दिन ममत्वपूर्वक उसका सग्रह करता रहता है, समय आने पर उसका दान नही करता, उसका जीवन पशु-पक्षियो या कीडे-मकोडो की तरह निष्फल है। इसी सन्दर्भ मे कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे सुन्दर चिन्तन दिया है—

—"जो मनुष्य लक्ष्मी का सचय करके पृथ्वी के गहरे तल मे उसे गाड देता है, वह उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है जो मनुष्य अपनी बढती हुई लक्ष्मी का निरन्तर धर्मकार्यों मे दान कर देता है, उसकी ही लक्ष्मी सदा सफल है, और पण्डितजन भी उसकी प्रशसा करते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जान कर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियो को देता है और बदले मे प्रत्युपकार की वाछा नही करता उसका जीवन सफल है।[1]

उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है, उसी व्यक्ति का धन और जीवन सफल होता है, जिसने धन या साधनो को जोड-जोड कर पत्थरो की तरह जमीन मे न गाड कर भूखे-प्यासे अनाथ, अपाहिज दयापात्रो या गरीब धर्मात्मा व्यक्तियो को मुक्तहस्त से दिया है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक कहता है—Life means-giving' जीवन का अर्थ है—दान देना। इस सम्बन्ध मे जगडूशाह का उदाहरण पहले दिया जा चुका है, जिसने देश पर आई हुई दुष्काल की आफत को दूर करने के लिए जी-जान से दिल खोलकर अपना धन एव साधन लुटाया।

गुजरात मे जैसे जगडूशाह हुए हैं, वैसे महाराष्ट्र मे शिराल सेठ भी दानवीर हुए हैं। एक बार जब १२ वर्ष का दुष्काल पडा तो उन्होने अपने धन और अन्न के भडार खोलकर लाखो अभावग्रस्त लोगो को धन और अन्न मुक्तहस्त से दिया, इससे उन लाखो लोगो को जीवनदान मिला और शिराल सेठ ने अपने धन और जीवन को सफल किया।

---

१ जो सचिऊण लच्छि धरणियले सठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो त लच्छि पाहाण-सामाणिय कुणदि ॥१४॥
जो वड्ढमाण-लच्छि अणवरय देदि धम्मकज्जेसु।
सो पडियेहि थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१६॥
एव जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताण
निरवेक्खो त देहि हु तस्स हवे जीविय सहल ॥२०॥

जब शिरालसेठ की दानवीरता की बात मुगल बादशाह के कानो मे पहुँची। तो, उन्होने दरबार मे बुलाकर उनका बहुत सत्कार-सम्मान किया और कहा—"कुछ मागो।" शिरालसेठ को अपने दान के बदले मे किसी वस्तु के लेने की इच्छा नहीं थी, किन्तु बादशाह के द्वारा बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने साढे तीन घडी के लिए राज्य मागा। बादशाह ने उन्हे ३॥ घडी के लिए राज्य दे दिया। उतने ही समय मे उन्होने जगह-जगह सदाव्रत खोले, कोई भी बेकार न रहे, इसका प्रबन्ध कराया। मन्दिर, मस्जिद और धर्मस्थानो के लिए दी हुई जमीन के साथ वर्षाशन कायम कराए। कई पाठशालाएँ खुलवाई।

बादशाह ने उनकी सब बाते मान्य की और उन्हे बडी जागीरी दी। आज भी श्रावण वदी ६ को किसी-किसी गाँव मे शिरालसेठ की स्मृति मे उत्सव—मेला मनाया जाता है।

जो व्यक्ति अपने धन और जीवन को सफल बनाना चाहता है, वह धन से या साधनो से ममतापूर्वक चिपटता नही है। उसकी वृत्ति मुक्त-हस्त से दान कर देने की होती है।

देशबन्धु चित्तरजनदास के जीवन की एक घटना है। रविवार का दिन था। प्रात काल वे अपने विशाल 'सेवासदन पुस्तकालय' मे बैठकर कोर्ट के कुछ महत्त्वपूर्ण कागज देख रहे थे। इसी समय चपरासी ने हॉल मे प्रविष्ट होकर बाहर मिलने के लिए आये हुए किसी आगन्तुक का विजिटिंग कार्ड उनके हाथ मे दिया। उस पर नाम लिखा था—'उपेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय'—सम्पादक 'वसुमति'। नाम पढते ही दास बाबू ने चपरासी से कहा—'कार्ड देने वाले को आने दो।' चपरासी बाहर गया और उपेन्द्रबाबू को भीतर आने दिया। तुरन्त दास बाबू ने उनसे पूछा—"कहिए क्या आज्ञा है ?"

"आज्ञा तो कुछ नही है। प्रत्येक रविवार को प्रात काल आप दान देते हैं। अत मैं दान लेने आया हूँ।" वसुमति के सम्पादक ने कहा।

"मैं कौन हूँ, जो दान कर सकता हूँ। मुझमे दान देने का सामर्थ्य नही है। हम तो वकील हैं, देने का नही, लेने का धन्धा करते हैं। लोगो को लडाना और पैसे कमाना, हमारा धन्धा है।" चित्तरजन बाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ—"आपको मेरी बात उपहास के योग्य लगती है। पर सच बात यह है कि मैं आपसे दान लेने को ही आया हूँ। आपको कदाचित् मालूम होगा कि कतिपय उच्च साहित्यकारो की सुन्दर पुस्तकें मूल्य अधिक होने के कारण जनता के हाथो मे नही पहुँच पाती। अत इस स्थिति को दूर करने और आम जनता को उत्तम साहित्य सस्ते दामो मे देने के लिए वसुमति कार्यालय ने एक योजना बनाई है। और ८०० पृष्ठो की पुस्तक सिर्फ डेढ रुपये मे देने को हम तैयार हैं। यह पुस्तक देखिये—यो कहकर उपेन्द्रनाथ ने उनके हाथ मे पुस्तक थमा दी। दासबाबू ने

पुस्तक हाथ मे ली। उसके पृष्ठो को एक दो मिनट तक उलट-पलट कर कहा—"यह तो घाटे का व्यापार है।"

"नही, ऐसा नही है। अगर इस पुस्तक की एक साथ १० हजार प्रतियाँ छपाई जाएँ तो घाटा नही है। परन्तु १० हजार प्रतियाँ छपवाने के लिए मेरे पास रुपये नही हैं। अत ईश्वरीय प्रेरणा होते ही मैं आपके पास आया हूँ।" उपेन्द्रबाबू ने कहा। चित्तरजन बाबू—"लेकिन इसके सम्बन्ध मे मेरी ख्याति नही है। उसमे मैं यश भी नही चाहता। कलकत्ता मे लगभग २०० जमीदार दानवीर हैं, उन्हें क्यो नही पकडते ?"

उपेन्द्रबाबू—"उनके हृदय चित्तरजन बाबू जैसे विशाल और उदार नही हैं। उनके मकानो के जीने चढते-चढते जूतो के तलिये घिस गए हैं।"

दासबाबू—"कलकत्ते के धनवानो के लिए ऐसा मत कहिए।"

यो कहते हुए उन्होने टेबल की दराज मे से चैक बुक निकाल कर उसमे कुछ लिखकर एक चैक उपेन्द्रबाबू के हाथ मे दे दिया। उपेन्द्रबाबू चैक पढते ही क्षणभर स्तब्ध रह गए। फिर उन्होने कहा—"यह तो ५० हजार रु० का चैक है। इतनी बडी रकम के लिए धन्यवाद ! परन्तु यह रकम वापिस कब देनी होगी ? रकम का ब्याज भी निश्चित हो जाय और दस्तावेज भी लिखा लिया जाय।" "यह सब खटपट रहने दो। मुझे न रकम वापिस चाहिए, न ब्याज और दस्तावेज की जरूरत है।" दासबाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ सिर्फ ५ मिनट मे ५० हजार का चैक दान के रूप मे पाकर देखते ही रह गए। इस अर्थराशि से उन्होने रवीन्द्र ग्रन्थावली, रमेशचन्द्र ग्रन्थावली, योगेन्द्र ग्रन्थावली वगैरह ३६ ग्रन्थावली प्रकाशित कराकर सस्ते दामो मे आम जनता को दी।

यह है धन के सदुपयोग द्वारा जीवन को सफल बनाने का ज्वलन्त उदाहरण ! सचमुच, हमारे देश मे ऐसे अनेक उदार महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व देकर देश का और अपना गौरव बढाया है।

दान सिर्फ दान नहीं, हृदय मे अनेक गुणो का आदान भी है

विदेशी साहित्यकार विक्टर ह्यूगो ने एक दिन ठीक ही कहा था—'ज्योंही पर्स रिक्त होता है, मनुष्य का हृदय समृद्ध होता है।'

वास्तव मे दान देना, केवल देना ही नही होता, अपितु देने के साथ-साथ हृदय करुणा, मैत्री, बन्धुता, सेवा, सहानुभूति, परोपकार एव आत्मीयता के गुणो से परिपूर्ण एव समृद्ध होता जाता है। अव्यक्त रूप से दानी व्यक्ति मे इन भावो के सस्कार सुदृढ होते जाते हैं। इसलिए एक अग्रेज विचारक का यह कथन अनुभव की कसौटी पर सही उतरता है—'The hand that gives, gathers' "जो मानव

अपने हाथ से दान देता है, वह देता ही नही, वरन् अपने हाथ से इकट्ठा (गुण, यश आदि) करता है।"

शक्ति होते हुए भी दान न दे, उसका धन धूल समान

इसके विपरीत जिसके पास धन है, फिर भी वह दान नही देता है तो उसका धन धूल के समान है। उस धन मे और पडी हुई धूल मे कोई अन्तर नही। धूल तो फिर भी किसी के काम आ जाती है, किन्तु पडी हुई तिजोरी मे बन्द, सम्पत्ति किसी काम मे नही आती, वह पडी-पडी सडती रहती है, और अनेक चिन्ताओ का कारण भी बन जाती है।

एक बात और भी है, जब मनुष्य शक्ति होते हुए भी दान नही देता तो उसके हृदय मे जिन उदारता, सहृदयता, करुणा, आत्मीयता आदि गुणो का सवर्द्धन होना चाहिए था, वह नही हो पाता, उसके हृदय के कपाट गुणो के लिए अवरुद्ध हो जाते हैं।

इसलिए शक्ति होने पर भी दान न देने वाले का जीवन और धन दोनो निष्फल जाते हैं। कई बार तो ऐसे व्यक्तियो को, जो शक्ति होने पर भी दान नही देते, अभाव-ग्रस्तो को एव भूखो को सहायता नही करते, साधारण-सा प्रतीत होने वाला मानव-प्रेरणा दे देता है।

बगदाद का एक खलीफा (शासक) बहुत ही कजूस था। रैयत भूखो मरती हो तो भी उसके हाथ से धन छूटता नही था। एक बार गुरुनानक बगदाद आए। उन्हे यह पता चल गया कि यहाँ का खलीफा बहुत कृपण है, भूखी जनता को देख कर भी उसके दिल मे दान की भावना नही पैदा होती। सयोगवश खलीफा स्वय गुरुनानक से मिलने आया। गुरुनानक ने खलीफा को सौ ककर देते हुए कहा—"खलीफा साहब! ये सौ ककर लीजिए और इन्हे मेरी अमानत समझ कर अपने पास रख लीजिए। जब मै इन्हे मांगू तब मुझे वापिस सौंप देना।"।

खलीफा ने पूछा—"आप इन ककरो को कब तक वापस ले जाएँगे।"

गुरु नानक—"मुझे कोई उतावल नही है। आपके पास ये रह जायें तो भी कोई हर्ज नही। वर्ना कयामत के दिन वापस दे दीजिएगा।"

खलीफा—"परन्तु" " कयामत के दिन खुदा के दरबार में मैं इसे कैसे ले जा सकूँगा। मैं तो मरने के बाद कोई भी चीज साथ मे नही ले जा सकूँगा, फिर इन ककरो को मैं कैसे ले जाऊँगा ?"

गुरु नानक ने अवसर देखकर कहा—"बस, यही बात तो मैं आपको समझाना चाहता था, कि ये ककर तो आप वहाँ साथ नही ले जा सकेंगे, पर अपना सग्रह किया हुआ विपुल धन का खजाना तो साथ मे ले जा सकोगे न ?"

खलीफा की आँखें यह सुनते ही खुल गई। उसने चौक कर कहा—"ऐं! यह क्या कहा, आपने ? मैं तो धन का खजाना क्या, एक तागा भी साथ मे नही ले जा सकूंगा।"

"तो फिर इतना धन किसके लिए सग्रह करके रखे जा रहे हैं ? आप खुद अच्छी तरह खाते नही, न किसी जरूरतमन्द को देते हैं, यहाँ तक कि आपकी रैयत भूखो मरती हो तो भी आप उसके लिए एक भी पैसा खर्च नही करते! धन को कयामत के दिन नही ले जा सकते, तब फिर क्या होगा, इसका ?" गुरु नानक ने कहा। खलीफा ने अपनी गलती मजूर की, उसे अन्दर की सच्ची दौलत मिल गई, और उसी दिन से खलीफा ने अपना सारा धन जनता के चरणो मे रख दिया।

जो व्यक्ति सब प्रकार के साधन होते हुए भी अपने देश मे अभाव से पीडित, भूखे नगे, फटेहाल व्यक्तियो को देखकर उनका दु ख नही मिटाता, उसका जन्म वृथा है, उसका धन या साधन भी मिट्टी के समान है, उसकी माता उसे जन्म देकर व्यर्थ ही बोझ मरी।

कई बार राजाओ की आँखें वैभव-विलास के मद मे चूर होकर उन दीन-हीनो को देख नही पाती, वे राज्य की बाहरी चमक-दमक और जी-हजूरियो की ठकुरसुहाती देख-सुनकर उसकी एव जनता की वास्तविक स्थिति से परिचित नही होते। इसी कारण उन्हे ऐसे अभावग्रस्तो की पीडा को देखकर भी सहायता के रूप मे दान देने की प्रेरणा नही होती।

धारानगरी का राजा भोज अपनी साहित्यप्रियता और दानवीरता के लिए प्रसिद्ध था। सरस्वती और लक्ष्मी दोनो का उसमे अद्भुत सगम था। एक दिन राजा अपनी स्फुरणा से घोडे पर चढा हुआ जनता के दु ख का स्वय अन्दाजा लगाने के लिए उद्यान की ओर जा रहा था। जब उसका घोडा धानमडी से गुजर रहा था, तो उसने देखा कि 'एक भिखारी धूल मे पडे हुए अनाज के दानो को बीन-बीन कर खा रहा है। कृशकाय एव दरिद्रता की मूर्ति भिक्षुक को देखकर राजा भोज विचार मे पड गया—"मेरी राजधानी मे ऐसी भुखमरी!" भुखमरी के कारणो पर विचार करते-करते राजा इस निर्णय पर पहुँचा कि 'जनसख्या बढ जाने के कारण ही ऐसी हालत होती है। क्यो माताएँ ऐसे पुत्रो को जन्म दे देती हैं ?' इस पर वह बोल उठा —'जननी! ऐसो ना जणो भोय पड्या कण खाय।'

राजा भोज के व्यग्यमिश्रित दोहे की ध्वनि भिक्षुक के कानो मे पडी। सहसा उसने ऊपर दृष्टि फेंकी। वैभव के नशे मे चूर राजा भोज द्वारा दरिद्र पर कसे हुए ताने को सुनकर उसका हृदय व्यथित हो गया। भिखारी सोचने लगा—"वैभव के नशे मे चूर व्यक्ति हमारे पेट की ज्वाला को क्या जाने ? गरीबो पर कैसी बीत रही है, इसे तो हम ही जानते हैं! पेट की ज्वाला को बुझाने के लिए धूल सने कण मुँह मे डाल रहा हूँ, यह भी इसे खटकते हैं। स्वय बादाम-पिश्ते चबाते हैं और चने चबाने वाले

पर दोष मँढते हैं। राजा ने मेरी माता को दोष दिया है, इसका उत्तर तो मुझे देना ही पड़ेगा। दोहा भी तो आधा है। वह आधी लाइन और जोड देता है—'छते योग दु ख ना हरे, ऐसो न जणियो माय।' माता! ऐसे पुत्र को पैदा करने की भूल मत करना, जो सम्पत्ति होने पर भी जनता के दु ख-दारिद्रय को दूर करने की चेष्टा नही करता, उसकी वह सम्पत्ति अगर समाज या राष्ट्र के काम मे नही आती है, तो उसका मूल्य धूल से अधिक नही है। धूल तो अमीर-गरीब सबके लिए समान है। किन्तु शक्ति होने पर भी किसी अभाव से पीडित की दान के रूप मे सहायता नही की, तो वह सम्पत्ति किस काम की?

दान न देने वाला बाद मे पछताता है

दान का अवसर पूर्वजन्म के किसी प्रबल पुण्य से ही मिलता है। बहुत लोगो को तो दान देने की कभी भावना ही नही होती, उन्हे यह सूझ ही नही पडती कि ससार मे ऐसे भी मानवबन्धु हैं, जिनके पास खाने-पीने की सुविधा नही है, रहने को झौंपडी भी नही है, अथवा रोग, बाढ, भूकम्प या अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप से पीडित हैं। उनके प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य है।' इसके आगे बढकर कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके सामने दान की महिमा या दान की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होती है, किन्तु उनके सामने अवसर नही आते, अथवा यो कहना चाहिए, वे दान के अवसरो को जान नही पाते, अथवा दान के पात्र उनके पास नही पहुँचते। किन्तु सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति उस व्यक्ति की है, जिसके सामने दान के अवसर आते हैं, वह स्पष्ट रूप से उन्हे पहिचानता भी है, उसकी हैसियत भी दूसरो को देने की है, उसके पास इतने साधन हैं कि वह चाहे तो दान के पात्रो को दे सकता है, किन्तु वह उन अवसरो को हाथ से जाने देता है, सोचता है, ऐसे अवसर तो अनेक बार आये हैं, और भविष्य मे आएँगे, परन्तु उन अवसरो को खो देने के बाद फिर पछताता है, जब या तो दान देने की स्थिति मे नही रहता, अथवा वह दान देने के लिए इस लोक मे ही नही रहता।

जो लोग रात-दिन यह सोचा करते हैं कि इतना दान देने से इतना पैसा कम हो जायगा, अथवा अभी तो नही, फिर दान दे दूंगा, इतनी जल्दी क्या है? वे अन्त मे हाथ मलते रह जाते हैं और अन्तिम समय मे कोई ऐसी अडचन आ जाती है कि वे सोचा हुआ दान नही दे पाते। उनके मनसूबे मन मे ही धरे रह जाते हैं।

एक धनी सज्जन थे। उनके गाँव मे एक सार्वजनिक सस्था का निर्माण हो रहा था। वे उस सस्था के भवन-निर्माण के कार्य को इधर से उधर गुजरते हुए प्रतिदिन देखा करते थे। कभी-कभी उस सस्था के लिए दान करने का मन भी होता, पर दूसरे ही क्षण वे हिसाब लगाने लगते कि इस दान से मेरी पूँजी मे जो कमी होगी, उसे कैसे पूरी की जाएगी? इस तरह से वे उस मकान के पास आते, कुछ सोचते,

फिर एक चक्कर लगा कर वापिस लौट जाते। एक मन होता कि कुछ करना चाहिए, दूसरा मन उस विचार को दबा देता। इसी तरह सोचते-सोचते वे इस दुनिया से चल बसे। उनकी सारी सम्पत्ति और खजाना धरा का धरा रह गया। वे कुछ दान देने की बात सोचते ही रह गए।

इस धनी सज्जन की तरह ससार मे बहुत-से लोग हैं, जो मन मे दान देने के मनसूबे बाँधते रहते हैं, लेकिन अवसर आने पर कुछ दान कर गुजरने की उनकी भावना मर जाती है। इसलिए सिद्धान्त यह निकला कि दान देने की भावना उठते ही, या दान का अवसर आते ही 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार झटपट दान दे डालो। आगे-पीछे की न सोचो। भगवान् महावीर का प्रेरणासूत्र यही सन्देश देता है—

'मा पडिबध करेह'

शुभ कार्य मे जरा भी ढील न करो। दान जैसे शुभ कार्य मे प्रमाद करने पर बाद मे उस अवसर के खोने का पश्चात्ताप होगा।

कई लोग यह सोचा करते हैं, दान तो दे दूं। पर आपत्काल में पास में पैसा न हुआ तो मेरी क्या हालत होगी! अत दान न देकर आपत्काल के लिए धन को सुरक्षित रखना चाहिए। परन्तु वे यह नही सोचते कि दुर्दैवात् जब कभी आपत्काल आएगा तो क्या सचित पूंजी भी नष्ट नही हो जाएगी? इसलिए सकटकाल के लिए धन को गाडकर या सचित करके रखना व्यर्थ है। दान का अवसर आने पर प्राथमिकता दान को देनी चाहिए, यही श्रेयस्कर है धर्मलाभ का कारण है। सचित करके रखी हुई सम्पत्ति कौन-सी श्रेयस्कारिणी या धर्मलाभ की कारण बनेगी?

इस प्रकार सचित करके आपत्काल के निमित्त सम्पत्ति को रखने से भी मनुष्य को बाद मे पश्चात्ताप करना पडता है कि हाय! मैं उस समय दान के लिए आए हुए पात्र को दे देता तो अच्छा रहता।

धारानगरी का राजा भोज बडा दानवीर था। दान देते समय वह आगा-पीछा नही सोचता था, न दान देने के बाद पश्चात्ताप या किसी प्रकार का और विचार ही करता था। उसका प्रेरणा सूत्र यही चिन्तन था—'Give without a thought' दो, पर किसी प्रकार का विचार किये बिना दो। उसके मन्त्री ने सोचा—'राजा अगर इसी तरह दान देता रहेगा तो एक दिन खजाना खाली हो जाएगा। इसलिए उसने कागज पर श्लोक की एक लाइन लिख कर राजा की शय्या के सामने दीवार पर टाँग दी। उस पर लिखा था—'आपदर्थे धन रक्षेत्' आपत्तिकाल के लिए धन बचाकर रखना चाहिए।' राजा की दृष्टि श्लोक की इस लाइन पर पडी, उसने मन ही मन सोचा—मुझे दान से रोकने के लिए शायद यह पक्ति लिखकर टाँगी गई है। अत उसने उस पक्ति के नीचे लिख दिया—'श्रीमतामापद कुत' भाग्यशालियो को आपत्ति कहाँ है? दूसरे दिन मन्त्री अपने लिखित श्लोक की पक्ति की प्रतिक्रिया जानने की दृष्टि से राजा के पास आया और उसने राजा के द्वारा लिखी हुई उक्त

पक्ति देखी तो सोचा—अभी तक राजा के मन पर कोई असर नही हुआ है। अत उसने राजा की लिखी हुई पक्ति के नीचे एक पक्ति फिर लिख दी—'कदाचित् कुपितो दैव' अगर भाग्य ही कभी कुपित हो गया तो ? राजा ने उसे देखा और मन ही मन मुस्कराकर उमके नीचे यह लाइन लिख दी—'संचितोऽपि विनश्यति' यानि सचित की हुई सम्पत्ति भी दैव के कुपित होने पर नष्ट हो जाती है, इसलिए धन का सचय करके रखने के बजाय दान करते रहना चाहिए। भविष्य मे धन काम आएगा, इस लिहाज से अच्छे कार्य मे दान न करने वालो के लिए राजा के ये विचार मननीय हैं।

निष्कर्ष यह है कि धन का सचय करने की अपेक्षा उसका दान करना बेहतर है, क्योकि दान करने से बाद मे पश्चात्ताप करने का अवसर नही आएगा। स्वेच्छा से दिया गया दान मन को सन्तुष्टि और शान्ति प्रदान करता है।

इस सम्बन्ध मे चाणक्यनीति[1] का यह श्लोक बहुत ही प्रेरणाप्रद है—

देय भो ! ह्यधने धन सुकृतिभिर्नो सचयस्तस्य वै।
श्रीकृष्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्याऽपि कीर्ति स्थिता ॥
अस्माक मधु दान-भोगरहित नष्टं चिरात्सचितम्।
निर्वेदादिति नैजपादयुगल घर्षन्त्यहो ! मक्षिका ॥

मधु-मक्खियो का कहना है—'पुण्यात्माओ को धन का केवल सग्रह न करके निर्धनो को दान देते रहना चाहिए। क्योकि उसी (दान) के कारण कर्ण राजा, बलि-राजा और विक्रमादित्य आदि राजाओ का यश आज तक विद्यमान है। आह ! देखो, हमने जो शहद चिरकाल से सचित किया था, उसे न तो किसी को दान दिया और न स्वय उपयोग किया, इस कारण वह नष्ट हो गया। इसी दु ख से हम मधुमक्खियाँ अपने दोनो पैरो को घिस रही हैं।'

इसी तरह जब दान और भोग से रहित सचित धन नष्ट हो जाता है, तो व्यक्ति मधुमक्खी की तरह सिर धुनकर हाथ मलता हुआ पश्चात्ताप करता है। इसके विपरीत जो उदारचेता होते हैं, वे राजा कर्ण की तरह देने मे आनन्द की अनुभूति करते हैं। इसलिए धन सचित करके रखना, दान देने से वचित करना है। पश्चात्ताप को न्योता देना है। गुजरात के प्रसिद्ध कवि दलपतराय ने ऐसे लोगो को चेतावनी दी है—

"माखिए मध सचय कीधु, नवि खाधु नवि दानज दीधु।
लूटन हाराए लूटी लीधु रे, पामरप्राणी, चेते तो चेताऊ तने रे ॥"

समय पर दान न मिलने का परिणाम · आत्महत्या

ससार मे कई इतने कठोर हृदय व्यक्ति होते हैं कि उनके पास धन और

---

१ चाणक्यनीति ११।१८

साधन प्रचुर मात्रा मे होने पर भी वे किसी जरूरतमद को देना नही चाहते, उसके पास कोई योग्य पात्र आता है तो वे उसे पहिचान नही पाते, उस पर चोर-उचक्के की शका करके उसे अपमानित करके निकाल देते हैं, लेकिन उसका नतीजा कभी-कभी इतना भयकर आता है कि बाद मे उसे अत्यन्त पश्चात्ताप करना पडता है, दान के योग्य पात्र को समय पर दान न मिलने के कारण वह स्वाभिमानवश आत्म-हत्या भी कर बैठता है। वास्तव मे, ऐसी आत्महत्या के लिए जिम्मेदार वे लोग हैं, जो शक्ति होते हुए भी योग्य पात्र मिलने पर भी उसे कुछ नही देते, इतना ही नही, अपनी मानवता को ताक मे रखकर उसे दुत्कार देते हैं, अपमानित करके निकाल देते हैं। इसलिए दान के महत्त्व को समझकर हृदय को उदार बनाना चाहिए। माँगने वाले या दयापात्र व्यक्ति की परिस्थिति तथा मन स्थिति को समझकर देश-काल के अनुसार मुँह से नही, बल्कि हाथ से ही उत्तर देना चाहिए अर्थात् दान वृत्ति का परिचय देना चाहिए। ☆

5

दान : जीवन के लिए अमृत

दान को मानवजीवन के लिए अमृत कहा है। अमृत मे जितने गुण होते हैं, उतने ही बल्कि उससे भी बढकर गुण दान मे हैं।

भारतीय सस्कृति के एक विचारक ने कहा है—

'दानामृत यस्य करारविन्दे, वाचामृत यस्य मुखारविन्दे।
दयाऽमृत यस्य मनोऽरविन्दे, त्रिलोकवन्द्योहि नरो वरोऽसौ॥'

जिसके करकमलो मे दानरूपी अमृत है, जिसके मुखारविन्द मे वाणी की सरस सुधा है, जिसके हृदयकमल मे दया का पीयूषनिर्झर बह रहा है, वह श्रेष्ठ मनुष्य तीन लोक का वन्दनीय-पूजनीय है।

कर का महत्त्व कम नही, परन्तु कर का महत्व दान देने से है अन्य उपर्युक्त व्यर्थ के कार्यों से कर का महत्त्व नही बढता। कर कमल बने, तभी दान अमृत बनता है। यो कोरा दान, जिसके साथ मधुर अमृतयुक्त वाणी न हो, हृदय मे आत्मीयता से ओतप्रोत दया का अमृत निर्झर न बहता हो, अमृत नही बनता। कहने का आशय यह है कि दान तभी अमृत बनता है जब हाथ के साथ वाणी और हृदय एकजुट होकर दान दें। कर तभी कमल बनता है, जब उसमे दान की मनमोहक महक उठती है।

इसलिए दानामृत जिसके करकमल मे हो, वह मनुष्य इतनी उच्च स्थिति पर पहुँच जाता है, वह विश्ववन्दनीय और जगत्पूज्य बन जाता है। ऐसा दानरूपी अमृत हजारो-लाखो मनुष्यो को जिला देता है, रोते हुओ को हँसा देता है, रुग्णशय्या पर पडे हुए रोगियो को स्वस्थ एव रोगमुक्त कर देता है, पीडितो मे नई जान डाल देता है, बुभुक्षितो और तृषितो की भूख-प्यास मिटाकर उन्हे नया जीवन दे देता है, सकटग्रस्तो को सकट मुक्त करके हर्ष से पुलकित कर देता है। सचमुच दान सजीवनी-बूटी है, अमृतमय रसायन है, रोगनाशिनी अमृतधारा है, अद्‌भुत शक्तिवर्द्धक टॉनिक है, दरिद्रतानाशक कल्पतरु है, मनोवाञ्छित पूर्ण करने वाली कामधेनु है। दान मे आश्चर्यजनक चमत्कार है, यह वशीकरण मन्त्र है, आकर्षक तन्त्र है और प्रेमवर्द्धक यन्त्र है।

एक जगह बहुत-से विद्वान् इकट्ठे हो रहे थे। वहाँ एक चर्चा छिड़ गई कि 'सच्चा अमृत कहाँ है ?' एक विद्वान बोला—"समुद्र में। समुद्र मन्थन करके देवो ने अमृत निकाला था।" दूसरा बोला—"अजी ! समुद्र तो खारा है, उसमे अमृत नहीं हो सकता। अमत तो चन्द्रमा में है। जिस अमृत से सभी औषधियाँ पोषित होती हैं।" तीसरा कहने लगा—"चन्द्रमा तो घटता-बढता है। इसलिए वह तो क्षय रोग वाला है। उसमे अमृत नही हो सकता।" चौथा बोला—"अमृत तो नारी के मुख मे है।" पाँचवा कहने लगा—"यह असभव है, नारी का मुह तो गदा है। अमृत तो नागलोक मे है। क्योंकि अर्जुन को जीवित करने के लिए नागलोक से अमृत लाया गया था।" छठा बोला—"सर्पों के मुह मे अमृत होता होगा, भला ! वहा तो विष है। अमृत तो स्वर्ग मे है। क्योकि अमृत पीकर ही देव अमर कहलाते हैं।" सातवाँ बोला, जो धार्मिक था—"भाई ! अमृत तो भावनापूर्वक दान देने मे है। क्योकि भावपूर्वक दिया गया दान मानव को जिला देता है, रोते हुए को हँसा देता है, रोगी को स्वस्थ बना देता है। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि विद्वानो की सभा ने काफी चर्चा के बाद दान को ही सर्वसम्मति से अमृत घोषित किया।

भारत मे अमृत की बहुत चर्चा है। आम आदमी भी अमृत को पाने के लिए बहुत लालायित रहता है।

प्रागैतिहास काल की एक घटना है। एक राजा को अमृत पीकर अमर बन जाने की लालसा जागी। उसके मन मे एक दिन विचार—"आया यह सब सुख-सामग्री, सम्पत्ति, सत्ता, वैभव आदि तो मृत्यु आते ही छीन लेगी अत क्या किया जाय, जिससे मैं अमर हो जाऊँ।" राजा के जीहजूरियो ने कहा—"इसका भी उपाय है। आप अमर बन जाइये।" "कैसे बनू ?" राजा ने पूछा। 'अमृतपान कीजिए, उससे निश्चय ही आप अमर बन जाएँगे।' नौकरो ने कहा।

राजा—"अमृत कैसे और कहाँ मिलेगा ?"

नौकर—"महाराज, आपके पास इतना धन-वैभव और सत्ता है, आप सभी नामी वैज्ञानिको को बुलाइए, उन्हें पुरस्कार दीजिए। वे अपने आप अमृत बनाने का उपाय बतायेंगे। आप उन्हे पुरस्कृत करके आज्ञा दीजिए।"

राजा ने शीघ्र ही अमृत बनाने वाले वैज्ञानिको को बुलाने के लिए मन्त्रियो से कहा। प्रधानमत्री ने सारे देशभर के वैज्ञानिको को विशाल पारितोषिक का लोभ देकर बुला लिया। अमृत बनाने के लिए राजकोश खुल्ला ही था। मूल, रस, वनस्पति, जडी-बूटी, पारस, हीरा, पन्ना, स्वर्ण, मुक्ता आदि द्रव्यो की बाढ आ गई। और एक दिन सचमुच उन रसायनशास्त्रियो ने राजा को खुशखबरी सुनाई—'महाराज ! अमृत बनकर तैयार हो गया है। राजा सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने अमृतपान के लिए एक दिन निश्चित किया, और इस दिन भव्य समारोह मनाने की घोषणा की। अमृतपान के लिए सप्तधातुओ का एक खास मडप बनवाया गया। जहाँ बैठ

कर राजा अमृतपान कर सके। इस भव्य सिद्धि को देखने के लिए देश के विभिन्न भूभागो मे अनेक नामी कलाकार, विद्वान्, ज्ञानी, शूरवीर एव वैज्ञानिक आदि आ पहुँचे। सभी अपने आसन से उठ-उठकर राजा को अमृतपान के लिए अभिनन्दन देने लगे। परन्तु राजा के वृद्ध महामत्री का आसन खाली पडा था। वे अभी तक नही आये थे। राजा ने देखा—इस देश के सभी विशिष्ट व्यक्ति इस अद्वितीय अवसर पर आकर मुझे अभिनन्दन दे रहे हैं, पर वृद्ध मुख्यमंत्री अभी तक क्यो नही आए ? इतने मे सफेद केशो मे मण्डित मस्तक वाले वृद्ध महामत्री आये। राजा को हाथ जोडकर वन्दन करके वे अपने आसन पर बैठ गये। राजा की नजर महामत्री पर टिकी, कि वे अभिनन्दन देने उठेंगे, पर वे तो राजा को नमस्कार करके नीचा मुह करके चुपचाप बैठ गये अपने आसन पर। राजा को जरा-सा रोप आया, फिर उसने वाणी का रूप लिया—"महामत्री ! क्या आज का समारोह आपको पसद नही है ?"

महामत्री—"यह देवदुर्लभ अवसर किसे पसन्द न होगा, महाराज !"

राजा—"तो फिर आप इसके बारे मे एक भी अक्षर न बोले, क्या कारण है ? देशभर के समागत मेहमान मुझे अमृतपान के लिए अभिनन्दन दे गए हैं, पर आप चुप बैठे हैं। कहिए, जो कुछ भी आपके मन मे हो। क्या इस अमृत को पीकर मैं अमर नही बनूंगा ?"

महामत्री—"यह अमृत तो है, महाराज ! परन्तु सच्चा अमरत्व इससे नही मिलेगा।"

राजा—"है ! क्या कहा ? क्या यह सच्चा अमरत्व प्रदान नहीं करेगा। तब क्या किया जाय ?"

महामत्री—"नि सदेह, महाराज, ऐसी ही बात है। इस अमृत को तो फेंक देना चाहिए।"

सभा मे सन्नाटा छा गया। हजारो आँखें और कान महामत्री की ओर लग गए। कुछ लोग शोर मचाने लगे। कुछ आवाजें आई—महामत्री की बुद्धि सठिया गई है। इनकी बुद्धि पर पाला पड गया है। कहते हैं—'इस अमृत को फैंक दो। ऐसा मत होने दो, राजन् ! कितने वर्षों की साधना के बाद प्रथम बार यह अमृत बना है।"

राजा ने सबको शात रहने का आदेश दिया और महामत्री से पूछा—"मत्री जी ! आप मेरे हितैषी हैं, क्या आप इसका रहस्य बताएँगे ?"

महामत्री—"अवश्य महाराज ! मैं बताऊँगा, सच्चा अमृत कैसा होता है, कौन-सा है ?"

राजा—"कहिए, शीघ्र कहिए।"

महामत्री—"हजारो वर्ष बीत गए, परकार्यार्थ जीतेजी देह को समाप्त करके

हड्डियो का दान करने वाले महर्षि दधीचि को विश्व याद करता है या नही ? एक शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए अपनी काया को समर्पित करने वाले शिवि राजा (या मेघरथ) का स्मरण लोग करते हैं या नही ? पृथ्वी का दान करने वाले बलि अमर हैं या नही ? इसी प्रकार दुष्काल पीडित भूखी जनता के लिए अन्नदान देने वाले राजा रतिदेव का नाम अमर है या नही, महाराज ?"

"जरूर है, महामन्त्रीजी ?" राजा ने उत्सुकतापूर्वक कहा ।

महामन्त्री—"तो महाराज ! सच्चा अमरत्व तो सृष्टि के पीडित मानवो के कल्याणार्थ अपने आपको समर्पित कर देने, अपना सर्वस्व दीनदुखियो, अभावग्रस्तो को दान कर देने और अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु परहितार्थ अर्पण कर देने वाले को मिलता है । इस दानरूपी अमृत से ही आप सच्चा अमरत्व प्राप्त कर सकेंगे । यही सच्चा अमृत है ।"

राजा—"तब फिर मैं क्या करूँ ?" "आपके पास जो अपार धन है, सत्ता है, उसे करोडो लोगो के हित के लिए लाखो अनाथो, अपाहिजो, असहायो, अभावग्रस्तो एव पीडितो की सेवा मे खर्च कीजिए । जीवन का प्रतिक्षण विश्वकल्याण मे योगदान दीजिए । महाराज ! यही (दान ही)सच्चा अमृत है । जिसे क्रियान्वित करके आप अमर हो जाएँगे । इस अमृत को ढोल दीजिए ।" इस बार विरोध मे एक भी स्वर न उठा । राजा ने वह अमृत वही का वही गिरा दिया और सच्चा अमृत प्राप्त करने के लिए दानशालाएँ खुलवा दी ।

निष्कर्ष यह है कि अमृत को पीने से मनुष्य कदाचित् अमर बन जाता होगा, लेकिन दानरूपी अमृत का सेवन करने वाला निश्चय ही अमर हो जाता है, दान लेने वाला भी दानामृत पाकर अमर हो जाता है ।

इसीलिए ऋग्वेद मे, ऋषियो ने एक स्वर से इसी बात का समर्थन किया है—

'दक्षिणावन्तोऽमृत भजन्ते'

(दान देने वाले और दान लेने वाले दोनो अमृत को प्राप्त करते हैं ।)

दान वास्तव मे मानव-जीवन के लिए अमृत है । जब मनुष्य भूख से पीडित हो, प्यास से छटपटा रहा हो, बाढ या भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोपो से व्यथित हो, उस समय उसे मिला हुआ दान क्या अमृत से कम है ? वह दान मानव को अमृत की तरह सजीवित कर देता है ।

पीडितो और पददलितो के लिए तो दान अमृत से भी बढकर काम करता है । एक बार गाँधीजी दक्षिण भारत के गुरुवापुर से कालीकट होकर उत्तरी मलाबार मे गए और वहाँ से पुन कालीकट आकर वे कालीकट से ५० मील दूर, सुन्दर पर्वतीय प्रदेश से युक्त कुलपटा पहुँचे । इस तालुके मे पर्वतीय अछूतो की सख्या ४२ हजार करीब है । इनमे १३ उपजातियाँ हैं । जिनमे परस्पर छुआ-छूत का भाव पाया

जाता है। ये लोग खेतो और काफी के बगीचो मे उस जमाने मे ३ पैसे प्रति दिन पर मजदूरी करते थे। गाँधीजी की सभा मे ये लोग सबके साथ बैठे थे। इन लोगो के पास बैठना भी साहस का काम था। कपडे मैले से काले हो गए थे, बाल बहुत बढे हुए थे, मैला शरीर, भयकर बदबू आ रही थी। इन लोगो की दशा सुधारने के लिए इसी गाँव के एक दानशील जैन बन्धु श्री सुबैया गोडन नामक जमीदार ने कमर कसी और वे जब तक जिंदा रहे, तब तक इन गरीबो की खूब सेवा करते रहे। मरते समय उन्होने अपनी १०० एकड खेत की जमीन, एव ६५ एकड का बाग इन पीडितो एव पददलितो को दे दी। महात्मा गाँधीजी ने इस जैनबन्धु के दान की प्रशसा करते हुए कहा था—"यह कोई ऐसा-वैसा दान नही है, यह तो महादान है, जो ऐसे पिछडे एव पददलितो के लिए अमृत रूप बना। नही तो ऐसे जगली प्रदेश मे कौन इन पीडितो की पुकार सुनता?" क्या यह दान पीडितो के लिए वरदान रूप अमृत नही है? क्या इस दान से सुबैया गोडन अमर नही हो गया? इस दान से पीडितो मे नई जान आ गयी।

कभी-कभी ऐसे मौके पर थोडे-से दान का सहारा अमृत रूप बन जाता है। कई बार व्यक्ति अभाव से ग्रस्त होकर चिन्ता ही चिन्ता मे भयकर रोग का शिकार बन जाता है। अगर उस समय दानामृत मिल जाता है तो वह मरते हुए व्यक्ति को जिला देता है, रोते हुए को हँसा देता है।

जर्मनी मे एक अत्यन्त दयालु राजा हो चुका है—सम्राट् जोसेफ। वह जनता के दु ख देखकर पिघल उठता था। कभी-कभी तो वह साधारण-सी पोशाक पहनकर अकेला ही अपने नगर मे जनता की हालत देखने निकल पडता था।

एक बार वह शहर की सडक पर साधारण वेष मे घूम रहा था, तभी उसे एक छोटा-सा बालक मिला। उसे देखकर सम्राट जोसेफ रुक गये तो वह बोला—"भाई साहब! मेरी सहायता कीजिए। मैं गरीब बालक हूँ।"

सम्राट् ने उसकी सूरत शक्ल देखकर अनुमान लगाया कि यह कोई कुलीन घर का विपत्तिग्रस्त लडका है। अत सम्राट् ने उससे कहा—"बेटा! तू भिखारी का लडका तो मालूम नही होता, क्योकि तुझे भीख माँगने की कला नही आती। मालूम होता है, कुछ ही दिनो से तूने भीख माँगनी शुरू की है।"

यह सुनकर लडके की आँखो मे आँसू आ गये। वह रोते-रोते बोला—हाँ, भाई साहब! मैंने तो क्या, मेरे कुल मे भी किसी ने भीख नही माँगी, किन्तु दिन फिरते क्या देर लगती है! समय आने पर मनुष्य को सब कुछ करना पडता है।" लडका यह सब कहता जाता और आँसुओ से सम्राट् के चरण धोता जाता था। सम्राट् ने उसे प्यार से पूछा—"बेटा! जरा बताओ तो सही, तुम्हे भीख क्यो माँगनी पड रही है?"

बालक ने विनयपूर्वक कहा—"भाई साहब! कुछ दिन हुए मेरे पूज्य पिताजी

का देहान्त हो गया। मुझे वे बहुत प्यार करते थे। हम दो भाई हैं। एक मुझसे छोटा है। हमारे पास खाने के लिए इस समय कुछ भी नही है। माताजी सख्त बीमार हैं। जो कुछ हमारे पास था, वह सब माताजी की बीमारी मे खर्च हो चुका। हमारी मदद करने वाला भी इस समय कोई नही रहा। जो अपने थे, वे सीधे मुँह बात नही करते, सहायता की तो बात ही दूर रही। अब तो पेट भरना भी कठिन हो रहा है। दवाई के लिए अब एक पैसा भी नही रहा। डॉक्टर बिना पैसे के बात ही नही करते। मेरी माँ कई दिनो से बिलकुल भूखी है। हम दोनो भाई भी दो दिनो से भूखे हैं। हमे छोटे बालक जानकर कोई मेहनत-मजदूरी के काम पर भी नही रखता। इसलिए विवश होकर आज मैं भीख माँगने निकला हूँ।"

बालक की करुणापूर्ण कहानी सुनकर सम्राट् की आँखो मे आँसू छलछला आए। सम्राट् ने लडके के हाथ मे कुछ रुपये देकर कहा—"जल्दी जाओ। डॉक्टर को बुलाकर अपनी माँ का इलाज करवाओ।" लडका खुशी से फूला न समाया। वह अपनी माँ के लिए डॉक्टर को बुलाने चल पडा।

जर्मन के सम्राट् ने डॉक्टर की पोशाक पहनी और वे पूछते-पूछते उस गरीब बालक के घर पहुँच गये। वहाँ जाकर उसकी रुग्ण माता का हाल पूछा तथा डॉक्टर की तरह उसके रोग की जाँच की। अन्त मे कहा—"कोई चिन्ता न करो, सब ठीक हो जायगा।" लडके की माँ बोली—"डॉक्टर साहब ! कोई ऐसी दवा दीजिए, जिससे मैं जल्दी स्वस्थ हो जाऊँ और कुछ काम-धन्धा करके इन दोनो बालको का पालन कर सकूँ। आज दुखी होकर मैंने लडके को भीख माँगने के लिए भेजा है। न जाने वह कहाँ-कहाँ धक्के खा रहा होगा।" यह कहते-कहते उसका जी भर आया और वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी इस दशा को देखकर सम्राट् की आँखो मे भी आँसू उमड पडे, किन्तु वे उन्हे पलको की बाँधो मे रोक कर बोले—"माता ! घबराओ मत ! मैं ऐसी दवा दूंगा, जिससे तुम्हारा सब दुख जाता रहेगा। किन्तु दवा लिखने के लिए एक कागज चाहिए।"

गरीब लडके की माँ ने कागज का एक टुकडा सम्राट् के आगे बढा दिया। सम्राट् ने उस पर बडी उदारता से दवाई का नाम लिख दिया—"दवाई—इस दुखी परिवार को शाही खजाने से शीघ्र ही दस हजार रुपये सहायता के रूप मे दिये जाँय।"

हस्ताक्षर
'सम्राट् जोसेफ'

यह नुस्खा लिखकर रुग्ण महिला की खाट पर रख दिया और सम्राट् चल दिये। बाहर से भीख माँगकर जब उसका लडका लौटा तो उसकी माँ ने कहा—"बेटा ! यह लो रोग की दवाई। अभी-अभी डॉक्टर साहब लिखकर गए हैं। जाओ, भीख से कुछ पैसे मिले हो तो झटपट दवा ले आओ, बेटा !"

लडके ने वह कागज उठाकर पढा तो उसका रोम-रोम खिल उठा। वह झट बोल उठा—"माँ ! यह नुस्खा लिखने वाला कोई साधारण डॉक्टर नही, वह तो स्वय सम्राट् जोसेफ थे, जिन्होने लिखा है—फौरन दस हजार रुपये शाही खजाने से दे दिये जाँय।"

यह बात सुनते ही उसकी बुढिया माँ प्रसन्नता से उछल पडी और उसके रोम-रोम से आशीर्वाद बरस पडे।

सचमुच इस दवा के मिल जाने के बाद उस सारे परिवार का दु ख सदा के लिए समाप्त हो गया। उस परिवार मे नये जीवन का सचार हो गया।

इसीलिए दान को अमृत कहा है। दानामृत से रुग्ण, अभाव-पीडित परिवार मे नई चेतना आ गयी, सम्राट् जोसेफ के दान ने अमृत का काम किया।

इसी प्रकार दान ऐसा अमृत है कि मुर्झाए, उदास और व्यथाग्रस्त चेहरे मे नये प्राण फूंक देता है। एक बार जब दान से गिरा हुआ, मृत-प्राय व्यक्ति ऊपर उठ जाता है तो फिर उसमे नई ताकत आ जाती है। वह अपने आपको सभाल लेता है।

दान का अमृत पाकर मृतप्राय व्यक्ति मे भी जान आ जाती है। पीडित व्यक्ति के मुरझाए हुए प्राणो मे नवजीवन का सचार हो जाता है।

इस प्रकार दान मानव-जीवन के सभी क्षेत्रो मे नई आशा, नई चेतना और नई उत्साहतरग पैदा कर देता है। वह जीवन के हर मोड पर अमृत का-सा अद्भुत कार्य करता है। इसमे कोई सन्देह नही।

दान से हृदयपरिवर्तन

प्राय यह देखा जाता है कि मनुष्य जब किसी अभाव से पीडित होता है, अथवा किसी प्रकार के प्राकृतिक प्रकोप या विपत्ति का शिकार बन जाता है, तब उसकी बुद्धि डावाडोल हो जाती है, उस समय उसकी बुद्धि को स्थिर करने और उसके हृदय को बदलने मे समर्थ दान ही हो सकता है। जब उक्त विपद्ग्रस्त व्यक्ति को कोई सहायता नही मिलती है, वह सब ओर से निराश हो जाता है, तब उसकी वृत्ति अन्याय, अनीति या चोरी जैसे अनाचरणीय दुष्कर्म करने पर उतारू हो जाती है। बगला मे एक कहावत प्रसिद्ध है—

'अभावे स्वभाव'

—अर्थात् अभाव मे आदमी का स्वभाव बदल जाता है।

अभाव के समय अपने स्वभाव मे स्थिर रखने वाला दान ही है। कई दफा बाहर से अभाव न होने पर भी मानसिक अभाव मनुष्य के मन मे पैदा हो जाता है, वह दूसरो की बढती देखकर मन मे अभाव या हीनता को महसूस करता है, अगर उस समय उसकी विकृत वृत्ति को कोई बदल सकता है तो दान ही।

मोरबी (सौराष्ट्र) के प्रसिद्ध विद्वान् प० शकरलाल माहेश्वर सौराष्ट्र के जाने-

माने विद्वानो मे से एक थे। उनकी विशेपता तो यह थी कि विद्वत्ता के साथ-साथ उनमे हृदय की उदारता भी थी। उनका यह मानना था कि मनुष्य पढने के साथ-साथ अपने जीवन मे धर्माचरण भी करे।

एक दिन शास्त्री जी अन्दर के कमरे मे बैठे गीतापाठ कर रहे थे। तभी एक ब्राह्मण भिक्षुक द्वार पर आया और 'लक्ष्मीनारायण प्रसन्न हरे!' कहता हुआ आटा मागने आया। कुछ देर तक प्रतीक्षा मे खडा रहा। जब घर मे से कोई उसे आटा देने न आया तो उसने सोचा—घर मे कोई नही होगा। शास्त्रीजी उसकी दृष्टि मे नही आए। अत उसने इधर-उधर देखा और घर की खिडकी के पास नीचे के जीने पर टट्टी जाने का एक पीतल का लोटा पडा था, उसे उठाया और चट मे अपनी झोली में डाल दिया। फिर आटा लेने के लिए कुछ देर खडा रहा। कमरे के एक कोने मे गीतापाठ करके उठते हुए शास्त्री जी की दृष्टि अकस्मात् सामने की खिडकी पर पडी, उन्होने ब्राह्मण भिक्षुक को लोटा उठा कर झोली मे डालते देख लिया। किन्तु हल्ला नही मचाया। सोचा—'बेचारे को जरूरत होगी। भूखा होगा, इसलिए लोटा उठा लिया होगा। दूसरा होता तो डाटता-फटकारता, मारपीट करता और पुलिस के सुपुर्द कर देता, मगर शास्त्रीजी ने गीता का समत्वयोग अपने मे रमा लिया था। उन्होने तुरन्त अपने नौकर को बुलाकर बाजार से एक नई थाली, एक लोट और एक कटोरी लाने को कहा। नौकर को उधर भेजकर शास्त्रीजी उस ब्राह्मण भिक्षुक से प्रेमपूर्वक बातें करने लगे। कुछ ही देर मे नौकर उक्त तीनो चीजें लेकर आ गया। शास्त्रीजी ने थाली मे आटा लोटे मे घी और कटोरी मे दाल भर कर तीनो चीजें भिक्षुक ब्राह्मण के चरणो मे रख कर कहा—"लो, महाराज! ये लोटा, थाली और कटोरा ले लो और जो पीतल का टट्टी जाने का गदा लोटा आपकी झोली मे पडा है, उसे निकाल कर वही रख दो।"

ब्राह्मण भिक्षुक तो भोचक्का-सा हो गया, उसे काटो तो खून नही। शर्म के मारे उसका मुँह नीचा हो गया। उसने धीरे से वह लोटा निकाल कर पहले जहाँ पडा था, वही चुपचाप रख दिया। शास्त्रीजी ने उसे प्रेम से कहा—"भूदेव! आप भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न हैं, मैं भी उसी कुल का हूँ। हम सब बन्धु हैं। इसलिए आप किसी बात का सकोच न करें, जिस चीज की आपको जरूरत हो, मुझे कहें। परन्तु ऐसा कार्य कदापि न करना, जिससे हमारा कुल कलकित हो। ऐसा करने से ब्राह्मण जाति बिगडती है। क्या आपके पास लोटा नही था?"

भिक्षुक ने आँखो मे आसू लाते हुए कहा—मुझे क्षमा करें। मुझसे बहुत बडी गलती हो गई। मेरे पास लोटा नही था, ऐसी बात नही है। किन्तु मेरी वृत्ति चोरी की हो गई। परन्तु आपकी उदारता ने, आपके इस दान ने मेरे हृदय को झकझोर दिया। मैं आज से आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ, कि कभी इस प्रकार से चोरी नही करूँगा। अगर किसी चीज की जरूरत होगी तो मैं आपसे कहूँगा।"

की। पर श्रावक अपने आत्मचिन्तन मे लीन रहा और चोरी के कारण— गरीबी सग्रह-खोरी पर ही विचार करता रहा। प्रात जब उसे मालूम हुआ कि चोर रगे हाथो पकडे गये हैं, वे जेल मे वद हैं तो राजा से प्रार्थना कर चोरो को छुडवाया और चुराया हुआ सब धन उन्हे सोपकर कहा—तुम गरीबी के कारण चोर बने हो, इसलिए यह धन लो, और आज से चोरी छोड दो। चोर की माँ तो गरीबी है, वही मनुष्य को चोर डाकू के रूप मे जन्म देती है। दान की शक्ति उसी चोर की मा—गरीबी, सग्रहखोरी को समाप्त करती है।

नि सन्देह, दान हृदयपरिवर्तन मे चमत्कारी ढग से सहयोगी होता है। इसलिए बौद्धधर्म ग्रन्थ विसुद्धिमग्गो (९।३९) मे स्पष्ट कहा है—

अदन्तदमन दान, दान सव्वत्थसाधक

दान अदान्त (दमन न किये हुए व्यक्ति) का दमन करने वाला तथा सर्वार्थ-साधक है। दान से केवल चोरो का ही नही, लुटेरो, बदमाशो, वेश्याओ का भी जीवन बदला है, उनके जीवन मे दान से नया प्रकाश आया है, जीवन मे व्याप्त पुरानी आदतें, दुर्व्यसन और बुराइयाँ नष्ट होकर वे अच्छाइयो के रास्ते पर चल पडे हैं। दान ने उन्हे अपने आपको वदलने को वाध्य कर दिया, वे दान देना प्रारम्भ करने से पहले अपने जीवन को माजने मे प्रवृत्त हो गए। यह दान का ही अद्भुत प्रभाव था कि राजसी ठाठबाठ से रहने वाले राजा हरिश्चन्द्र को ऋषि विश्वामित्र को राज्य दान देने के वाद अपने जीवन को अत्यन्त श्रमनिष्ठ, सादगी और सयम से ओतप्रोत वनाना पडा।

अमेरिका के धनकुवेर डेल कार्नेगी ने जब दान प्रवृत्ति शुरू की तो स्वय तमाम मादक द्रव्यो का परित्याग कर दिया। उन्होने स्वय एक बार कहा था—"मेरा मादकनिषेध भाषण तब प्रभावशाली एव सर्वोत्तम हुआ, जबकि मैंने स्वय मद्यत्याग करके अपनी जागीर की आय मे से सभी मादक द्रव्यो का सर्वथा परित्याग करने वाले सभी श्रमिको को दश प्रतिशत पुरस्कार वृत्ति देने की घोषणा की थी।" इसलिए दान जीवन परिवर्तन का अचूक उपाय है।

दान से जीवन-शुद्धि और सन्तोष

एक वेश्या थी। उसके पास सौन्दर्य था। जवानी थी और वैभव का भी कोई पार न था। सैकडो युवक उसके इशारे पर नाचते थे। परन्तु उसे अपनी वेश्यावृत्ति से सन्तोष नही था, उसके दिल मे अशान्ति थी। वह दुनिया का शिकार करती थी, लेकिन वास्तव मे दुनिया ही उसका शिकार करती थी। उसने तथागत बुद्ध के चरणो मे पहुँचकर शान्ति और सन्तोष का मार्ग पूछा तो उन्होने कहा—"शान्ति और सन्तोष का मार्ग तुम्हे तभी प्राप्त हो सकता है, जब तुम अपने तन-मन-धन को इस वेश्यावृत्ति से मुक्त कर दो, जब तक तुम अपने तन, मन और धन को इसी प्रकार के कसब कमाने और अपने शरीर को वेचने मे लगाये रखोगी, तब

तक तुम्हे शान्ति का वह सात्विक मार्ग प्राप्त नही हो सकता ।" बुद्ध के उपदेश से उसने अपनी वेश्यावृत्ति छोड दी और सादगी से जीवन बिताने लगी। एक दिन वह पुन तथागत बुद्ध के चरणो मे पहुँची और उनसे निवेदन किया—"भगवन् ! अब मै अपना शरीर वेचने का धधा छोड चुकी हूँ। सात्विक जीवन बिताती हूँ। मुझे ऐसा मार्ग बताइए, जिससे शान्ति मिले ।" बुद्ध ने उसे बताया कि नि स्वार्थभाव से दान का मार्ग ही ऐसा उत्तम है, जिसे अपनाने पर तुम्हारे तन-मन को शान्ति मिलेगी, तुम्हारा धन शुभकार्यों मे लगेगा, जिससे तुम्हे सन्तोष प्राप्त होगा ।"

बस, उसी दिन से उस भूतपूर्व वेश्या ने दानशालाएँ खुलवादी, रास्ते पर कई जगह यात्रियो के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ आदि बनवादी, गरीब, विधवा एव अनाथ स्त्रियो के खानपान का प्रबन्ध कर दिया। गरीबो को वस्त्र, अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुएँ देती रहती। मध्यमवर्गीय कुलीन लोग, जो किसी के आगे हाथ नही पसार सकते थे, उन्हे वह चुपचाप मदद करती थी। इस प्रकार दान का मार्ग ग्रहण करने से पहले उसका जीवन शुद्ध बन गया और दान के बाद भी उसका धर्माचरण मे जीवन रग गया। इस दानप्रवृत्ति से उसे बहुत ही सन्तोष एव आत्म-शान्ति मिलने लगी। दानप्रवृत्ति के कारण घर-घर मे उसका नाम फैल गया। इतिहास मे वह आम्रपाली वेश्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद मे उसने तथागत बुद्ध के चरणो मे अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित कर दी, और भिक्षुणी बनकर अपने जीवन की पूर्णतया शुद्धि करली।

इस प्रकार दान से व्यक्ति की जीवन शुद्धि और आत्मशान्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति अपने तन-मन-धन को दानप्रवृत्ति में लगाकर परम सन्तोष का अनुभव करता है।

दान से सारे परिवार का सुधार

आप और हम देखते हैं—परिवारो मे अक्सर स्वार्थभावना क्षुद्रता और लोभवृत्ति के कारण आए दिन चख-चख होती रहती है, जरा-जरा-सी बात पर महाभारत मच जाता है, किन्तु उसी परिवार मे अगर किसी व्यक्ति मे उदारता, दूसरो को अपनी ओर से देने की वृत्ति-प्रवृत्ति हो, स्वार्थ त्याग की भावना हो तो उसका असर सघर्ष और कलह करने वालो पर भी पडता है, किसी कारण को लेकर हुआ गृहकलह भी शान्त हो जाता है और सारे परिवार मे सुव्यवस्था और सुख-शान्ति बढ जाती है। और गृहस्थ जीवन मे पारस्परिक प्रेमवृद्धि के कारण लक्ष्मी भी आकर अपने बसेरा वही कर लेती है। इस तरह दान परिवार और समाज के सुधार मे भी महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है।

एक बडा परिवार था। उसमे पति-पत्नी, ५ पुत्र, दो पुत्रियाँ और ५ पुत्र-वधुएँ थी। परन्तु परिवार मे आए दिन काम के लिए बहुओ मे परस्पर झगडा होता रहता था। परस्पर प्रेम का अभाव, ईर्ष्या, द्वेष एव स्वार्थभाव होने से घर मे

अशान्ति का राज्य था। सबसे छोटी बहू ने शादी के बाद कुछ ही दिन हुए इस घर मे प्रवेश किया तो वह प्रतिदिन के गृहकलह और अशान्ति को देखकर घबरा उठी। वह बहू सुशिक्षित सुसस्कारी और उदार थी। उसने मन ही मन भगवान् मे प्रार्थना की—"भगवन्! मैं इस अशान्तिमय वातावरण मे कैसे रहूँगी, कैसे जीवन जीऊँगी? कोई रास्ता बताइए, जिससे मैं शान्ति से रह सकूँ।" प्रार्थना करते-करते उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली, अचानक उसके हृदय मे अपने प्रश्न का समुचित उत्तर स्फुरित हुआ—"इस घर के अशुद्ध वातावरण को बदलने के लिए ही तू इस परिवार मे आई है, अत स्वार्थत्याग, श्रम, धन एव वस्त्रादि के दान का मार्ग ही तेरे लिए सर्वोपरि है, इसी से परिवार मे शान्ति हो सकती है।" बस, उसे पारिवारिक अशान्ति के निवारण की असली कुंजी मिल गई। उसने सास से विनयपूर्वक कह-सुनकर सुबह-शाम रसोई बनाने और तथा घर के अन्य कार्य अपने जिम्मे ले लिए। उसकी सास और जिठानियो ने जब उससे पूछा कि तू अकेली सारे कार्य अपने ऊपर क्यो लेती है? तब उसने यही कहा कि "मुझे श्रम के कार्य करने मे आनन्द आता है, आलस्य निवारण भी हो जाता है।"

जिठानियाँ अपनी छोटी देवरानी के द्वारा श्रमदान की प्रवृत्ति देख-देख कर प्रसन्न होती, उनके मन मे देवरानी की उदारता को देख कर विचार आया कि हम तो काम करने मे आनाकानी करती या बहाना बनाती, मगर यह अकेली सारा कार्य स्फूर्ति से कर लेती है। धीरे-धीरे उसकी जिठानियो ने भी परस्पर झगडा करना बन्द करके स्वयमेव श्रम के कार्य करने लगी। एक बार उसके ससुर प्रत्येक बहू को देने के लिए १२-१२ साडियाँ लाए। उसने अपने हिस्से की बारहो साडियाँ अपनी जिठानियो और ननदो को आग्रहपूर्वक दे दी। पूछने पर कहा—"मेरे पास बहुत साडियाँ पडी हैं, मुझे जरूरत नही है। फिर बढिया साडी पहिनने से मेहनत के काम करने का जी नही होता। छोटी बहू की इस उदारवृत्ति का भी जिठानियो पर बहुत प्रभाव पडा। दूसरे ही साल व्यापार मे अच्छी कमाई होने से उसके ससुर ने सब बहुओ के लिए गहने बनवाए। परन्तु छोटी बहू ने अपने हिस्से के सब गहने अपनी जिठानियो को दे दिये। इससे और भी ज्यादा प्रभाव उन पर पडा। अब क्या था? छोटी बहू की इस प्रकार की उदारता और अपनी चीज जिठानियो को दे देने की प्रवृत्ति ने उनके हृदय को बदल दिया। जिठानियो मे अब स्वार्थ त्याग एव मेहनत के काम करने की वृत्ति बढ गई, और एक ही वर्ष मे घर का वातावरण शान्तिमय, प्रेममय और उदार बन गया।

छोटी बहू ने अपने परिवार मे ही इस प्रकार की दानप्रवृत्ति चलाई हो थी, आस-पास के क्षेत्र मे भी भूखो, पीडितो एव दु खियो को खुले हाथो अन्न-वस्त्र आदि का दान भी करती थी। परन्तु उसके इस पारिवारिक क्षेत्र के दान ने सास तथा जेठानी व ननद के जीवन मे अचूक परिवर्तन कर दिया। उनका पारस्परिक मनोमालिन्य,

झगडा और बात-बात मे किसी काम के लिए चखचख अथवा तू-तू-मैं-मैं अब नही होती। कोई भी बहू काम से जी नही चुराती। घर की व्यवस्था अच्छी हुई, घर मे सुख-शान्ति का राज्य हो गया। इस पारिवारिक शांति का रहस्य क्या है ? आप अगर अपने मन से ही इसका उत्तर पूछेंगे तो आत्मा से एक तेज आवाज उठती सुनाई देगी, स्वार्थत्याग। अपने स्वार्थ और सुख का त्याग कर डालना ही तो उत्तम दान है, और उसी से पारिवारिक शांति का राजमार्ग खुलता है। यह है दान से परिवार मे सुधार का उदाहरण।

दान से गृहकलह और दारिद्र्य का निवारण

दान मे अनेक गुण निहित हैं। दान से गृहकलह भी शांत हो जाता है। प्राय देखा गया है कि गृहकलह रूप बीमारी की जड गरीबी हैं। दारिद्र्य प्रभवा दोषा—कलह, अशांति और झगडे का मूल दरिद्रता है। आवेश के कारण परिवार मे दरिद्रता को लेकर कई बार गृहकलह छिड जाता है, परिवार के सदस्य एक-दूसरे को कोसने लगते हैं और मारपीट तक की नौबत आ जाती है। उस समय दान की शीतल वारि-धारा ही उस गृहकलह की आग को बुझा सकती है।

राजा भोज के राज्य मे एक गरीब ब्राह्मण रहता था। वह निर्धन होने पर भी स्वाभिमानी और सतोषी था। धन-सग्रह करने के उद्देश्य से वह कभी किसी से मागता नही था, न अपमानित होकर भिक्षा लेता। प्राय भिक्षा पर निर्वाह करता था। घर मे तीन प्राणी थे—वह, उसकी पत्नी और माता। पर्याप्त भिक्षा न मिलने पर कभी-कभी भूखे पेट रह जाना पडता था।

एक दिन की बात है। ब्राह्मण बहुत घूमा, थक गया, लेकिन कही भिक्षा न मिली। अत खाली हाथ वापस लौट आया। ब्राह्मण ने सोचा—"भूख बहुत जोर की लगी है। स्त्री ने कुछ बचाया होगा तो वह खिलाएगी।" यो सोच कर घर लौट आया। इधर उसकी माता और पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। मगर ब्राह्मण को खाली हाथ देख निराश हो गयी। ब्राह्मण ने आते ही पत्नी ने कहा—"लाओ, कुछ हो तो खाने को दो।" पत्नी—'कुछ लाए हो तो बना दूं। घर मे तो कुछ भी नही है।" ब्राह्मण बोला—"मैं तो रोज लाता ही हूं। आज नही मिला तो क्या हुआ ? क्या स्त्री होकर एक दिन का भी भोजन नहीं दे सकती ?"

ब्राह्मणी जरा गर्म होकर बोली—"कभी एक दिन से ज्यादा का भोजन लाये हो तो मुझसे कहो कि सभाल कर क्यो नहीं रखा ? लाकर देना नहीं, मागना और ऊपर से तकरार, यह भी कोई बात है। अगर खिलाने की हिम्मत नहीं थी तो विवाह किए बिना कौन-सा काम अटकता था। ब्राह्मण तमतमाता हुआ बोला—"शनिनी ! मेरे घर मे तेरे जैसी आई तो अब खाने को कैसे मिलता ? कोई सुलक्षणी आती तो कमा लाता। मगर तू अभागिनी ऐसी मिली कि भटकते-भटकते हैरान हो गया। चार दाने अन्न न मिल सका। तू अर्द्धांगिनी है, तुझे भी कुछ करना मेहनत-मजदूरी करके

तुझे भी कुछ बचाकर रखना चाहिए। कदाचित् कोई अतिथि आ जाय तो !" ब्राह्मणी का पारा गर्म हो गया। वह बोली—"बस, बहुत हो गया। अपनी जीभ बन्द कर लो। धिक्कार है, उन सासूजी को, जिन्होने तुम्हे जन्म दिया। मैं अभागिनी थी तो नही, पर तुम्हारी माता तो भाग्यशालिनी है उसके भाग्य मे भी कुछ मिला होता। दरअसल, वही अभागिनी है, जिसने तुम सरीखे सपूत पैदा किए। मैं कष्ट पा रही हूँ।" ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोला—"तेरे माँ-बाप ने तुझे खूब पैदा किया है, जो अपनी सास के लिए ऐसे शब्द बोलती है। निर्लज्जे ! कुछ शर्म भी नही।" यो कहकर ब्राह्मण पत्नी को पीटने लगा। ब्राह्मणी चिल्लाई—"हाय ! बचाओ-बचाओ, दौडो कोई।" ब्राह्मणी के सिर से खून बहने लगा। स्त्री की पुकार सुनकर पुलिस आ गई। उसने पूछताछ की तो ब्राह्मणी बोली—'देखो, इन्होने कितना मारा है, मेरे सिर मे खून निकल आया। घर मे खाने को है नही, मुझसे खाना मागते हैं ! इस राज्य मे ऐसे भी लोग बसते हैं, जो विवाह कर लेते हैं, पर स्त्री की मिट्टी पलीद करते हैं। पूछ लो उनसे।"

पुलिस ने दोनो ओर की जाच करके कहा—"तुमने निर्दोष स्त्री पर अत्याचार किया है, इसलिए पकडे जाते हो।" पुलिस ने ब्राह्मण को गिरफ्तार करके कोतवाल के सामने पेश किया। ब्राह्मण ने सोचा—"मैंने क्रोध मे आकर पत्नी को पीट तो दिया, लेकिन अब कहूँगा क्या ? पुलिस या कोतवाल के सामने अपनी कष्टकथा कहने से सिवाय लज्जित होने को और लाभ भी क्या है ? अत राजा के सिवाय किसी से कुछ भी न कहूँगा।" कोतवाल ने जब ब्राह्मण से कहा कि "अपने बयान लिखाओ, तुमने क्या किया ? किस अपराध मे पकडे गए हो ?" इस पर ब्राह्मण बोला—"मैं राजा भोज को छोडकर किसी के सामने बयान न दूंगा।" कोतवाल ने बहुत डाटा-फटकारा, लेकिन वह टस से मस न हुआ। आखिर ब्राह्मण को जिद्दी समझकर महाराजा भोज के सामने उसे पेश किया।

राजा भोज राजसभा मे सिंहासन पर बैठे थे। क्रमश अपराधी उनके सामने पेश किये जाते थे। सयोगवश आज सबसे पहला नम्बर इसी ब्राह्मण का था। राजा ने ब्राह्मण के मामले मे सारी बात सरकारी कर्मचारी से पूछताछ करके ब्राह्मण से पूछा—"क्या यह बात ठीक है ?" ब्राह्मण बोला—और सब बात तो ठीक है, पर मुझे ये ब्राह्मण बता रहे हैं, पर मैं ब्राह्मण नही चाण्डाल हूँ। भीतरी बात का इन्हे पता नही। जो ब्राह्मण होगा, वह आपके सामने अभियुक्त बनकर नही आएगा। मुझ मे चाडाल के लक्षण हैं, महाराज !" राजा ने कहा—"तुम ब्राह्मण हो या चाण्डाल, जो अपराध करेगा, वह दण्ड पाएगा। बोलो तुमने अपनी स्त्री को क्यो मारा ?" ब्राह्मण पढा-लिखा था। वह बोला—"राजन् ! मेरी बात आप सुन लीजिए, फिर जिसका कसूर हो, उसे दण्ड दीजिए।"

राजा—"क्या कहना चाहते हो, कहो।"

ब्राह्मण बोला—

"अम्बा तुष्यति न मया, न तया, साऽपि नाम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया, वद राजन्! कस्य दोषोऽयम्॥"

—मेरी माँ न मुझसे खुश है न पत्नी से, पत्नी भी न माँ से खुश है न मुझसे, और मैं भी उन दोनो से खुश नही हूँ, राजन्! आप ही सोच लें, इसमे किसका दोष है?

राजा ब्राह्मण की बात से बहुत प्रभावित हुआ। बोला—"मैं सब समझ गया।" शीघ्र ही राजा ने भडारी को आज्ञा दी—"इस ब्राह्मण को एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ दे दो।" राजाज्ञा सुनकर भडारी आश्चर्य मे पड गया। सोचा—"स्त्री को पीटा, जिसके बदले एक हजार मुहरें!" राजा भण्डारी की मुखमुद्रा देखकर भाव ताड गए। बोले—"तुम्हे क्या शका है? आश्चर्य क्यो है? कहो!" भण्डारी—"स्त्री को पीटने के बदले एक हजार मुहरें देने की बात नगर मे फैल जाएगी, तो बेचारी स्त्रियो पर घोर सकट टूट पडेगा। राज्य का खजाना खाली होने का अवसर आ जाएगा। सभी इनाम लेने दौडेंगे।" राजा—"मेरी बात तुम्हारी समझ मे नही आई। जो आदमी खाता-पीता और सुखी है, वह अगर स्त्री को पीटेगा तो जरा भी रियायत नही की जाएगी, चाहे मेरा पुत्र ही क्यो न हो। मैं स्त्री को पीटने के बदले ब्राह्मण को मुहरें नही दिलवा रहा हूँ, अपितु जिसका अपराध है, उसे ही दण्ड दे रहा हूँ। अगर कानून के अनुसार इसे कैद कर लूंगा तो हालत और भी खराब हो जायगी। अभी तो लडते हुए भी मा-बेटा, पत्नी तीनो एक साथ रहते हैं, फिर सब एक दूसरे को छोड जाएँगे। भण्डारी! तुम इस ब्राह्मण की स्थिति पर विचार करो तुम्हे स्पष्ट प्रतीत होगा कि अपराध ब्राह्मण का या इसकी पत्नी का नही, अपराध दरिद्रता का है, उसी का मैंने दण्ड दिया है, ये मुहरे दिलाकर।" भण्डारी का भ्रम दूर हो गया। उसने मन ही मन राजा की प्रशसा की और एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ ब्राह्मण के सामने लाकर रख दी। राजा ने ब्राह्मण से कहा—"जिसका अपराध था, उसे दण्ड दिया गया है, लेकिन इस काण्ड की पुनरावृत्ति हुई तो फिर मैं तुम्हे भारी दण्ड दूंगा।"

ब्राह्मण—"आपके उचित निर्णय की प्रशसा करने को मेरे पास शब्द नही हैं। भविष्य मे अपराध हो तो मेरे शरीर के टुकडे टुकडे करवा देना।" ब्राह्मण स्वर्ण-मुद्राओ की थैली लेकर चला।

उधर घर मे सास-बहू के बीच कलह हो रहा था। सास कह रही थी—"तूने उससे ऐसा क्यो कहा?" बहू कह रही थी—"उन्होने मुझसे ऐसा क्यो कहा?" बस, इन्ही मूलसूत्रो पर भाष्य और टीका हो रही थी। इतने मे ही दूर से थैली लिये आता हुआ ब्राह्मण दिखाई दिया। उसे देखकर सास-बहू दोनो शान्त हो गई। दोनो को तसल्ली हुई कि आज तक कभी इतना अनाज घर मे नही आया था, आज गृहस्वामी बोरी भर कर ला रहा है। नजदीक आने पर बोरी मे कुछ गोल-गोल चीजें दिखाई दी। दोनो ने सोचा—"इतने पैसे हो, तो भी बहुत हैं। अब दोनो की लडाई बन्द हो चुकी। दोनो की विचारधारा पलटी। सास कहने लगी—"बेटे को वजन लग रहा

होगा, मैं थैली ले लूं।" बहू बोली—"आप बुड्ढी है, रहने दें, माँ ! मैं ले लेर्न
सास बोली—"बहू ! तुम्हारे सिर मे चोट लगी है, तुम रहने दो।" बहू मुस्
बोली—"इस मार मे क्या है ? पति की मार और घी की नाल बराबर है।"
सास-बहू दोनो थैली लेने के लिए दौडी।

दोनो को सामने बढते देख ब्राह्मण ने कहा—"तुम दोनो कष्ट मत
यह बोझ मेरे ही सिर पर रहने दो। अपने अपराध का भार मुझे ही उठाने
यो कहता हुआ ब्राह्मण थैली लेकर घर मे प्रविष्ट हुआ। थैली नीचे रखी तो
माँ और पत्नी दोनो इतनी स्वर्ण मुद्राएँ देखकर भौंचक्की-सी रह गई। माँ बो
"बेटा ! मेरे जैसी कठोर हृदया माता नही, तुझ-सा सपूत बेटा नही। मैं सदा स
रही। तुझसे सीधे मुँह बात न की, अपना कर्तव्यपालन न किया, मुझे क्षमा कर

तभी गिडगिडाकर पत्नी बोली—"यह कसूर तो मेरा ही है, माँ ! मैं
इस घर मे आई, तब से सबको कष्ट मे पडना पडा। मैंने पति और सास की
अवज्ञा की। प्रिय वचन तक न कहा, मुझे क्षमा करना।"

ब्राह्मण ने कहा—" माँ और प्रिये ! तुम दोनो मुझे क्षमा करना
कर्तव्य था—तुम्हारा पालन करना। सपूत बेटा वृद्धावस्था मे माँ की सेवा कर
सच्चा पति सदैव अपनी पत्नी की रक्षा करता है। पर मैंने दोनो मे से एक भी
का पालन न किया। इस प्रकार तीनो ने अपनी-अपनी गलती स्वीकार करके
दूसरे से क्षमा माँगी। ब्राह्मण ने अन्त मे कहा—"अब भूतकाल की बात भूल जा
गुण गाओ राजा भोज के, जिन्होने अपना असली दु ख जान लिया और एक
स्वर्णमुद्राएँ दान देकर अपना दरिद्रता का दु ख मिटा दिया।

इस प्रकार वह ब्राह्मण कुटुम्ब शीघ्र ही सुधर गया। इसके पश्चात्
परस्पर कलह कभी नही हुआ। तीनो बडे प्रेम से रहने लगे और धर्मा
करने लगे।

सचमुच, दान मे इतनी आकर्षण शक्ति है कि इसके कारण वर्षों पुराने
दरिद्रता के कारण होने वाला गृहकलह, परस्पर की खीचातानी और
भावना शीघ्र ही मिट जाती है और दरिद्रता देवी तो दान को देखते ही पलायित
जाती है। कितनी गजब की शक्ति है, दान मे।

जिस बात को लेकर कलह का सूत्रपात होता है, अगर उसका मूल पकड
दान के रूप मे उदारता की जाती है, तो कलह को शान्त हो ही जाता है, उससे
आगे बढकर परस्पर प्रेमभाव, उदारता और सहयोग की भावना बढती है। कष
और राग-द्वेषो के भडकने के कारण जो अशुभ कर्मों का बन्ध प्रतिदिन होता र
था, वह भी बन्द हो जाता है। घर मे शान्ति और सुख बढता है तो सम्पत्ति (लक्ष
भी बढती है, दरिद्रता भी दूर हो जाती है। तथा पारस्परिक ऐक्य और पारिवा
सगठन के कारण बडी से बडी विपत्ति आने पर सब मिलकर उसे निवारण कर स

हैं। धर्माचरण करने का उत्साह भी बढ जाता है, चिन्ता और कलह के वातावरण मे धर्मध्यान नही होता, प्राय आर्त्तध्यान ही होता है। इसके अतिरिक्त परिवार मे सुख-शान्ति और परस्पर प्रीति होने से उसका असर समाज पर भी पडता है और उस परिवार की प्रतिष्ठा मे चार चाँद लग जाते हैं, इसमे कोई सन्देह नही।

दान से पापो का प्रायश्चित्त और उच्छेद

दान से जब हृदय परिवर्तन होता है, तब कृत पापो का नाश हो जाता है, और भविष्य अनीति, चोरी आदि पापकर्म करने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त पापकर्मों के प्रायश्चित्त के रूप मे दान देता है, तब भी पापकर्मों का उच्छेद हो जाता है। इसलिए समझदार और विचारक व्यक्ति प्राय यही सोचता है कि मैं दान देकर किसी पर एहसान नही कर रहा हूँ, न वह दान देने का गर्व करता है, बल्कि समतावादी विचारक तो यही सोचता है कि मुझे किसी प्रकार की ढिंढोरा पीटे विना एव विज्ञापन किये विना अपने पापकर्म के प्रायश्चित्त स्वरूप दान करना चाहिए। अगर मैंने दान नही किया तो मेरा पापकर्म रूपी फोडा बढता जाएगा, और एक दिन मेरे जीवन को ही ले डूबेगा, इसलिए पापकर्म रूपी फोडे को दान का नश्तर लगाकर उसे फोड डालना ही मेरे लिए हितावह है। इसलिए रूस के 'पीटर दि ग्रेट' ने अनुभव की आँच मे तपी हुई वात कही है—

'दान असंख्य पापो का छेदन करने वाला है।'

इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए रॉकफेलर का जीवन प्रसग प्रस्तुत किया जाता है—

'जॉन डी रॉकफेलर' अमेरिका का एक धनाढ्य व्यक्ति था। उसने अनैतिकता से व्यापार मे वहुत ही धन कमाया था। वह अपने नौकरो को वहुत सताता और उनसे कस कर काम लेता था। गरीबो को वह कभी दो पैसे की मदद नही करता था। वह इतना हृदयहीन था कि कभी किसी दु खी, भूखे या अभावग्रस्त को देखकर उसके हृदय मे करुणा, दया या सहानुभूति नही पैदा होती थी, न वह कभी किसी को दान देता था।

एक वार रॉकफेलर बीमार पडा। उसके इलाज के लिए डॉक्टर पर डॉक्टर आने लगे। मगर कोई भी डॉक्टर उसे स्वस्थ न कर सका। ज्यो-ज्यो इलाज करते गए, मर्ज बढता ही गया। रोग धीरे-धीरे सारे शरीर मे फैल गया। रॉकफेलर पीडा के मारे कराहता, बेचैन रहता, मगर परिवार, समाज या डॉक्टर या और कोई उसे शान्ति न दे सका, वह अशान्त रहने लगा। उसके माता-पिता ने यह घोषणा कर दी कि "जो कोई इस बीमारी को मिटा देगा, उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति का मालिक वना दूंगा।"

रॉकफेलर ने भी कहा—"चाहे जितना धन ले लो, मेरा रोग मिटा दो।" परन्तु रोग यो चाहने से मिट नही सकता था। वह तो पापकर्म का—असाता-वेदनीय

कर्म का—फल था। उस फल को स्वय भोगे बिना कोई चारा नही था। हाँ, इतना जरूर है कि असातावेदनीय कर्म का क्षय या उपशम करने से अथवा सातावेदनीय कर्म की प्रबलता होने से भयकर रोग का दु ख मिट सकता था। रॉकफेलर की पत्नी, बच्चे सब उसकी शय्या के पास खडे-खडे आँखो से अश्रुधारा बहाते, सहानुभूति भी दिखाते, पर रोग को मिटा नही सकते और न ही दु ख या पीडा मे हिस्सेदार बन सकते थे, न रोग को कम कर सकते थे। एक दिन रॉकफेलर के मन मे अपने प्रति ग्लानि, आत्मनिन्दा और पश्चात्ताप की भावना पैदा हुई। उसने सोचा—मैंने अपने जीवन मे कितने पापकर्म कमाए, मैंने पैसे को जीवन का सर्वस्व समझा। एक रातभर मे मैंने लाखो कमाए, पर किसी को एक पाई का भी दान नही दिया, आज तक मैंने धन इकट्ठा ही इकट्ठा किया। जिस धन के पीछे मुझे गर्व था कि मै इससे दुनिया के सभी कार्य कर सकता हूँ, वह आज मिथ्या साबित हो चुका है, वह धन मुझे अपने रोग से मुक्ति नही दिला सका। रत्नाकरपच्चीसी की भाषा मे वह अब पछताने लगा—

> 'दत्त न दान, परिशीलित च, न शक्ति शील, न तपो न तप्तम्।
> शुभो न भावोऽप्यभवद् भवेऽस्मिन् विभो ! मया भ्रान्तमहो मुधैव ॥'

—मैंने न तो किसी को कभी दान दिया, न ही यथाशक्ति शील का हृदय से पालन किया, न ही तपस्या की और न ही शुभ भाव पैदा हुए। अत विभो ! मैं व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहा। अपनी जिंदगी मे कोई भी अच्छा कार्य नही किया। मैं इस भ्रम मे ही रहा कि मेरे पास धन ही धन है, फिर दु ख कहाँ टिकेगा, परन्तु मेरी सभी धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हुई। प्रभो ! मैंने अपने जीवन मे भयकर लूट मचाई, परन्तु किसी भी दु खी या पीडित के आँसू नही पोछे, न ही किसी को सुख शान्ति पहुँचायी। पैसे को ही मैंने परमेश्वर समझा। किसी को दान देकर मैंने न किसी का दु ख मिटाया। इस रोग ने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मुझे यह भान हो गया कि मैं अगर किसी को सुख-शान्ति पहुँचाता तो मुझे आज सुख-शान्ति मिलती। मैंने तो दूसरो के काटे ही चुभोए, अब मुझे फूल कैसे मिल सकते हैं ? अगर मैंने किसी दूसरे की आतो को ठडक पहुँचाई होती तो मुझे आज ठण्डक मिलती। यदि मैं दूसरे की राह का रोडा न बनता तो मेरी सुख-शान्ति की राह मे आज रोडे न होते।"

इस प्रकार पश्चात्ताप की धारा मे बहते रॉकफेलर ने अपने आँसुओ के साथ ही बहुत-सा कालुष्य धो डाला। उसने मन ही मन सकल्प किया—"यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा या बच जाऊं तो अपनी सारी सम्पत्ति दान मे दे दूंगा। बस, यह मेरा दृढ निश्चय है।" यो सोचते-सोचते रॉकफेलर को अच्छी नीद आ गई। वह सुबह जागा तो अपने आपको स्वस्थ और स्फूर्ति मान महसूस करने लगा। उसकी पत्नी ने कहा—"आज तो आपको सुख की नीद आई थी ? ऐसी गाढ निद्रा इस

बीमारी के बाद मैंने पहली दफा देखी है। मालूम होता है—डॉक्टर की दवा का प्रभाव हुआ है।"

रॉकफेलर—"प्रिये, तुम क्या कह रही हो ? अब तो मेरा रोग ही समाप्त हो गया है। मेरे रोग पर किसी भी डाक्टर की दवा का असर नही हुआ है। मेरे शुभ-भावरूपी डॉक्टर की दान रूपी औषध का प्रभाव हुआ है। इस दान की भावना से मेरे अधिकाश कलुषित कर्म—अशुभकर्म हट गए, नष्ट हो गए, मेरे पुण्य कर्म प्रबल होते गए, और वास्तविक शान्ति हो गई। दूसरो को दान देकर शान्ति पहुँचाने की भावना आई और स्वय को शान्ति मिल गई।"

रॉकफेलर प्रात काल नित्यकर्म से निवृत्त होकर बैठा ही था कि उसके मैनेजर का फोन आया—"हम जो मुकद्दमा लड रहे थे, उसमे हार गए हैं। लाखो रुपये बर्बाद हो गए हैं।" मैनेजर सोच रहा था कि रॉकफेलर यह सुन कर बहुत ही क्रुद्ध होगा, लेकिन उसकी आशा के विपरीत रॉकफेलर बोला—'कोई बात नही। जो कुछ हुआ सो ठीक है।" मैनेजर को विश्वास नही हुआ कि यह रॉकफेलर बोल रहा है या और कोई । उसने पूछा—"आप कौन बोल रहे हैं ?"

रॉकफेलर— मैं खुद रॉकफेलर बोल रहा हूँ।" मैनेजर को बडा आश्चर्य हुआ, इस आकस्मिक परिवर्तन पर। वह घर पर आकर रॉकफेलर से रूबरू मिला तब भी रॉकफेलर ने वही बात कही। परन्तु रॉकफेलर ने विशेष बात यह कही कि "जो आया है, वह तो जाने वाला ही है। तुम एक काम करो। यहाँ जितनी भी सस्थाएँ हैं, उन सबकी लिस्ट बना कर मुझे दो। मैं सबको थोडा-थोडा दान देना चाहता हूँ।" मैनेजर सभी सस्थाओ की सूची बनाकर लाया। रॉकफेलर ने उस सूची के अनुसार सभी सस्थाओ को चैक लिख कर भिजवा दिये। फिर रॉकफेलर ने अपने मैनेजर से कहा—"मैंने अपनी जिंदगी मे जो आनन्द अभी तक प्राप्त नही किया था, वह आज इस दान के कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे इतनी आनन्द की अनुभूति होती है कि मैं रात-दिन दान देता ही रहूँ। एक मिनट भी दान के बिना खाली न रहूँ।"

मैनेजर यह सुनकर स्तब्ध रह गया। उसे यह लगा कि 'मालिक को आज हो क्या गया ? पहले तो एक पाई भी यह किसी को नही देते थे, किन्तु आज लाखो का दान । इतना परिवर्तन कैसे आया ?"

परन्तु अफसोस । रॉकफेलर के चैक जिन-जिन सस्थाओ के पास गए उन सब सस्थाओ ने उन्हे वापस कर दिए। कोई भी सस्था रॉकफेलर का पैसा लेने को तैयार न हुई। चैक वापस करने के साथ उन्होने पत्र मे लिखा कि "यह अन्याय-अनीति से कमाया हुआ पैसा हम अपने पास नही रख सकते। इससे हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी।"

रॉकफेलर को वडा दु ख हुआ कि "हाय ! कोई मेरा पैसा लेना नहीं चाहता। कितना खराव है मेरा पैसा ? मैं भी अव उसे अपने पास कैसे रख सकता हूँ। उस सस्था के अधिकारियो से कहा—"आप समझ रहे हैं, वैसा अव मैं नही रहा। मैं तो अपने पापो का प्रायश्चित्त समझकर इस धन को दे रहा हूँ। मुझे इस दान के वदले अपनी नामवरी या प्रसिद्धि की भी चाह नही है। मैं इस धन को नम्रभाव से सस्था के चरणो मे अर्पित कर रहा हूँ। सस्था इसे स्वीकार कर मुझे उपकृत करे।" इतना कहने पर भी कोई सस्था लेने को तैयार न हुई। आखिरकार रॉकफेलर ने अपने एक मित्र को बुलाया, जिसका जीवन प्रामाणिक और न्यायनीतिपूर्ण था। रॉकफेलर ने उस मित्र से कहा—"मुझे इतने रुपये दान मे देने हैं, अपने पापो के प्रायश्चित्त के रूप मे। मुझे नाम नही चाहिए। अत तुम ये रुपये ले जाओ और अपने नाम से अमुक-अमुक सस्थाओ को दे दो, और मुझे अपने पाप के वोझ से हलका करो।" उसके मित्र ने वह सारा धन उन सस्थाओ को दे दिया। अव सस्थाओ ने उस धन को स्वीकार कर लिया। रॉकफेलर को इस दान से वहुत आनन्द आया।

इस प्रकार दान प्रायश्चित्त के रूप मे पापो के विच्छेद (नाश), आत्मशान्ति और आनन्द का कारण बना।

आप देख चुके हैं कि दान का अमृत जीवन मे किस प्रकार से सुख, शांति, समता और आनन्द का स्रोत बहाता है, समाज मे व्याप्त, विषमता, दरिद्रता दैन्य और दुखो के जहर को नष्ट करता है। और मानव को सचमुच मे अमर जीवन प्रदान करने मे समर्थ होता है। ☆

6

दान से आनन्द की प्राप्ति

ऋषि-मुनियो ने यह अनुभवसिद्ध बात कही है कि इन्द्रिय-विषयो के उपभोग से सच्चा आनन्द नही मिलता, जो कुछ मिलता है, वह क्षणिक और दु खबीज रूप होता है, सच्चा और स्थायी आनन्द दान से मिलता है। क्योंकि प्राय दान स्वेच्छा से किया जाता है। अगर कोई चोर धन चुरा ले जाता है, डाकू लूट लेता है या ठग ठगी करके ले लेता है अथवा बेईमान या शोषक शोषण या बेईमानी करके धन-हरण कर लेता है अथवा किसी व्यर्थ के कार्य मे खर्च हो जाता है या खो जाता है तो मनुष्य को उसका बहुत ही दु ख होता है, पश्चात्ताप होता है, जबकि मनुष्य जब अपने हाथ से धन किसी को दान कर देता है, या किसी अच्छे कार्य मे खच कर देता है या पर-हितार्थ समर्पण कर देता है तो उसे उसका प्राय दु ख या अफसोस नही होता, प्रत्युत उसके हृदय मे आनन्द की अनुभूति होती है। दान देकर मनुष्य समाज के प्रति अपने कर्तव्यभार से मुक्त भी हो जाता है, जिसका आनन्द किसी भी कदर कम नही है। वह आनन्द डॉक्टरो, वैद्यो, वकीलो या अन्य लोगो को लुटाने मे प्राप्त नही हो सकता, न हजारो रुपये खर्च करके भोग-विलास या आमोद-प्रमोद के साधन जुटाने से प्राप्त हो सकता है। उस वास्तविक आनन्द के लिए दान ही सर्वोपरि उपाय है।

अमेरिका का एक अरबपति सेठ सडक से होकर घूमने जा रहा था। रास्ते मे उसने एक निराश, विपन्न, गृहविहीन फटेहाल विधवा स्त्री को देखा, जो जोर-जोर से रो रही थी। पास मे ही उसका सामान पडा था। उसके बच्चे भी वही बैठे थे। इस पूंजीपति से उसका दु ख नही देखा गया। उसने उक्त विधवा स्त्री को अपने घर चलने के लिए राजी कर लिया और तुरन्त अपनी मोटर मे बच्चो सहित उसे बिठा लिया। अपने घर ले जाकर उस अरबपति ने उसे रहने के लिए एक मकान दे दिया, उसके व बच्चो के खाने-पीने का प्रबन्ध कर दिया और कुछ नकद राशि भी उसे खर्च के लिए दे दी। विशेषतया उसने यह किया कि उक्त महिला के नाम से बैंक मे सौ डालर जमा करा दिये। उक्त महिला के अन्तर से उस अरबपति के प्रति आशीर्वाद फूट पडे, उसने प्रत्यक्ष मे भी बहुत आभार माना।

अरबपति की उम्र ७० वर्ष की थी। उक्त महिला को सहायता के रूप मे दान देने पर उसके मुंह से यही उद्गार निकले कि "मुझे अपनी सारी जिन्दगी मे जो

आनन्द नहीं मिला, जो आज इस निःस्वार्थ दान से मिला है।" इसलिए दान आनन्द का अनुभव सिद्ध उपाय है।

रॉकफेलर के जीवन को स्वस्थ, शान्त एवं आनन्द से परिपूर्ण बनाने वाला दान ही था, जिसे उसने पाप के भार से मुक्त होने के लिए पापो का प्रायश्चित्त के रूप मे अपनाया था।

दान से मनुष्य को हार्दिक आनन्द कैसे प्राप्त होता है, इस सम्बन्ध मे एक सच्ची घटना प्रस्तुत है—

सन् १९६८ के नवम्बर की बात है। एक विदेशी मद्रास शहर के बाहरी ग्रामीण इलाको मे मुक्तहस्त से रुपये बाँट रहा था। लोगो मे इससे बडी उत्तेजना फैली। अपने दान के बदले वह किसी से कुछ प्रतिदान भी नहीं माँगता था। अपनी काले रंग की कार मे बैठकर वह विभिन्न प्रकार के नोटो के पुलिन्दे हाथ मे लिए हुए घूमता और खेतो मे काम करने वाली या सडको पर चलती हुई जो भी महिला उसे मिल जाती, उसके हाथ मे बिना गिने ही कई नोट थमा कर चल देता था। तीन दिनो मे उसने काफी दूरी तय कर ली—पुन्नमलै, तिरुत्तनी, तिरुवल्लूर से आरकोनम तक। अधिकाश महिलाएँ ही उसके दान से लाभान्वित हुईं। एक महिला के हाथ मे उसने सौ-सौ के बारह नोट रख दिये, जो उसने जिन्दगी भर मे नही देखे थे। उक्त विदेशी से लोगो ने परिचय जानना चाहा, मगर उसने मुस्कराने के सिवाय अपना कोई परिचय नही दिया। दान देते समय उसके चेहरे पर प्रसन्नता और आनन्द की लहरें दौड जाती थी। वह अपने आप मे बडा आनन्दित दिखाई देता था।

कहा जाता है—बाइबिल मे उल्लिखित एक दानशील व्यक्ति के चरित्र को उसने २०वी शताब्दी मे चरितार्थ करके दिखा दिया। मद्रास के पुलिस इन्स्पैक्टर जनरल एम० आर० महादेव ने बताया कि उक्त विदेशी की मूल भावना दान देकर आनन्द प्राप्त करने की थी और दान करना कोई अपराध नही है। इस पर से दान को आनन्द का मूल स्रोत कहा जा सकता है।

जैसे माता अपने बच्चे को वात्सल्य भाव से अपना सर्वस्व देकर, आनन्द प्राप्त करती है, वैसे ही वात्सल्यहृदय व्यक्ति भी परिवार, समाज, राष्ट्र और नगर को अपना तन, मन, धन, साधन आदि देकर आनन्द प्राप्त करे, इसमे कोई अत्युक्ति नही है।

जून १९३५ मे समाचार पत्रो मे एक सच्ची घटना प्रकाशित हुई थी, वह भी वात्सल्यमय हृदय से दान देकर आनन्द प्राप्त करने के तथ्य को प्रकाशित करती है—

लन्दन के एम्बेकमेण्ट मे एक पचास वर्ष की प्रौढ महिला वर्ष मे चार बार अमुक दिनो मे रात के नौ बजे से बारह बजे तक प्रतिदिन अचूक रूप से आती थी और निराधार, अनाथ, दीन, दुःखी और गरीबो को अन्न, वस्त्र और नकद धन दान

देती थी। दान देने से पहले वह सबको एक जगह एकत्रित कर लेती थी और उनके सामने हृदय को रुला देने वाला गायन बड़े करुण स्वर मे गाती थी। जब आँसू उसके कलेजे को शीतल कर देते, तब प्रसन्न और आनन्दित होकर वह सबको क्रमश दान देती। इस तरह वह वर्ष भर मे ५०० से १००० पौण्ड तक दान देती थी। वह कहाँ रहती है ? कौन है ? उसे धन कहाँ से मिलता है ? उसने अपनी युवावस्था कैसे बिताई ? यह कोई नही जानता।

जान पडता है, उसके जीवन मे ऐसी कोई करुण घटना घटित हुई है, जिसने उसके जीवन क्रम को ही बदल दिया है। वह दान देने के समय हृदय मे करुणा और वात्सल्यभावो से ओतप्रोत होकर अपने दिल को एकदम हल्का बना देती है, तब आनन्द की मस्ती मे झूम उठती है। यह दान का ही अद्‌भुत प्रभाव है, जिससे उसे अपने जीवन मे सन्तोष और आनन्द का अनुभव होता है।

सचमुच, दान का आनन्द अनोखा ही होता है। एक बार तो दान कृपण से कृपण व्यक्ति के दिल मे भी आनन्द की अनुभूति पैदा कर देता है। कृपण के दिल मे भी दान से प्रसिद्धि की फसल देखकर गुदगुदी पैदा हो जाती है और एक दिन कृपण समझा जाने वाला वह व्यक्ति दान देकर उदार हृदय बन जाता है। उसके हृदय मे धन सचय करने और न देने के आनन्द से कई गुना अधिक आनन्द दान देने से प्रादुर्भूत होता है।

एक अतुल सम्पत्ति वाला मनुष्य था, जिसके विषय मे यह प्रसिद्ध था कि उसने अपनी जिन्दगी मे किसी को एक कौडी भी दान मे नही दी। एक बार उसके एक परम मित्र ने, जो उस समय दुष्काल पीडितो के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहा था, उससे कहा—'मित्र ! तुम मुझे एक पैसा नगद मत दो, सिर्फ दस हजार रुपयो का एक चैक दे दो, जिसे दिखाकर मैं दु खी जनता के लिए औरो से अधिक रुपया प्राप्त कर सकूंगा। फिर कल ही चाहोगे तो तुम्हारा चैक मैं वापस कर दूंगा।'

कजूस धनिक बडे सकोच मे पडा, फिर भी यह सोचकर कि कल मुझे चैक वापस न मिला तो मैं बैंक को भुगतान न करने की सूचना दे दूंगा, अपने मित्र को १० हजार रुपये का क्रास चैक काट कर दे दिया।

उस भले आदमी ने उसी दिन नगर के महाजनो की एक विशाल सभा का आयोजन करके वह दस हजार रुपये का चैक सबको दिखाया। फलस्वरूप उसे बहुत-से रुपये मिले, जो उसने तुरन्त दुष्कालनिधि मे जमा करने के लिए भेज दिए।

दूसरे दिन जब वह परोपकारी मनुष्य अपने कजूस मित्र के पास चैक वापस लेकर पहुँचा तो कजूस धनिक की बात सुनकर दग रह गया। कजूस धनी ने कहा—भाई ! आज तक मैंने दान की महिमा नही जानी थी, कल शाम से बहुत रात बीते तक मेरे यहाँ लोगो का तांता लगा रहा, और जो भी आता, वही मेरी प्रशसा करता था। कल रात मुझे इतना अधिक आनन्द आया, जितना आज तक कभी नही

आया था। कल मैं ऐसी सुख की नींद सोया, जैसी नींद पहले कभी नहीं सोया था। दान की इस प्रत्यक्ष महिमा को जानकर भी यदि मैं यह चैक वापस ले लूं तो मुझसे बढकर मूर्ख और कौन होगा ? दुःखी जनता के लिए मुझसे दस हजार का एक चैक और ले जाओ।' और सचमुच उसने दस हजार रुपये का एक चैक और काटकर अपने मित्र को दे दिया। तब से वह एक परम उदार दानी के रूप में प्रसिद्ध हो गया और दान द्वारा वह परम आनन्द खरीदता रहा।

क्या अब भी कोई सन्देह रह जाता है, दान से आनन्द प्राप्ति के सम्बन्ध में ? निःसन्देह दान आनन्द का एक व्यापार है, जिससे कई गुना आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

कभी-कभी दान के आनन्द की मधुर अनुभूति मनुष्य को तब होती है, जब वह सब ओर से दुःखी हो जाता है, उसके पास दान के सिवाय तब आनन्द प्राप्ति का कोई उपाय नहीं रह जाता। सचमुच वह आनन्द ऐसा ही है, जैसे अत्यन्त तपन के बाद वर्षा होने पर सुखद और मधुर आनन्द होता है। ऐसे समय में वह व्यक्ति रुपया-पैसा, समय, श्रम, साधन, परामर्श, आश्वासन या और किसी भी वस्तु से दान के रूप में दूसरों को सहायता पहुँचाकर आनन्द का अनुभव कर लेता है।

एक नवयुवक व्यापारी था। बडा ही उत्साही और महत्वाकांक्षी ! वह अपने व्यापार में इतना व्यस्त रहता था कि एक क्षण के लिए भी वह किसी दूसरी ओर ध्यान नहीं देता था। परिणाम यह हुआ कि तनाव, व्याकुलता और उद्विग्नता के लक्षण उसके जीवन में प्रतीत होने लगे। उसकी प्रगति बुझ गई। वह निराश और उदास-सा रहने लगा। एक दिन वह प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक सतराम बी० ए० के पास परामर्श के लिए आया और कहने लगा—'मुझे यह बताइए कि मैं अब अपने जीवन में पहले की तरह प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव क्यों नहीं कर पाता ?' सतराम ने उनके कारणों का सर्वेक्षण किया, जिनसे आनन्द उत्पन्न होता है। उन्होंने यह भी मालूम करने का प्रयत्न किया कि वह ऐसे कितने कार्यों में भाग लेता है, जिनसे उसे कोई लाभ नहीं मिलता। अन्त में, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के सीमित दायरे में बन्द रहता है, इसलिए इसे आनन्द नहीं प्राप्त होता। सतराम जी ने उससे कहा—"आपको आनन्द प्राप्त न होने का मुख्य कारण यह है कि आप अपने घरवालों के सिवाय और किसी को कुछ नहीं देते।' आप जिस चर्च में जाते हैं, वहाँ भी नाममात्र को ही चन्दा देते हैं और जहाँ तक मनोयोग और सहानुभूति का प्रश्न है वह आप किसी को नहीं देते। यही कारण है कि आप अपने जीवन में प्रसन्नता और आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते। आपके गिरे हुए और बुझे हुए रहने का कारण यही है कि प्रत्येक वस्तु आपके भीतर तो प्रविष्ट होती जा रही है, मगर कोई वस्तु बाहर नहीं निकल पाती। आप उस सागर के सदृश हैं, जिसमें

जल प्रवेश के मार्ग तो अनेक हैं, लेकिन निकासी का मार्ग एक भी नही। इसी का परिणाम है—आध्यात्मिक और मानसिक तनाव और गतिहीनता।'

उसने सतरामजी से पूछा—"तो फिर आप कोई योजना सुझाइए, जिससे मुझे पुन आनन्द और उल्लास प्राप्त हो सके।" सतरामजी ने उसके सामने निम्नोक्त योजना प्रस्तुत की—

(१) भगवान् के कार्यों के लिए गिरजाघर को वह अपनी आय का दशाश दे।

(२) वह अपने घरबार और मित्रमडली के बाहर ऐसे लोगो की खोज करे, जो सहायता (दान) के पात्र हो, ये लोग ऐसे होने चाहिए, जो इस सहायता के बदले मे स्वय उसकी कभी सहायता न कर सकें। सहायता (दान) का रूप कोई भी हो सकता है—धन, साधन, उपदेश, सहानुभूति, समय या केवल दिलचस्पी।

(३) जो लोग उसके साथ काम करते हैं, या जिनसे उसकी मुलाकात होती रहती है, उनसे उसका सम्बन्ध केवल कारबार तक ही सीमित न हो, अपितु उसे उनके साथ मानवता और सहायकता का सम्बन्ध बनाना चाहिए। कारखाने के निकट खडा पुलिस का सिपाही, चपरासी या अखबार बेचने वाला आदि लोगो से भी उसे निकटतर हो जाना चाहिए।

(४) इसके अतिरिक्त रोगियो, अशक्तो, अपाहिजो और असहायो को अनिवार्य रूप से सहायता (दान) देनी चाहिए।' वह इस योजना की रूपरेखा सुनकर बोला—'पर इन सब दानो के रूप मे सेवाएँ करने के लिए समय कहाँ से लाऊँगा?'

उन्होंने उत्तर दिया—'यह ठीक है कि इन सब कामो मे समय अवश्य लगेगा, लेकिन आपकी रुचि होगी तो समय भी निकल आएगा और वह समय सार्थक होगा। आपको केवल रुपया, सहानुभूति और परामर्श ही नही देना है, अपितु दूसरो को लाभान्वित करने के लिए समय दान भी करना है।' उसने इस योजना को कार्यान्वित किया और थोडे ही समय में वह अपने पडौस मे, अपने साथ काम करने वालो मे, चर्च मे, और विभिन्न समाजो मे अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। उसे अपना खोया हुआ आनन्द इस प्रकार के दान से पुन मिल गया। उसका जीवन आनन्द से ओत-प्रोत हो गया।

सचमुच, दान मे आनन्द को उपलब्ध कराने की एक विशिष्ट शक्ति निहित है।

यद्यपि मनुष्य वृक्ष, वनस्पति, अग्नि, जल आदि की भाषा नही जानता, इसलिए सहसा उनके भावो को समझना उसके लिए कठिन है। फिर भी कई व्यक्तियो मे इतनी आत्मीयता होती है कि वे उसकी मूक भावना को पढ लेते हैं, और उससे अक्षय आनन्द का अद्भुत बोध प्राप्त कर लेते हैं। एक दिन कलिंग नरेश

उद्यान-क्रीडा करने जा रहे थे। तभी उन्होंने एक फलभार-नम्र वृक्ष मे आम तोडा। राजा का अनुकरण प्रजाजनो ने किया। सध्या को जब राजा वापिस लौटे तो वहाँ एक ठूंठमात्र देखकर वे बडे सतप्त हुए। वृक्ष राजा की व्यथा को पहचान गया। वह बोला—"राजन्! जैसे प्रात कालीन वैभव अनन्त नही था, वैसे ही सायकाल का पतन भी अनन्त नही है। अनन्त तो है यह काल, जो मेरे फलो की भेट (दान) लेकर इस अकारण सुख-दु ख (वैभव से सुख और पतन से दु ख की कल्पना) से हमे मुक्त करता है। मैं इसी मुक्ति से होने वाले सहज आनन्द का दाता हूँ। अपनी जीवन-शक्ति को प्रतिवर्ष मीठे फलो मे फलित करते हुए, जब एक दिन मैं इस प्रकार का दान करके पूर्णत क्षीण हो जाऊँगा, तब मुक्ति के रूप मे जीवन साफल्य के अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लूंगा। राजा ने वृक्ष से बोध प्राप्त किया और उसी क्षण से दान के द्वारा आत्मानन्द प्राप्ति मे लीन रहने लगा।

वास्तव मे समृद्धि मे सुख और पतन मे दु ख की कल्पना से मुक्त होकर अक्षय और अविचल आनन्द को प्राप्त करने का सच्चा नुस्खा दान ही है।

जिस तरह माँ अपने पुत्र के लिए स्वय कष्ट सहकर, भूखी-प्यासी रहकर दुग्धदान करती है, उसके पालन-पोषण मे अपना सर्वस्व दान करती है, और उस दान के बदले आनन्द पाती है, वैसे ही स्वय कष्ट सहकर किये गए दान से मानव को असीम आनन्द की अनुभूति होती है।

रूस की राजकुमारी कैथराइन बहुत ही उदारहृदय और वात्सल्यमयी थी। माता-पिता बहुत धनिक थे, इसका जरा भी अभिमान उसे नही था। परन्तु उसके दिल मे रह-रहकर गरीबो और अभावपीडितो के लिए विचार आता। वे बेचारे कैसे रहते होंगे? उनकी कौन सुध लेता होगा?' इन विचारो से प्रेरित होकर माता-पिता के न चाहते हुए भी वह अकेली घर से बाहर निकल पडती और जिस किसी व्यक्ति को गरीबी, अभाव एव दु ख से त्रस्त देखती, तुरन्त मदद दे देती थी। कभी-कभी तो उसके कहने की अपेक्षा भी नही रखती थी।

एक दिन कैथराइन सुन्दर रेशमी कपडें पहनकर शहर मे घूम रही थी, तभी सामने से एक गरीब भिखारी आता दिखाई दिया। जिसके शरीर पर पहनने को बिलकुल कपडे नही थे। ठड से उसका रोम-रोम काप रहा था। उसने कैथराइन से कहा—'मुझे तीन दिन से कुछ भी खाने को नही मिला। कुछ हो तो दो।' कैथराइन को उसकी दशा देखकर दया आई। उसने अपनी जेब मे हाथ डाला और जितने भी सिक्के थे, वे सब उस दयनीय भिखारी को दे दिये और कहा—'इनसे खाने की चीज ले लेना।' वह आशीर्षे देता हुआ चल पडा। उसके चले जाने पर कैथराइन ने सोचा—'बेचारे के शरीर पर भी तो कोई कपडा नही है।' अत उसे आवाज देकर वापस बुलाया और अपने कीमती कपडे उतारकर दे दिये।

कैथराइन ने सोचा—'देश मे बहुत गरीबी है। गरीबो के लिए उसके हृदय

मे बहुत दया थी। इसलिए वह प्रतिदिन गरीबो की झौपडियाँ मे जाकर उनके सुख-दुःख के समाचार पूछती और जिसे सहायता करना आवश्यक समझती, उसे सहायता करती थी। परन्तु गरीब लोग उसकी बढिया कीमती पोशाक देखकर उससे मिलने मे झिझकते थे। उसके सामने अपना दिल खोलने से डरते थे। अतः कैथराइन ने बढिया कपडे पहनने छोड दिये, अब वह मोटे खुरदरे सादे कपडे पहनकर गरीबो से मिलने जाती। परन्तु सुन्दरता तो कपडो से छिप नही सकती थी। गरीब किसान उसका सौन्दर्य देखकर पहिचान जाते थे। कैथराइन के मन मे बडा विचार आया—'मैं कैसी अभागिन हूँ, मेरी सुन्दरता के कारण ये गरीब मुझसे दूर भागते हैं।' अत उसने सुन्दरता को नष्ट करने के लिए अपने मुंह पर तेजाब छिडक लिया। इसमे उसका चेहरा एव शरीर जगह-जगह से जल गया, काले धब्बे भी पड गये अब उसे सहसा पहचानना कठिन हो गया। अब किसान और मजदूर उससे बिना किसी झिझक से मिलते और नि सकोच अपनी कष्टकथा सुनाते। कैथराइन दिल खोलकर उन्हे अन्न, वस्त्र, धन आदि दान देकर सहायता करती। कैथराइन को इस दान से बडा आनन्द आया। उसे अपनी सुन्दरता खोने का जरा भी पश्चात्ताप नही था।

सचमुच, दान से प्राप्त होने वाले आनन्द को पाकर व्यक्ति सौन्दर्य खोने या कष्ट पाने का दु ख भूल जाता है।

दान के प्रभाव से दिव्यता की प्राप्ति

भारतीय सस्कृति के एक मननशील मेधावी सन्त ने कहा—'जो अर्पण करता है, वह देवता है, 'देवे सो देवता'। जो दूसरो को देता है, वह देव है। मराठी मे दान को 'देव' कहा जाता है। जिसके अन्तर मे देवत्व विद्यमान रहता है, वह देता है। सूर्य निरन्तर प्रकाश देता रहता है, इसलिए वह देव है। इसी तरह चन्द्रमा और तारे भी प्रकाशदाता होने के कारण देव हैं। वायु भी निरन्तर बहकर सब प्राणियो को जीवनदान देती है, इसलिए भारत के चिन्तको ने देव न होते हुए भी देव माना है। इसी तरह अग्नि, पानी, नदी, मेघ आदि सब अपनी-अपनी चीजो का दान करते रहते हैं, इसलिए देव माने जाते हैं। वनस्पति भी ससार को जीवन शक्ति देती है, इसलिए वह भी देवता मानी जाती है। वनस्पति के अन्तर्गत पेड-पौधे, फल-फूल, जडी-बूटी आदि सब आ जाते हैं। मतलब यह है कि जिसमे भी निरन्तर अर्पण करने की शक्ति है, वह देव है। जैनशास्त्र मे पाच प्रकार के देव बताये गए हैं—उसमे साधु को धर्मदेव और तीर्थंकर को देवाधिदेव बताया है। साधु भी ससार को कल्याण का मार्ग बताता है, इसलिए देव है, और तीर्थंकर के लिए तो 'नमुत्थुण' के पाठ मे चक्षुदाता, मार्गदाता, बोधिदाता धर्मदाता, अभयदाता, शरणदाता, जीवन-दाता आदि अनेक विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं, इसलिए वे अत्यधिक दानशील होने से देवो के भी देव हैं।

वास्तव मे दान देने वाले का हृदय इतना उदार और नम्र हो जाता है कि

उसमे क्षमा, दया, सहनशीलता, सन्तोष आदि दिव्य गुण स्वत ही प्रगट हो जाते हैं। मनुष्यों के लिए वेदो मे 'अमृतस्य पुत्रा' कहा गया है। भगवान् महावीर और श्रमण ने ऐसे दिव्य गुणशाली गृहस्थ के लिए 'देवानुप्रिय' (देवो का प्यारा) शब्द का प्रयोग किया है। फलितार्थ यह है कि दान देने से व्यक्ति मे उदारता आदि दिव्यगुण स्वत विकसित होते जाते हैं और वह देव बन जाता है। वह अपने खर्च मे कटौती करके, स्वय कष्ट उठाकर भी दूसरो को कुछ न कुछ देता रहता है। ऐसा व्यक्ति कजूस नहीं, विवेकी देव है।

श्री रजनीकान्त मोदी बम्बई के एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र के कार्यालय मे काम करने वाले मित्रो के साथ बीच-बीच मे मिलने वाले विश्रामावकाश के समय चाय पीने जाया करते थे। वहाँ जो कर्मचारी आते थे, उनमे उनका एक मित्र सुरेश कभी उनके साथ चाय पीने नही आता था, जबकि सुरेश को सबसे अधिक वेतन मिलता था। सभी कर्मचारी उसे कजूस समझते थे। इसका कारण जानने के लिए एक दिन रजनीकान्त मोदी ने सुरेश से एकान्त मे पूछा—'मित्र सुरेश! घर मे आगे-पीछे तुम्हारा कोई नही है, इतने पर भी तुम खाने-पीने मे इतनी कजूसी करते हो, यह किसी को कैसे उचित लगेगा? तुम हमारे साथ चाय पीने क्यो नही आया करते?'

सुरेश ने इस पर गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—'तुम लोगो के साथ चाय पीने मे अधिक खर्च आ जाता है, जिसे मैं सहन नही कर सकता। यद्यपि मेरे परिवार मे आगे-पीछे कोई नही है, तथापि मैं समाज को अपना परिवार मानता हूँ। मैं अपने मुँह से अपना बखान करना नही चाहता। फिर भी आज तुमने पूछ ही लिया है तो सारी बात बता देता हूँ। मैं अपने वेतन मे से तीन-चार निर्धन छात्रो को सहायता देता हूँ। उनमे एक छात्र का जोकि मेडिकल लाइन मे पढ रहा है, बहुत खर्च बढ गया है। इधर मेरे पास आमदनी का अन्य कोई जरिया नही है। इसलिए अपने खानपान के खर्च मे से कटौती करके उस मेडिकल कॉलेज मे पढने वाले छात्र के खर्च की पूर्ति करता हूँ। यदि ऐसे समय मे उसे मदद न करूँ तो उसका भविष्य अन्धकारमय बन जाएगा। उसकी पढाई अधूरी ही न छूट जाए, इस लिहाज से मैंने ४५) वाले भोजनालय मे भोजन करना बन्द करके २८) रु० मासिक वाले भोजनालय मे भोजन करना शुरू कर दिया है। तुम्हारे साथ चाय पीने मे तीन आने प्रति कप खर्च आता है। इसलिए मैं तुम्हारे साथ न आकर अकेला ही एक आने कप वाली चाय ले लेता हूँ।'

'लेकिन इससे कही तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड गया तो?' रजनीकान्त के इस प्रश्न के उत्तर मे मुस्कराते हुए सुरेश ने कहा—'जिसकी पढाई मे मैं मदद कर रहा हूँ, वह डाक्टर ठीक कर देगा।'

रजनीकान्त ने निरुत्तर होकर उसके सामने सिर झुका दिया। कहा—

'सुरेश ! तुम कजूस नही, देव हो। तुममे दिव्यता के गुण हैं, जो तुम्हारी दानशीलता से प्रकट हुए हैं।'

दान से गौरव की प्राप्ति

दान मानवजीवन के गौरव को बढाने वाला है। व्यक्ति चाहे अन्य गुणो मे हीन हो, परन्तु अगर उसमे दान का गुण प्रबल है, तो वह उस गुण के द्वारा प्रसिद्ध हो जाता है, पूजा जाता है, सर्वत्र सत्कार-सम्मान पाता है, दान के गुण से अन्य गुणो की कमी भी धीरे-धीरे दूर होती जाती है। इसीलिए 'दानषट्त्रिंशिका' मे दान-दाता की महिमा सबसे अधिक बताई गई है—

> दातुर्वारिधरस्य मूर्द्धनि तडिद् गांगेयश्रृंगारणा,
> वृक्षेभ्यः फलपुष्पदायिनि मधौ मत्तालि वन्दिश्रुति।
> भीतत्रातरि वृत्तिदातरि गिरौ पूजा झरैश्चामरैं,
> सत्कारोऽयमचेतनेष्वपि विधे किं दातृषु ज्ञातृषु ॥१॥

—जलदाता बादल के सिर पर स्वर्गंगा का शृंगार की हुई विद्युत् चमकती है, फलपुष्पदायी वृक्षो का स्तुतिगान फलपुष्पदायी वसन्त ऋतु मे मस्त भ्रमररूपी बंदिजनो द्वारा होता है। भयभीत की रक्षा करने वाले एव आजीविकादाता पर्वतो की पूजा झरने रूपी चामरो के द्वारा होती है। जब अचेतन दाताओ का भी विधि के द्वारा इतना सत्कार होता है तो जो चेतन हैं, ज्ञाता दाता हैं, उनका सत्कार-सम्मान क्यो नही होगा ? अवश्य होगा।

यह निर्विवाद है कि दान देने वाले का स्थान हमेशा ऊँचा रहता है, सभा-सोसाइटियो मे हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि वहाँ दानवीर, दाता या दानशील व्यक्ति का स्थान प्राय सर्वोपरि होता है। सभापति का आसन प्राय दानवीर ही सुशोभित करते हैं। इस उच्च स्थान प्राप्ति का कारण दान है। जिस व्यक्ति का हृदय उदार होता है, जिसके जीवन मे दान की धारा सतत प्रवाहित होती रहती है, उसके लिए सभी के हृदयो मे गौरवपूर्ण स्थान क्यो न होगा ? इसी दृष्टि से एक विचारक ने कहा है—

'भूमि मे समस्त अन्नो को उत्पन्न करने की, जल मे सभी बीजो को सिंचने की, अग्नि मे आहार की शक्ति है, इन्द्र मे प्रभुत्व की शक्ति है, सत्पुरुष मे गुण ग्रहण करने की शक्ति है, किन्तु याचको के हृदय मे गौरवपूर्ण स्थान जमाने की शक्ति दानदाता मे ही है।'

इसलिए दान से ही गौरवपूर्ण उच्च स्थान प्राप्त होता है, धन जोड-जोडकर रखने वाले कृपण को कोई गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नही होता, चाहे उसके पास सोने-चादी के पहाड ही क्यो न हो। केवल धन या सोना-चादी पास मे होने मात्र से कोई गौरवशाली नही बन जाता। लाख योजन का मेरुपर्वत सारा का सारा सोने

का है, वैताढ्य पर्वत चादी से भरा हुआ है, रोहणाचल पर हीरे की खान है, ताम्र-पर्णी पर मोती हैं, तथा हीरे-पन्ने की सब खानो मे हीरे-पन्ने भरे पड़े हैं, इनके पास इन बहुमूल्य पदार्थों के होने का कोई मूल्य नही है, क्योकि ये किसी को इन पदार्थो का दान नही देते, न दे सकते हैं, जबकि दाता अपने पास मे जो भी धन है, उसे परोपकार के लिए दे देता है, उसी के धन का मूल्य है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

गौरव प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य सचयात्।
स्थितिरुच्चैः पयोदाना पयोधीनामधः स्थितिः ॥

—"मनुष्य दान से ही गौरव प्राप्त करता है, उच्चस्थान पाता है, किन्तु धन (या प्राप्त साधन) के सचय करने से नही पाता। प्रत्यक्ष देखिये, अपना सर्वस्व जल मुक्तहस्त से लुटाने वाले दानी मेघो का स्थान ऊपर है, जबकि अपने जल रूपी धन को सचित करके रखने वाले समुद्रो का स्थान नीचे है। एक कवि ने कल्पना की है—"इस कराल कलिकाल मे समस्तोपकारक कल्पवृक्ष आदि भी लोकोपकार नही करते, और न ही वे दिखाई देते हैं। इन्द्रादि अपने-अपने विषयसुखो मे लीन हैं, पूर्वज-गण चले गये, और वे भी सर्प बनकर पीड़ा देते हैं, उनसे दानी सत्पुरुषो की उपमा देना उचित नही है, इस कलियुग मे तो जलधर ही समस्त पृथ्वीतल को अपने जलदान द्वारा उपकृत करते हैं, इसलिए उनसे ही सत्पुरुषो की उपमा देना उचित है।"

वास्तव मे मेघ दानी हैं, इसीलिए उन्हे देखकर सभी प्राणी हर्षित होते हैं। चक्रवाक सूर्य को, चकोर चन्द्रमा को, हाथी विन्ध्याचल को, देवता मेरुपर्वत को देखकर हर्षित होते हैं, लेकिन बादलो को देखकर तो मोर, चातक, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट आदि सभी हर्षित होते हैं, क्योकि वे सर्वस्व दाता हैं। इसी प्रकार ससार मे जो दानशील होता है, उसे पशु-पक्षी, कीट-पतगे, मनुष्य आदि सभी चाहते हैं, सभी उसे देखकर आल्हादित होते हैं।

दूसरी बात यह है कि जो दान देता है, वह मधुर होता है, उसका व्यवहार मधुर होता है, उसकी वाणी मे मिठास होती है, उसके मन मे माधुर्य, औदार्य और मृदुत्व होता है। बादलो के पानी मे भी अत्यन्त मधुरता होती है, उनका गम्भीर गर्जन भी मधुर लगता है, मयूर तो बादलो का गर्जन सुनते ही नाच उठता है और अपने मधुर केकारव से उसकी स्तुति करने लगता है, चातक भी मेघजल का दान लेने के लिए आतुर रहता है। किन्तु उधर समुद्र भी जल से परिपूर्ण है, लेकिन वह अपना पानी किसी को देता नही है, बल्कि नदियो से व मेघो से लेता ही रहता है, इस कारण उसका स्थान भी नीचा है और उसका जल भी खारा है, जो किसी के पीने लायक नही, किसी की प्यास नही बुझा सकता, किसी तृषित पेड़-पौधे को हरा-भरा नही कर सकता।

किशोर ने अपने जीवन मे पहली बार समुद्र देखा था। प्यास बुझाने के लिए

उसने ज्यो ही अजलि भर कर पानी मुह मे लिया, त्यो ही मारे कडुआहट के वह गले से नीचे ही न उतर सका और वह थू-थू करने लगा। उसने पास ही खडे अपने पिताजी से पूछा—'पिताजी ! आप तो कहते थे कि सभी नदियाँ समुद्र मे जाकर मिलती हैं, किन्तु इतना मीठा पानी लेने पर भी समुद्र खारा क्यो है ?"

'बेटे ! समुद्र लेता ही लेता है, देता एक बूंद भी नही, इस कारण इसका पानी खारा है। जो केवल सचय ही सचय करता है, उसमे कडवाहट के अतिरिक्त और होगा ही क्या !' पिताने समाधान करते हुए कहा।

किशोर—'और यह इतना उद्विग्न क्यो हो रहा है, पिताजी ?'

पिता—'इसने जीवन भर लिया ही लिया है, दिया कुछ भी नही, इसी आत्मग्लानि के कारण।'

किशोर—'आप तो कहते थे कि समुद्र का पानी सूर्य सोखता रहता है, वही पानी बादल बन कर बरसता है। फिर आप यह कैसे कहते हैं कि समुद्र कुछ देता नही।'

पिता—'छीने जाने और स्वय देने मे आकाश-पाताल का अन्तर है, बेटे ! तुम्हारे पैसे कोई छीन लेता है, तो यह देना नही हुआ देने की भावना से दिया गया ही देना कहलाता है।' किशोर का समाधान हो गया। वह यह जान गया कि देने वाला मधुर रहता है, नही देने वाला खारा रहता है।

यह एक रूपक है। इसके द्वारा हम यह स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि दान देने वाले और सचिन करके रखने वाले के गौरव, महत्त्व, गुण और स्थान मे कितना अन्तर है ?

दिया व्यर्थ नहीं !

महाराजा भोज की राजसभा के वरिष्ठ कवि कालिदास वैशाख की एक दुपहरी मे किसी आवश्यक कार्य से उज्जयिनी के बाजार मे जा रहे थे। जब वे बाजार से वापस लौट रहे थे कि उन्होने एक दुर्बल और गरीब व्यक्ति को तवे-सी तपी हुई जमीन पर लडखडाते हुए कदमो से चलते देखा। गर्मी से उसके पैर जल रहे थे, जिसके कारण कभी-कभी वह दौड कर रास्ता तय कर रहा था। जब दौडता था, तब हाफ जाने के कारण एक लम्बी साँस छोडकर आह भरता था। उसकी दयनीय स्थिति देखकर कवि का कोमल हृदय करुणा से भर आया। वह उसकी दयनीय दशा को अधिक देर तक न देख सका। कवि ने अपने पैर के जूते खोले और उस गरीब को पहनने को दे दिए। तप्त धरती के ताप से बचने के लिए जूते देख उसका हृदय प्रसन्नता से उछल पडा। उसने कवि को हृदय से आशीर्वाद दिया और कहा—मेरी समस्या तो हल हो गई, पर आप अब क्या करेंगे ? आपके पैर भी तो जलेंगे ? इसलिए कृपा करके आप इस समय इन्हे पहनकर ही जाएँ। मैं अपने स्वार्थ के लिए आपके

पैर जलाना नही चाहता। दरिद्र व्यक्ति के हृदय के विचार वैभव को देखकर कवि के हृदय मे उसके प्रति आदर भाव बढने लगा। कवि ने कहा—'तुम मेरी चिन्ता मत करो। मेरा घर निकट ही है। मैं अभी ५ मिनट मे पहुँच जाऊँगा। यदि तुम इन्हें नही लोगे तो मैं भी अब इन्हे नही पहनूंगा। नगे पैर चल कर अनुभव करूगा कि उज्जयिनी की गरीब जनता को नगे पैर चलने मे कितना कष्ट होता है।' कवि की हार्दिक सहानुभूति और स्नेहभरे आग्रह को वह टाल न सका। उसने जूते पहने और बिना किसी रुकावट एव कष्ट के वह रास्ता नापने लगा।

इधर कवि भी अपने पथ पर चल पड़ा। किन्तु गर्मी से तपी हुई जमीन पर चलना उनके लिए कठिन हो रहा था। पैरो मे छाले पडने लगे, फिर भी उनके मन मे परहित-दान के कारण प्रसन्नता थी, ग्लानि नही। एक अनूठी प्रसन्नता उनके चेहरे पर झलक रही थी। राजकवि थोडी दूर चले ही थे कि उन्हे राजा का महावत हाथी पर जाते हुए मिल गया। उसने राजकवि को हाथी पर बैठने की प्रार्थना की। कवि ने सहजभाव से कहा—'तुम चलो! हम तो अभी पहुँच जाएँगे।'

'आपके पैर जल रहे हैं, इसलिए हाथी पर बैठ जाइए। मैं अब आपको एक कदम भी नगे पैर नही चलने दूंगा।' महावत ने आग्रहपूर्वक कहा। कवि ने मुस्कराते हुए कहा—'अरे! हाथी के भी तो पैर जलते होगे, फिर मैं इस पर अधिक बोझ क्यो डालूं?'

महावत ने कवि की एक न मानी। वह नीचे उतरा और कवि का हाथ पकड कर उन्हे हाथी पर बैठा ही लिया। जब राजमहल के निकट पहुँचे तो महल के बरामदे मे टहलते हुए महाराजा भोज ने कालिदास को हाथी पर बैठे देखकर विनोद मे चुटकी लेते हुए कहा—'महाकवि! तुमको आज हाथी कहाँ से मिल गया?' कवि ने मुस्कराते हुए निम्नोक्त श्लोक मे उत्तर दिया—

'उपानह मया दत्त जीर्ण कर्णविवर्जितम्।
तत्पुण्येन गजारूढो, न दत्त वै हि तद् वि तम्॥'

—"मैंने अपने पुराने और कन्नी टूटे हुए जूते दान मे दे दिये, उसके पुण्य से मुझे हाथी पर चढने का गौरव मिला है। वास्तव मे दिया हुआ दान व्यर्थ नही जाता।

यह है दान से गौरवास्पद उच्चपद पाने का ज्वलन्त उदाहरण! यह तो विश्वविश्रुत है कि प्रत्येक क्षेत्र मे जो उदारतापूर्वक दान देता है, उसे गौरवास्पद स्थान मिलता है उसके प्रति जनता की सद्भावना बढ जाती है और इसे उच्चपद भी मिलता है। जनता उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करके उसके गौरव को बढाती है।

सचमुच दान के प्रतिदान के रूप मे कई गुना गौरव मिलता है। आदर-सत्कार का तो कहना ही क्या? दानी या उसके परिवार का कोई भी व्यक्ति कही जायगा तो वहाँ उसका गौरव, सत्कार सम्मान किये बिना लोग नही रहते। इसलिए किसी

भी रूप मे दिया हुआ दान व्यर्थ नही जाता। परन्तु जो किसी को कुछ देता नही, अपने ही स्वार्थ एव ऐश-आराम मे मशगूल रहता है, उसे या उसके पारिवारिक जनो को न तो कही गौरव मिलता है, और न ही सत्कार-सम्मान।

एक वणिक्पत्नी बहुत ही आलसी, स्वार्थी, लोभी और विलासितापरायण थी। उसका पति बडा व्यापारी होने से उसके यहाँ आसपास के गाँवो से बहुत-से छोटे व्यापारी माल खरीदने या अन्य किसी कारण से आते रहते थे। परन्तु बनियानी आने वालो को भोजन का तो दरकिनार, पानी तक का भी नही पूछती थी। बनिये की अपनी पत्नी के सामने कुछ पेश नही चलती थी। इसलिए बनिया केवल मीठे वचनो से आगन्तुको का स्वागत-सत्कार कर दिया करता था। वह जब कभी किसी गाँव मे कर्जवसूली के लिए जाता तो ग्रामीण लोग भी उसे खाने-पीने की नही पूछते थे। या तो वह भूखा रहता, या परावठे बनवा कर अपने साथ ले जाता, उन्हे खा कर पेट भर लेता। इसी बीच बनिये की पत्नी गुजर गई। घर का सारा भार उसकी पुत्रवधू के हाथ मे आ गया। वह बडी उदार, दानशील, सुघड, सुशिक्षित और चतुर थी। उसका इतना उदार स्वभाव था कि किसी भी समय किसी भी गाँव से कोई आढतिया या दूकानदार सेठ की दूकान पर आ जाता तो वह उसे भोजन किये बिना जाने नही देती थी।

एक दिन सेठ (ससुर) को किसी दूसरे गाँव कर्जवसूली के लिए जाना था, इसलिए अपनी पुत्रवधू से कहा—'बेटी! मुझे आज फला गाँव जाना है, इसलिए साथ मे खाने के लिए भाता बाँध देना।"

पुत्रवधू बोली—"पिताजी! वह तो मैंने पहले से भेज दिया है। आपको साथ मे ले जाने की आवश्यकता नही। वहाँ जाते ही मिल जाएगा।"

सेठ आश्चर्यचकित होकर पुत्रवधू की बात पर विश्वास करके उगाही के लिए चल पडे। वे जिस गाँव मे गए, वहाँ के लोगो ने कहा—"सेठ जी! आज तो हमारे यहाँ ठहरना पडेगा। आपका भोजन हमारे यहाँ होगा, कोई कहता—'नाश्ता मेरे यहाँ होगा।' कोई आग्रहपूर्वक कहता—'शाम का भोजन किये बिना नही जाने देंगे।' इसके बाद वह सेठ जितनी बार जहाँ-जहाँ भी जाते, लोग उनका स्वागत-सत्कार करते, उनकी पुत्रवधू का गुणगान करते और प्रेमपूर्वक भोजन कराते। पुत्रवधू की उदारता और गरीबो को अन्न, वस्त्र आदि से सहायता करने की दानवृत्ति के कारण पुत्रवधू के साथ-साथ उसके श्वसुर, पति आदि को भी गौरव एव सम्मान मिलता था।

कई बार बडे कहलाने वाले व्यक्ति ऐसे उदारचेता दानी के गौरव को सहन नही कर पाते और जरा-सी बात मे वे ईर्ष्या मे उत्तेजित होकर दानी के गौरव को भग करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन दानी का उन लाखो गरीबो एव पीडितो के हृदय मे इतना ऊँचा और स्थायी स्थान हो जाता है कि वे किसी तथाकथित बडे आदमी

के मुंह से उस दानी की निन्दा या गौरवहीनता के शब्द सुनकर भी उस पर विश्वास नही करते और न ही दानी के विरुद्ध कही हुई बात को मानते हैं। उन लाखो दीन-दु खियो के दिलो मे उस उदारचेता का गौरव पत्थर पर लकीर की तरह अखंड रूप से अंकित हो जाता है।

गुजरात के चौलुक्यवंशीय महाराजा श्रीकुमारपाल ने एक बार अपने महामंत्री आम्रभट को पुरस्कारस्वरूप एक करोड स्वर्ण मुद्राए, तीन सोने के कलश, २४ उच्च-जातीय घोडे इत्यादि दिये। किन्तु आम्रभट मंत्री स्वय इतने उदार थे कि याचको को अपना असीम धन दे डालने मे जरा भी विचार नही करते थे। याचक भी भारी सख्या मे उन्हे घेर लेते और उनसे मुंहमांगा दान ले लेते थे।

आज भी जब महामन्त्री पुरस्कार लेकर राजसभा से बाहर निकल रहे थे, तभी याचको की बडी भारी भीड उनके सामने आ डटी। अत उन्होंने घर पहुंचने से पहले ही मिला हुआ सारा पुरस्कार गरीबो, याचको, दु खियो एव अपाहिजो मे बाँट दिया। इधर इनाम पाया और उधर दान मे दे डाला। इस प्रकार के दान से आम्र-भट की जगह-जगह प्रशसा होने लगी, दूर-सुदूर प्रदेशो मे लोग उनका गुणगान करते लगे, उनकी कीर्ति चारो ओर फैल गई। खासतौर से दीन-हीनो एव दु खियो के हृदय मे उनका गौरव अंकित हो गया।

राज्य मे कुछ विघ्नसन्तोषी लोग भी थे, उन्होंने ईर्ष्यावश राजा कुमारपाल के कानो मे जहर उडेल दिया—"पृथ्वीनाथ ! आम्रभट ने तो राजसभा मे ही आपके सामने एक लाख दान दे डाला। क्या यह उचित है ? ऐसा करके मन्त्री ने आपका गौरव घटाया है।" राजा ने कुपित होकर मन्त्री को बुलाया और उक्त बात की यथार्थता के बारे मे पूछा। आम्रभट तुरन्त समझ गए कि किसी ने द्वेषवश राजा के कान भरे हैं। उन्होने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"स्वामिन् ! आप तो १२ गाँवो के स्वामी त्रिभुवनपाल के पुत्र हैं और मैं १८ देशो के स्वामी (आप) का पुत्र हूँ। अत मेरा यह दान बहुत ही कम है।" आगे और स्पष्ट किया कि "इतना दान आप नही दे सकते, मैं दे सकता हूँ। क्योकि आप तो १२ ग्रामो के स्वामी के पुत्र हैं, जबकि मैं १८ देशो के स्वामी का पुत्र हूँ।" यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए।

सच है, नि स्वार्थदाता को अपने मुंह से कुछ भी कहने की आवश्यकता नही होती। उसे स्वय को गौरव पाने या उदार कहलाने की इच्छा नही होती। दीन-दु खी आम जनता अपने आप ही उसकी उदारता के गीत गाती रहती है तथा उसे प्रत्येक सभा, मीटिंग, गोष्ठी आदि मे उच्च स्थान या पद देती रहती है। लक्ष्मी को पाकर अहकार या गर्व मे आकर नाचने और भोग-विलास मे उडाने वाला महामूर्ख होता है, जबकि लक्ष्मी को पाकर उदारतापूर्वक दान करने वाला देने मे आनन्द मानता है, देते समय, देने के बाद और देने से पहले खुशी से उछल पडता है, वह बुद्धिमान होता है, ऐसे ही व्यक्ति गौरवास्पद होते हैं, समाज और राष्ट्र के रत्न होते हैं।

इतना ही नही, धन, साधन या अन्य पदार्थों के दान के अलावा जो माता-बहने अपनी सन्तान के अतिरिक्त दूसरे की सन्तानो को दुग्धदान देती हैं, दूध पिलाकर पालती-पोसती और सुसस्कार देती हैं, उन्हे भी वह गौरव प्राप्त होता है, जो एक पूज्य पुरुष को प्राप्त होता है, उनको दुग्धदान आदि के बदले मे हजारो गुना गौरव प्राप्त होता है।

आज से कई वर्षों पूर्व आसाम के ग्वालपाडा शहर मे पश्चिम के बहुत-से हिन्दू-मुस्लिम परिवार पास-पास प्रेम से रहते थे। उनमे मजहबी पागलपन नही था। एक दिन नीरु नामक मुस्लिम की औरत के बच्चा हुआ। दुर्भाग्य से बच्चा होने के कुछ देर बाद उसकी माँ चल बसी। नीरु अधीर हो कर रोने लगा। घर मे उस नवजात शिशु और उसके सिवाय और कोई नही था। जूट के व्यवसाय मे घाटा लगने के कारण आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब थी। डाक्टर-वैद्य आदि किसी भी उपाय से उस बच्चे को बचा लेना कठिन था। नीरू को अधीर होकर रोते देख बाजार के हिन्दू-मुस्लिम स्त्री-पुरुष उसे समझाने लगे, लेकिन नीरू को शान्ति नही मिली। उसका रुदन लगातार जारी रहा। नीरू के घर के पडौस मे ही एक ब्रजवासी ग्वाले का घर था। ग्वाला कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी घर पर ही थी। उसे भी पाँच दिन पहले पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। नीरूभाई का रुदन सुनकर वह बहुत दु खी हो रही थी। किन्तु सद्य प्रसूता होने के कारण घर से बाहर जाने मे वह असमर्थ थी। अत उसने अपनी दाई से कहा—"तुम जाकर नीरूभाई से कहो, वे घबराये नही। उस बच्चे को दूध पिलाने तथा उसकी सारी देखभाल करने का भार मुझ पर रहेगा। उस बच्चे को किसी तरह लाकर मेरे पास रख दो। मैं समझूंगी कि मेरे एक नही, दो बच्चे एक साथ हुए हैं।" दाई के मुंह से उस दयालु व वात्सल्यमयी युवती का विचार सुनकर सभी धन्य-धन्य कहने लगे। नीरू को विलक्षण शान्ति और सान्त्वना मिली, उसका रोना बन्द हो गया। दाई के साथ नीरू ने अपने बच्चे को उक्त दयालु बहन के यहाँ भेजते समय कहा—'इस बहन ने सकट के समय ,अपनी वत्सलता का परिचय देकर प्रशसनीय कार्य किया है, मैं तो इसे भगवान् की दया समझता हूँ कि मुझे ऐसी बहन का पडौस मिला।"

दाई ने नीरू के बच्चे को ले जाकर उस ग्वालिन के पास लिटा दिया। ग्वालिन उस नवजात शिशु को बडे स्नेह से दूध पिलाने और पालने-पोसने लगी। ग्वालिन का पति भी अच्छे व उदार विचारो का था। उसने भी अपनी पत्नी के कार्य की प्रशसा की। नीरू अपने बच्चे के पालन-पोषण के बदले में ग्वालिन बहन को कभी कुछ वस्तु देना चाहता तो वह बिगड बैठती कि क्या मुझे इस लडके की धाय माता समझ लिया है ! मैं कुछ नहीं लूंगी।" नीरू कहता—"बहन ! मैं आपको धाय नही, इस बालक की पूर्वजन्म की माता तो अवश्य समझता हूं। आप दोनो के इस उपकार का बदला मैं हजारो जन्मो मे नही चुका सकूंगा।" समय जाते देर नही लगती। नीरू का लडका अब चलने-फिरने लगा। वह दूध पीना छोडकर अन्न खाने लगा।

इधर व्यवसाय मन्द पड जाने के कारण न चाहते हुए भी नीरू को अपने देश चले जाना पडा। परन्तु परदेश से विदा होते समय ग्वालिन और पुत्रसहित नीरू को रोते देखकर लोग आश्चर्य से कहने लगे—'जान पडता है, ये पाँचो पूर्वजन्म मे किमी एक ही परिवार के थे। किन्ही कारणवश इन्हे पृथक् हो जाना पडा और अब सयोग-वश पुन सब एकत्र हो गए हैं।" उन लोगो से बडी मुश्किल से विदा लेकर नीरू अपने पुत्रसहित घर चला आया। किन्तु घर आने पर भी वह रह-रहकर ग्वाला-दम्पती को याद करता था, और अपने लडके को उनके द्वारा पालने-पोसने की मधुर कथा सुनाया करता था। वह कहता—"बेटा! तेरी माता तो तुझे जन्म देते ही मर गई थी और मैं तो तेरा नाममात्र का ही पिता हूँ, तेरे सच्चे माता-पिता तो वे ग्वाले-ग्वालिन हैं। तू सपने मे भी कभी उन्हे भूलना मत। वह पहले तुझे दूध पिलाकर फिर अपने बच्चे को पिलाती थी। हजारो मिन्नतें करने पर भी एक पैसा या मुट्ठीभर अन्न भी नही लिया।"

अप्रेल १९६६ की बात है। वात्सल्यमूर्ति ग्वालिन की छाती मे घाव हो गया। अनेक डाक्टरो से इलाज करवाया, लेकिन घाव ठीक नही हुआ। अत निरुपाय होकर हवा पानी बदलने की दृष्टि से ग्वाला अपनी दूकान बन्द करके सपरिवार देश चला आया। अपने गाँव के समीप सदर हॉस्पिटल, मथुरा मे ग्वाला अपनी पत्नी का घाव दिखाने लाया। डॉक्टर ने घाव देखकर कहा—'इसके शरीर मे रक्त नही रहा। अत इसे कम से कम एक सेर खून चढाने की जरूरत है।" ग्वाले ने कहा—"मैं अपना रक्त दे सकता हूँ।" इस पर डॉक्टर ने कहा—"तुम्हारे रक्त से काम नही चलेगा, किसी युवक या युवती का रक्त होना चाहिए, और वह भी ऐसा हो, जो इसके रक्त से मेल खाता हो।"

फिर डॉक्टर ने पूछा—''क्या पुत्रजन्म के समय इसे दूध के स्थान पर कोई खराबी हुई थी ?" ग्वालिन—"जी नही, पर एक बात मुझे याद है, जिस समय मेरे बच्चा हुआ, उसके दो-तीन दिन बाद ही हमारे पडौस मे रहने वाली मुस्लिम बाई के हुआ था, लेकिन वह उसे जन्म देते ही मर गई थी। उस बच्चे के पिता को रोते देख, मैंने बच्चे को अपने पास मँगवा लिया और अपने बच्चे के साथ-साथ उस बच्चे को भी दूध पिलाती रही। कई वर्षों तक वे दोनो मेरा दूध पीते रहे। पर दोनो लडको को दूध पिलाने के कारण कभी-कभी बेचैनी होती थी, पर घाव नही हुआ था।" 'अच्छा, मैं समझ गया। रक्त चढाए बिना घाव ठीक न होगा। रक्त देने वाले को न कोई पीडा होती है, न वह मरता है, थोडी-सी कमजोरी आती है, वह दवा देने से ठीक हो जाती है।'

डॉक्टर की बात सुनकर वहाँ के कम्पाउण्डर ने, जो इनकी बातचीत सुन रहा था, कहा—'मैं अपना रक्त देने को तैयार हूँ। दो सौ रुपये लूंगा।' डॉक्टर ने उसका खून टैस्ट करके पसन्द कर लिया, तब ग्वाले से कहकर उक्त कम्पाउण्डर को दो सौ

रुपये दिला दिये। चिकित्सा प्रारम्भ की गई। रक्त चढाया गया। कुछ ही दिनो मे घाव अच्छा हो गया। ग्वाले ने प्रसन्न होकर अस्पताल के कर्मचारियो को इनाम दिया और अपने घर चला आया। फिर कुछ दिन रहकर वह पुन सपरिवार ग्वालपाडा अपने व्यवसाय को देखने चला गया।

ग्वालपाडा पहुँचने के दस दिन बाद ही ग्वाले के नाम से एक हजार रुपये की एक बीमा आई। साथ मे एक पत्र भी मिला जिसमे लिखा था—

परमपूज्य पिताजी एव परमपूज्य माताजी !

चरणो मे सभक्ति प्रणाम,

आगे आपके लिए रक्त देने वाला मैं नीरू का लडका, मैं आपका पाला-पोसा हुआ पूत हूँ। मैं ही कम्पाउण्डर का काम करता हूँ। रुपये लेकर खून देने का कारण यह था कि मुफ्त मे आप खून न लेते। मेरा पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहते। सम्भव था, परिचय प्राप्त हो जाने पर स्नेहवश आप रक्त न लेते और दूसरा इतना रक्त देता कौन ? फिर आपका घाव कैसे अच्छा होता ? इसलिए मैंने आपसे रुपये लेकर परिचय न दिया। अब मैं जो ये १००० रुपये भेज रहा हूँ, इनमे से २०० रुपये तो आपके-हैं ही। शेष ८०० रुपये मेरी माँ के सयम-पूर्वक पथ्यादि के लिए हैं। ध्यान रहे—यदि किसी बहाने से आपने ये रुपये लौटा दिये तो आपका यह पालित पुत्र निश्चय ही प्राण-त्याग कर देगा। एक बात और—वृन्दावन निकट होने तथा आप दोनो के द्वारा प्रतिपालित शुद्ध दूध व पवित्र अन्न से मेरे शरीर मे जो शुद्ध रक्त है, वह कही गन्दा (अपवित्र) न हो जाय, इसलिए मैंने प्याज, लहसुन, शराब, ताडी, माँस, मछली आदि निषिद्ध वस्तुओ का खानपान तो दूर रहा, देखना तक भी छोड दिया है। आपके घर मे तो मैं अपवित्र वस्तुओ के खानपान से सर्वथा अछूता रहा हूँ। लिखने का अभि-प्राय यह है कि मैने जो रक्त आपके शरीर मे प्रवेश कराने के लिए दिया है, वह पवित्र है, शुद्ध है, कही भी अपवित्र नही है। मैं गीतापाठ रोज करता हूँ। आगे भगवान् की कृपा।'

—आपका प्यारा पुत्र
अहमद कम्पाउण्डर

पत्र पढकर दम्पती अवाक् हो गए। उनकी आँखो से अश्रुधारा बह चली। ग्वाले ने पत्र का उत्तर लिखा—

प्रिय पुत्र अहमद !

शुभाशीर्वाद,

हम यहाँ सकुशल हैं। तुम्हारी कुशलता परमात्मा से चाहते हैं। तुम्हारे भेजे हुए पत्र तथा एक हजार रुपये प्राप्त हुए। प्रिय पुत्र ! यह तुमने ठीक ही

लिखा है, मुफ्त मे हम रक्त न लेते । हम तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहते और परिचय प्राप्त होने पर तो हम किसी भी हालत मे तुम्हारा रक्त न लेते । तुम्हारा सात्विक जीवन, पवित्र स्वभाव एव भगवच्चरणो मे स्नेह सुनकर हमारा हृदय आनन्द परिपूर्ण है । तुम-सा विचारवान् पुत्र पाकर हम दोनो का जन्म सफल हो गया । अभी हमे रुपयो की आवश्यकता नही थी, किन्तु हम तुम्हारा दिल दुखाना नही चाहते । अत रुपये हमने रख लिए हैं । प्यारे पुत्र ! लोग कहा करते हैं—माता के दूध का बदला पुत्र द्वारा हजारो जन्मो मे भी नही चुकाया जा सकता । पर तुमने तो कमाल कर दिया । इसी जन्म मे ही दूध का विलक्षण बदला चुकाया है ।. .'

इस सत्य घटना पर से यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि पराये पुत्र को दुग्धदान देकर पालने-पोसने वाली माता को कितना गौरवास्पद स्थान मिला, कितनी पूज्य दृष्टि से उसे देखा गया और दुग्धदान के बदले सम्मान सहित कितना प्रतिदान मिला । यह सब प्रभाव दान का ही है, जिसने इतना गौरव उस ग्वालिन माता को दिलाया ।

दूसरी तरफ से देखें तो भी दान देने वाले का हाथ सदा लेने वाले से ऊपर ही रहता है और वही हाथ गौरवपूर्ण होता है, जो याचक के हाथ से ऊपर हो । गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस दिशा मे स्पष्ट प्रेरणा दी है—

"तुलसी' कर पर कर करो, करतर करो न कोय ।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरण भलो य ।

वास्तव मे दाता के हाथ सदा ऊपर ही रहते हैं । यहाँ तक कि बडे-बडे कलाकारो, पण्डितो, विद्वानो एव वैज्ञानिको के हाथ भी दानियो के गौरवशील हाथ के नीचे ही रहते हैं । यहाँ तक कि बडे-बडे मुनिरत्नो, तीर्थंकरो के हाथ भी दानदाता के हाथ से नीचे रहता है । इसीलिए दानषट्त्रिंशिका मे दान की महिमा बताते हुए कहा है—

'यो बभ्राम ससम्भ्रमप्रणतभूपालेन्द्र-पृष्ठस्थलो,
विश्व वात्सरिक प्रवन्ति सुधया प्रोज्जीवयामास य ।
य साध्वाद्यनवद्य सघशिरसि क्रीडोचित सोऽर्हत ।
पाणि स्याद् यदनुहाद् गृहिकरावस्ता स्तुमो दातृताम् ॥'

—जिस तीर्थंकर ने स्वय एक वर्ष तक लगातार दान देकर दानरूपी अमृत से सारे ससार को जिलाया, वही तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद जब भिन्न-भिन्न देश-प्रदेशो मे विचरण करने लगे तो जिनके पीछे भक्तिवश हडबडा कर राजा और इन्द्र तक नत-मस्तक हो गए थे । तथा जो साधु आदि पवित्र चतुर्विध सघ के शिरोमणि त्रिभुवन-स्वामी तीर्थंकर हैं ऐसे तीर्थंकर का भी हाथ जिस दान के अनुग्रह से गृहस्थ (दाता) के हाथ से नीचे रहता है, उस दान की हम स्तुति करते हैं ।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक चक्रवर्ती भरत, मान्धाता, दुष्यन्त, हरिश्चन्द्र, पुरुरवा, ऐल, नल, नघुष, राम, कर्ण, युधिष्ठिर आदि अनेक श्लाघनीय दानी हुए हैं, परन्तु वे सबके सब दानी के दान द्वारा प्राप्त कीर्ति से ही अमर हुए। इसलिए उनके दान ने उन्हे इतना गौरव दिलाया कि वे जनता के हृदय मे चिरस्थायी हो गए।

दान के प्रभाव से मनुष्य को इस जन्म मे ही नही, अगले जन्मो मे भी गौरव मिलता है।

आपसे पूछा जाय कि आप किसको चाहते हैं? कृपण को या दाता को? किसका नाम प्रात काल लेना चाहते हैं, कृपण का या दाता का? तब आप चट से कह देंगे—कृपण को तो कोई नही चाहता और न ही प्रात काल कोई उसका नाम लेना चाहता है। प्रात स्मरणीय वही होता है, जो उदार हो दानी हो। जो स्वार्थी और लोभी बनकर धन जोड-जोड कर रखता हो, उसका तो कोई नाम भी नही लेना चाहता। यही कारण है कि लोग प्रात काल दानी राजा कर्ण, हरिश्चन्द्र एव तीर्थंकर आदि दानवीरो का नाम ही लेना चाहते हैं। वे पुरुष गौरवान्वित होते हैं, जो अपनी सुख-सामग्री, सम्पत्ति एव शक्ति दूसरो को लुटाते हैं, देते हैं।

दान से वश निर्बीज नहीं

दान को 'अमृत' कहा गया है, उसके कई रूप आपके सामने आ गये, दान से आनन्द मिलता है, प्रसन्नता मिलती है, समाज मे गौरव मिलता है परलोक मे सुख एव वैभव मिलता है। इस लोक मे पद-पद पर यश, सहयोग, सेवा, प्रतिफल तथा धन-परिवार आदि की समृद्धि भी मिलती है।

दान का इतना अदभुत प्रभाव है कि दान देने वाले की वश-परम्परा खण्डित नही होती, वह अविच्छिन्न रूप से चालू रहती है। उसका कारण यह है कि उसका दान जिन भूखो, दु खियो, बाढ, भूकम्प या दुष्काल से पीडितो को मिलता है, उनकी अन्तरात्मा से उन्हे शुभाशीर्वाद मिलता है। राजस्थान मे इन आशीर्वाद के सूचक शब्दो का प्रयोग किया जाता है—'दूधा जीओ, पूता फलो' इस प्रकार की हृदय से आशिषे पाकर दानी व्यक्ति क्यो सन्तान हीन होगा? तामिलनाडु के वेद कुरल मे इस विषय मे स्पष्ट कहा है—

"परनिन्दाभय यस्य विना दान न भोजनम्।
कृतिनस्तस्य निर्बीजो वशोनैव कदाचन॥"

—जो परनिन्दा से डरता है और दान दिये विना भोजन नही करता, उसका वश कभी निर्बीज नही होता।

बूंदी (राजस्थान) के तत्कालीन राव सन्तानहीन थे। वे सदैव चिन्तातुर रहते थे कि मेरे कोई सन्तान नही है। पुत्र के बिना मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा?

उत्तराधिकारी के विना मेरा राज्य धूल मे मिल जाएगा, अराजकता छा जाएगी।" राजदरबारी लोग भी इसके कारण चिन्तित रहा करते थे। एक दिन रावसाहब से किसी ने कहा—"महाराज ! यहाँ जीवनजी नामक जैन साधु हैं, उन्हे वचनसिद्धि प्राप्त है। उनके दर्शन करने पधारिये। अगर उन्होंने कह दिया—'पुत्रवान्भव' तो अवश्य ही पुत्र होगा" रावजी को यह सुनकर आशा की किरण मिल गई। वे बहुत प्रसन्न हुए और जीवनजी मुनि के दर्शनो के लिए चल पडे। जब वे धर्मस्थानक मे पहुँचे तो किसी ने कहा—"वे अभी शौच के लिए पहाडो की ओर जा रहे होंगे, अच्छा हो कि आप भी उधर ही पधारें। यह मौका बहुत अच्छा है।"

सुबह का समय था, रावसाहब ने साधुजी के दर्शन किये और उनके चरणो मे गिर पडे। साधुजी म० ने कहा—'दया पालो, राजाजी !' फिर पूछा—'कहिए रावजी ! आज कैसे आना हुआ, इतनी सुबह-सुबह ?' राव साहब ने अपनी मनोव्यथा व्यक्त की। अन्त मे कहा—'महाराज ! मेरे कोई सन्तान नही है। आपका आशीर्वाद प्राप्त करने आया हूँ।"

साधुजी ने उन्हे उपदेश दिया—'देखो, रावजी ! हम साधु हैं, ससार से विरक्त, हम किसी को शाप, आशीर्वाद या अनुग्रह नही देते। हम तो धर्म की प्रेरणा करते हैं। मैं आपको चार बातें, जो धर्म से सम्बन्धित हैं बता देता हूँ—

'धन चाहे तो धर्म कर, राज्य चाहे तो तप।
पुत्र चाहे दया-दान कर, सुख चाहे तो जप॥'

यों कहकर रावसाहब को साधुजी ने ये चारों बातें भलीभांति समझा दी। रावसाहब सभी बातें समझकर प्रसन्नतापूर्वक महल को लौटे। उसी दिन से वे दया और दान के कार्य करने लगे। नगर के सभी कसाईखाने बन्द करा दिये। शहर के बाहर दानशाला खुलवादी, भूखे-प्यासो को अन्नपानी दिया जाने लगा, जो अभावग्रस्त पीडित, अपाहिज, अनाथ एव असहाय थे, उन्हे आवश्यकतानुसार दान दिया जाने लगा।' दया-दान के प्रभाव से सयोगवश रावजी के पुत्ररत्न हुआ। राज्यभर में प्रसन्नता की लहर दौड गई। रावजी ने खूब धूमधाम से पुत्रजन्मोत्सव किया। जैन-साधुओ के प्रति रावजी के मन मे गाढ श्रद्धा हो गई। और उन्होने दया, दान और सेवा के अनेक कार्य अपने जीवन मे किये। यह है—वशपरम्परा की अविच्छिन्नता का अमोघ उपाय दान का चमत्कार !

दान हाथ का आभूषण

दान की भावना चाहे हृदय से होती हो, दान की योजना चाहे मस्तिष्क से तैयार होती हो और दान देने का उत्साह चाहे मन मे पैदा होता हो, लेकिन दान का सक्रिय आचरण हाथ से ही होता है। मस्तिष्क, हृदय और मन चाहे दान का आदेश देने वाले हो, दान के उपदेश को चाहे कान सुन लेते हो, दान मे दी जाने वाली चीजों को या दान देने के तरीके को चाहे आँखें देख लेती हो, वाणी चाहे दान देने का आदेश

कर देती हो या दान की महिमा का गुणगान कर लेती हो, लेकिन दान को क्रियान्वित करने वाले, देय वस्तु को दाता के हस्तगत कराने वाले, दान का लाभ दान के पात्र को दिलाने वाले तो हाथ ही हैं। परन्तु इन हाथो का महत्त्व दूसरे का धन छीन लेने, चुरा लेने, छिपा देने या अपना धन गाड देने, सचित करके रखने या दबा या छिपा देने मे नही है, ऐसा करने वाले हाथो का गौरव बढाते नही हैं, अपितु हाथो का गौरव घटाते हैं, उन हाथो को कलकित करते हैं, बदनाम कराते हैं। इन हाथो से दान के सिवाय अन्य कुकर्म करने वाले या हाथो से दूसरो के थप्पड मारने वाले, दूसरो को धक्का देने वाले अथवा शस्त्रादि चलाकर दूसरो को भयभीत करने वाले, दूसरो को सताने या पीडित करने वाले भी हाथ की गरिमा को क्षीण करते हैं, हाथ से दान के द्वारा प्राप्त हो सकने-वाले यश से वचित कर देते हैं। इस हाथ मे दान देने की जो अपार शक्ति सचित है, उसे व्यर्थ के कार्यों मे नष्ट करके वे लोग हाथ की क्रियाशक्ति को, हाथ के द्वारा सम्भव होने वाले जादू को खत्म कर देते हैं। इसीलिए एक मनीषी ने प्रत्येक मानव के लिए यह प्रेरणा सूत्र प्रस्तुत किया है—

'हाथ दिये कर दान रे'

'मानव ! तेरे प्रवल पुण्य बल ने अथवा ईश्वर कर्तृत्व की दृष्टि से कहे तो ईश्वर ने तुझे हाथ दिये हैं, उनसे दान कर।'

कितनी सुन्दर प्रेरणा भर दी है, इस छोटे-से वाक्य मे !

एक पाश्चात्य विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'प्रार्थना मन्दिर मे प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोडने के बजाय, दान के लिए एक बार हाथ खोलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।'[1]

कितना सुनहरा प्रेरणा वाक्य है ! इसका रहस्य यह है कि प्रार्थना करने वाला प्रार्थी सौ बार हाथ जोडकर भगवान् से प्राय कुछ न कुछ मागेगा, इसके बजाय किसी से कुछ न माग कर अपने अन्दर निहित दान शक्ति को खुले हाथो से प्रगट करना अधिक बेहतर है। इससे बिना माँगे ही हजारो की मूक आशीषें, दुआएँ मिलेंगी। देवगण भी इस कार्य को देख कर प्रसन्न होंगे। दान जैसे शुभ कार्यों को देखकर वे जितने प्रसन्न होगे, उतने प्रसन्न केवल मनौती करने से नही होंगे। इस दृष्टि से प्रार्थना के लिए हाथ जोडने की अपेक्षा दोनो हाथो से दान देना श्रेष्ठ बतलाया गया है।

बाइबिल मे भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

'तीन सद्गुण हैं—आशा, विश्वास और दान।
इन तीनो मे दान सबसे बढकर है।'

---

1 One hand opened in charity is worth a hundred in prayer

दान को इन तीनो मे सबसे बढकर इसलिए बताया गया कि यह हाथ से होता है। इस कारण सारे ससार के लोग इसे प्रत्यक्ष जान सकते हैं, दान देने मे सक्रिय होना पडता है, अपने हाथो को दाता के हाथ से ऊपर करने होते हैं, जबकि आशा और विश्वास, ये दोनो बौद्धिक व्यायाम हैं, हार्दिक उडाने हैं, मन की हवाई कल्पनाएँ हैं, चित्त की वैचारिक भागदौड हैं।

एक विचारक ने तो दान के लिए यहाँ तक कह दिया है—

'पानी बाढ़ो नाव मे, घर मे बाढो दाम,
दोनो हाथ उलीचिए, यही सयानो काम।'

अगर नौका मे पानी बढ जाय और उसे हाथो से उलीच कर बाहर न निकाला जाय तो नौका के डूब जाने का खतरा पैदा हो जाता है, वैसे ही घर मे धन बढ जाय तो परिवार मे विभाग या उपभोग के लिए परस्पर झगडा पैदा हो जाता है, या सतान द्वारा उसे फिजूल के कामो मे उडाने की आशका पैदा हो जाती है, अथवा चोरो, डकैतो द्वारा हरण किये जाने या सरकार द्वारा करो के माध्यम से खीचे जाने का खतरा पैदा हो जाता है। इसलिए उस बढे हुए धन को भी दोनो हाथो से झटपट दान दे देना ही बुद्धिमानी का काम है।

दानवीर जगडूशाह

युग बीत गये, सदियाँ व्यतीत हो गईं, लेकिन जगडूशाह का अपने हाथो से किया दान आज भी अपनी असाधारण विशेषताओ के कारण इतिहास का प्रेरक सत्य बना हुआ है। एक बार ५ वर्ष का भयकर दुष्काल पडा। लाखो पशु भूख से मर गये। हजारो मनुष्य अन्न के दाने-दाने के लिए तरस कर प्राण छोड बैठे। मानव-करुणा से प्रेरित होकर जगडूशाह नामक जैन श्रावक ने गाँव-गाँव मे ११२ दानशालाएँ खोल दी। बिना किसी भेदभाव के भूखो को अन्न दिया जाने लगा। जगडूशाह स्वय दानशाला मे बैठकर अपने हाथो से दान दिया करते थे। वे धन को अपना न समझ कर, समाज की धरोहर समझते थे। और उनका यह दृढ विश्वास था कि घर मे पैसा बढने पर उसे दान के जरिये हाथो से निकाल देना ही बेहतर है, इस कारण वे स्वय अपने हाथो से दान देने मे अपना अहोभाग्य समझते थे। जगडूशाह ने जब यह देखा कि उच्च घरानो के कुलीन व श्रेष्ठ व्यक्तियो को परिस्थितियो के बहाव ने दर-दर की ठोकरें खाने लायक बना दिया है, वे सामने आकर मागने मे या प्रत्यक्ष मे हाथ के नीचे हाथ करने मे शरमाते हैं तो जगडूशाह ने दानमण्डप मे एक पर्दा डलवा दिया। जगडूशाह उस पर्दे के भीतर बैठकर दान देता था। दान लेने वाला आकर बाहर से भीतर की ओर अपना हाथ फैला देता। जगडूशाह मागने वाले के हाथ पर से उसकी स्थिति का आकलन कर पर्दे की खिडकी मे से चुपचाप उसके हाथ मे कुछ न कुछ रख देता था। किसको दे रहा है? कौन ले रहा है? न कुछ देखना और न कुछ पूछना! बिना किसी शोर-शराबे के मौन जगडूशाह के दान की गगा बह रही थी। फूल की

महक की तरह जगडूशाह की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। तत्कालीन राजा वीसलदेव ने भी दुष्काल के समय अपनी प्रजा को राहत पहुँचाने के लिए कुछ अन्न सत्र खोले थे, लेकिन अन्न के अभाव मे वे शीघ्र ही बन्द हो गए। उसने जगडूशाह के उदार व नि स्पृह दान की बात सुनी। साथ ही यह भी सुना कि लेने वाले का मुह देखे विना और हाल पूछे विना याचक को अपनी आवश्यकतानुसार पर्दे के पीछे वैठा हुआ वह अपने हाथ से दान दे देता है। इस बात की परीक्षा के लिए वीसलदेव एक भिखारी का वेप वनाकर जगडूशाह की दानशाला मे पहुँच गया और पर्दे की खिडकी मे से भीतर हाथ फैलाया। जगडूशाह ने उसके हाथ पर अपनी वहुमूल्य हीरे की अँगूठी निकालकर रख दी। वहुमूल्य हीरे की अँगूठी देखकर वीसलदेव आश्चर्य मे डूब गए। उन्होने अपना दूसरा हाथ भीतर फैलाया तो जगडूशाह ने अपनी दूसरी अँगूठी भी रख दी। राजा वीसलदेव दोनो अँगूठियाँ लेकर अपने राजमहलो मे पहुँचे। दूसरे दिन उन्होने जगडूशाह को वुलाया। जगडूशाह आए तो वीसलदेव ने पूछा—"शाहजी! सुना है, तुम दान देते समय किसी का चेहरा नही देखते और न किसी से पूछते हो?"

जगडूशाह—'हाँ, महाराज! इसके लिए चेहरा देखने और पूछने की क्या जरूरत है? मैं सिर्फ मानव का हाथ देखकर ही दान देता हूँ, उसकी अपनी आवश्यकता और स्थिति के अनुसार।'

वीसलदेव—'तो क्या तुम हस्त सामुद्रिक शास्त्र जानते हो?'

जगडूशाह—'महाराज! हस्तरेखाएँ पढ लेना ही सामुद्रिक नही है। हाथ की वनावट, सुकुमारता आदि अपने आप याचक का परिचय दे देते हैं, और उसी के अनुसार मैं दान कर देता हूँ। योग्यतानुसार रुपये वाले को रुपया और स्वर्ण मुद्रा वाले को स्वर्णमुद्रा मिल जाती है।'

राजा ने दोनो अगूठियाँ दिखाते हुए कहा—'तुमने क्या समझ कर मुझे ये अगूठियाँ दी?' जगडूशाह ने वडी सजीदगी से कहा—'यह हाथ देखा तो मैंने सोचा कि कोई उच्च खानदान का व्यक्ति है। सकट का मारा यहाँ मागने आया है, तो इसे इतना दे दिया जाय कि दुवारा न आना पडे, आवश्यकता की पूर्ति हो जाये।' राजा वीसलदेव ने जगडूशाह की उदारता, नि स्पृहता और अपने हाथ से दान देने कि वृत्ति देखी तो वहुत ही प्रसन्नता प्रगट की। उसने जगडूशाह का वहुत सम्मान किया और हाथी पर विठाकर ससम्मान घर भेजा।

वास्तव मे जगडूशाह ने अपने हाथो मे दान देकर हाथो को सार्थक कर लिया हाथो का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया, उसने अपने उपभोग के लिए कम से कम इस्तेमाल करके दूसरो को देने मे ही हाथो का उपयोग किया। उन्ही हाथो ने विपुल द्रव्य कमाया और उसे हाथ का मैल समझ कर उन्ही हाथो से गरीवो, असहायों, जरूरत-

मन्दो और असमर्थों को बिना किसी नामना-कामना और प्रसिद्धि के दान दिया। वैदिक ऋषि की वह महान् उक्ति जगडूशाह ने चरितार्थ कर दिखाई—

'अय मे हस्तो भगवान्, अय मे भगवत्तर.'

—'मेरा यह हाथ भगवान है और यह हाथ भगवान् से भी बढकर है।'

भगवान् से बढकर हाथ तभी होता है, जब उस हाथ को तीर्थंकर भगवान् के हाथ से ऊपर रखा जाय। यानी, उस हाथ से सतत दान दिया जाय। जब दान दिया जायगा, तभी तो हाथ भगवत्तर बनेगा।

किन्तु जो इन हाथो से अपनी सम्पत्ति का दान नही करता, धन जोड-जोड कर रखता है, वह भगवान् बनने के बदले मरकर कुत्ता बनता है। अग्रेजी मे ईश्वर को god (गॉड) कहते हैं, किन्तु जब ईश्वरीय कार्य से उलटा कार्य करता है तो गॉड का उलटा dog (डॉग) हो जाता है, जिसका अर्थ होता है—कुत्ता।

एक जगह एक कुत्ता घर मे घुसा। और ज्यो ही वह भोजन-सामग्री मे मुह लगाने लगा कि घर के मालिक की निगाह पड गई। उसने कुत्ते की कमर मे जोर से लकडी मारी। लकडी की मार से कुत्ता कुं-कुं करके रोता-चिल्लाता हुआ बाहर निकला। उसे देखकर एक ज्ञानी सन्त ने कहा—

'अब क्यो रोवै कूतरे! माल बेगाना जोय।
थी जब हाथा दी नहीं, अब क्या रोयां होय?
अब क्या रोया होय, टूक जो मिले सो खाओ।
देख पराई चोपडी न तुम यो जी ललचाओ॥
कहे ज्ञानी सत तूने जब घणा दिया था बुत्ता।
जिससे मरकर हो गया, अब दर-दर का कुत्ता।"

सन्त की इस उक्ति मे कितना कटु सत्य भरा हुआ है! कुत्ता जब मनुष्य था जब उसके दोनो हाथ दान देने लायक थे, तब उसने हाथो से दान देकर अपने हाथ सार्थक नही किये, इसलिए अब मरकर कुत्ता बना, जिससे न तो वैसे दान के योग्य हाथ मिले, न दान देने की बुद्धि मिली। मनुष्य जन्म मे दान देकर वह गॉड बन सकता था, किन्तु दान न देने से वह मरकर डॉग बना।

हाथ की शोभा-दान

हाथ की शोभा दान से है। लोग कहते हैं कि हाथ तो आभूषणो से शोभा देता है, परन्तु जो हाथ दान नही देते, कोरे आभूषण पहनकर बनठन कर रहते हैं, उन हाथो की शोभा इन बनावटी आभूषणो से नही होती। उनके हाथो की शोभा दान से है। दान ही हाथो का आभूषण है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

'हस्तस्य भूषण दान सत्य कण्ठस्य भूषणम्।
श्रोत्रस्य भूषण शास्त्र, भूषणै किं प्रयोजनम्?'

—हाथ का आभूषण दान है, कठ का आभूषण सत्य है और कान का आभूषण शास्त्र है। ये आभूषण हो तो, दूसरे बनावटी आभूषणो से क्या प्रयोजन है ?

जिसके हाथ से सतत दान का प्रवाह जारी हो, उस हाथ के लिए दान ही आभूषण रूप बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व या सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए सोने-चाँदी के आभूषणो की जरूरत नही पडती।

वगाल मे सतीशचन्द्र विद्याभूषण एक महान् दार्शनिक और लेखक हो गये हैं। एक दूर के यात्री ने उनकी प्रशसा सुनी और वह उनके घर पहुँचा। असल मे, वह आगन्तुक उस महान् दार्शनिक की माता के दर्शन करने आया था और यह भावना लेकर आया था कि उस आदर्श माता के दर्शन पाकर अपने नेत्रो को सफल करूँ, जिसकी ममतामयी गोद मे विद्याभूषण का जीवन प्रकाशमान बना है।

परन्तु वहाँ पहुँच कर उसने देखा तो हक्का-बक्का रह गया। पहले तो वह कल्पना भी नहीं कर सका कि क्या यह महिला उस विश्व विश्रुत दार्शनिक की माँ हो सकती है ? परन्तु पूछने पर मालूम हुआ कि—यही उस प्रतिभासम्पन्न पुत्र की माता है, जो अति साधारण वस्त्र पहने हुए हैं और जिसके हाथो मे पीतल के कडे शोभायमान हैं। फिर भी वह सहसा अपने कानो पर विश्वास नही कर सका कि एक ऐश्वर्य-सम्पन्न पुत्र की माता इस दरिद्रावस्था मे रहती है ? क्या पुत्र अपनी माता की जरा भी परवाह नही करता ? इस प्रकार कई तरह की कल्पनाएँ चलचित्रो की तरह घूम गई। अन्तत उसने सोचा कि जरा देखूँ तो सही, दोनो का स्नेह कैसा है ? बात करने पर उसे अनुभव हुआ कि दोनो मे प्रगाढ स्नेह है। माता अपने पुत्र की प्रशसा करते हुए गद्गद हो उठी। उसके मन का कण-कण नाच उठा।

आखिर आगन्तुक अपना कोई अन्य समाधान न पाकर पूछ बैठा—आप ऐश्वर्यसम्पन्न सतीशचन्द्र की मा होकर भी पीतल के कडे पहनी हुई हैं। यह आपके लिए, आपके सतीश के लिए तथा वगाल के लिए गौरव की चीज नही है।"

सतीश की मा ने कहा—'तुमने मुझे परखने मे भूल की है। मेरा गौरव इसमे नहीं है कि मै सोने के आभूषणो के बोझ से लदी फिरू। मेरा हाथ सोने के गहनो से नहीं वह तो मुक्तहस्त मे दान देने मे ही सुशोभित होगा। तुम्हे मालूम होना चाहिए कि—जब वगाल मे दुर्भिक्ष पडा था। मनुष्य भूख से छटपटा कर मर रहे थे। बहुत-से आदमियो के लिए अन्न का दाना भी नहीं मिल रहा था। ऐसी विकट परिस्थिति मे सतीश के दान ने, जो मेरे इन्हीं हाथो द्वारा दिया गया था, सारे वगाल मे नवजीवन फूंक दिया। अत मेरे हाथो की शोभा इन कृत्रिम आभूषणो को पहन कर वैभव-प्रदर्शन करने मे नही है, अपितु वगाल के दुखितो और पीडितो को इन हाथो से दान देकर सेवा करने मे है। हाथ का आभूषण दान है, गहने नही।'

हाँ, तो सतीशचन्द्र विद्याभूषण की माता के जीवन मे 'हस्तस्य भूषण दानम्'

हाथ का आभूषण या हाथ की शोभा दान है' यह उक्ति चरितार्थ हुई थी। दान ही इन करकमलो मे यश की सौरभ भर सकता है, जीवन की सहज-स्फूर्त दानवृत्ति ही हाथ को वास्तविक चमक-दमक और शोभा प्रदान कर सकती है।

बहनो को सोने और चादी के आभूषण बहुत प्रिय होते हैं। वे गहनो को सौन्दर्य प्रसाधन की चीज समझती हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो जीवन के वास्तविक सौन्दर्य का प्रसाधन इन कृत्रिम आभूषणो से नही, दान से ही होता है। दान जब मानव के हृदय का हार बन जाता है, हाथो का उदार अनुष्ठान हो जाता है, दु खितो के प्रति आत्मीयता और सहानुभूति का कर्णफूल बन जाता है, तब दूसरे आभूषणो की जरूरत नही रहती। वे ही उनके वास्तविक आभूषण बन जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भोजन कर रहे थे। उस समय एक अतिथि याचक उनके द्वार पर आया। ईश्वरचन्द्र दानशील तो थे, मगर उस समय उनके पास कुछ भी नही था। उन्होने अपनी मा से कहा—"माता जी! बाहर कोई याचक आया है, आप अपनी चूडी दे दें, ताकि मैं उसे गिरवी रखकर कुछ रूपये लाकर उसे दे दूँ, और विदा करूँ।"

माँ—'बेटा! तू तो मेरे सभी गहने निकलवा कर ही रहेगा।'

ईश्वरचन्द्र—'माँ! बडा होऊँगा, तब तुम्हारे सभी गहने बनवा दूंगा।'

ईश्वरचन्द्र की माँ ने सोने की चूडी निकालकर उन्हे दे दी। ईश्वरचन्द्र ने वह चूडी किसी के यहाँ गिरवी रखी और कुछ रुपये लेकर आए, और उस याचक को देकर सन्तुष्ट किया।

माँ ने घर आने पर ईश्वरचन्द्र से पूछा—'बेटा! उस याचक का दु ख दूर हुआ?'

ईश्वरचन्द्र—'हाँ, माताजी, वह सन्तुष्ट होकर गया।'

माता ने कहा—'बेटा! दान ही सच्चा गहना है। सोने के गहने की अपेक्षा दानरूपी आभूषण से जीवन की शोभा अधिक बढती है।

गहनो के बारे मे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की माता के जो विचार थे, वे ही विचार धीरे-धीरे अवस्था परिपक्व होने के साथ ईश्वरचन्द्र के बन गए। वे आभूषण की अपेक्षा दान को अधिक महत्त्व देते थे। जैसा बेटा था, वैसी ही उसकी माँ थी।

सचमुच, सच्चा आभूषण दान है, जिससे जीवन सर्वांगीण रूप से अलकृत हो उठता है।

जो व्यक्ति यह समझता है, कि आभूषणो से शरीर की सुन्दरता बढती है, वह भ्रम मे है। क्योकि आज आभूषण जिंदगी के लिए खतरा बन गया है। आभूषण से सौन्दर्य वृद्धि तो बाद मे होगी, गरीब लोगो मे द्वेष और ईर्ष्या की वृद्धि तो पैदा हो ही जाएगी। जिसका परिणाम होगा—पारस्परिक कटुता, सघर्ष और छीना-

झपटी। इसलिए आभूषण बनवाने की अपेक्षा दान के द्वारा जीवन के वास्तविक सौन्दर्य मे वृद्धि करनी चाहिए। उससे विषमता मिटेगी, अमीर-गरीब का भेद मिटेगा, और गरीब एव पीडित लोगो मे दानी लोगो के प्रति सच्ची सहानुभूति और आत्मीयता पैदा होगी। महात्मा गांधीजी मानव-मानव के बीच विषमता की इस दीवार को मिटाने के लिए कृतसकल्प थे। वे जहाँ भी जाते, बहनो को हरिजनो के लिए गहने दान दे देने की प्रेरणा किया करते थे। वे समझते थे कि इन कृत्रिम आभूषणो का परित्याग कर देने से हरिजनो और सवर्णों के बीच जो खाई है, वह पट जाएगी। दोनो मे एक-दूसरे के प्रति सद्भावना पैदा होगी। और दोनो मिलकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए लड सकेंगे।

एक बार गांधीजी जब त्रिवेन्द्रम् मे थे, तो एक १७ वर्षीय लडकी उनके दर्शनो के लिए आई। गांधीजी ने उससे पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'मैं एक छोटी-सी लडकी हूँ।"

'पर एक छोटी-सी लडकी का इन गहनो से क्या प्रयोजन है?" गांधीजी ने उसके शरीर पर बहुत-से जेवर लदे हुए देखकर कहा।

मीनाक्षी ने जवाब दिया—"मैं चाहती हूँ कि ऐसी ही छोटी-सी लडकी बनी रहूँ।"

गांधीजी ने कहा—'तब तो तुम्हे गहने नही पहनने चाहिए। देखो, कौमुदी तो तुमसे एक वर्ष छोटी है, १६ साल की है, तो भी उसने तमाम गहने उतार कर मुझे दे दिये।'

मीनाक्षी की आँखें चमक उठी। उसने कहा—'तो मैं भी अपने सारे गहने उतार कर दे देना चाहती हू।'

गांधीजी—'तुमने अपने माता-पिता की आज्ञा तो ले ली है न?'

मीनाक्षी—'आज्ञा तो मिल ही जाएगी।'

गांधीजी—'मैं जानता हूँ मलाबार-कन्या स्वतन्त्र प्रकृति की होती है। इसलिए तुम्हे विश्वास हो तो हरिजनो के लिए मुझे ये गहने दे दो। मैं तुम्हे इस पर सोचने और अपने माता-पिता से परामर्श करने के लिए एक रात का समय देता हूँ। दूसरे दिन मीनाक्षी अपने माता-पिता के साथ गांधीजी के पास आई और उन्हे अपनी सोने की चूडी और गले का हार दो चीजें उतार कर दे दी। इसके बाद मीनाक्षी ने आजीवन गहनो को न छूने की प्रतिज्ञा कर ली। गांधीजी ने उसकी माँ से आशीर्वाद देने को कहा तो पहले कुछ आनाकानी की, लेकिन बाद मे समझाने पर उसने भी मीनाक्षी को आशीर्वाद दे दिया। उस सदय का दृश्य बडा हृदयद्रावक था। गांधीजी ने मीनाक्षी के आभूपणत्याग की प्रशसा करते हुए कहा—'ईश्वर करे, कौमुदी और

मीनाक्षी का यह आदर्शत्याग प्रकाशरूप होकर उस अज्ञानान्धकार को हटाने में हमारा सहायक हो, जो अस्पृश्यता जैसे महापाप का अस्तित्व बनाए हुए है।'

इससे यह समझा जा सकता है कि महात्मा गांधीजी कृत्रिम आभूषणो की अपेक्षा दानरूप आभूषण अपनाने की प्रेरणा महिला समाज को सतत देते रहते थे। इसीलिए नीतिकार ने इस बात का स्पष्ट रूप से समर्थन किया है—

दानेन पाणिर्नतु ककणेन

—'हाथ दान से सुशोभित होते हैं, ककण से नही।'

जो महिला इस बात को हृदयगम कर लेती है, वह सतीशचन्द्र विद्याभूषण की या ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की माता की तरह अपने हाथो से मनचाहा दान देकर हाथ की ही नही, जीवन की शोभा बढाती है। ऐसी गृहलक्ष्मियो के हाथ सदा दानरत रहते हैं, वे सदैव दीन-दु खियो के आंसू पोछती रहती हैं, और उनकी मूक आशीषें प्राप्त करती हैं। दान से नवनीत-सा कोमलता जैसे उनके हृदय मे हो जाती है, वैसे ही उनके हाथो मे भी कोमलता हो जाती है। दु खित जनो को देखकर उनकी आँखें दयार्द्र हो जाती हैं, उनके कान सदैव ऐसे दीन-हीनो की पुकार सुनने को उत्सुक रहते हैं, और उनके पैर भी उन दीन-दुखियों के दु ख-निवारण के लिए दौड पडते हैं।

सस्कृत साहित्य मे माघकवि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भारत के इने-गिने सस्कृत कवियो मे वे माने जाते हैं। उनकी कविता की भाँति उनकी उदारता की जीवन्तगाथाएँ भी बडी मूल्यवान हैं। उन्हे कविता से लाखो का धन मिलता था, लेकिन उनका यह हाल था कि इधर आया, उधर दे दिया। अपनी इस दानवृत्ति के कारण वे जीवनभर गरीब रहे। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति आ जाती कि आज तो है, कल के लिए नही रहेगा। अत उन्हे भूखे ही सोना पडता था। ऐसी स्थिति मे भी माघकवि यही कहा करते थे—'माघ का गौरव पाने मे नही, देने मे है।'

एक बार वह अपनी बैठक मे बैठे थे। जेठ की सख्त गर्मी मे, दोपहर के समय एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया। माघकवि अपनी कविता का सशोधन करने मे मग्न थे। ज्योही ब्राह्मण नमस्कार करके इनके सामने खडा हुआ, इनकी दृष्टि उस पर पडी। उसके चेहरे पर गरीबी की छाया, थकान और परेशानी झलक रही थी। कवि ने ब्राह्मण से पूछा—'कहो भैया! ऐसी धूप मे आने का कष्ट कैसे किया?'

ब्राह्मण—'जी, और तो कोई बात नही, मैं एक आशा लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे एक कन्या है, वह युवती हो गई है, उसका विवाह करना है, परन्तु साधन पास मे कुछ भी नही है। अर्थाभाव के कारण उद्विग्न हूँ। आपका नाम सुन-कर बडी दूर से चला आ रहा हूँ।'

माघकवि ब्राह्मण की अभ्यर्थना सुनकर विचार मे पड गए। यह स्वाभाविक

ही था, क्योकि उस समय उनके पास एक जून खाने को भी नही बचा था। मगर गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है, अत कवि की उदार प्रकृति से रहा नही गया। उन्होंने ब्राह्मण को आश्वासन देते हुए कहा—'अच्छा भैया ! बैठो, मैं अभी आता हूँ।' यो कहकर वे घर मे गए। इधर-उधर देखा, पर वहाँ देने योग्य कुछ भी न मिला। कवि के हृदय मे पश्चात्ताप का पार न था। सोचा—'माघ ! क्या तू आए हुए याचक को खाली हाथ लौटाएगा ? इसे तेरी प्रकृति सह नही सकती। पर क्या किया जाय ? कुछ हो भी तो देने को ?' माघ विचार मे डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नही सूझता था। आखिर एक किनारे सोई हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। उसके हाथो मे कगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर यही कगन उसकी सम्पत्ति थे। माघ ने सोचा—'कौन जाने, माँगने पर दे, या न दे शायद इन्कार कर दे। इसके पास यह ही तो आभूषण बचा है। अत अच्छा अवसर है, चुपचाप निकाल लिया जाय।'

माघ दो कगनो मे एक को निकालने लगे। कगन सरलता से निकला नही और जब जोर लगाया तो थोडा झटका लग गया। इससे पत्नी की निद्रा भग हो गई। वह चौंक कर उठी और पति को सामने खडे देखकर बोली—'आप क्या कर रहे थे ?'

माघ—'कुछ तो नही, यो ही कोई चीज ढूंढ रहा था।'

पत्नी—'नही, सच कहिए। मेरे हाथ के झटका किसने लगाया ?'

माघ—'मैंने ही लगाया था।'

पत्नी—'तो आखिर बात क्या है ? क्या आप कगन निकालना चाहते थे ?'

माघ—'हाँ, तुम्हारी बात सही है ?

पत्नी के द्वारा कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा—'एक गरीब ब्राह्मण कभी से आशा लगाए द्वार पर बैठा है।'

मैंने देखा—घर मे कुछ भी नही है, जो उसे दिया जा सके। इतने मे तुम्हारा कगन नजर आ गया। यही खोलकर मैं उसे दे देना चाहता था। मैंने तुम्हे जगाया इसलिए नही कि शायद तुम कगन देने से इन्कार कर दोगी।'

पत्नी—'तो आप चोरी कर रहे थे न ?'

माघ—'हाँ, बात तो ऐसी ही थी। पर करता क्या, और कोई चारा ही नही था।'

पत्नी—'मुझे आपके साथ रहते इतने वर्ष हो गए, लेकिन मालूम होता है, आप मुझे पहचान न सके। आप तो एक कगन की सोच रहे थे, कदाचित् मेरा सर्वस्व ले जाते तो भी मैं इन्कार नही करती, तुरन्त दे देती। अब एक काम करिए। मैंने नीतिकार के वचन सुने हैं कि हाथ की शोभा दान से है, कंकण मे नहीं।' अत उसे

भेजिए यहाँ यह कगन मैं अपने हाथ से उस ब्राह्मण को दूगी, जो मुसीबत मे पडा हुआ है।'

और माघ ने झट से बाहर आकर उस ब्राह्मण को अन्दर बुलाया और कहा —"देखो ! मेरे घर मे इस समय और कुछ नही मिल रहा है, जो आपको दे सकूँ। यह एक कगन है, जो आपकी पुत्री हाथ मे पहिनी हुई थी, उसी की ओर से मैं आपको यह भेंट कर रहा हूँ। मेरे पास देने को कुछ भी नही है।' ब्राह्मण सुनकर गद्गद हो गया। उसने वह कगन ले लिया और आशीर्वाद देता हुआ हर्षित होकर चला गया।

भारतवर्ष मे ऐसी भी बहनें हुई हैं, जिन्होंने अपनी मुसीबत के समय भी आशा लेकर घर पर आए हुए किसी याचक को खाली हाथ नही लौटाया। मानो उनका जीवनसूत्र बन गया था—'दानेन पाणिर्न तु ककणेन।' नि सदेह दान हाथ का आभूषण है, वही हाथ को सुशोभित करता है। और उसी शोभा से मनुष्य की अन्तर-आत्मा प्रसन्न होती है, आनन्दविभोर होती है। आनन्द का सच्चा स्रोत दान की पर्वतमाला से ही प्रवाहित होता है। ☆

7

दान : कल्याण का द्वार

दान रूप कल्पवृक्ष के हजारोहजार शुभ फल लगते हैं, जिनका कुछ वर्णन पिछले पृष्ठो मे किया गया है।

प्रारम्भ मे ही यह बताया जा चुका है कि दान मोक्ष का द्वार है, कल्याण का कोष है, धर्म, सम्यक्त्व और आनन्द की प्राप्ति का राजमार्ग है।

दान से सम्यकत्व, जो मोक्ष प्राप्ति का मूल मन्त्र—बीज मन्त्र है, उसकी प्राप्ति होती है, लौकिक और पारलौकिक अगणित सुख-वैभव का खजाना खोलने के लिए दान ही वह दिव्य चाबी है। धर्म रूप महल का शिलान्यास दान से ही होता है।

दान से सम्यक्त्व की उपलब्धि

आगम साहित्य का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि दान के दिव्य प्रभाव से ही प्राय महापुरुषो को सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई है। कोई कह सकता है कि जैन सिद्धान्त के तत्त्व की दृष्टि से सम्यक्त्व का कारण आत्मा के शुद्ध परिणाम हैं, और दान एक क्रिया है, उसका सम्यक्त्व से क्या सम्बन्ध है ? इसलिए दान को सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण मानना ठीक नही है। हाँ, यह बात ठीक है कि सम्यक्त्व का सम्बन्ध आत्मा के शुद्ध परिणामो से है, लेकिन वे परिणाम भी किसी न किसी निमित्त को लेकर ही होते हैं, कई जीवो के परिणाम ऐसे भी होते हैं, जिनमे कोई बाह्य निमित्त नही होता। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र मे सम्यग्दर्शन दो प्रकार का बताया है—

'तन्निसर्गादधिगमाद् वा'

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) से तथा अधिगम (गुरु का उपदेश, शास्त्र या अन्य किसी वस्तु के निमित्त) से होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन पूर्वजन्म के सस्कारवश स्वाभाविक रूप से होता है, वहाँ तो कोई बात ही नही, पर जहाँ किसी न किसी महापुरुष के उपदेश आदि निमित्त को लेकर सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ दान सम्यग्दर्शन का मुख्य बहिरग कारण बनता है। दान के निमित्त से किसी न किसी महापुरुष से उपदेश, प्रेरणा या बोध प्राप्त होता है। दान महापुरुषो के निकट लाने का एक बहुत बडा माध्यम है। क्योकि जैन श्रमण आहारादि दान के सिवाय और किसी सेवा

की अपेक्षा प्राय गृहस्थ श्रावक से नही रखते। इसलिए दान ही एक ऐसा प्रबल माध्यम है, जिससे महापुरुषो का सम्पर्क होता है, और सम्पर्क होने पर सरल और नम्र आत्मा रूपी क्षेत्र मे वोधि वीज (सम्यक्त्व वीज) पडते देर नही लगता। इसलिए दान सम्यक्त्व की उपलब्धि मे एक महत्त्वपूर्ण निमित्त है।

भगवान् महावीर को सर्वप्रथम 'नयसार' के भव मे सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई थी। नयसार वन विभाग का अधिकारी था। कोई कहते हैं—कोट्टपाल (कोतवाल) था। एक बार नयसार जगल मे लकडियाँ इकट्ठी करा रहा था। तभी एक उत्तम साधु आते हुए दिखाई दिए। ये मार्ग भूल गए थे और इधर-उधर भटकते हुए अनायास ही वहाँ आ पहुँचे थे। नयसार ने जब उन्हे दूर ही से देखा, उसके सरल और स्वच्छ हृदय मे महामुनि के प्रति सद्भावना जगी, वह सामने गया और उन्हे वन्दन-नमन करके कहा—"पधारो मुनिराज! हमारे डेरे पर।"

मुनिवर बोले—"भाई! मुझे अमुक नगर मे जाना था, परन्तु मैं रास्ता भूल गया हूँ। रास्ता ढूंढते-ढूंढते समय भी काफी हो चुका है, मगर अभी तक उसका पता नही लगा है।"

पर गुरुदेव! भिक्षा लिये विना आपको कैसे जाने दूं। आप थके हुए भी है, भूखे भी हैं, इसलिए आप हमारे डेरे पर पधारें। आपके योग्य सात्त्विक आहार-पानी तैयार है। आप उसे स्वीकारें और सेवन करें।" नयसार की हार्दिक भक्ति और धर्म स्नेहपूर्वक आग्रह देखकर मुनिवर उसके डेरे पर पधारे। नयसार ने मुनिवर को पवित्र एव उत्कट भावो से आहार-पानी दिया। मुनिराज ने आहार किया, कुछ देर विश्राम किया और पुन विहार करने को तैयार हुए। नयसार उन्हें दूर-दूर तक रास्ता बताने को साथ मे गया। मुनिराज ने भी एक वृक्ष के नीचे कुछ देर विश्राम लेकर नयसार को श्रेयमार्ग का सक्षिप्त उपदेश दिया। तृषित चातक की तरह उसने उपदेशामृत का पान किया। इस उपदेश से वस्तुतत्त्व का बोध हो गया। और भावी जीवन सुन्दर और उन्नत बनाने के लिए सम्यक्त्व का बीजारोपण हो गया।

इस प्रकार दान के प्रबल निमित्त से भगवान महावीर को नयसार के जन्म मे सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव को भी धन्नाश्रेष्ठी के भव मे दान से सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।[1]

---

१ आवश्यक निर्युक्ति (गा १६८) इस बात की साक्षी है—

धण सत्थवाह घोसण, जइगमण, अडविवास ठाण च।
बहु वोलीणे वासे, चिन्ता घयदाणमासि तया।

समृद्धि और धनसम्पत्ति प्राप्त करता है। क्योंकि दान से पुण्यवृद्धि होती है और पुण्यवृद्धि के फलस्वरूप सभी प्रकार के सासारिक सुखो की उपलब्धि होती है। बहुत से मनुष्य ससार मे धन, उत्तम आज्ञाकारी पुत्र, अच्छा परिवार, अच्छा घरबार, अच्छे ढग का व्यापार, या रोजगार, या अन्य सुसाधनो के लिए मारे-मारे फिरते हैं, रात-दिन तरसते रहते हैं, बहुत ही पुरुषार्थ करते हैं, ज्योतिर्विदो, मन्त्र-तन्त्र विशारदो चमत्कारियो, हस्तरेखाशास्त्रियो के दरवाजे खटखटाते हैं, धनिको या कलाकारो अथवा शासनाधिकारियो की चापलूसी करते रहते हैं, फिर भी उन्हें उपर्युक्त सासारिक सुख-सामग्री प्राप्त नही होती। और कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनके जरा-से प्रयास करने से लक्ष्मी की छनाछन हो जाती है, सुन्दर अनुकूल परिवार मिल जाता है, आज्ञाकारी विनयी सुपुत्र मिलते हैं, तथा अन्य सब सुख-सामग्री प्राप्त हो जाती है। इन दोनो के पीछे कौन-सा कारण है ? कारण हैं—दान न देना और मुक्तहस्त से दान देना। निष्कर्ष यह है कि दान ही एक ऐसा चामत्कारिक गुण है, जिसके प्रभाव से आकृष्ट होकर सभी सौख्यसामग्री मनुष्य के पास आ जाती है। रयणसार नामकग्रन्थ मे पात्रदान का फल बताते हुए कहा है—

—'माता, पिता, मित्र, पत्नी आदि कुटुम्ब परिवार का सुख तथा धन, धान्य, वस्त्र-अलकार, हाथी, रथ, मकान आदि से सम्बन्धित ससार का श्रेष्ठ सुख सुपात्र दान का फल है।[1]

पद्मनन्दिपचविंशतिका मे इसी बात का स्पष्टत समर्थन किया गया है—

—'सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, रूप, विवेक, बुद्धि आदि तथा विद्या, शरीर, धन, गृह, सुकुल मे जन्म होना, यह सब निश्चय से पात्रदान के द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्यजनो ! इस पात्रदान के विषय मे प्रयत्न क्यो नही करते ?[2]

दान के दिव्य प्रभाव से ही शालिभद्र ने दिव्य ऋद्धि एव विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। शालिभद्र का पूर्व जन्म का जीवन अत्यन्त दरिद्रता मे बीता। बचपन में ही पिता चल बसे। जो कुछ जमीन या अन्य साधन था, सब बाढ आदि प्रकोप में समाप्त हो गया। माता धन्ना ग्वालिन बालक सगम को लेकर राजगृह चली आई।

---

१ मादु-पिदु-मित्त कलत्त-धण-धण्ण-वत्थु-वाहण-विसय।
ससारसारसोक्ख जाणउ सुपत्तदाणफल ॥२०॥
सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुसील-सुगुणचारित्त।
सुहलेस सुहणाम सुहसाद सुपत्तदाणफल ॥२१॥

२ सौभाग्य-शौर्य-सुख-रूप-विवेकिताद्या,
विद्या-वपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिद किल पात्रदानात्,
तस्मात् किमत्र सतत क्रियते न यत्न ॥४४॥

सगम का पालन-पोषण राजगृह मे होने लगा। धन्ना आस पास मे धनिको के घर के काम, सफाई, चौका-बर्तन, आटा पीसना, आदि कार्य करके अपना और बेटे का निर्वाह कर लेती थी।

उस समय आजकल की तरह मजदूरी अधिक नही मिलती थी। मजदूरी बहुत ही कम थी। इसलिए मुश्किल से माँ-बेटे का गुजारा चल पाता था। कुछ बडा हो जाने पर तो सगम भी कुछ धनिको के गाय-बछडो को जगल मे चरा लाता था। फिर भी इतना अधिक पैसा नही मिल पाता था, जिससे कि कभी मिष्टान्न या खीर-पूडी आदि भी खा सके।

एक दिन कोई त्यौहार था। आस-पास के धनिको के हमजोली लडको के साथ सगम प्रतिदिन की तरह खेलने गया। धनिकपुत्रो ने सगम से कहा—'आज तो हमारे यहाँ खीर बनेगी। बहुत स्वादिष्ट लगेगी। क्यो सगम! तुम्हारी माँ आज क्या बनाएगी ?'

सगम ने खीर कभी देखी ही नही थी, खाना तो दूर रहा। अत उसने पूछा—'क्यो मित्र! खीर कैसे बनती है ? कैसी होती है ?'

बालको ने बताया कि खीर सफेद होती है, दूध और चावल को पकाकर बनाई जाती है, उसमे मीठा डाला जाता है, और ऊपर से किशमिश, बादाम, पिश्ता आदि मेवे डाले जाते हैं, बहुत ही मधुर और स्वादिष्ट होती है।'

सगम के मन मे खीर खाने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई। उसे क्या पता था कि खीर के लिए पैसो का प्रबन्ध कैसे होगा ? घर मे माँ के आते ही सगम ने कहा—'माँ! आज तो हम खीर खाएँगे। खीर बनादे। सबके घरो मे आज खीर बनेगी। हमारे यहाँ भी आज खीर ही बननी चाहिए।'

धन्ना एकदम सन्नाटे मे आ गई। सोचने लगी—'मेरी कमाई तो इतनी है नही, बेटा खीर माँगता है। बेचारे ने कभी खीर खाई नही और आज ही पहली बार मागी है। पर कहाँ से ला दूं! मजदूरी तो बहुत ही कम मिलती है, इतने मे तो हम दोनो का गुजारा भी मुश्किल से होता है। हाय! वे दिन कैसे अच्छे थे। इसके पिता के रहते हम गाँव मे रहते थे, वहाँ दूध-घी की कोई कमी नही थी घर मे। पर अब तो वे अच्छे दिन पलट गए। क्या करूँ, कहाँ खीर बना दूं ?' यो सोचकर धन्ना रोने लगी। सगम अपनी माँ को रोते देख उदास हो गया। पूछने लगा—'माँ! तू रोती क्यो है ?' धन्ना ने सगम को सक्षेप मे अपनी परिस्थिति समझाई और कहा कि 'फिर कभी खीर बनाएँगे, आज जाने दे।" पर सगम खीर के लिए मचल उठा। वह किसी भी तरह नही माना तो धन्ना यह कहकर चल दी कि अच्छा, मैं जाती हूँ, कही से मजदूरी करके खीर का सामान लाऊँगी।'

धन्ना की आँखो से आज सावन-भादो बरस रहा था। वह धनिको के यहाँ सबकी परिचित थी। सेठानियाँ उसकी आँखो मे आँसू देखकर पूछने लगी—'धन्ना!

आज क्या हो गया है, तुम्हे ! तुम्हारी आंखो मे आंसू क्यो ? तुम्हे किस बात की चिन्ता है ? माँ-बेटा दो ही प्राणी तो हो घर मे ? क्या किसी का वियोग हो गया है ?' धन्ना ने आंसू पोछते हुए कहा—'नही, सेठानिजी ! किसी का वियोग नही हुआ है। लेकिन आज सगम खीर खाने के लिए मचल उठा है। कहने लगा—'खीर ही खाऊँगा, आज तो !' बताओ, मैं मेहनत-मजदूरी करने वाली स्त्री खीर कहाँ से ला दूं ! गुजारा भी मुश्किल से चलता है।' 'इतनी-सी बात है ! इसमे क्यो तुम रो रही हो और क्यो अपने बच्चे को रुला रही हो ! ले जाओ खीर, हमारे यहाँ से। बच्चे को दे देना और तुम भी खाना।' सेठानियो ने सहानुभूति बताते हुए कहा। 'यो ले जाती, तब तो बात ही क्या थी ? मैं मुफ्त मे कोई चीज नही ले सकती। मेरे हाथ-पांव चलते हैं, तब तक हमे मुफ्त मे लेने का अधिकार भी नही है। हम गृहस्थ हैं, गृहस्थ आमतौर पर मुफ्त मे लेने का आदी नही होता। अगर मैं मुफ्त मे चीज ले लूंगी, तो मेरे बच्चे मे मुफ्त मे लेने की आदत पड जाएगी। मैं तो अपनी मेहनत से जो कुछ मिल जाय, उसी मे ही अपना निर्वाह कर सकती हूँ।'

सेठानियाँ—'अच्छा ! बनी-बनाई खीर नही लेती हो तो लो, हम तुम्हे चावल दूध और शक्कर आदि चीजें ला देती हैं। ये तो ले लो।'

धन्ना—'सेठानियो ! बिना मेहनत किये मैं किसी से कोई चीज मुफ्त मे नही ले सकती।'

सेठानियो ने कहा—'तो चलो, हम तुमसे घर का कोई काम करवा लेती हैं, उसके बदले मे तुम्हे चावल, दूध व शक्कर आदि चीजें दे देती हैं। फिर तो तुम खीर बनाओगी न अपने लाल के लिए।'

धन्ना ने सेठानियो की बात मजूर कर ली और खीर बनाने का सामान लेकर घर पहुँची। घर पर सगम ने देखा कि माँ खीर का सामान लेकर आई है तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। धन्ना ने हडिया मे दूध गर्म करने को रखा और उसमे चावल एव मीठा डालकर जाने लगी। जाते-जाते वह सगम से कह गई—मै घरो मे काम करके लगभग एक घण्टे मे आ जाऊँगी। जब खीर पक जाय तो हडिया नीचे उतार लेना और थाली मे ठडी करके खा लेना। अच्छा, कर लेगा न ?' सगम ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया। और मा के चले जाने के बाद खीर की हडिया के पास बैठ गया। खीर जब पक गई तो हडिया नीचे उतार थाली मे खीर परोस ली।

सगम अब खीर ठडी होने की प्रतीक्षा मे था, इतने मे ही मासिक उपवासी एक मुनि भिक्षा के लिए जा रहे थे। सगम ने मुनि को देखा तो उसके मन मे विचार आया कि ऐसे मुनियो को मैं सेठो के यहाँ अकसर देखा करता हूँ, ये भिक्षा पर ही गुजारा करते हैं। तो आज मेरे यहाँ खीर बनी है, मै तो खा लूंगा, इनके पात्र मे पडेगी तो अच्छा है। वह उठकर अपनी कोठरी से बाहर निकला और मुनिवर को वन्दन-नमस्कार करके प्रार्थना की—'मुनिवर ! पधारो, मेरा घर पावन करो। मै

आपको भिक्षा दूंगा।' मुनि ने सगम की भावना देखकर घर मे प्रवेश किया और आहार के लिए पात्र रखा। सगम मे बहुत ही उत्कट भाव से मुनिराज के रोकते-रोकते सारी की सारी खीर उनके पात्र मे उडेल दी। आज सगम को मुनिराज को देने का बड़ा हर्ष था। बाद मे थाली मे जो खीर लगी बची थी, उसे वह चाटने लगा। उसको एक तरह से मानसिक तृप्ति थी। इतने मे मा आई, बेटे को थाली चाटते देखकर वह समझी, बहुत भूख लगी होगी, इसलिए सारी खीर खा गया होगा। माता को कोई चिन्ता न थी, खुद को खीर न मिलने की। परन्तु सयोगवश उसी रात को सगम के उदर मे अतिशय पीडा हुई और उसी मे ही उसका शरीर छूट गया। अन्तिम समय मे सगम की भावना बहुत अच्छी थी। इसलिए मरकर वह राजगृह नगर के अत्यन्त धनिक सेठ गोभद्र के यहाँ जन्मा। शालिभद्र नाम रखा गया। बहुत ही सुन्दर ढग से उसका लालन-पालन हुआ। युवावस्था आते ही ३२ रूपवती कुलीन घर की कन्याओ के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। इसी बीच गोभद्र सेठ का स्वर्गवास हो चुका था। इसलिए शालिभद्र पर घर का सारा भार आ चुका था। परन्तु शालिभद्र इतना पुण्यशाली और सुख-सम्पन्न था कि घर का सारा कार्य माता भद्रा ही चलाती थी।

शालिभद्र को जो ऋद्धि, समृद्धि तथा सुख-सामग्री मिली वह सुपात्रदान का ही प्रभाव था।

किन्तु सुख-सामग्री मिलने के साथ यदि धर्म-बुद्धि ना मिले तो वह जीव उस पौद्गलिक सुख मे फँस जाता है। शालिभद्र को सुख-सामग्री के साथ तथा स्वर्गीय सम्पत्ति के साथ-साथ एक दिन धर्मबुद्धि पैदा हुई और तभी शालिभद्र ने चढती जवानी मे सारी सुख-सामग्री एव पत्नियो को छोडकर मुनि दीक्षा अगीकार कर ली।

यह था दान का चमत्कार जिसने सगम को दरिद्रावस्था मे से उठाकर शालिभद्र के रूप मे विपुल ऋद्धि एव सुख-सामग्री से सम्पन्न बना दिया।

इसी प्रकार कयवन्ना सेठ को भी दान के प्रभाव से जहाँ भी जाता, सभी शुभ सयोग मिल जाते।

प्राचीन जैन कथा साहित्य को पढने वाले और सुनने वाले जानते हैं कि दान के अचिन्त्य प्रभाव से अगणित आत्माओ ने सुख-सौभाग्य-समृद्धि-यश और आनन्द प्राप्त किया। विक्रम चरित्र मे बताया गया है कि पृथ्वी को ऋणमुक्त करने वाले राजा विक्रमादित्य को स्वर्ण पुरुष की प्राप्ति हुई, जिसके बल पर कभी भी उसका खजाना खाली नही हुआ। उस स्वर्णपुरुष की प्राप्ति का कारण पूर्वभवो मे दिया गया पात्र दान ही बताया गया है।[1]

दानी के हाथ का स्पर्श मिट्टी सोना बन गई

जैन स्थापत्य कला को उच्च शिखर पर पहुँचाने वाले प्रसिद्ध जैन श्रावक

---

१ देखिए 'जैन कथाएँ' भाग २२ कथानक ८, पृष्ठ ४६

वस्तुपाल-तेजपाल गुजरात के राजा के महामन्त्री थे। दोनों भाई बड़े दानवीर, संघ-सेवक एव दु खियो के हमदर्द थे। इनके विषय मे कहा जाता है कि उन्हें दान के प्रभाव से ऐसा वरदान प्राप्त था कि जहाँ कही ठोकर मारते वही खजाना निकल आता।

इसी प्रकार मुर्शिदाबाद के जगत् सेठ भी बड़े दानपरायण थे। उनके विषय मे भी किंवदन्ती है कि वे जहाँ कही हाथ डालते, वही स्वर्णराशि पा लेते थे। एक बार वे नौका से नदी पार कर रहे थे, तभी किसी ने उनसे धन माँगा। उन्होंने पानी मे हाथ फैलाकर मुट्ठी भरी कि जलधारा स्वर्णराशि बन गई। सम्भव है, इस कथन मे अतिशयोक्ति हो, परन्तु इतना जरूर है कि वे जिस क्षेत्र मे हाथ डालते, उसी में वारे-न्यारे हो जाते थे। यह दान की महत्ता थी, जो जगत्सेठ को इस प्रकार की समृद्धि का वरदान मिला।

इन सबको देखते हुए नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि दान से सम्पत्ति बढती है सुख-सामग्री दान के बदले मे कई गुना अधिक प्राप्त होती है, दान देने वाला घाटे मे नही, नफे मे रहता है। बहुत-से लोग भ्रान्तिवश यह सोचा करते हैं कि दान दूँगा तो कगाल हो जाऊँगा। वास्तव मे दान से कगाली नही, खुशहाली बढती है। कई दफा तो दान का चमत्कार यही का यही प्रत्यक्ष नजर आ जाता है, कई दफा परलोक मे प्राप्त होता है।

दान का हजार गुना फल

आकाश से पूर्णिमा का चन्द्रमा गरीब-अमीर के भेदभाव के बिना सर्वत्र चाँदनी छिटका रहा था। गरीबो के मोहल्ले मे कुछ दु खी गरीब इकट्ठे होकर चर्चा कर रहे थे। चर्चा का विषय था—इस नगर मे सर्वश्रेष्ठ दाता कौन है? एक ने कहा—"अमुक सेठ दानियो का अवतार है। उसके यहाँ से कोई भी खाली हाथ नहीं लौटता। भोजन करने वाले थक जायें, पर इसके हाथ खिलाते हुए नही थकते।' दूसरे ने कहा—'अमुक सेठ का तो कहना ही क्या? वह तो राजा कर्ण का अवतार है। देने लगता है, तब जेब मे हाथ डालने पर मुट्ठी मे जो भी आए नि सकोच दे देता है। धन्य है, इसके माता-पिता को।

तीसरा बोला—'ये सब कर्ण के अवतार हैं सही, पर अपने गाँव मे धर्मवीर सेठ हठीभाई तो पारसमणि हैं। इन्हें कोई लोहा स्पर्श कराए तो, उसका सोना बन जाता है। ऐसे ये औढरदानी हैं। इनके एक बार के दान मे बन्दे का बेडा पार हो गया। कलियुग मे ऐसे दाता न हुए, न होगे।'

दरिद्रो की इस बस्ती मे रहने वाली सतारा नाम की बुढिया के कान मे ये अन्तिम वाक्य पड़े। उसका इकलौता लडका इलाज के अभाव मे रुग्णशय्या पर पड़ा तडफ रहा था। पास मे पैसा था नही कि इलाज करा सके। बुढिया स्वय उसी पुत्र की आशा से जी रही थी। यो तो कही जाने की शक्ति बुढिया के शरीर मे नही रही

थी, लेकिन इन वाक्यो को सुनते ही बुढिया के दिल मे आशा का सचार हुआ। उसने सारी शक्ति बटोर कर हाथ मे लठिया ली और दूसरे हाथ मे लोहे का टुकडा लेकर हाँफनी, श्वास लेती, धीरे-धीरे हठीभाई सेठ की हवेली पर पहुँची। विचारमग्न सेठ के दाहिने पैर से ज्योही वह लोहे का टुकडा छुआने गई, त्यो ही सेठ एकदम चौक उठे। बुटिया की यह विचित्र चेष्टा देखकर सेठ ने जरा गर्म होकर पूछा—'बुढिया माँ जी! यह क्या कर रही हो ?'

बुढिया बोली—"मैंने सुना है कि आप पारसमणि है। आपके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। माफ करना, खुदा के वास्ते, मैं गरीब अभागिनी हूँ। जरूरतमद हूँ। मुझमे अक्ल नही है। इसी से आपके दरवाजे पर आई हूँ, लोहे का सोना बनाने के लिए। मेरा गुनाह माफ करना।"

सेठ ने बुढिया पर एक शान्त दृष्टि डाली—निखालिस चेहरा, पीडा से भरी आँखें, मुख पर से झरता वात्सल्य! यह सब देखते ही सेठ का हृदय करुणार्द्र हो गया। सेठ ने बुढिया से वह लोहे का टुकडा ले लिया और कहा—'माँजी! जाओ, उस पट्टे पर बैठ जाओ।' किन्तु बुढिया का साहस न हुआ। वह शान्त खडी-खडी तमाशा देखती रही। मन मे अन्तर्द्वन्द्व चलने लगा। सेठ ने मुनीम को बुलाकर, वह लोहे का टुकडा तुलवाया तो पूरे २५ तोले का निकला। सेठ विचार मे पडा—'मेघ आकाश में न हो तो वर्षा नहीं होती, पर नदी के सूख जाने पर भी तृपातुर को वहाँ गड्ढा खोदने पर थोडा-सा पानी मिल ही जाता है। चाहे मेरी स्थिति आज तग है, फिर भी मुझे इसे अल्प मे से अल्प देना ही चाहिए। कहा भी है—

चीडी चोंच भर ले गई, नदी न घटियो नीर।

यह बेचारी तृपातुर है। यद्यपि मेरी स्थिति आज तग है, तथापि यह बुढिया मेरे यहाँ से खाली हाथ लौटे यह मेरे लिए शोभास्पद नही है। इससे तो धर्मी और धर्म दोनो बदनाम होगे।' अत सेठ ने मुनीम से कहा—'इस लोहे के बदले उस बुढिया को २५ तोला सोना तौल दो।' सेठ के कहने की देर थी, बुढिया का काम झटपट हो गया।

सोने का टुकडा लेकर घर की ओर जाती हुई सतारा बुढिया की आँखो मे हर्षाश्रु बह रहे थे। वह बुढिया मन ही मन आशीर्वाद दे रही थी—'अल्लाह इन्हे बरकत दे! लोग कहते हैं, उसमे जरा भी अतिशयोक्ति नही है। सचमुच सेठ पारस-मणि हैं।'

कहते हैं, इस घटना के बाद कुछ ही महीनो मे सेठ की सम्पत्ति का सूरज फिर से लाख-लाख किरणो से जगमगा उठा।

कई बार दान के प्रति अश्रद्धा हो जाने के कारण व्यक्ति सोचता है—पता नही, यह दान निष्फल चला गया तो! बदले मे कुछ भी न मिला तो! यश और प्रतिष्ठा भी न मिली तो! इस प्रकार से विचार करने वाले सशय मे पडकर दान

नही दे पाते, परन्तु दान देने मे साहसी, आत्मविश्वासी और उदार व्यक्ति जहाँ भी दयनीय करुणा पात्रो को देखता है, मुक्तहस्त से आगा-पीछा सोचे बिना दान देकर सकट से उन्हे उबार देता है।

दोब्रीवे के पिता ने जब उसे विदेश जाकर धनोपार्जन करने को कहा तो वह प्रसन्नतापूर्वक अपने जहाज मे माल लादकर रवाना हुआ। रास्ते मे एक तुर्की जहाज मिला, जिसमे से यात्रियो का करुण क्रन्दन सुनाई दे रहा था, दयालु दोब्रीवे से रहा न गया। उसने चिल्लाकर कप्तान से पूछा—'भाई ! तुम्हारे जहाज मे लोग रो क्यो रहे हैं ? क्या वे भूखे हैं या बीमार हैं ? तुर्की कप्तान बोला—'नही, ये तो कैदी हैं। इन्हे हम गुलाम बनाकर बेचने को ले जा रहे हैं।' 'तो ठहरो हम आपस मे सौदा कर लें'—दोब्रीवे ने कहा। तुर्की कप्तान ने पास जाकर देखा तो पता चला कि दोब्रीवे व्यापार के लिए कही जा रहा है और उसका जहाज माल से लदा है। फलत वह अपना जहाज बदलने को तैयार हो गया। इस प्रकार उसने अपने जहाज का माल दान देकर बदले मे गुलामो को छुडाया।

दोब्रीवे तुर्की जहाज लेकर आगे चल पडा। कुछ दूर जाने पर उसने तुर्की कैदियो से अपने पते-ठिकाने पूछे और जो जिस देश का था, उसे वही पहुँचा दिया। इसी प्रयत्न मे एक सुन्दर कन्या और उसी के साथ रहने वाली एक बुढिया को ठिकाने नही पहुँचाया जा सका। उनका घर बहुत दूर था, तथा उस देश का रास्ता भी मालूम न था। कन्या ने कहा—मैं रूस के जार की पुत्री हूँ और यह बुढिया मेरी दासी है। मेरा घर लौट पाना कठिन है। इसलिए मैं विदेश मे ही रहकर अपनी रोजी कमाना चाहती हूँ।' दोब्रीवे सुन्दर और बुद्धिमान् था, साथ ही परोपकारी एव दानशील भी। अत. कन्या ने उसके गुणो पर मुग्ध होकर दोब्रीवे को मनाकर उसके साथ विवाह कर लिया। दोनो का जीवन आनन्दमय हो गया।

इधर उसके पिताजी बन्दरगाह पर उससे मिलने की प्रतीक्षा मे थे। ज्यो ही जहाज बन्दरगाह पर आया, दोब्रीवे ने अपने पिताजी को प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक कहा—'पिताजी ! मैंने आपके धन का सदुपयोग हजारो दुखियो को सुखी बनाने मे किया है और साथ मे एक सुन्दर दुलहिन भी लाया हूँ, जिसके आगे हजारो जहाजो की कीमत भी कुछ नही।' इस पर उसके पिता बहुत बिगडे और दोब्रीवे को भला-बुरा कहा।

कुछ दिनो बाद यह समझकर कि मेरा बेटा अब ऐसी भूल न करने की समझदारी पा गया होगा, पिता ने दूसरी बार माल से जहाज लदवाकर उसे व्यापार करने भेज दिया। दोब्रीवे जब अपने जहाज पर बैठकर दूसरे बन्दरगाह पर पहुँचा तो उसने देखा कि सिपाही लोग कुछ गरीबो को जबरन पकडकर कैद कर रहे हैं, और उनके बाल-बच्चे बिछुडते देखकर बिलख-बिलख कर रो रहे हैं—दोब्रीवे से यह करुण दृश्य देखकर न रहा गया। पूछताछ करने पर पता चला कि उन पर राज्य की ओर

से लगाये हुए टैक्स को न चुका सकने के अपराध मे उन्हे कैद किया जा रहा है, दोव्रीवे ने अपने जहाज का सारा माल बेच कर उन लोगो का टैक्स अपनी ओर से चुका दिया। इस अद्‌भुत दान से सभी कैदी बन्धन से छूट कर अपने-अपने घर चले गये और आनन्द से रहने लगे।

इधर घर लौटकर दोव्रीवे ने अपने पिताजी को सारा वृत्तान्त सुनाया तो वे बहुत नाराज हुए और उन्होने उसकी पत्नी और बुढिया के सहित उसे घर से निकाल दिया। किन्तु पडौसियो के समझाने पर फिर उन्हे घर मे स्थान दे दिया। कुछ महीनो बाद पिताजी ने उसे तीसरी बार व्यापार के लिए भेजते हुए कडी चेतावनी दी कि यदि पहली दो यात्राओं मे की गई मूर्खता की तरह फिर मूर्खता की तो मैं तुम तीनो को खाना न दूंगा, तुम्हे भूखे मरना होगा। व्यापार के लिए मैं तुम्हे तीसरी बार आखिरी मौका दे रहा हू।'

दोव्रीवे इस बार जहाज पर सवार होकर जिस बन्दरगाह पर उतरा, वहाँ उसे दो पुरुष बादशाही पोशाक पहने हुए दिखाई दिये। उनमे से एक ने कहा—'आपके हाथ की उगली मे जो अगूठी है, वह जानी-पहचानी मालूम होती है। मेरी लडकी भी ठीक ऐसी ही अगूठी पहना करती थी। आपको यह अगूठी कहाँ और कैसे मिली ? बताइए।

दोव्रीवे के मुँह से सारा वृत्तान्त सुनने पर बादशाह को विश्वास हो गया कि निश्चय ही यह राजकन्या का पति है। अत प्रसन्न होकर बादशाह ने कहा—'मैं रूस का बादशाह जार आपका ससुर हूँ। अपने परिवार को लेकर आप रूस चले आइए। मैं आपको आधा राज्य सौंप दूंगा। आपके साथ मैं अपने मन्त्री को भेजता हूँ, जो आपको मेरे देश (रूस) का मार्ग बता देगा।' यह कहकर बादशाह रूस की ओर तथा मन्त्री और दोव्रीवे घर की ओर रवाना हुए।

इस बार उसके पिताजी ने सारी बातें सुन कर उसे किसी प्रकार की डाट-फटकार नही बताई, बल्कि सारे परिवार सहित प्रसन्नतापूर्वक रूस जाने के लिए जहाज मे जा बैठे। जहाज रवाना हो गया। मन्त्री को दोव्रीवे के भाग्य से ईर्ष्या होने लगी। इसलिए दोव्रीवे को बीच समुद्र मे ही धकेल दिया। जहाज तीव्रगति से आगे बढा जा रहा था। दोव्रीवे किनारे पहुँचने के लिए पूरी शक्ति से हाथ-पैर हिला रहा था। सौभाग्य से एक समुद्री हिलोरे ने उसे ठेठ किनारे पर ला पटका। वहाँ एक चट्टान पर बैठकर उसने विश्राम किया। तीन दिन जगल के कैसे भी निकाले। चौथे दिन एक मछुआ अपनी नौका लिए वहाँ निकला। दोव्रीवे का सारा वृत्तान्त सुनकर मछुए ने कहा—'मैं आपको अपनी नौका मे बिठाकर रूस तक पहुँचा सकता हूँ, बशर्ते कि रूस मे आपको मिलने वाली सम्पत्ति मे से आधा हिस्सा देना मजूर करें।' दोव्रीवे ने उसकी शर्त मजूर करली और उस नौका मे बैठ कर वह रूस के बन्दरगाह पर आ पहुँचा। वहाँ से वह सीधा राजमहल मे पहुँच कर बादशाह जार से मिला। उसे

सकुशल आया देख जार की प्रसन्नता का पार न रहा। दोग्रीवे ने अपना वृत्तान्त ज्यो का त्यो सुनाकर प्रार्थना की कि मन्त्री के अपराध को क्षमा कर दिया जाय।' उसकी इस उदारता से बादशाह इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने अपना सारा राज्य दोग्रीवे को सौंप दिया, और स्वय विरक्त होकर प्रभुभक्ति मे लग गया। जिस दिन दोग्रीवे के सिर पर मुकुट रखा गया, उसी दिन वह बूढा मछुआ सामने आकर खडा हुआ और अपने साथ हुए वादे की याद दिलाई। दोग्रीवे ने उसका स्वागत करते हुए कहा—'आइए महाशय! मुझे अपना वचन भलीभाति याद है। राज्य का नकशा देखकर हम आधा-आधा आपस में बाट लें और इसके बाद चलकर खजाना भी बाट लें।' यह सुनते ही बूढे की बाछें खिल गईं। उसने दोग्रीवे की पीठ ठोकते हुए कहा—"शाबाश बेटे! अपने जीवन मे इसी प्रकार दयालु, दानी और वचन के पक्के बने रहो। मैंने पहिचान लिया कि तुम मानव के आकार मे सच्चे देव हो, धर्मात्मा हो। यह जीवन परोपकार के लिए ही है।" यो कहकर बिना कुछ लिए ही वह बूढा चला गया। दोग्रीवे आनन्दपूर्वक राज्य करने लगा, किन्तु अपनी दानवृत्ति उसने चालू रखी।

वास्तव मे दान देने वाले को हजारो गुना अधिक मिलता है। दान देने से सम्पत्ति बढती ही है घटती नही। दान का यह प्रतिफल उसी को मिलता है, जो नि स्वार्थभाव से दान करता है। कभी-कभी तो दान का ऐसा चमत्कार दिखाई देता है कि जो वस्तु दान दे दी गई है, देने के बाद उनकी गिनती करने पर सख्या मे उतनी की उतनी ही मिलती है।

दान का चमत्कार

सायला (सौराष्ट्र) मे एक लाला भक्त बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। वि० स० १८५६ मे लाला भक्त का जन्म सीधावदर मे हुआ। जब लालाभक्त ७ साल का बालक था, तभी एक दिन उसके पिताजी उसे दूकान पर बिठाकर कही बाहर चले गए। इसी दौरान १५ सन्यासियो को ठड से कापते हुए लाला भक्त ने देखे। लाला सस्कारी जीव था। उसे सन्यासियों को शर्दी से ठिठुरते देखकर दया आई तुरन्त उसने १५ गर्म कबल दूकान से निकालकर प्रत्येक साधु को एक-एक कबल दे दिया। साधु वे कबल लेकर चल दिये। लाला ने सोचा—'पिताजी आएँगे, वे कबलें न देखकर क्या कहेंगे? ज्यादा से ज्यादा वे मुझे पीटेंगे। भले ही पीटलें। मैं मार सहन कर लूंगा।' यो सोचकर लाला भक्त बाहर चला गया। पीछे से पिताजी दूकान पर आए। पडौसी दूकानदारो ने लाला के पिताजी से कहा—'आज तो आपके लाला ने खूब व्यापार किया है, जरा कबल निकालकर गिनो तो सही।' यह सुनकर उन्होंने कबलें गिनीं तो पूरी थी, एक भी कम न थी। प्रत्यक्षदर्शी पडौसियो को इस पर बडा आश्चर्य हुआ। उन्होने कहा—'हम आपसे झूठी बात नही कहते। हमने लाला को १५ कबलें साधुओ को देते देखा है। हमारे साथ चलो, हम तुम्हे प्रत्यक्ष बता देंगे।'

यह कह कर एक पडौसी दूकानदार लाला के पिता को उसी मार्ग से ले गया, जिधर वे साधु-सन्यासी गये थे। वहाँ जाकर देखा तो उन साधुओ के पास वे कबलें थी। इससे पिता को लाला की सस्कारिता और प्रभुभक्ति पर विश्वास हो गया। लाला भक्त अपने पिताजी से कोई बात गुप्त नही रखते थे। सत्यवादी और परमभक्त लाला के दान के और भी चमत्कार लोगो ने देखे।

सच है, दान दिया हुआ खाली नही जाता और प्राय दान देने से द्रव्य घटता भी नही है। दान के लौकिक और लोकोत्तर लाभ के अतिरिक्त इहलौकिक और पारलौकिक लाभ भी कम नही है। दान दाता को अनेको लौकिक (इहलोक मे और परलोक मे) लाभ प्राप्त होते हैं।

एक बार सिंह सेनापति ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया—'भते! दान से प्राणी को क्या लाभ होता है?' इस पर तथागत बुद्ध ने कहा—'आयुष्मन्! दान से ४ लौकिक लाभ हैं'[1]—

(१) दाता लोकप्रिय होता है, (२) सत्पुरुषो का ससर्ग प्राप्त होता है, (३) कल्याणकारी कीर्ति प्राप्त होती है। और (४) किसी भी सभा मे वह विज्ञ की तरह जा सकता है और पारलौकिक लाभ यह है कि परलोक मे वह स्वर्ग मे जाता है, वहाँ भी दान के प्रभाव से ऋद्धि और वैभव पाता है। यह अदृष्ट लाभ हैं।

पिछले पृष्ठो मे दान से पारिवारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक धार्मिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे क्या क्या लाभ होते हैं? इसकी विस्तृत चर्चा कर आए हैं। सक्षेप मे, दान कामधेनु है, कल्पतरु है और अमृतफल है, जो भी व्यक्ति दान का सक्रिय आचरण, आसेवन और साक्षात्कार करता है उसे अपने जीवन मे किसी प्रकार की कमी नही रहती, दान से सब प्रकार की पूर्ति हो जाती है। ☆

---

१ अगुत्तर निकाय ५/३४-३६

8
दान : धर्म का प्रवेश द्वार

दान धर्म का प्रवेश द्वार है। कोई व्यक्ति किसी भवन मे द्वार से ही प्रवेश कर सकता है, इसीप्रकार धर्म रूपी भव्य भवन का प्रवेश द्वार दान है। क्योकि जब तक हृदय शुद्ध नही हो जाता, तब तक उसमे धर्म ठहर नही सकता[1] और हृदय शुद्धि उसी की होती है, जिसमे सरलता हो, नम्रता हो, मृदुता हो। ये तीन गुण हृदय शुद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक हैं। परन्तु इन तीनो गुणो का उद्गम दान से ही होता है।

किसान बीज बोने से पहले खेत को रेशम की तरह मुलायम करता है, उसके पश्चात् उसमे बीज बोता है। हृदय रूपी खेत को भी दान से मुलायम किया जाता है। दान जीवन की एक अद्भुत कला है, जिसे सक्रिय करने से पहले दीन-दुखियो, गरीबो, अपाहिजो, असहायो या पीडितो के प्रति अनुकम्पा, दया और करुणा के कारण हृदय नम्र बन जाता है, दानपात्रो के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता के कारण हृदय मृदु और सरल बन जाता है। दान देने वाले मे जब अहकार नही रहता, एहसान करने की बुद्धि नही रहती, तभी दान सच्चा दान होता है। इसलिए दान से हृदय-रूपी खेत को मुलायम बनाकर ही व्रत या धर्म रूपी बीज बोया जा सकता है।

इस्लामधर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब ने कहा था—'प्रार्थना साधक को ईश्वर के मार्ग पर आधी दूर तक पहुँचाएगी, उपवास महल के द्वार तक पहुँचाएगा और दान महल मे प्रवेश कराएगा।'

इसलिए दान धर्मरूपी भव्यभवन मे प्रवेश करने के लिए प्रथम द्वार है क्योकि दान से हृदय कोमल होकर जीवन शुद्धि होती है और शुद्ध जीवन मे ही धर्म टिक सकता है। शुद्ध जीवन का प्रारम्भ दान से ही होता है, इसलिए दान को धर्म का प्रवेशद्वार करने मे कोई अत्युक्ति नही।

'केकय देश की श्वेताम्बिका नगरी का राजा प्रदेशी अत्यन्त क्रूर और नास्तिक बना हुआ था। वह स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा और धर्मकर्म को बिलकुल नहीं

---

१ सोही उज्जूयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।—उत्तराध्ययन

मानता था। इन सबको वह धर्म का ढकोसला समझता था। उसके हाथ सदा खून से रगे रहते थे। धर्म क्या है ? यह कभी जानने का उसने प्रयत्न ही नही किया। वह इतना कठोर और निर्दय था कि प्रजा उससे सदा भयभीत रहती थी। दूसरो को दु ख देना, उसके लिए मनोविनोद था। शरीर से अतिरिक्त कोई आत्मा नही है, यह उसका दृष्टिकोण था। अभी तक कोई समर्थ पुरुष उसे नही मिला था, जो उसके दृष्टिकोण को वदल सके। प्रजाजन प्रदेशी राजा को साक्षात् यमराज समझते थे।

श्रावस्ती नृप जितशत्रु प्रदेशी नृप का अभिन्न मित्र था। एक बार प्रदेशी ने अपने अभिन्न मित्र श्रावस्ती नृप को एक सुन्दर उपहार देने के लिए अपने विश्वस्त एव बुद्धिमान् मन्त्री चित्तसारथी को भेजा, साथ ही वहाँ की राजनैतिक गतिविधि का अध्ययन करने भी। उस समय श्रावस्ती मे भगवान पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा के समर्थ आचार्य केशीश्रमण पधारे हुए थे। चित्त ने उनकी कल्याणमयी वाणी का लाभ उठाया। चित्त को केशीश्रमण मुनि का प्रवचन सुनकर बहुत आनन्द आया, मानो उसे खोया हुआ धन मिल गया। उसने केशीश्रमण से श्रावक के बारह व्रत अगीकार किये।

लौटते समय चित्त ने केशी श्रमण से श्वेताम्बिका पधारने की प्रार्थना की। किन्तु केशी श्रमण प्रदेशी नृप की क्रूरता तथा अधर्मशीलता से भलीभाति परिचित थे। उन्हे अपना भय न था, किन्तु धर्म और सघ की अवज्ञा न हो, इसकी उन्हे गहरी चिन्ता थी। इसलिये वे मौन रहे। चित्त ने दुबारा प्रार्थना की, फिर भी मौन रहे। तीसरी बार भी जब वे प्रार्थना के उत्तर मे मौन रहे तो चित्तसारथी विनम्र एव सतेज स्वर मे बोला—"भते ! आप किसी प्रकार का विचार न करें, श्वेताम्बिका अवश्य ही पधारें। आपके वहाँ पधारने से राजा, प्रजा तथा सभी को बहुत बडा लाभ होगा। धर्म की महती सेवा होगी।" केशीश्रमण विहार करते-करते श्वेताम्बिका पधार गये। और नगरी के उत्तर-पूर्व कोण मे जो सुरभित व सुरम्य उपवन—मृगवन था, उसी मे वे विराजमान हुए। प्रजाजन उनकी अमृत वाणी का लाभ उठाने लगे। उनकी प्रवचन शैली बहुत ही आकर्षक थी।

एक दिन चित्तसारथी अवसर देखकर प्रदेशी नृप को अश्व परीक्षा के बहाने मृगवन की ओर ले आया। शान्त होकर चित्त और प्रदेशी नृप मृगवन मे चले गये। वहाँ केशीश्रमण जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। राजा ने घृणादृष्टि से एक बार केशीश्रमण की ओर देखा। परन्तु केशीश्रमण सामान्य सन्त नही थे। वे चार ज्ञान के धनी और देश-काल के ज्ञाता थे। केशीश्रमण के सयम और तप के अद्भुत तेज व प्रभाव से तथा चित्त की प्रेरणा से वह केशीश्रमण के चरणो मे पहुँच गया। उनकी धर्मदेशना सुनकर राजा प्रभावित हुआ। उसने केशीश्रमण से ६ प्रश्न किये, जिनका तर्कपूर्ण और युक्तिसगत समाधान पाकर वह प्रसन्न हो गया। उसके जीवन मे आज यह चमत्कार था। उसकी चिरसचित शकाओ का आज मौलिक समाधान हो चुका।

जीवन की दिशा बदल गई। उसने श्रावक धर्म अगीकार किया। और केशीश्रमण को नमस्कार करके प्रस्थान करते समय उसने उनके समक्ष अपनी राज्यश्री के चार विभाग करने का सकल्प किया। उन चार विभागो मे से एक विभाग से[1] विराट् दानशाला खोली, जहाँ पर जो भी श्रमण, माहण, भिक्षु, पथिक आदि आते उन्हे वह सहर्ष दान करने लगा।

इससे यह प्रतिफलित होता है कि प्रदेशी राजा अमगल से मगल, क्रूरता से कोमलता और अधर्म मे धर्म की ओर मुडा, इसमे उसकी दानशील वृत्ति भी परम कारण बनी। प्रदेशी की दानशाला से कई लोग लाभ उठाते थे, अब उसे लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे थे।

इस प्रकार प्रदेशी राजा के लिए दान धर्म का प्रवेश द्वार बन गया।

एक और दृष्टि से देखें तो भी दान धर्म का प्रवेश द्वार बनता है। धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। बुरी वृत्तियो, दुर्व्यसनो या बुराइयो को छोडे बिना आत्मशुद्धि नही हो सकती। इसलिये बुरी वृत्तियो या बुराइयो का दान कर देना, उनके त्याग का सकल्प कर देना भी धर्मरूपी प्रासाद मे प्रवेश करने का द्वार बन जाता है। जिस आत्मा की शुद्धि होती है, वही धर्म मार्ग पर चल सकती है। इसलिए धर्म मार्ग पर चलने के लिए बुराइयो या दुर्व्यसनो का दान (त्याग) कर देना भी धर्म मे प्रवेश करने का कारण है।

विदेश मे एक मजदूर की शराब पीने की आदत थी। जब उसने एक स्त्री के साथ विवाह किया तो लग्न के एक दिन पहले उसने एक कागज पर मदिरा-पान कभी न करने की प्रतिज्ञा लिखी और उस प्रतिज्ञापत्र को सुन्दर फ्रेमयुक्त शीशे मे मढवाकर अपनी पत्नी को भेंट के रूप मे दान दे दिया। ऐसे मदिरा त्याग के दान से बढ़कर भेंट कौन-सी हो सकती है? यह व्यसन त्याग का दान भी धर्म-प्रवेश का कारण बना।

जीवन मे ऐसे अद्भुत दान—जो किसी दुर्व्यसन या बुराई के त्याग से सम्बन्धित होते हैं, आत्मशुद्धि के कारण होने से मानव को धर्मप्रवेश के योग्य बना देते हैं।

दान धर्म का शिलान्यास

दान को धर्म का शिलान्यास कह सकते हैं। इस शिलान्यास पर ही धर्म का सुहावना प्रासाद निर्मित हो सकता है जो व्यक्ति जीवन मे धर्म की आराधना-साधना करना चाहते हैं, उन्हे सर्वप्रथम दान को अपनाना आवश्यक होता है। दान धर्म की

---

१ " एगेण भागेण महई महालय कूडागार साल करिस्सामि, तत्थण बहूहिं पुरिसेहिं दिन्नभईभत्त वेयणेहिं विठल असण ४ उवक्खडावेत्ता बहूण समण-माहण-भिक्खूयाण पथिम-पहियाण पडिलाभेमाणे " —रायप्पसेणिय सुत्त

नीव रखता है। धर्म की बुनियाद पर जो प्रवृत्ति होती है, वह पापकर्म का बन्ध करने वाली नही होती, धर्म की आधारशिला दान के द्वारा ही रखी जा सकती है। जब जीवन मे दान की भावना आती है तो वह करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति आत्मीयता आदि के रूप मे अहिंसा की भावना को लेकर आती है, दान करते समय अपनी वस्तु का त्याग करके अपने आप पर सयम करना पडता है और कई बार दानी को अपनी इच्छाओ का निरोध, अपनी सुख-सुविधाओ का त्याग एव कष्ट सहन करना पडता है, यह सब तप के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार अहिंसा, सयम और तपरूप धर्म का शिलान्यास दान के द्वारा अनायास ही हो जाता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे दान को द्रव्य और भाव से स्पष्ट रूप से अहिंसा माना गया है—

—"अतिथि सविभागव्रत (दान) मे परजीवो का दु ख, पीडा, चिन्ता आदि दूर करने के कारण द्रव्य-अहिंसा तो प्रत्यक्ष है ही, रही भाव-अहिंसा, वह भी लोभ-कषाय के त्याग की अपेक्षा से समझनी चाहिए।"[1]

अत दान मे अहिंसा, सयम और तप का समावेश होने के कारण भी दान धर्म की आधारशिला बन जाता है।

इग्लैंड के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने एक सदय, सहृदय सज्जन के रूप मे काफी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उन्हे वैद्यकशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। बहुत-से रोगी उनके घर पर इलाज कराने के लिए आते थे। वे वैद्यक का धन्धा कमाई की दृष्टि से नही, मानव सेवा की दृष्टि से करते थे। एक बार एक गरीब महिला का पति बीमार हुआ। काफी इलाज कराने पर भी कोई लाभ न हुआ। आखिर किसी ने उसे महाकवि गोल्डस्मिथ से इलाज कराने की राय दी। वह महिला पूछती-पूछती महाकवि के यहाँ पहुँची और बोली—'मेरे पतिदेव कई महीनो से बीमार हैं। बहुत दवाइयाँ दी जा चुकी हैं, मगर बीमारी मिटने का नाम ही नही लेती। अब मैं आपकी शरण मे आई हूँ। कृपया, मेरे साथ चलकर आप उनकी हालत का निरीक्षण कर लीजिए।" उस महिला की प्रार्थना सुनते ही कवि उसके साथ उसके घर पहुँचे। उसके पति की हालत देखी तो पता चला कि मानसिक अस्वस्थता ही उसके रोग का प्रधान कारण है। और मानसिक अस्वस्थता का कारण है—गरीबी। अत महाकवि महिला से यह कहकर चले आये कि मैं रोगी के रोग को समझ चुका हूँ। घर जाते ही किसी के साथ दवा भिजवाता हूँ। घबराइए नही। मेरी दवा से उनका स्वास्थ्य ठीक हो जायगा।"

अपने घर पहुँच कर महाकवि ने एक छोटी-सी पेटी भेज दी, और उस पर लिख दिया—'आवश्यकता होने पर यह पेटी खोलें और भीतर रखी हुई दवा का

---

१ कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्याग ।
अरतिविषादविमुक्त शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥'—१७४

प्रयोग करे।" गरीब महिला ने ज्यो ही पेटी खोली, त्यो ही उसके आश्चर्य का पार न रहा, क्योकि उसमे दवा के बदले सोने की दस मुहरें थी। उनके साथ एक चिट भी थी—'यह आपके रोग की दवा है, जो मैं अपनी ओर से दे रहा हूँ।' दम्पती ने मन ही मन महाकवि को उनकी उदारता के लिए प्रणाम किया।

वास्तव मे रुग्ण पर दया करके गोल्डस्मिथ द्वारा दिया गया यह दान अहिंसा धर्म की नीव पर आधारित था। इसलिए दान को धर्म का शिलान्यास कहने मे कोई अत्युक्ति नही।

दान गृहस्थ-जीवन का सबसे प्रधान गुण

दान श्रावक के जीवन का प्रधान गुण है। कई धर्म ग्रन्थो मे इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। श्रावक का जीवन केवल तात्त्विक (विचार) दृष्टि से ही उदार न हो, अपितु सक्रिय आचरण की दृष्टि से भी विराट् हो, वह अपने सम्बन्धियो को ही नही, जितने भी दीनदुखी, अतिथि मिलें, सबके लिए उसके घर का द्वार खुला रहे।[1] शास्त्र मे तुंगिया नगरी के श्रावको के घर का द्वार सबके लिए सदा खुला बताया गया है—

उसिह फलिहे, अवगुअदुवारे।[2]

—जो भी अतिथि, अभ्यागत उनके द्वार पर आता, उसका वे हृदय से स्वागत करते थे और आवश्यक वस्तु प्रसन्नता से दे देते थे। देना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य होता था।

श्रावक के तीन मनोरथो मे प्रथम मनोरथ यह है कि 'वह दिन मेरे लिए कल्याणकारी व धन्य होगा, जिस दिन मैं अपने परिग्रह को सुपात्र की सेवा मे त्याग (दे) कर प्रसन्नता अनुभव करूँगा, ममता के भार से मुक्त बनूगा।'

प्रत्येक गृहस्थ के लिए सभी धर्मशास्त्र एक स्वर से दान का विधान करते हैं। यहाँ तक कि कुछ भी दान देकर खाए, दान देने से पहले भोजन न करे यह गृहस्थ का नियम होता था। कई गृहस्थ इस प्रकार का नियम भी लेते थे कि बिना दान दिये मैं भोजन नही करूँगा। रयणसार ग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से कहा गया है—

"दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मे य सावयातेण विणा। • "

—'सुपात्र मे चार प्रकार का दान देना और देव-गुरु-शास्त्र की पूजा करना गृहस्थ श्रावक का मुख्य धर्म है। दान के बिना गृहस्थ श्रावक की शोभा नही है।

---

१ योगशास्त्र, श्राद्धगुणविवरण, धर्मबिन्दु एव धर्मरत्न मे इस बात का स्वीकार किया गया है।

२ भगवती सूत्र श २ उ ५।

जो इन दोनो को अपना मुख्य धर्म—कर्तव्य—मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, वही धर्मात्मा है, वही सम्यग्दृष्टि है।

गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवाँ व्रत इसी उद्देश्य को लेकर नियत किया गया है कि वह भोजन करने से पहले कुछ समय तक किसी सुपात्र, अतिथि, महात्मा या अनुकम्पा पात्र व्यक्ति को उसमे से देने की भावना करे। अतिथि (उपर्युक्त) की प्रतीक्षा करे।

दान श्रावक का सबसे बडा व्रत

भगवान् महावीर के आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, आदि दस प्रमुख गृहस्थ श्रावको का जीवन उपासकदशाग सूत्र मे पढने से यह स्पष्ट फलित हो जाता है कि उनके जीवन मे प्रतिदिन दान देने की कितनी उत्कट भावना थी। उन्होने बारहवाँ अतिथि सविभागव्रत ग्रहण कर लिया था जिसमे प्रतिदिन दान को वे जीवन का आवश्यक नियम मानते थे। वे यह मानते थे कि श्रावक के जीवन का यह मुख्य अग है, प्रमुख धर्म अथवा गुण है।

गृहस्थ श्रावक के १२ व्रतो मे जो अन्तिम व्रत है, जिसका नाम अतिथि सविभाग व्रत' या 'यथासविभाग व्रत' है, वह दान का ही सूचक है। भगवान महावीर ने गृहस्थ श्रावक के लिए यह व्रत इसलिए रखा है कि अन्य व्रतो का सम्बन्ध या अन्य व्रतो का लाभ तो सिर्फ खुद से ही सम्बन्धित है, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत या सामयिक, देशावकासिक या पौषध का लाभ तो व्यक्ति को स्वय को मिलता है, उसका सम्बन्ध खुद व्यक्ति से होता है, जबकि बारहवें व्रत का लाभ दूसरे (आदाता) को भी मिलता है, उसमे दूसरे से भी सम्बन्ध जुडता है। इसलिए वह अन्य व्रतो की अपेक्षा अधिक सक्रिय, अधिक लाभदायक, प्रत्यक्ष लाभदर्शक एव श्रावक की उदारता का दिग्दर्शक है। यही कारण है कि अतिथि सविभाग (दान) व्रत को सबसे बडा व्रत कहा है—

> अतिथि सविभागाख्य व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम्।
> सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्रसुखप्रदम् ॥'—(प० राजमल)

'अतिथि सविभाग नाम का व्रत व्रतार्थियो (गृहस्थ श्रावको) के लिए समस्त व्रतो मे शिरोमणि है और इहलोक और परलोक मे सुखदायक है।

इस व्रत को समस्त व्रतो का शिरोमणि कहने के उपर्युक्त कारण तो हैं ही, एक कारण यह भी हो सकता है, कि इस व्रत के पालन से अहिंसा एव परिग्रह (लाभ) त्याग का लाभ तो है ही, सुपात्र साधु को दान देने से उनके दर्शको का लाभ, तथा दर्शन लाभ से सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य-पालन की प्रेरणा मिल ही जाती है, तथा अन्य व्रतो के पालन की भी प्रेरणा समय-समय पर मिल जाती है। अतिथि-सविभागव्रत श्रावक की देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा को सुदृढ करने का भी कारण है। गुरु के दर्शन होते हैं तो उनसे देव का परिचय भी प्राप्त हो जाता है, धर्मपालन की

भी प्रेरणा हो जाती है। इसलिए यह कहने मे कोई अत्युक्ति नही है कि अतिथि सविभागव्रत सब व्रतो मे शिरोमणि है, सबसे बडा व्रत है। इहलोक और परलोक के लिए वह सुखप्रदायक है, इसमे तो कोई सदेह ही नही।

दान-सविभाग है

भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक को ससार के दु खितो, पीडितो, भूखो, प्यासो और जरूरतमदो के साथ सहानुभूति, आत्मीयता और एकता स्थापित करने, और उनके सुख-दु ख मे सविभागी बनने की दृष्टि से भी गृहस्थ श्रावक के लिए यह व्रत रखा है। इस दृष्टि से दान हृदय की उदारता का पावन प्रतीक है, मन की विराट्ता का द्योतक है और जीवन के माधुर्य का प्रतिबिम्ब है। श्रावक इतना स्वार्थी न हो कि केवल अपने ही जीने और सुख-सामग्री का उपभोग करने का विचार करे। वह देखे, अन्तर्निरीक्षण और समाज निरीक्षण करे कि मेरे परिवार, कुटुम्ब, जाति, धर्म सघ और समाज मे कौन दु खी है ?, कौन भूखा-प्यासा है ? कौन किस अभाव से पीडित है ? कौन-कौन प्राकृतिक प्रकोप (भूकम्प, बाढ, सूखा, दुष्काल आदि) से सतप्त है, किस पर क्या सकट है ? और मै उसे किस रूप मे, कितनी सहायता देकर उसके दु ख या सकट को मिटा सकता हूँ ? इसी को शास्त्रीय परिभाषा मे कुटुम्ब जागरणा धर्म जागरणा और समाज-जागरणा कहते हैं। श्रावक के बारहवें व्रत के पीछे यही दृष्टिकोण निहित है। अन्यथा वहा सविभाग के बदले 'दान' शब्द का प्रयोग किया जाता। किन्तु 'सविभाग' का अर्थ दान होते हुए भी सविभाग शब्द का प्रयोग उसमे निहित रहस्य को सूचित करने के लिए किया है। दान शब्द रखने पर गृहस्थ को दान के साथ अहकार, महत्ता की भावना, प्रसिद्धि की लालसा आदि शायद चिपक सकती है और लेने वाले मे हीनभावना उत्पन्न हो सकती है, देने वाला उस पर एहसान जताकर देगा, सभव है, उसकी चापलूसी करने की वृत्ति भी दाता की हो जाती है, जबकि सविभाग मे तो देने वाला अपना कर्त्तव्य समझकर देगा और लेने वाला अपना अधिकार समझ कर लेगा। न एक मे महत्ता की भावना आएगी, और न दूसरे मे हीनता की। न दाता को एहसान करने की जरूरत होगी और न आदाता को दाता की चापलूसी करने की जरूरत होगी। इसलिए श्रावक को दूसरो के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझकर दूसरो के प्रति आत्मीयता से ओतप्रोत होने और जिलाकर जीने की उदारता अपने मे लाने और स्वार्थ-त्याग करने की दृष्टि से बारहवें व्रत का पालन करना अनिवार्य है।

जैन मनीषियो ने प्राय 'दान' के स्थान पर 'सविभाग' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह बडी सूझबूझ के साथ किया है। दान मे समत्वभाव, समता और निस्पृहता की अन्तरधारा बहती रहे यह आचार्यों का अभीष्ट रहा है जो ससार के अन्य चिन्तको से कुछ विशिष्टता रखता है। देना 'दान' है, किन्तु दान 'व्रत' या 'धर्म' तब बनता है जब देने वाले का हृदय निस्पृह, फलाशा से रहित और अहकार शून्य होकर लेने वाले के

प्रति आदर, श्रद्धा और सद्भाव से परिपूर्ण हो। सद्भाव तथा फलाशा-मुक्त दान को ही 'अतिथि सविभाग व्रत' कहा गया है। इसमे दाता लेने वाले को उसका 'भाग' देता है। यही कारण है कि बारहवाँ व्रत सक्रिय रूप से समभाव और दूसरे प्राणियो के प्रति आत्मौपम्यभाव स्थापित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वैचारिक समता, आत्मौपम्यभाव एव उदारता को आचाररूप मे परिणत करने का माध्यम दान का सूचक बारहवाँ व्रत है।

दान : सर्वगुण-सग्राहक, सर्वार्थ साधक

अपनी अद्भुत परिणाम-कारकता के कारण 'दान' सर्वगुण-सग्राहक है, सभी अर्थों (मानव-प्रयोजनो) का साधन है। दान से जीवन जीने के मार्ग मे आ पडने वाले दु ख, दौर्भाग्य, वैमनस्य, चिन्ता, अशान्ति, शारीरिक पीडा, प्राकृतिक सकट आदि सब भाग जाते है। जीवन निष्कटक, निश्चिन्त, निराकुल, शान्त और सुखी बन जाता है।

इसीलिए शास्त्रकारो ने दान को सर्व गुणसग्राहक या सर्वार्थ साधक कहा है—

—'यदि मनुष्य के पास तीनो लोको को वशीभूत करने के लिए अद्वितीय वशीकरण मत्र के समान दान और व्रतादि से उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौन-से गुण हैं, जो उसके वश मे न हो सकें, तथा वह कौन-सी विभूति है, जो उसके अधीन न हो, अर्थात् धर्मात्मा एव दान-परायण के लिए सब प्रकार के गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।'[1]

ससार की ऐसी कोई विभूति या समृद्धि नही, कोई ऐसा गुण नही तथा किसी प्रकार की सुख-शान्ति की सामग्री नही, जो दान द्वारा प्राप्त न हो सके। पिछले पृष्ठो मे विभिन्न उदाहरणो द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने दान, उदारता और धर्मदलाली द्वारा ही आगामी जन्म मे तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लिया। वर्ष भर तक अविच्छिन्न रूप से दानधारा वहाने के कारण ही तीर्थंकर उत्तम विभूति प्राप्त कर पाते हैं। तीर्थंकरत्व से बढकर कौन-सी समृद्धि है ? वह तीर्थंकरत्व सेवारूप दान के द्वारा ही प्राप्त होता है। दान से मनुष्य मे दया, नम्रता, क्षमा, सेवा, करुणा, आत्मीयता आदि गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिसके कारण वह स्वार्थत्याग, लोभत्याग आदि करता है और समस्त अनर्थों की जड और पापो का मूल लोभ और स्वार्थ है। उसका जब दान से उच्छेद हो जाता है, तब मनुष्य के दुर्गुण या पापादि तो नष्ट हो ही जाते हैं। वह सर्वगुण निधि वन जाता है। और सुख-शान्ति का तो दान स्रोत ही है। दान से मानसिक सुख-शान्ति मिलती है।

---

१ किं ते गुणा किमिह तत्सुखमस्ति लोके,
सा किं विभूतिरथ या न वश प्रयाति।
दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य,
धर्मा जगत्त्रयवशीकरणैकमत्रा। —पद्मनन्दि पचविंशति १९॥

शारीरिक सुख भी मिलता है, आयुवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, आदि भी दान के कारण आदाता द्वारा मिलने वाले आशीर्वाद से मिलते हैं। ऋग्वेद (१।१२५।६) मे स्पष्ट कहा है—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावता दिवि सूर्यास।
दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते, दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयु ॥

—दानियो के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है, दानी के लिए ही आकाश मे सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, दानी अतिदीर्घायु प्राप्त करता है। यह भी पिछले पृष्ठो मे हम विस्तार से बता आए हैं।

इसलिए यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि दान सर्वगुण सग्राहक है, सर्वार्थसाधक है, सर्वविभूति को आकर्षित करने वाला है।

दान देवताओ द्वारा प्रशसनीय

दानसर्वत्र प्रशसा पाता है, क्या मनुष्य, क्या ब्राह्मण, क्या देव सभी दान की प्रशसा करते हैं। प्रशसा पाने की दृष्टि से नही, किन्तु दान मे निहित अनेक गुणो की दृष्टि से जो व्यक्ति नि स्वार्थभाव से दान देता है, उसकी प्रशसा मनुष्य ही नही, देवता भी करते हैं। शास्त्रो मे या जैनकथाओ मे जहाँ-जहाँ किसी महान् आत्मा को दान देने का प्रसग आता है, वहाँ-वहाँ यह पाठ अवश्य आता है—

'अहो दाण, अहो दाण त्ति घुट्ठं'

—देवताओ ने 'अहो दान', अहो दान ! की घोषणा की। अर्थात् उस अनुपम दान की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

दान देवा प्रशसन्ति, मनुष्याश्च तथा द्विजा ।

—देवता भी दान की प्रशसा करते हैं, मनुष्य और ब्राह्मण तो करते ही हैं।

देवता दान की प्रशसा क्यो करते हैं ? इसलिए करते हैं कि देवलोक मे दान की कोई प्रवृत्ति होती नही, देवलोक मे कोई महात्मा या सुपात्र ऐसा नही मिलता, जिसे दान दिया जाय। दान के लिए सुपात्र उत्तम साधुसन्त, नि स्पृही त्यागीपुरुष मनुष्यलोक मे ही मिल सकता है। इसलिए देवता दान के लिए तरसते हैं कि वे अपने हाथो से दान के योग्य किसी पात्र को दान नही दे पाते। जब दान नही दे पाते हैं, तो दान से होने वाला विपुल लाभ भी प्राप्त नही कर सकते। इसी कारण देवता दान की महिमा जानते हुए भी स्वय दान न दे पाने के कारण जो दान देता है और उत्तम पात्र को दान देता है, उसकी प्रशसा—उसका समर्थन-मुक्त-कण्ठ से करते हैं। वे उस व्यक्ति को महान् भाग्यशाली मानते हैं, जो अपनी लोभसज्ञा को वश मे करके दान देते हैं।

जिस समय भगवान महावीर ५ महीने और २५ दिन तक दीर्घतपस्या अभिग्रह के रूप मे करके कौशाम्बी मे भ्रमण कर रहे थे, उस समय राजकुमारी

चन्दनबाला ने भगवान महावीर को उडद के बाकुले आहार रूप मे दिये। उस दान की देवो ने महती प्रशसा की, 'अहो दान' की घोषणा की। इस प्रकार के और भी अद्‌भुत दानो की प्रशसा देवो ने की है।

सचमुच, दान देवो द्वारा प्रशसनीय है। मनुष्य और ब्राह्मण स्वय अपने हाथो से दान तो दे सकते हैं, लेकिन लोभसज्ञा कम न होने से, अर्थाभाव या दारिद्रय के कारण अथवा दान के प्रति अश्रद्धा के कारण अधिकाश मनुष्य या ब्राह्मण दान नही दे पाते। अथवा कई लोग देते भी हैं तो अपने स्वार्थ से, अपने किसी मतलब को गाठने के लिए दान देते हैं। वह दान भी वास्तविक दान न होने के कारण सच्चे दान की बरावरी नही कर सकता। इसलिए ऐसे मनुष्य या ब्राह्मण दान की महिमा जानते हुए भी किसी कारणवश दान न दे सकने के कारण दान की प्रशसा करके रह जाते हैं। इस प्रकार दान मनुष्यो और ब्राह्मणो द्वारा प्रशसनीय है।

इस प्रकार मानवजीवन मे दान का महत्त्व किसी भी प्रकार से कम नही है। दान का मूल्याकन वस्तु पर से नही, भावो पर से ही किया जाता है। देवता भावो को ही पकडते हैं, वस्तु या वस्तु की मात्रा को वे नही देखते। इसी कारण वे तुच्छ से तुच्छ वस्तु के अल्पमात्रा मे दिये गए दान को महत्त्वपूर्ण मानकर उसकी प्रशसा करते नही अघाते।

☆

9

दान की पवित्र प्रेरणा

विश्व मे प्रकृति के जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके सब अहर्निश सतत दान की प्रेरणा देते रहते हैं। क्या सूर्य, क्या चन्द्रमा, क्या नदी, क्या मेघ, क्या पेड-पौधे और जगल की अगणित वनस्पतियाँ सब अपने-अपने पदार्थ को मुक्त हाथो से लुटा रही हैं। क्या नदी और मेघमाला अपना मीठा जल स्वय पीती हैं ? क्या सूर्य-चन्द्र अपना प्रकाश दूसरो को नही देते ? क्या पेड, पौधे, फल, फूल, आदि अपने पदार्थों का स्वय उपभोग करते हैं ? ये सब महादानी बनकर जगत् को दान की सतत प्रेरणा देते रहते हैं कि मनुष्य तेरे पास भी जो कुछ है, उसे दूसरो को दे, स्वय अकेला किसी भी चीज का उपभोग न कर। इसीलिए नीतिकार एक छोटे-से श्लोक मे प्रकृति के तमाम वैभव का उपयोग दान (परोपकार) के लिए बताते हैं।

—"नदियाँ अपना जल स्वय नही पीती, पेड-पौधे अपने फलो का उपभोग स्वय नही करते, दानी मेघ अपने जल से पैदा हुए धान्य को स्वय नही खाते। सज्जनो की विभूतियाँ (वैभव) भी परोपकार (दान) के लिए होती हैं।"[1]

फलदार पेडो के कोई पत्थर मारता है या कोई उनकी प्रशसा करता है, तो भी वे दोनो को फल देते हैं। नदियो मे कोई मैला डालता है या निन्दा करता है, तो भी वे मीठा पानी देती हैं, और कोई दूध से पूजा करता है, प्रशसा या स्तुति करता है तो भी वे मीठा पानी देती हैं।

एक बार नदी और तालाब मे परस्पर बहस छिड गई। तालाब नदी से कहने लगा—"तू कितनी पगली है ! अपना सारा जल पेड, पौधो, वनस्पतियो एव समुद्र को लुटा देती है। ये तुझे अपना जल वापस तो लौटाते नही, तुझे दरिद्र बना देते हैं, और समुद्र तेरा मीठा जल पाकर भी खारा का खारा रहता है। इसलिए मेरी सलाह है कि तू अपना जल-धन अपने पास ही रख।"

इस पर दान परायण नदी बोली—मुझे तेरे उपदेश की जरूरत नही। मेरा

---

१ पिबन्ति नद्य स्वयमेव नाम्भ, स्वय न खादन्ति फलानि वृक्षा।
नादन्ति सस्य खलु वारिवाहा, परोपकाराय सता विभूतय ॥

कर्त्तव्य ही है—अहर्निश दान देना। मुझे किसी से बदले मे कुछ नही लेना है। मुझे दूसरो को देने और पेड-पौधो आदि को समृद्ध देखने मे ही आनन्द आता है।' नदी निरन्तर जलदान देती हुई बहती रही। किन्तु तालाब स्वार्थी और आसक्तियुक्त होने से अल्पसमय मे ही सूख गया। उसका पानी दुर्गन्धयुक्त हो गया, उसमे कीडे कुल-बुलाने लगे। परन्तु नदी निष्काम भाव से शीतल मधुर जल दान देती हुई ग्रीष्मऋतु मे भी बहती रही। नदी की मूक प्रेरणा यही है मेरी तरह निष्काम भाव से अपने पास जो भी तन-मन-धन-साधन हैं, उन्हे दूसरो को दान देते हुए आगे बढते रहो, ग्रीष्मऋतु मे मेरी तरह क्षीण होने पर भी दान का प्रवाह सतत बहाते रहे, तुम्हारी प्रगति रुकेगी नही, तुम्हारा धन वर्षाऋतु मे मेरी तरह पुन बढ जाएगा, अन्यथा तालाब की तरह स्वार्थी और अपने धन मे आसक्त बनकर बैठे रहोगे, उसे दूसरो को दोगे नही तो तालाब की तरह एक दिन सूख जाओगे।

नदी के जल की तरह दान प्रवाह बहता रहे

नदी का जल व्यक्तिगत नही होता, वैसे ही मानव अपने धन को व्यक्तिगत न समझें, उसे समाज मे फैलाये। नदी का जल सतत आता-जाता (बहता) रहता है। इसी तरह चूँकि समाज से लेने का हमारा क्रम बराबर जारी है, इसलिए हमे समाज को देने का क्रम भी (प्रवाह) चालू रखना चाहिए।

ध्यान रहे कि हर नदी बहती (प्रवाहित) रहने पर ही शुद्ध रहती है। यदि तलैया तालाब की तरह उसका बहना बन्द हो जाय तो वह शुद्ध नही रह सकेगी। उसमे गड्ढे हो जायेंगे और उसमे गन्दगी व अशुद्धता ही बढेगी। इसी तरह समाज मे भी दान का प्रवाह जारी न रहा तो सामाजिक जीवन मे भी सडान विषमता और दुर्गन्ध पैदा हो जाएगी। इसलिए समाज मे दान की गगा निरन्तर बहती और बढती रहनी चाहिए।

कुछ लोग कहते है, आजीवन दान देते रहना, प्रतिदिन नियमित रूप से दान करना क्या सम्भव है ? इसके उत्तर मे हम पूछते हैं, आजीवन भोजन करते रहना कैसे सम्भव है ? मनुष्यो ने यह कठिन बात स्वीकार कर ली है कि हमे शरीर मिला है तो हम आजीवन—जन्म से मृत्यु पर्यन्त—भोजन करके इसका पोषण करेंगे।

वेदो मे और जैनशास्त्रो मे जहाँ-जहाँ व्रत ग्रहण करने का विधान है, वहाँ-'यावज्जीव' शब्द आता है कि मैं जीवनपर्यन्त इस व्रत का पालन करूँगा। श्वास-प्रश्वास का भी एक व्रत है, वेद मे कहा है—'मरण न होने तक प्रतिज्ञापूर्वक श्वास लेते रहोगे'। इस व्रत को ग्रहण करने की बात वेद ने इसी उद्देश्य से कही है कि श्वास-प्रश्वास के साथ परमात्मा का नाम लेना होगा, ताकि वृथा श्वास न लिया जाय। इस प्रतिज्ञा का यही तात्पर्य है। हमारी आँखो ने आजीवन देखने का व्रत ग्रहण किया है। हमारे दोनो पैरो ने आजीवन चलने का व्रत ग्रहण किया है। वे व्रत उन्हे कठिन नही मालूम पडते। इसी तरह कानो ने सुनने का, नाक ने सूंघने का व्रत

ग्रहण किया है, जीभ ने चखने और दाँतो ने चबाने का व्रत लिया है। वह जब उन्हे कठिन नही मालूम पडता तो हाथो को दान देने का व्रत क्यो कठिन मालूम होगा ? 'हाथ दिये कर दान रे' यह उक्ति इसीलिए कही गई है। ये व्रत उन-उन इन्द्रियो के लिए स्वाभाविक और नैसर्गिक हो गये हैं, वैसे ही हाथो के लिए आजीवन दान देने का व्रत भी कठिन और भारी नही मालूम होगा। घर-घर मे माताएँ इसी व्रत का पालन करती हैं। प्रत्येक माँ सन्तान को कितना अधिक प्यार करती है। बडा होने पर पुत्र माँ से विमुख हो जाता है, पर माँ प्राय विमुख नही होती। इसलिए चाहे धनी हो, चाहे निर्धन दोनो के ही हाथ प्रतिदिन नियमित दान करने का जीवन-पर्यन्त व्रत ग्रहण करें, इसमे कोई कठिनाई नही है। केवल मन को समझाना है।

कुछ कार्य नित्य होते हैं, कुछ नैमित्तिक। भोजन, मलविसर्जन, सफाई आदि नित्य कार्य हैं, उसी तरह दान भी नित्य कार्य है। स्मृतियो मे गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान कर्म को षट्कर्मों मे अनिवार्य बताया है। और प्रतिदिन गोग्रास, कौए, कुत्ते, अग्नि आदि का ग्रास दान देने का विधान भी है। 'षट्कर्माणि दिने दिने' कहकर दान को प्रतिदिन करने का विधान है। इसलिए गृहस्थ जीवन मे प्रतिदिन दान का प्रवाह बहता रहना चाहिए, दान की परम्परा नदी के प्रवाह की तरह अखण्ड चालू रहनी चाहिए। उसे बद करना, जैन दृष्टि से दानान्तराय कर्मबन्ध करना है। दान की परम्परा बन्द करने से अनेक लोगो की वृत्ति का उच्छेद होता है। परन्तु कई लोग इस बात को न समझकर श्रद्धाहीन बनकर दान की परम्परा स्थगित कर देते हैं। यह बहुत ही खतरनाक है, जीवन के लिए।

एक महिला थी। वह प्रतिदिन गरीबो के घर जा कर दान दिया करती थी। कुछ दिनो बाद उसने दान का यह सिलसिला बन्द कर दिया। दूसरी एक महिला ने उससे पूछा—"बहन ! आजकल तुमने दान देना बद क्यो कर दिया ?" वह बोली—'अब मैं दान देना ठीक नही समझती, क्योंकि जिन्हे मैं गरीब समझकर दान देती थी, उन गरीबो के लडको को मैंने पेडे खाते हुए देखा तो मैंने सोचा कि इन गरीबो के बच्चे तो पेडे खाते हैं। तब से मैंने दान देना बन्द कर दिया है।" इस पर उक्त विवेकवती महिला ने कहा—"बहन ! इसमे तुम्हारा क्या बिगड गया ? क्या गरीबो के बच्चे पेडा नही खा सकते ? उनके माता-पिता कभी अपने बच्चो को मिठाई नही खिला सकते ? क्या तुम्हे ही मिठाई खाने का हक है, उन्हे नही ? यह तुम्हारा सोचना ही गलत है ! तुम यह सोचो कि हम तो आराम से रहे, पर हमारा नौकर या गरीब आराम से न रहे, कष्ट मे पडा रहे, क्या यह मानवता की दृष्टि से ठीक है ? कदापि नही। तुम दान दो, पर अश्रद्धा के साथ, या उन दरिद्रो या अभावग्रस्तो को हीन समझकर मत दो। इसलिए मेरी सलाह है कि तुम दान की यह परम्परा बन्द न करो।" परन्तु उस बहन ने इस विवेकवती महिला की एक भी न मानी। वह अपने विपरीत निर्णय पर अटल रही।

दान की परम्परा चालू रखो

दान की दैनिक परम्परा तभी चालू रह सकती है, जबकि देने वाला लेने वाले के द्वारा भी उसी रकम को किसी जरूरतमन्द को दिलाए। फिर वह जरूरतमन्द, जिसे वह रक्म दी जाए, अपने पास आने वाले जरूरतमन्द को वह रकम दे। इस प्रकार दान का अखण्ड सिलसिला या प्रवाह जारी रहे।

बैंजामिन फ्रैंकलिन अपने प्रारम्भिक दिनो मे एक अखबार चलाते थे, आगे चलकर वे उसके सम्पादक और प्रकाशक भी बने। उनके पास गृहस्थी का कोई अधिक सामान नही था। एक बार उन्हे कुछ रुपयो की जरूरत पडी। उन्होने एक धनवान से २० डालर माँगे। उस परिचित व्यक्ति ने उन्हे तुरन्त २० डालर दे दिये। कुछ ही दिनो मे बैंजामिन फ्रैंकलिन ने २० डालर बचाए और उन्हे उस भाई को वापस देने आए। जब उन्होंने २० डालर का एक सिक्का मेज पर रखा तो उनके धनाढ्य मित्र ने कहा—"मैंने तुम्हे कभी २० डालर उधार नही दिए।" फ्रैंकलिन ने उन्हे याद दिलाया कि अमुक समय मे अमुक स्थिति मे तुमने मुझे यह डालर दिया था।" उसने कहा—"हाँ, सचमुच २० डालर दिये तो थे।" फ्रैंकलिन बोला—इसीलिए तो मैं तुम्हे वापिस लौटाने आया हूँ।" वह बोला—"परन्तु वापस देने की बात तो कभी नहीं हुई। वापस लेने की बात तो मैं कभी सोच ही नही सकता।" फिर उस मित्र ने कहा—"इस सोने के सिक्के को अब तुम्हारे पास ही रहने दो। किसी दिन तुम्हारे जैसा कोई जरूरतमन्द तुम्हारे पास आ जाय तो उसे यह दे देना। अगर वह मनुष्य ईमानदार हो तो कभी न कभी वह तुम्हे उन डालरो को वापस देने आएगा, तभी तुम उससे कहना—'इन्हे तुम अपने पास रखो और जब तुम्हारे सरीखा कोई जरूरतमन्द तुमसे माँगने आए तो उसे दे देना।'

कहते हैं, २० डालर की वह स्वर्ण मुद्रा आज भी अमेरिका के सयुक्त प्रजातन्त्र मे किसी न किसी की जरूरत पूरी करती हुई विविध हाथो मे घूम रही है।

सचमुच बैंजामिन फ्रैंकलिन का यह अखण्ड दान प्रवाह सामाजिक जीवन मे अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है।

इसी प्रकार भावनगर के भू०पू० दीवान सर प्रभाशकर पट्टणी ने एक विद्यार्थी को अध्ययन और पुस्तको के लिए मदद दी। मदद के कुल रुपये लगभग दो हजार चुके थे। विद्यार्थी रुपयो का हिसाब लिखता रहा। आखिर वह स्नातक होकर एक अच्छी नौकरी पर लग गया। उसकी आमदनी अच्छी होने लगी। वह हर महीने रुपयो की बचत करने लगा। आखिर जब कुल रकम ब्याज सहित इकट्ठी हो गई तो वह उसे लेकर सर प्रभाशकर पट्टणी के पास पहुँचा। उन्होने उसे आदरपूर्वक बिठाया और कुशल प्रश्न के बाद पूछा—"कहो भाई! कैसे आए?" उसने कहा—"मैं आपके रुपये ब्याज सहित देने आया हूँ।"

पट्टणी—"मेरे कौन-से रुपये? मैंने तुम्हे कब रुपये दिये थे?"

आगन्तुक बोला—"साहब ! आपने मुझे अध्ययन के लिए सहायता देकर मेरी ऐसे समय मे मदद की है, जिसे मैं कभी भूल नही सकता। उसके लिए तो मैं आपका जन्म-जन्म ऋणी रहूँगा। वह रकम मैं आपके नाम से जमा करता रहा हूँ। कुल रकम और उसका ब्याज मिलाकर दो हजार रु० से ऊपर होते हैं। यह आपकी धरोहर लीजिए।" पट्टणी ने कहा—"मेरी सब रकम तुम-जैसे होनहार और अध्यवसायशील युवक को देखकर वसूल हो गई। तुम्हारी अच्छी नौकरी लग गई, इसकी मुझे प्रसन्नता है। अब यह रकम तुम्हारे पास ही रहने दो और जो भी तुम-जैसा विद्यार्थी आए, उसे इसमे से मदद देते रहो। मैं इस रकम को विद्यादान-खाते लिख चुका, अब वापिस नही ले सकता। इसी प्रकार तुम विद्यादान मे मदद देते रह कर दान की परम्परा चालू रखो।" युवक बहुत ही प्रसन्न हुआ और आभार मानता हुआ, और दान की सुन्दर प्रेरणा के लिए कृतज्ञता प्रगट करता हुआ चला गया।

सचमुच ऐसी दान-परम्परा ही अनेक हृदयो मे दान के दीपक जला सकती है।

पेड-पौधो से दान देने की सीख लो

यह तो हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि पेड-पौधे, फल, फूल आदि सभी दान देने की प्रेरणा दे रहे हैं। इतना ही नही, इन्हे पत्थर मारने, पीटने, घोटने और तोडने पर भी ये अपनी वस्तु दान देते रहते हैं। मनुष्य कदाचित् अपना नुकसान करने वाले के प्रति कुपित होकर उसे कुछ भी देने से विमुख हो जाय, लेकिन ये (वृक्षादि) अपनी चीज देने से कभी इन्कार नही करते।

जगल का शान्त वातावरण ! हरे-भरे लहलहाते खेत, आम और जामुन से लदे हुए वृक्ष ! प्रकृति दूर-दूर तक हरी साडी पहनी हुई बहुत सुहावनी लग रही थी। कोकिल का पचम स्वर और शतलज का कल-कल करता हुआ प्रवाहमय मधुर सगीत वातावरण को और भी मधुर बना रहा था। मन्द-मन्द मलयानिल तन्द्रा को हटा रहा था। मानव के मन-मस्तिष्क मे चेतना का सचार कर रहा था। सूर्य की बाल-किरणें धरती को आलोक से भरने के लिए चारो ओर बिखर रही थी। चारो ओर पक्षी चहचहा रहे थे। प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द लेने लिए पजाबकेशरी महाराजा रणजीतसिंह जी घोडे पर सवार होकर घूमने के लिए निकल पडे। प्रकृति के सुहावने दृश्यो का अवलोकन करते-करते वे सिंह की तरह निर्भय घूम रहे थे। तभी अकस्मात् एक पत्थर उनके सिर पर आकर लगा। महाराज आश्चर्यचकित होकर इधर-उधर देखने लगे। यह पत्थर कैसे और कहाँ से आया ?" महाराजा रणजीतसिंह के दिमाग मे दो प्रश्न चक्कर काटने लगे—'पत्थर किसने और क्यो फैंका ?' महाराजा के अंगरक्षक अपराधी को ढूंढने के लिए चारो ओर दौड पडे और कुछ ही देर मे एक गरीब अधेड उम्र की स्त्री को पकड कर ले आए। उसकी गोद मे एक बच्चा था। जिसके अन्दर धसते हुए पेट, चेहरे की उदासी और रोने की आवाज से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि वह भूखा है, भूख से परेशान है।" अगरक्षको ने महा-

राज से निवेदन किया—"इस शैतान औरत ने आप पर पत्थर फैंका है। इसे इसके अपराध की कठोर से कठोर सजा मिलनी चाहिए, जिससे आयन्दा ऐसा भयकर अपराध करने का पुन साहस न कर सके।" उधर वह विधवा स्त्री थर-थर काँप रही थी। उसकी आँखो से अश्रुधारा बह रही थी। वह चिन्तित थी कि "न मालूम मुझे इस अपराध की कितनी कठोर सजा मिलेगी ?" इतने मे शान्ति और मधुर स्वर मे उसे आश्वस्त करते हुए महाराज ने पूछा—"घबडाओ मत, बहन ! बताओ, वात क्या है ? तुमने पत्थर क्यो फैंका ?"

उसने रोते-रोते अपनी दु खगाथा सुनाते हुए कहा—"महाराजजी ! मैं विधवा हूँ। इधर-उधर मेहनत-मजदूरी का काम करते हुए अपना और अपनी आँखो के तारे-लाल का पालन-पोषण करती हूँ। पर, दुर्भाग्य से कल मुझे काम नही मिला। इस-लिए इसे भरपेट खाना भी न मिल सका। इसकी भूख मिटाने के लिए पत्थर मारकर जामुन तोड रही थी। मगर यह पत्थर जामुन की डाली पर न लगकर आपके ऊपर आ गिरा। मेरे मन मे न तो आपको पत्थर मारने की भावना थी, और न मैंने आपके ऊपर पत्थर फैंका है। इसलिए मैं अपसे क्षमा चाहती हूँ। मुझे क्षमा करें।"

उस स्त्री की बात सुनकर महाराजा का चेहरा गम्भीर हो गया। उन्होने अपनी जेब मे हाथ डाला। उनके हाथ मे सौ-सौ के दस नोट आए। उन्होने दसो नोट अर्थात एक हजार रुपये उस विधवा के हाथ मे दे दिये, और उसे कहा—"ये लो, और इनसे अपना एव बच्चे का गुजारा चलाना। भविष्य मे इसकी पढाई की भी व्यवस्था कर देता हूँ।" यो कहकर एक कागज पर उस बालक को नि शुल्क शिक्षण देने का आदेश लिख दिया। विधवा का मुर्झाया हुआ चेहरा सूर्योदय होते ही खिल जाने वाले सूर्यमुखी कमल की तरह प्रसन्नता से खिल उठा। वह महाराजा के चरणो मे गिर पडी। श्रद्धा से चरणस्पर्श किये और अन्तर से आशीर्वाद देकर चल दी। अगरक्षक महाराजा के इस व्यवहार को देखकर आश्चर्य मे डूब गए। वे सोचने लगे कि महाराजा यह क्या कर रहे हैं ? पत्थर मारने वाली महिला को दण्ड न देकर उपहार देना, यह कैसा न्याय ?" उनके मुख के भावो को पढकर महाराज ने कहा—"तुम लोग केवल पत्थर को देख रहे हो ? उसके दु खदर्द एव उसकी असहाय अवस्था को नही देखते। मेरे राज्य मे जो लोग दु ख की चक्की के दो पाटो के बीच पिस रहे हैं, उनके लिए इससे (दान से) बढकर अच्छा न्याय क्या हो सकता है ? ये मूक पेड-पौधे, जिनमे न चेतना का विकास ही है, न मधुर भावो का, वे भी पत्थर मारने वाले को अपने मधुर फल देते हैं, तो क्या मैं विकसित चैतन्यशील मनुष्य होते हुए भी इन वृक्षो से भी गया-बीता होकर नीचा व्यवहार करता ? मुझे तो इनसे बढकर फल देना चाहिए ? ये पेड-पौधे तो किसी भी भूखे और दु खी को खाली हाथ न लौटाएँ, और मैं पजाब का राजा होकर भी अपने पर पत्थर मारने वाले दु खी,

असहाय और भूख से पीडित व्यक्ति को खाली हाथ लौटा दूँ, यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरी शोभा इसी मे है कि मेरी शरण मे आया हुआ व्यक्ति निराश होकर लौट जाए ?" वृक्षो से दान-प्रेरणा की महाराजा की न्याय युक्त बात सुनकर नगररक्षक निरुत्तर हो गए।

सचमुच, ये पेड-पौधे अपनी दानशीलता की प्रेरणा से सारे ससार को उत्प्रेरित कर रहे हैं। मनुष्य तो समझदार प्राणी है, उसे अपने स्वामित्त्व की वस्तु मे से योग्य पात्र को दान करने मे किसी प्रकार की झिझक नही होनी चाहिए।

इन पेड-पौधो की जिन्दगी की सार्थकता जब अपनी वस्तु दूसरो को अर्पण (दान) करने मे है, तो मनुष्य की जिन्दगी की सार्थकता दूसरो को देने मे क्यो नही होगी ? फूल अपनी सुगन्ध देकर समाप्त हो जाता है, वह अर्पण करने मे ही अपना जीवन सफल और धन्य समझता है।

एक अत्तार की दूकान मे घोटे जाते हुए गुलाब के फूलो मे किसी ने पूछा—"आप लोग उद्यान मे फले-फूले, फिर आपने ऐसा कौना-सा अपराध किया, जिसके कारण आपको ऐसी असह्य वेदना उठानी पड रही है ? कुछ फूलो ने उत्तर दिया—"हमारा सबसे बडा अपराध यही है कि हम एकदम हँस पड़े। दुनिया से हमारा यह हँसना न देखा गया। दुनिया दु खितो को देख कर समवेदना और सुखियो को देखकर ईर्ष्या करती है। उन्हे मिटाने को तैयार रहती है। यही दुनिया का स्वभाव है। कुछ फूलो ने कहा—"अपनी सुगन्ध देकर मर मिटने मे ही तो हमारे जीवन की सार्थकता है।" फूल पिस रहे थे, परन्तु उनके दान की महक उनमे से जीवित हो रही थी।

फूल जैसे अपनी सौरभ और रस अर्पण करने मे अपने जीवन की सार्थकता समझता है, वैसे ही मनुष्य को अपना धन और साधन समाज को अर्पण करने मे जीवन की सार्थकता समझनी चाहिए। फूलो के जीवन मन्त्र—Life means giving (जीवन का अर्थ ही दान देना है) की तरह मनुष्यो का जीवनमन्त्र भी यही होना चाहिए।

दान देना समाज का ऋण चुकाना है

'देना' एक सीधी-सी क्रिया है, जिसमे मानव की मानवताभरी हुई है। यदि मानव देता नही है तो सच्चे माने मे मानव कहलाने योग्य नही है। पशु तो देना जानता ही नही, वह दूसरे का लेना चाहता है। साराश यह है कि दूसरे को दान देने की क्रिया बिलकुल साधारण होती हुई भी मानवता से युक्त होती है, इसमे ममत्त्वत्याग की भावना भरी है, जो पशु द्वारा नही हो सकती। जैसा कि नीतिकारो ने कहा है—

'दानेन पाणिर्न तु कंकणेन'

—"मनुष्य के हाथो की सार्थकता या शोभा दान से है, सोने के कगन से

नही।" कोरा सोने का कगन तो हाथ के लिए बोझरूप ही होगा। हाथ की सच्ची शोभा तो दान है। दान मानवता का अलकार है। हाथ को उसका भार कभी महसूस नही होता। उससे सभी के आभार ही मिलते हैं और मानवता का बोझ मिट जाता है।

मानव की यह दानवृत्ति बढते-बढते जब अखण्ड जीवनवृत्ति बन जाती है तब उसमें मनुष्यत्व से ऊपर का देवत्व पैदा हो जाता है। देव का अर्थ है—निरन्तर देने वाला। इसके विपरीत यदि उसमे लगातार पशुता ही बढने लगे और दूसरे से छीन-झपट कर उसे सदा अपने पास बनाए रखने की वृत्ति पैदा हो जाय तो समझना चाहिए कि उसमे 'राक्षसत्व' उत्पन्न हो गया है। राक्षसत्व का अर्थ है—न देने वाला, निरन्तर सहेज कर रखने वाला।

जो मानव मानवता या देवत्व के विपरीत पशुत्व की वृत्ति अपनाकर निरन्तर धन बटोरने मे ही लगा रहता है अथवा जो राक्षसत्व की वृत्ति अपना कर छीनाझपटी से, अन्याय-अत्याचार से एकमात्र धन सग्रह ही करता रहता है, वह समाज का ऋण अपने सिर पर लादे फिरता है, समाज से लिये हुए को वह लौटा नही पाता। चूंकि मनुष्य ने आज तक अपने पूर्वजो से, ऋषि मुनियो से और समाज से जो ज्ञान-विज्ञान पाया है, जो सुसस्कार, सभ्यता और सस्कृति का धन पाया है, अथवा अपने बुजुर्गों से जो सुरक्षा, सेवा और धनसम्पत्ति तथा विद्या-बुद्धि पाई है, उसे चुकाने का उपाय दान के सिवाय और कौन-सा है? वह एक प्रकार से समाज से लिया हुआ कर्ज है, जिसे उसको दान द्वारा चुकाना ही चाहिए।

जरा सोचें तो सही, जिस पैमाने पर मनुष्य इस सृष्टि से, अपने पूर्वजो से, माता-पिता से, इष्ट-मित्रो, बन्धु बान्धवो या समाज से, यहाँ तक कि गाय-भैंस, बैल आदि सबसे प्रतिदिन लेता ही रहता है, क्या उसके दान को उस पैमाने पर देना कहा जाएगा? हर्गिज नही। यानी मनुष्य समाज से जिस अनुपात मे लेता रहा है और लेता है, उस अनुपात मे शायद ही उसने दिया (लौटाया) हो। अधिकाश मनुष्य समाज से लेते अधिक हैं, देते कम हैं। इसलिए सतत और अधिक मात्रा मे देना ही इस ऋण को चुकाना है। इसी दृष्टिकोण को लेकर दान का एक अर्थ—लिए हुए का लौटाना भी है। और वास्तव मे वह ठीक भी है। जो कभी मानव के द्वारा साधारण दान के माध्यम से कभी पूरा चुकता नही हो सकता, दान मे उसे चुकता करने (लौटाने) का विनम्र प्रयत्न छिपा हुआ है।

दान, और वह भी विशिष्ट दान कुछ अशो मे समाज से लिया हुआ ऋण चुकाना या लौटाना है, इसे भली-भाँति समझने के लिए जातक की एक कथा दे रहे हैं—

एक ब्राह्मण ने श्रावस्ती मे धान की खेती की। खेती बहुत अच्छी हुई। जब फसल पक कर तैयार हो गई तो रखवाली के लिए उसने एक आदमी नियुक्त कर

दिया, वह स्वय शहर में रहने लगा। रखवाला खेत मे मचान बाधकर रात-दिन रहने लगा। इसी बीच तोतो का एक झुंड फसल खाने के लिए आने लगा झुंड समय पर आता और अनाज खाकर उड जाता। बेचारा रखवाला बहुत प॰ हुआ। तोतो का यह झुंड उसके काबू मे नही आ रहा था। इस झुंड मे एक ऐसा था, जो सबका मार्ग दर्शन करता था। सारा झुंड उसके पीछे-पीछे आता उसी के पीछे वापस जाता। जब वह तोता अपने झुंड के साथ रवाना होता तो ॰ की कुछ बालें मुंह मे भर कर साथ ले जाता था। रखवाली करने वाले ने उसका ढग देखकर परेशान होकर मालिक से शिकायत की। उसने आद्योपान्त सारी ॰ मालिक को सुनाकर कहा—"फसल को बहुत नुकसान हो रहा है।" खेत के मा॰ ने सारी घटना सुन कहा—"गुड होगा, वहाँ मक्खियाँ आएँगी ही। प्रभु कृपा ॰ फसल तैयार हुई है, वह केवल मेरे लिए ही नही है, उसमे तोतो के उस झुण्ड का हिस्सा है। इसलिए उसे भी खाने दो। तब उस रखवाले ने कहा—"जहाँ तक ॰ की बात है, वहाँ तक तो ठीक है, लेकिन उन तोतो मे एक तोता ऐसा है, जो दो बालें अपनी चोच मे दबा कर भी ले जाता है। यह सुनकर मालिक ने कहा—' ऐसी बात है, तब तो उसे पकडना चाहिए।' यह आदेश पाकर रखवाले ने खे॰ जाल बिछा दिया। तोतो का झुण्ड आया। वह तोता, जो सबसे आगे था, ज्यो॰ नीचे उतरा कि जाल मे फस गया।

यह जातक की कथा है। तथागत बुद्ध कहते हैं कि 'उस तोते के जीवन ॰ ही था। मैं उस जाल मे चुपचाप फँसा हुआ पडा रहा। अगर मैं हल्ला मचाता सभी तोते भूखे ही उड जाते इसलिए मैंने सोचा कि कम से कम उन्हे तृप्त तो जाने दूं। जब मैंने देखा कि सब खा चुके हैं, तब मैंने शोर मचाया। मेरी आ॰ सुनकर तोतो ने सोचा—"हमारा राजा जाल मे फस गया है, अत सब तोते चले।"

रखवाले ने राजा तोते को मालिक के सामने पेश किया। मालिक ने उस तोते को देखा तो उसकी सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गया। उसने सोचा— तोते भी बेचारे भूख से पीडित होते हैं, पर ये खेती नही कर सकते। इसलिए हम फसल मे इनका भी तो हिस्सा है। मैंने इसे जाल मे फसा कर अन्याय किया है यह सोचकर उसने उस तोते को बन्धन मुक्त कर दिया। फिर पूछा—"आखिर तु मुझ से इतना द्वेष क्यो है कि तुम मेरी फसल उजाडते हो? यदि तुम्हे भूख लग है तो प्रेम से खाओ, किन्तु बालें तोड कर क्यो ले जाते हो?" तोते ने उत्तर दिया "मैं जो कुछ कहूँगा, उस पर आप पूरा विश्वास करेंगे, ऐसी मुझे आशा है। बात है कि मुझ पर कुछ पुराना कर्ज है। उस कर्ज को उतारे बिना मुझे चैन नही होत दूसरी बात यह है कि मै आगे के लिए कर्ज दे रहा हूँ। और तीसरी बात यह है मै अपना खजाना भर रहा हूँ।" यह सुनकर खेत के मालिक ने आश्चर्य के स

पूछा—"तुम्हारी बातें बहुत रहस्यमय मालूम होती हैं। यह बताओ कि तुमने किससे कर्ज लिया है? और किसको कर्ज दे रहे हो? तथा तुम्हारा खजाना क्या है?"

तोते ने कहा—"मेरे बूढ़े मा-बाप जिंदा हैं। मैं बचपन मे उनसे कर्ज लेता रहा। उन्होंने मुझे पाल-पोस कर बडा किया। अब वे अपग हो गए हैं। उनका ऋण चुकाने के लिए मैं आपके खेत से बालें ले जाने के लिए बाध्य हूँ। इसी तरह मेरे बच्चे भी है, जिनके अभी तक पख नही आए हैं, उन्हे मैं कर्ज देता हूँ। तीसरे, बहुत से तोते मेरे अतिथि बन कर आते रहते हैं, उन तोतो मे से कोई रुग्ण भी हो जाता है, कोई अपग हो जाता है, तो कोई उड नही सकता। उन सबके लिए मुझे कुछ न कुछ जुटाना पडता है। वही मेरी निधि है।" यह उत्तर सुनकर खेत का मालिक हर्ष से गद्गद हो गया। उसे एक तोते के मुह से समाजदर्शन की सुन्दर व्याख्या सुनकर उस पर प्यार उमडा और प्रसन्न होकर उसने कहा—"आज से तुम स्वतन्त्र हो। जितना चाहो उतना अनाज मेरे खेत से ले जा सकते हो।"

इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य पर समाज का ऋण रहता है। परिवार, जाति, धर्मसघ और राष्ट्र आदि सबका समावेश 'समाज' शब्द मे हो जाता है। इस तोते की तरह पुराना ऋण उतारने के लिए, तथा कुछ को नया ऋण देने के लिए दान देना अत्यावश्यक है। दान देकर पुराना कर्ज कैसे चुकाया जाता है, इसके लिए एक उदाहरण और लीजिए—

एक चतुर और न्यायी राजा था। उसके राज्य मे लाखो आदमी नौकर थे। हर माह सबको वेतन दिया जाता था। एक दिन राजा ने सोचा कि उसका खजाची बहुत दिनो से बीमार है, वह अब कार्य करने मे अशक्त है अत एक ऐसे खजाची को रखा जाय, जो राज्य की आमदनी को अच्छे ढग से खर्च करे। राजा ने अपने समग्र राज्य मे घोषणा करवा दी कि मुझे इस प्रकार का खजाची चाहिए। घोषणा सुनकर खजाची बनने के लोभ मे दूर दूर से हजारो आदमी आने लगे। सुबह से शाम तक तांता लगा रहता। सभी अपनी आमदनी का खर्च इस प्रकार बढा-चढाकर राजा को बताते थे कि राजा उन्हे अवश्य ही खजाची बना लेगा। लेकिन एक साल होने आए, अभी तक राजा को कोई खजाची के योग्य आदमी नही जचा। आखिर एक दिन एक माली राजदरबार मे आया। वह बोला—"महाराज! मुझे केवल २०) मासिक वेतन मिलता है। मैं दरबार के बाग मे काम करता हूँ। अपनी आधी आमदनी मैं अपने खाने-पीने तथा घर की व्यवस्था मे खर्च कर देता हूँ। चौथाई वेतन मे अपना कर्ज चुकाता हूँ। और शेष चौथाई वेतन उधार दे देता हूँ।" चतुर राजा समझ गया कि यह माली बहुत होशियार है, इसकी बात मे कुछ रहस्य है। राजा ने उससे पूछा—"तुम पर किसका कर्ज है? और इतनी थोडी-सी आमदनी मे से उधार पर रुपये कैसे दे पाते हो?"

माली बोला—"महाराज! मेरे माता-पिता ने मुझे पाला-पोसा था। समाज

ने मुझे यह सब ज्ञान-विज्ञान, सस्कार आदि दिये। उनकी सेवा करता हूँ। उनके लिए जो भी खर्च करता हूँ वह एक तरह से कर्ज ही तो चुकाता हूँ। साथ ही अपने बच्चो तथा अन्य निर्धन बालको की शिक्षा पर जो भी खर्च कर रहा हूँ, वह भी एक तरह से उधार देने के समान है। वे बड़े होकर मेरी सेवा करके उस कर्ज को चुकायेंगे। इस प्रकार मैं परिवार और समाज को अपने वेतन मे से चौथाई देकर अपना पुराना कर्ज चुकाता हूँ और नई पीढी को शेष चौथाई वेतन देकर कर्ज देता हूँ।' राजा उसकी बातें सुनकर अतीव प्रसन्न हुआ और उसे ही खजाची पद पर नियुक्त कर दिया।

इसी दृष्टि से दान देना समाज का कर्ज चुकाना है। इसके विपरीत केवल सग्रह करके रखने से या बटोरने से तो वह कर्ज बढता ही जाएगा, चुकेगा नही, उसके सिर पर लदा रहेगा।

जैनशास्त्र स्थानागसूत्र मे समाज के इसी ऋण की ओर स्पष्ट सकेत किया गया है—

"तिण्ह दुप्पडियार समणाउसो!
तजहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स।"

—स्थान० ३।१।१३५

आयुष्मान् श्रमणो! इन तीनो के उपकार (दान) का बदला (प्रतिदान) देना बडा दुष्कर है। वे तीन ये हैं—माता-पिता का, स्वामी का और धर्माचार्य का।

इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि दान भी समाज और अन्य प्राणियो से सेवा के रूप मे या सहायता के रूप मे लिये हुए दान का प्रतिदान (बदला) चुकाना है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन पर जो अनेको प्राणियो का, समाज, परिवार, जाति व राष्ट्र का चढा हुआ ऋण है, या जो ऋण प्रतिदिन चढाता जा रहा है, उसे प्रतिदान देकर चुकाना एव नई पीढी को ऋण देना अनिवार्य कर्तव्य है, और ऐसा सोच कर प्रतिदिन दान देना आवश्यक है।

दान देना कर्तव्य है

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। किसी मनुष्य ने कुछ पाया है, या जो कुछ पाने मे वह समर्थ हुआ है, उसमे सारे समाज का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग है। इसलिए मनुष्य समाज का ऋणी है और समाज प्रत्येक मनुष्य से उसका हिस्सा पाने का अधिकारी है। अतएव इस दृष्टि से दान का यह अर्थ सहज ही प्रतिध्वनित होता है, कि मनुष्य का कर्तव्य है, समाज को अपने अधिकार का देना। यानी दान एक तरह से दुखी और भूखे आदि को उसका अधिकार सौंप कर अपना कर्तव्य अदा करना है।

यही प्रेरणा ईशावास्यउपनिषद् मे दी गई है—

"तेन त्यक्तेन भुजीथा, मा गृध. कस्यस्विद् धनम्।"

—पहले त्याग (दान) करके फिर उपभोग करो। किसी भी पदार्थ या धन पर आसक्ति न करो, धन किसका है ?

एक राजा था, उसके तीन पुत्र थे। राजा बूढा हो चला था। इसलिए उसकी इच्छा थी कि इन तीनो पुत्रो मे से अपने उत्तराधिकारी को चुन लूं। कई दिनो तक वह निर्णय नही कर सका। आखिर बूढे मन्त्री की सलाह से उसने तीनो राजकुमारो के सामने एक-एक थाली मे खीर परोसी और व्याघ्र के समान शिकारी कुत्तो को खोलकर छोड दिये। कुत्ते छूटते ही राजकुमारो के पास आए और थाली मे मुँह डालने लगे। पहला लडका तो भय के मारे उठ खडा हुआ और थाली उठाकर पेटी मे रख दी और भागा। दूसरा राजकुमार डडा लेकर कुत्तो को मारने लगा, उसने कुत्तो को तो बिलकुल नही खाने दिया, लेकिन स्वय भी सुखपूर्वक न खा सका। तीसरे राजकुमार ने सोचा—अकेले खाना ठीक नही है, मेरी थाली मे परोसी हुई थाली मे कुत्तो का भी हिस्सा है, इसलिए इनके हिस्से का इन्हे दे देना चाहिए। यह सोचकर उसने कुत्तो को कुछ खीर देदी, वे प्रेम से खीर चाटने लगे, तब तक राजकुमार ने भी निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक खीर खा ली।

इस रूपक के अनुसार समाज मे भी तीन प्रकार के व्यक्ति हैं, एक वे हैं, जो न खाते हैं, न खाने देते हैं, वे अपने पास की साधन सामग्री न तो किसी को देते हैं, न स्वय उसका उपभोग करते हैं। वे दानरूप कर्तव्य के मौके पर भाग खडे होते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति दूसरो को तो बिलकुल ही नही खाने देते। वे डडा मारकर भगा देते हैं, जबकि तीसरे प्रकार का व्यक्ति अपने प्राप्त साधनो मे दूसरो का हक समझकर उन्हे पहले देता है, वह पहले जरूरतमदो को देना अपना कर्तव्य समझता है, तदुपरान्त सुखपूर्वक निश्चिन्तता से स्वय उपभोग करता है। यही दृष्टि सामाजिक दान के पीछे व्यक्ति की होनी चाहिए।

कई लोग यह कहा करते हैं कि दान देने वाले के दिल मे अहभाव पैदा हो जाता है और वह यह सोचने लगता है कि मैं गरीबो को दान देकर उन पर एहसान करता हूँ। मैं दान नही देता तो अमुक व्यक्ति भूखे मर जाता। मैं दानी हूँ, इसलिए बडा हूँ, यह भावना ठीक नही है। दान तो मनुष्य का कर्तव्य है, किसी पर एहसान लादकर अपना बडप्पन जताना नही है। दानी बडा है और आदाता छोटा है, यह भावना ही उचित नही है। उलटे, यह विचार करना चाहिए कि दान देने वाले को लेने वाले ने दान देने का उत्तम अवसर प्रदान किया है। समाज की वस्तु ही समाज के अमुक जरूरतमन्दो को सौंपनी है। इसमे ऐहसान किस बात का ? बल्कि कर्तव्य है कि उन्हे जल्दी से जल्दी देना चाहिए। पीडितो, निर्धनो, अभावग्रस्तो या प्राकृतिक प्रकोप ग्रस्तो की अवस्था देखते ही उन्हें दे देना चाहिए।

इसीलिए वैदिक ऋषि ने समाज सम्बद्ध मानव को कहा है—

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर ।"[१]

—अगर तुम सो हाथो से धनादि साधनो को बटोरते हो, तो तुम्हारा कर्तव्य है, हजार हाथो से उसे (जरूरतमदो मे) वितरित कर दो, बाट दो, दे दो।

सवत् १९५६ के दुष्काल की घटना है। जैनाचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज विचरण करते हुए सौराष्ट्र के एक गांव मे पधारे, वहाँ झौंपडे बने देखकर आचार्य श्री ने गाँव के लोगो से पूछा—"क्यो भाई ! ये झौपडे यहाँ क्यो और किसने बनाये हैं ?" ग्रामवासी लोगो ने कहा—"महाराज ! इस साल इस इलाके मे भयकर दुष्काल पडा। ग्रामवासी लोग भूखो मरने लगे। हमारे गाँव के एक बोहराजी हैं, जो पहले अत्यन्त गरीबी मे पले थे, उनकी माँ चक्की पीसकर गुजारा चलाती थी। किन्तु माँ के आशीर्वाद से और बोहराजी के सद्भाग्य से आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई। किसी शहर मे इन्होने जमीन खरीदी थी, उस जमीन को खोदने से उसमे से हीरे, पन्ने, जवाहरात आदि निकले। बोहराजी के भाग्य खुल गये। बोहराजी ने गाँव पर आये हुए दुष्काल के सकट की बात सुनी तो वे स्वय गाँव मे आये। दु खद स्थिति देखकर उनका करुणाशील हृदय पसीज उठा। उन्हे अपनी गरीबी के दिन याद आए। मन मे सोचा—"इस गाँव की सकटापन्न स्थिति देखकर भी मैं अकेला मौज से रहूँ और मेरे ग्रामवासी दुख मे रहें, यह स्थिति मेरे लिए असह्य है। मेरा कर्तव्य है कि गाँव वालो को कुछ देकर उनका सकट दूर करूँ। मेरे पास क्या था ? गाँव वालो की सद्-भावना से ही आज मैं दो पैसे वाला बन गया हूँ अत इस दुष्काल सकट को अकेले ही मुझे निवारण करना चाहिए। बस, क्या था। वे गाँव वालो से मिले। हाथ जोडकर कहा—"आप मेरे भाई हैं। मैं अपना फर्ज अदा करने के लिए आप लोगो की कुछ सेवा भोजनादि से करना चाहता हूँ।" पहले तो गाँव वालो ने आनाकानी की। लेकिन बोहराजी की नम्रता देखकर लोगो ने उनका भोजन लेना स्वीकार किया। तब से बोहराजी ने दो कडाह चढा रखे हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिए अलग-अलग रसोई होती है। यहाँ गाँव के लोग भी भोजन करते हैं, और अन्य गाँव के दुष्काल पीडित भी। बोहराजी ने दुष्काल पीडितो के रहने के लिए ये झौंपडे भी बनवा दिये हैं। यह जो ऊँची हवेली है, यह बोहराजी की है। बोहराजी की माताजी जिस चक्की से आटा पीसती थी, वह चक्की सबसे ऊपरी मजिल मे माता की स्मृति मे और अपनी भूतपूर्व गरीब स्थिति की विस्मृति न हो, इसलिए रखी गई है। ग्राम-वासी लोगो से बोहराजी की दानरूप मे कर्तव्य की जागरूकता देखकर आचार्यश्री ने अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की।

वास्तव मे, धनवान व्यक्ति को निर्धनो के प्रति अपने दानरूप कर्तव्य पर ध्यान देना चाहिए और उनके माँगे बिना ही दानरूप मे सहायता करनी चाहिए।

☆

---

१ ऋग्वेद (३/२४/५)

10

दान : भगवान एवं समाज के प्रति अर्पण

भारत के ऋषियो का चिन्तन कहता है कि दान दो, पर लेने वाले को दीन-हीन समझ कर मत दो। यदि दीन-हीन समझकर दोगे तो उसमे अहंकार का विष मिल जाएगा, जो दान के ओज को नष्ट कर देगा। अत लेने वाले को भगवान समझ कर दो। वैष्णव धर्म की परम्परानुसार भक्त भगवान के मन्दिर मे पहुँचता है, मूर्ति के सामने मोहनभोग और नैवेद्य चढाता है, वहाँ वह भगवान को दीन-हीन समझकर अर्पण नही करता, अपितु विश्वम्भर समझकर अर्पण करता है, देता है। उस समय उसकी भावना यही रहती है कि—"प्रभो! यह सब तुम्हारा है, तुम्हे ही समर्पण कर रहा हूँ।[1]" यह कितनी गहरी और ऊँची भावना है।

अर्पण मे कितना आनन्द और उल्लास है! पुत्र पिता को भोजन अर्पण करता है, उसमे भी 'पितृदेवोभव' की भावना होती है, वैसे ही जैन दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझकर दो। बादलो की तरह अर्पण करना सीखो बादल आकाश से पानी नही लाते, वे भूमण्डल से ही ग्रहण करते हैं। बादलो के पास जो एक-एक बूंद का अस्तित्व है, वह सब इसी भूमण्डल का है। इसी से लिया और इसी को अर्पण कर दिया। यही भगवदर्पण की तरह मेघो द्वारा भूमडल को अर्पण है, भूमडल की चीज भूमडल को समर्पित है। इसमे एहसान किसी बात का नही, और न अहकार है, बल्कि प्रेम और विनय है। बस, यही वृत्ति प्रत्येक मानव मे होनी चाहिए कि वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा (प्रभु) समझकर अर्पण करे।

वैष्णव सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य रामानुज के जीवन का प्रसंग है। उन्होंने धनुर्दास नामक एक निम्नवर्णीय व्यक्ति को अपना भक्त बनाया। वे मठ से कावेरी नदी जाते समय वृद्धावस्था के कारण एक ब्राह्मण भक्त का हाथ पकड कर चलते और वापस श्रीरगम् के मन्दिर की ओर लौटते समय उसी धनुर्दास का हाथ पकडकर चलते। इससे उच्च वर्णाभिमानी ब्राह्मण भक्तो मे आचार्यश्री के इस कार्य पर छीटाकशी होने लगी। आचार्यश्री के कानो मे बात पडी तो उन्होने धनुर्दास की सर्वस्व भगवदर्पणता की विशेषता बताने की सोची। जब धनुर्दास आरती के समय मन्दिर

---

१ 'त्वदीय वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये।'

मे आया तो उसे रोककर अपने ब्राह्मणत्वाभिमानी शिष्यो को बुलाकर कहा, 'जाओ धनुर्दास की पत्नी हेमाम्बा (जो पहले वारागना थी, किन्तु धनुर्दास को ही अब पति मानने लग गई थी, वैष्णव भक्ता हो गई थी) के सारे आभूषण उतार लाओ।' शिष्यो को आश्चर्य तो हुआ, लेकिन गुरु-आज्ञा-पालन अनिवार्य समझकर ३-४ शिष्य रात्रि के समय धनुर्दास के घर मे गए। हेमाम्बा को सोई देखकर वे जल्दी-जल्दी उसके शरीर पर से रत्नजटित आभूषण उतारने लगे। एक बाजू के गहने उतारे थे कि हेमाम्बा ने पासा फिराया तो शिष्यो ने सोचा—नीद उड गई है, ऐसा जानकर जितने गहने उतारे थे, उन्हे चुपचाप लेकर आचार्य के पास पहुँचे। उन्हे देखते ही आचार्य ने धनुर्दास से कहा, 'धनुर्दास! बहुत देर हो गई। अब अपने घर जाओ।' वह गया कि तुरन्त शिष्यो ने हेमाम्बा के शरीर से उतारे हुए वे गहने उनके सामने रखे। आचार्य ने कहा—'अच्छा! अब धनुर्दास के घर जाकर देखो कि वह क्या करता है? उसके घर मे इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है?' शिष्य पुन धनुर्दास के घर पहुँचे। बाहर से ही देखा कि घर मे दीपक जल रहा है। हेमाम्बा शय्या पर बैठी थी। उसे देखते ही धनुर्दास ने कहा—'आज यह कैसा वेष बनाया है, तुमने? शरीर पर एक ओर के गहने हैं, दूसरी ओर के नही! इसका क्या अर्थ है?' 'इसका अर्थ है, मेरा दुर्भाग्य, हेमाम्बा ने खिन्न स्वर मे कहा। 'आप आचार्य के पास बैठे थे, तब मैं सोई-सोई कुछ विचार कर रही थी, इतने मे घर मे चोर घुसे। मैंने देखा कि वे सबके सब ब्राह्मण थे। सोचा, बहुत दुर्दशा मे होगे, तभी तो ब्राह्मण होकर चोरी करने मे प्रवृत्त हुए हैं। इन्हें कुछ मदद देनी चाहिए, यह सोचकर मैंने सोने का बहाना किया। चोरो ने जब एक बाजू के गहने उतार लिए तब मैंने दूसरी बाजू के गहने भी दे देने के लिए पासा फिराया कि वे लोग, 'मैं जग गई हूँ' यह जानकर चल दिये। मेरा दुर्भाग्य कि बाकी के गहने मैं उन्हे न दे सकी।'

धनुर्दास ने कहा—'यह तेरा दुर्भाग्य है ही, साथ ही अज्ञान भी। आचार्य का उपदेश सुनकर भी तू यह मानती है कि ये गहने मेरे हैं। तू इन्हें ब्राह्मणों को देती है तो उन पर कुछ एहसान करती है? अरे! यह सर्वस्व, सारी सम्पत्ति, भगवान की है। तू कौन किसी को देकर उपकार करती है! यह छोटी-सी बात समझ सकी होती तो चुपचाप ज्यो की त्यो पडी रहती। चोरो को जो कुछ ले जाना होता, ले जाते। पर अब सोच करने से क्या? धैर्य रख, भगवान की इच्छा होगी तो बाकी के गहने दूसरे किसी के काम आएँगे।' शिष्य अब वहाँ अधिक न रुके और मठ मे आकर आचार्यश्री से सारी बात कही। आचार्य रामानुज अर्थपूर्ण मुद्रा मे मुस्करा कर बोले—'अब तुम ही कहो, मैं भगवान के मन्दिर मे जाते समय किसका हाथ पकडूँ? अपना सर्वस्व दे देने वाले परम वैष्णव धनुर्दास का या चार अगुल कपडे के टुकडे के लिए झगडने वाले तुम जैसे कुलाभिमानी ब्राह्मणो का? तुम ही कहो, सच्चा वैष्णवत्व या ब्राह्मणत्व तुम मे है या धनुर्दास में?' सभी शिष्य लज्जा से नतशिर हो गए।

वास्तव मे भगवदर्पण समझकर दान देने वाले व्यक्ति के जीवन मे अद्भुत आनन्द और सन्तोष होता है।

मैं मानता हूँ कि भगवदर्पण की यह भावना भक्तिमार्ग की देन है। किन्तु दर्शन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नही है। जैन, बौद्ध एव वैदिक तीनो ही दर्शन आत्मा मे परमात्मस्वरूप या परमात्म अस्तित्व की निष्ठा रखते हैं। आत्मा परमात्मा है, जब हम किसी आत्मा की सेवा करते हैं, उसे कुछ अर्पण करते हैं तो एक दृष्टि से परमात्मा के लिए ही अर्पण किया जाना समझना चाहिए। अत भक्ति-योग तथा ज्ञानयोग की दृष्टि से विचार करें तो चैतन्य के प्रति अर्पण ईश्वरार्पण ही है, आप जब किसी चेतन आत्मा को कुछ देते हैं तो उसके विराट् ईश्वर रूप पर दृष्टि टिकाइए कि इस देह मे भगवान हैं, शरीर मे आत्मा है, वही परमात्मा है मैं उसे ही दे रहा हूँ।' यह दान की विराट् दृष्टि है, क्षुद्र देह को न देखकर विराट् आत्मा को देखना और उसके प्रति अपर्ण करना—यह दान का दर्शन है। दान की इस विराट दृष्टि से युक्त व्यक्ति सब कुछ भगवान का भगवद्मय मानकर चलता है।

दान भगवान का हिस्सा निकालना है

दूसरी दृष्टि से सोचें तो इसी वैष्णव दर्शन के अनुसार दान एक तरह से भगवान का हिस्सा निकालना है। जो इस मान्यता के अनुसार अपनी कमाई मे से अमुक अश भगवान का समझकर निकालते हैं, उन्हे भी दान देने मे न तो सकोच होता है, न अहकार सताता है और न ही लोभवृत्ति हैरान करती है। उनके लिए दान, दान नही, भगवदर्पण या भगवान का हिस्सा भगवान को सौंपना हो जाता है। इस प्रकार का भगवदश निकालकर वे लोग जब उस अश को गरीबो, दीनो, अनाथो, अपाहिजो, दु खियो या पीडितो की सेवा मे खर्च करते हैं, उनकी परिस्थिति देखकर बिना मागे ही दे देते हैं, तो वह प्रकारान्तर से भगवान को ही पहुँच जाता है। ऐसा समझ लेना चाहिए। फिर वह भगवदश कही किसी एक मन्दिर या मठ मे चढाने की बात नही रहती, सारा विशाल भूमडल ही भगवान का मन्दिर होता है, चारो दिशाएँ उस मन्दिर की दीवारें होती हैं, आकाश उस मन्दिर का गुम्बज होता है, पर्वत उस व्यापक मन्दिर के द्वारपाल होते हैं, नदियाँ उस विशाल मन्दिर मे विराजमान असख्य प्राणियो के चरण धोती है। असख्य मानवादि प्राणी उसके पुजारी होते हैं। इस प्रकार मानकर वह परम वैष्णव (ब्रह्माण्डव्यापी भगवान का भक्त) अपनी आय मे से निकाले हुए भगवदश को अमुक-अमुक जरूरतमदो को देकर या उनकी सेवा मे लगा कर भगवान के ऋण से कुछ अशो मे मुक्त हो जाता है। ऐसे भगवदश निकालने वाले व्यक्ति को किसी प्रकार की कमी नही रहती।

कई बार व्यक्ति अमुक हिस्सा भगवान का निकालने का सकल्प करके भी नीयत बिगाड लेता है और नीयत मे फर्क आ जाने पर बरकत मे भी फर्क आने लगता है। इसलिए व्यक्ति अपने सकल्प को दुर्बल न बनाए।

मनुष्य अपनी जिन्दगी मे जो भी कुछ कमाता है, उसे प्रभु की धरोहर मान कर चले और अपने व परिवार के लिए थोडा-सा रख कर बाकी का प्रभु के नाम से निकाल कर दान दे, आवश्यकता हो, वहाँ सत्कार्य मे व्यय करे तो सहज रूप से ही समाजवाद आ जाय। सरकार को समाजवाद का नारा लगाने की जरूरत ही न रहे। और इसी के साथ ही देने मे आत्मतुष्टि, लाभ मे नम्रता और हानि मे धैर्य की वृत्ति बनती है। पर माई के लाल हैं, इस युग मे, जो भगवान् का हिस्सा निकाल कर इस प्रकार दानधर्मादि किया करते हैं।

गरीब से गरीब आदमी भी दृढ विश्वास के साथ ऐसा भगवदर्पण करता है, तो उसके व्यापार धन्धे मे बरकत हुई है। यह कोई मनगढन्त कहानी नही है, ठोस सत्य है। कोलगेट साबुन व टूथपेस्ट बनाने वाला विश्वविख्यात विलियम कोलगेट अमेरिका के अत्यधिक गरीब का लडका था। इसके माता-पिता घर पर ही साबुन बनाते और गरीबो के मोहल्ले मे बेचते थे। इसमे से जो थोडा-बहुत मिलता, उसी से गुजारा चलाते थे। एक दिन विलियम से पिता ने कहा—'बेटा! यो कब तक चलायेंगे, तू न्युयार्क जा और वहाँ अपना भाग्य अजमा।'

विलियम पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके गाँव की सीमा पर आया तो एक वृद्ध मिले। उन्होने पूछा—'विलियम! कहाँ जा रहा है?' 'चाचा! मैं अपना भाग्य अजमाने न्युयार्क जा रहा हूँ। वही साबुन का व्यवसाय करूँगा।' वृद्ध ने कहा—'ठीक! पर मेरी बातें ध्यान मे रखोगे तो बरकत होगी। वे ये हैं—(१) धन्धे में प्रामाणिकता, (२) ग्राहको के साथ ईमानदारी, (३) माल मे मिलावट न करना, क्वालिटी ठीक रखना, तौलनाप मे पूरा देना, (४) परमात्मा की कृपा से मिले हुए मुनाफे मे से अमुक हिस्सा निकाल कर सत्कार्य मे दे देना।'

वृद्ध की बात विलियम को जच गई। रास्ते मे एक चर्च आया, उसमे जाकर विलियम ने वृद्ध की साक्षी से प्रार्थना की और इकरार भी किया—'मैं जो कुछ कमाऊँगा, उसमे से दसवाँ हिस्सा पुण्य का निकाल कर दानादि सत्कार्य मे खर्चू गा।' न्युयार्क मे जाकर विलियम ने एक छोटा-सा साबुन का कारखाना खोला। पहले दिन उसे एक डालर मुनाफा रहा, उसमे से दशमाश निकाल कर सत्कार्य मे खर्च कर डाला। अब विलियम पर दिन-प्रतिदिन प्रभु का आशीर्वाद बरसता गया। नफे में वृद्धि होने लगी। धन्धा जोरशोर से चलने लगा। ज्यो-ज्यो मुनाफा बढने लगा, वह पुण्य का हिस्सा भी बढाता गया। इस प्रकार विलियम कोलगेट एक नामी धनिको मे हो गया।

सचमुच, दान ईश्वरीय अश को सत्कार्य मे अर्पण करना है। जब मनुष्य दृढ श्रद्धा के साथ इसे अर्पण करता है तो उसका चमत्कार भी उसे दिखाई देता है। उसकी दृढ श्रद्धा के साथ उसे दान की बलवती प्रेरणा भी मिलती जाती है।

'मुझे अपने गुजारे के लिए ज्यादा खर्च नही करना पडता।' वृद्ध ने कहा। गाँधीजी—'फिर भी मनुष्य को जीने के लिए कुछ तो चाहिए। आपकी आवश्यकता कितनी है ?' वृद्ध—'मुझे तो दाल-रोटी के लिए अधिक जरूरत नही है, केवल १०) रु० मासिक चाहिए।' मेरे स्त्री, पुत्र या परिवार नही है। मेरे भतीजे थे, उन्हे मैंने पढा-लिखाकर काम पर लगा दिया। अत अब मैं अकेला ही हूँ। अधिकाश समय सस्कृत पाठशाला मे बच्चो को पढा कर व्यतीत करता हूँ।' गाँधीजी—'तब तो आपने अपनी सीमित आय मे से जो कुछ हजार बचाए, वे सब गरीबो की सेवा मे दान कर दिये। यह बहुत बडी बात है। आपसे लोग यह कला सीख लें तो कितना अच्छा हो।'

वृद्ध—'महात्माजी ! मैंने अपने लिए तो बहुत कम खर्च किये हैं। कई दफा तो मैंने अपने पास जो कुछ था, वह गरीबो को दे दिया है। अभी मेरे पास कुछ और रुपये बचे हैं, जिन्हे मैं फिर कभी लाऊँगा। मुझे यह पता नही है कि कौन सुपात्र मेरी इस मामूली पूँजी के लिए योग्य है, इसलिए आपके पास चला आया, इन्हें देने। आप सुपात्र गरीबो को जानते है। आपने मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार करके कृतार्थ किया। मुझे आज अत्यन्त सन्तुष्टि है कि मैं अपनी आय मे से गरीब भाइयो के लिए कर्त्तव्य रूप मे कुछ भाग निकाल सका।' यो कहकर वृद्ध अध्यापक ने गाँधीजी के चरण छूए और धीरे-धीरे चला गया।

सचमुच यह घटना कर्तव्य रूप मे दान की और अपने भाग मे से समाज के लिए भाग देने की प्रेरणा दे रही है। इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

'यदि आप भाग्यवान हैं तो अपने भाग मे से भाग देना सीखिए। आपकी सम्पत्ति मे समाज का भी हिस्सा है। यदि भाइयो मे सम्पत्ति या जमीन-जायदाद के हिस्से हो रहे हो और आपको अपना हिस्सा न मिले तो आप कितने बेचैन हो उठते हैं ? किन्तु समाज का भाग, जो आपके पास है, उसे देने के लिए बेचैन होते हैं, या नही ?'

परन्तु देखा यह जाता है कि सम्पन्न लोग अपने स्वार्थ के कामो मे तो खुले हाथो खर्च करते है, लेकिन जब कोई कर्तव्य के रूप मे दान देने का प्रसग आता है, तो वे कृपणता दिखाते हैं, कई बहाने बनाते हैं।

एक प्रचारक जी एक धनिक के पास अनाथालय के लिए चन्दा लेने पहुँचे। उन्होंने अनाथालय की पिछली कार्यवाही का विवरण बताया, सस्था का उद्देश्य और समाज के धनिको का कर्तव्य बताकर कहा—'सेठजी ! इस सेवाभावी सस्था के लिए कुछ दान दीजिए।' यह सुनकर सेठ विचार मे पड गए। बोले—'अभी तो, आप जानते हैं कि व्यापार मन्दा चल रहा है।' हालाकि सेठ के घर मे पखा, रेडियो, रेफ्रीजेटर, ऐयर कडीशन रूम वगैरह की सब सुख-सुविधाएँ बाकायदा चालू थी। पर अच्छे कार्य के लिए दान देने मे कमाई की कमी का बहाना बना लिया। प्रचारक

परन्तु जिनके दिल मे दान का दीपक जल उठता है, कर्तव्य की रोशनी जिनके हृदय मे हो जाती है, वह व्यक्ति फिजूल कामो मे एक भी पाई खर्च करने से कतराता है, एक दियासलाई भी व्यर्थ खर्च करने मे हिचकिचाता है, मगर समाज-सेवा का कोई कार्य आ जाता है अथवा विपद्ग्रस्तो को दान देने का प्रसग आता है तो वे मुक्तहस्त से लुटाते हैं।

प० मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के लिए करोडो रुपये राजा-महाराजाओ से इकट्ठा किया था। वे कहा करते थे—भारतवर्ष के हर घर पर दाता खडा है, कोई लेने वाला चाहिए।' एक बार वे कलकत्ता के एक नामी सेठ के यहाँ बडा भारी दान पाने की आशा से पहुँचे तो उस समय घर का मालिक बैठकखाने मे ही बैठा था। प० मालवीयजी को उसने सत्कारपूर्वक बिठाया। इतने मे उनका एक छोटा लडका आया और एक दियासलाई की सीक जलाकर डाल दी, दूसरी जलाने लगा तो सेठ ने उसे रोका, डाटा और कसकर एक थप्पड जड दी। लडका रोता हुआ बाहर चला गया। मालवीयजी विचार मे पड गए—'जो मनुष्य एक दियासलाई के जलाने पर अपने लडके के थप्पड मार सकता है, वह सार्वजनिक सस्था के लिए क्या दान देगा?' वे निराश होकर जाने लगे। सेठ ने कहा—'आप जा क्यो रहे हैं? मेरे लायक सेवा फरमाइए न?' मालवीयजी ने उनसे कहा—'मैं तो हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिए कुछ दान लेने आया था।' सुनते ही सेठ ने ५० हजार रुपये का चैक काट कर दे दिया। मालवीयजी अवाक् रह गए। जाते-जाते उन्होंने पूछ ही लिया—'सेठजी! मै तो पहले इसी कारण से निराश होकर जा रहा था कि जो व्यक्ति एक दियासलाई जलाने पर अपने लडके के थप्पड मार सकता है, वह कोमल-हृदय कैसे होगा? वह क्या रुपया देगा, इस सार्वजनिक सेवा सस्था के लिए?'

सेठ ने कहा—'मालवीयजी! जिस कार्य से लडके का कोई हित न हो, भविष्य की परम्परा बिगडे, उसे मैं बरदास्त नही कर सकता। वैसे सदुपयोग के लिए लाखो रुपये खर्च करने को तैयार हूँ।' मालवीयजी का समाधान हो गया। वे सन्तुष्ट होकर चले गए।

तथागत बुद्ध की दान के सम्बन्ध मे कितनी सुन्दर प्रेरणा है—

सक्कच दान देथ, सहत्था दान देथ।
चित्तीकत दान देथ, अनपविद्ध दान देथ॥[1]

—'सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो।'

सहानुभूतिपूर्ण हृदय मे दान की प्रेरणा सहज होती है

जो व्यक्ति सहृदय होते हैं, दूसरो के दुखो को देखकर पिघल जाते हैं और

---

१ दीघनिकाय २।१०।५

उनके दु ख मे रो पडते हैं, वे व्यक्ति उनके दु खो को मिटा कर ही दम लेते हैं। वे दान दिये बिना रह ही नही सकते। उनके हृदय मे दान की प्रेरणा सहज होती है।

ईरान के महाप्राण कवि शेखशादी के बोस्ता की एक कथा है—एक बार दमिश्क मे भारी दुष्काल पडा। लोग घडाधड भूखे मरने लगे। पानी भी दुखियो की आँखो के सिवाय कही नजर नही आ रहा था। पेड पत्तो और फूलो से रहित बिलकुल ठूंठ-से हो गये थे। इसी अर्से मे एक दिन एक मित्र मुझसे मिलने आया। उसका दीदार देखकर मैं विचार मे पड गया। एक जमाने मे शहर के धनिको मे अग्रगण्य, आज सूखकर अस्थिपजर क्यो हो गया है? मैंने उससे पूछा—'मेरे नेक दोस्त! तुझ पर कौन-सी आफत आ गई जिससे इस प्रकार फटेहाल हो गया?' सुनते ही पुण्य प्रकोप से वह लाल-लाल आँखें करके घूरते हुए बोला—अरे पागल! सारी बात जानता है, फिर भी मुझे पूछता है? तेरी अक्ल कहाँ चरने गई है? तुझे पता नही कि विपत्ति सीमा तोड चुकी है। आश्वासन देते हुए मैंने कहा—'परन्तु इन सबसे तुझे कौन-सी आच आई? जहर तो वही फैलता है, जहाँ अमृत न हो। प्रतिदिन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तू तो वैसा का वैसा सही सलामत है।' मेरी बात सुनकर रजभरी आँखो से उसने मेरे सामने देखा। वह ऐसा खिन्न मालूम होता था, मानो कोई ज्ञानी अज्ञानान्धकार मे भटकते हुए व्यक्ति को ताक रहा हो। दीर्घ-नि श्वास लेते हुए उसने मुझसे कहा—'मेरे अज्ञात भाई! अगर किसी आदमी के तमाम मित्र समुद्र मे डूब रहे हो और अकेला ही किनारे खडा-खडा उन्हे देख रहा हो, तो उसे चैन पड सकता है? मेरे पास धन न रहा, ऐसी बात नही है। मैंने अपने धन का सदुपयोग इन्ही भूखो और दु खियो के दु ख निवारण मे किया है, फिर भी मैं अकेला कितना कर सकता था? अक्लमन्द वही समझा जाता है, जो न स्वय जख्मी होना चाहता हो, और न दूसरो को जख्मी देखना चाहता हो! पास मे बीमार पडा कराह रहा हो, उस समय स्वस्थ आदमी को कभी चैन पड सकता है? बस, यही हालत मेरी है। मैं जब देखता हूँ कि मेरे आसपास हाय-हाय मच रही है, तो अमृत का कौर भी जहर बन गया है। मैं अपना धन, साधन और जो कुछ भी था, जरा-सा रखकर इन लोगो मे लुटा दिया। इसका मुझे कोई अफसोस नही। मेरा यह सहज कर्तव्य था।'

वास्तव मे दान देने के लिए विवेकी व्यक्ति को बाहर की प्रेरणा की जरूरत ही नही पडती उसकी अन्तरात्मा ही स्वय उसे दान देने की प्रेरणा करती है, जिसे वह रोक नही सकता।

सन् १९४० की बात है। जैन समाज के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री ऋषभदास जी राका अपने एक मित्र से मिलने गये हुए थे। वे दोनो गद्दी पर बैठे बातें कर रहे थे, इतने मे एक व्यक्ति आया और दु खित चेहरे से लाचारी बताते हुए बोला—"सेठजी! इस समय मैं बहुत दु खी हूँ। मुझे खराब बीमारी हो गई है। दवा के लिए और

खाने के लिए भी पैसे पास मे नही हैं। किसी काम पर भी इस समय जा नहीं सकता। कृपा करके मुझे कुछ मदद कीजिए।" राकाजी के मित्र ने पेटी खोल कर मुट्ठी मे जो कुछ आया, उसे दे दिया। राकाजी यह देख रहे थे। वे चुप न रह सके, बोले—आपने यह क्या किया ? वह तो चरित्रहीन और दुराचारी था।"

उनके मित्र ने कहा—"मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ, लेकिन वह दु खी था। उसका दु ख मुझसे नही देखा गया, इसलिए मैं इसे (दान) दिये बिना रह ही न सका।"

यह था, अन्त प्रेरणा से दान, जिसे राकाजी के मित्र रोक न सके।

तथागत बुद्ध की भाषा मे अन्तरात्मा मे दूसरी आत्माओ के प्रति श्रद्धा बढाने के लिए दान देना अत्यावश्यक है—

दान ददतु सद्धाय, सील रक्खतु सब्बदा।

भावनाभिरता होतु एत बुद्धान सासन।

—"आत्म-श्रद्धा बढाने के लिए दान दो, शील की सर्वदा रक्षा करो और भावना मे अभिरत रहो, यही बुद्धो का शासन (शिक्षण) है।"

अगर मनुष्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफादार रहे तो उसे अन्तर की आवाज या हृदय की प्रेरणा सब कुछ दे देने की होती है, भले ही वह उस आवाज को दबा दे।

श्री आइजन हॉवर (भूतपूर्व राष्ट्रपति अमेरिका) ने अपने भाषण के सिलसिले मे एक बार बडी मजेदार दिलचस्प कहानी सुनाई थी—"मेरे बचपन के दिनो मे मेरे घर वाले एक वृद्ध किसान के यहाँ गाय खरीदने गए। हमने किसान से गाय की नस्ल के बारे मे पूछा पर उस भोले-भाले किसान को नस्ल क्या होती है, यह कुछ भी मालूम न था। फिर हमने पूछा, कि 'इस गाय के दूध से रोज कितना मक्खन निकलता है ?' किसान को इतना भी ज्ञान न था। अन्त मे, हमने पूछा—'खैर, यही बताओ, तुम्हारा गाय साल मे औसतन कितना दूध देती है ? किसान ने फिर सिर हिलाते हुए जवाब दिया—मैं यह सब नही जानता। बस, इतना जानता हूँ कि यह गाय बडी ईमानदार है। इसके पास जितना भी दूध होगा, वह सब आपको दे देगी।" तदुपरान्त आईजन हॉवर ने अपने भाषण का अन्त करते हुए कहा—"सज्जनो ! मैं भी उसी गाय की तरह हूँ। मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब मैं आप लोगो (राष्ट्र व समाज) को दे दूंगा।"

सचमुच, अन्तरात्मा की दान की प्रेरणा की आवाज मे बडा बल होता है। महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर, या अन्य तीर्थंकर जो सर्वस्व त्याग (दान) करके निकले थे, उसके पीछे अन्तरात्मा की प्रबल आवाज ही तो थी।

तीर्थंकरो द्वारा वार्षिक दान अन्त प्रेरणा से

आज दिन तक जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, वे सभी सर्व-समय ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक सूर्योदय से लेकर प्रात कालीन भोजन तक एक करोड आठ लाख स्वर्णमुद्राएँ दान देते रहे हैं। आचाराग सूत्र[1] इस बात का साक्षी है। वहाँ तीर्थंकरो के द्वारा वर्षभर तक दान दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख है—

> सवच्छरेण होहिंति अभिक्खमण तु जिणवरिंदाण।
> तो अत्थि सपदाण पव्वत्ती पुव्वसूराओ।
> एगा हिरण्ण कोडी अट्ठेव अणूणया सयसहस्सा।
> सूरोदयमादीय दिज्जइ जा पायरासो त्ति ॥"

इस प्रकार का वार्षिक दान, यो ही नही हो जाता है, न यह कोई बिना समझ का दान है। यह तो तीर्थंकर जैसे परम अवधिज्ञानी के अन्त करण की प्रेरणा से प्रादुर्भूत दान है, जिसकी अखण्ड धारा लगातार एक वर्ष तक चलती है, और वह दान प्रक्रिया भी प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर कलेवा न कर लें, उससे पहले पहले तक चलती है। इसके पीछे भी गम्भीर रहस्य है। जगत् की दरिद्रता मिटाने के लिए एव अपनी त्याग की समृद्धि, क्षमता और शक्ति बढाने के लिए तो यह वार्षिक दान है ही, परन्तु सबसे बडी बात है, जगत् को दान की प्रेरणा देना। जगत् के लोग यह समझ लें कि धन मनुष्य की प्रिय वस्तु नही है, जिसे कि वह प्रिय समझता रहा है। सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है, उसे दान से ही श्रृंगारित—सुसज्जित किया जा सकता है, धन सग्रह से नही। अत दीक्षा लेने से पूर्व तीर्थंकर वर्षभर तक दान देकर ससार को दान देने का उद्बोधन करते हैं कि "दान दिये बिना आत्मा की शोभा नही है। दान से ही सर्वभूत मैत्री, आत्मीयता, विश्ववत्सलता विश्वबन्धुता आदि सम्भव है। दान से ही जीवन मे उदारता आती है, स्वार्थ त्याग की प्रेरणा जागती है फिर मनुष्य हिंसा असत्य, चोरी आदि दुष्कर्मो मे मन से भी प्रवृत्त नही होता। इसलिए सौ हाथो से कमाओ तो हजार हाथो से उसका दान कर दो।' यही कारण है कि तीर्थंकर बिना किसी भेदभाव के दान देते हैं। उनसे दान लेने के लिए सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि जो भी आते थे, उन्हे वे मुक्तहस्त से दे देते थे। ज्ञातृ धर्मकथाग सूत्र मे तीर्थंकर मल्लि भगवती के वार्षिक दान के सन्दर्भ मे वहाँ इस बात को स्पष्ट अभिव्यक्त किया है।[2] वे अपने वार्षिक दान से ससार को यह भी अभिव्यक्त कर देते हैं कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करने के बाद तो शील, तप और भाव, धर्म के इन तीन

---

१ श्रुत २।२३ गा ११२–११३

२ 'ततेण मल्ली अरहा कल्लाकल्लि० जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूण सणाहाण य अणाहाण य पथियाण य पहियाण य करोडियाण या कप्पडियाण य एगमेग हिरण्णकोडि अट्ठ य अणूणाति सय सहस्साति इमेयारूव अत्थसपदाण दलयति, ।'

—ज्ञातृधर्मकथा० श्रु० १, अ ८, सू ७६

अगो का पालन तो व्यावहारिक रूप से हो सकता है, परन्तु दान धर्म का पालन व्यवहार रूप से नही हो सकता। इसलिए गृहस्थाश्रमी जीवन मे रहते हुए ही दान दिया जा सकता है, इसी अन्त प्रेरणा से दान दिया जा रहा है। गृहस्थाश्रम दानधर्म पर ही टिका हुआ है। दान धर्म की बुनियाद पर ही गृहस्थाश्रम की जडें सुदृढ होती हैं।' इससे बढकर दान की और अधिक प्रेरणा क्या हो सकती है। दान धर्म का आचरण करके हृदय को मुलायम, नम्र, निरभिमानी, नि स्वार्थ, निष्काम एव निर्मल बना कर हृदय भूमि पर आत्मधर्म का बीजारोपण करते हैं।

तीर्थंकर महान् पुरुष होते हैं। उनका प्रत्येक आचरण जगत् के लिए अनुकरणीय होता है। उनकी प्रवृत्ति का अनुसरण करने से किसी भी व्यक्ति का किसी भी प्रकार का अहित नही। गीता की भाषा मे—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठ तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥'

—श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस वस्तु का आचरण करते हैं, अन्य साधारण जन भी उसी का आचरण करते हैं। वे जिस वस्तु को प्रमाणित कर जाते हैं, लोग उसी का अनुसरण—अनुवर्तन करते हैं।

इस दृष्टि से तीर्थंकरो द्वारा आचरित दानधर्म की प्रवृत्ति विश्व के लिए, खासतौर से सद्गृहस्थ के लिए प्रतिदिन आचरणीय है, अनुसरणीय है। दानधर्म के आचरण से किसी भी जीव का अनिष्ट या अहित नही है। बल्कि इसमे सारे विश्व का हित और कल्याण निहित है।

यही कारण है कि तीर्थंकर जैसे ज्ञानी पुरुष दीक्षा से पूर्व एक वर्ष मे कुल ३ अरब, ८८ करोड, ८० लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान दे देते हैं।[१]

इस प्रकार उच्चकोटि का दान देकर वे ससार के समक्ष गृहस्थाश्रम का भी एक आदर्श प्रस्तुत कर जाते हैं।

तीर्थंकरो के वार्षिक दान से एक बात यह भी ध्वनित होती है कि नाशवान धन का त्याग करने से ही अविनाशी आत्मा की खोज हो सकती है। जो व्यक्ति इस नाशवान धन के मोह मे पडा रहता है, इसे जरूरतमन्दो को नही देता, वह धन उस प्रमादी व्यक्ति की इस लोक मे या परलोक मे रक्षा नही कर सकता,[२] न ही धन कभी मनुष्य को तृप्त कर सकता है।[३]

---

१ तिण्णेव कोडिसया, अट्ठासीई अ होंति कोडीओ।
असियं च सयसहस्सा एयं सवच्छरे दिण्ण॥
—आव० नि० गा २४२

२ 'वित्तेण ताण न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था' —उत्तराध्ययनसूत्र

३ 'न हि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य —उपनिषद

उपनिषद् मे एक कथा आती है। याज्ञवल्क्य ऋषि अपने जमाने मे बहुत अच्छे विद्वान् और ज्ञानी थे। एक दिन उन्हे विचार आया कि इस प्रवृत्तिमय जीवन से अब मुझे सन्यास लेकर केवल आत्मा का ही, श्रवण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। अत उन्होने अपनी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दोनो पत्नियो को बुलाकर कहा—"लो, अब मैं सन्यास ले रहा हूँ, इसलिए सन्यास से पहले अपनी सारी सम्पत्ति तुम दोनो मे बांट देना चाहता हूँ। मैत्रेयी कुछ बुद्धिमती थी, उसने पूछा—"स्वामिन्! आप जिस सम्पत्ति को हमे देकर सन्यास लेना चाहते हैं, क्या वह सम्पत्ति हमे अमरत्व प्रदान कर सकेगी? याज्ञवल्क्य—"नही, यह सम्पत्तिस्वय नाशवान है, तब अमरता कैसे दे देगी? बल्कि सम्पत्ति का जो अधिकाधिक उपयोग अपने या अपने स्वार्थ के लिए ही करता है, उसे वह पतन, विलासिता और अशान्ति की ओर ले जाती है। वह मनुष्य को तृप्त नही कर सकती।" इस पर मैत्रेयी बोली—"स्वामिन्! तब मुझे यह भौतिक सम्पत्ति नही चाहिए। आप इसे बहन कात्यायनी को दे दीजिए। मुझे तो आध्यात्मिक सम्पत्ति दीजिए, जो अविनाशी हो। जिसे पाकर मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूं।" याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रेयी की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए उन्होने मैत्रेयी को आध्यात्मिक मार्ग बताया।

इस सवाद से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तीर्थंकरो के सावत्सरिक दान की तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस भौतिक धन का परित्याग करके आध्यात्मिक धन पाने का प्रयत्न करना चाहिए। भौतिक धन के परित्याग के लिए सबसे उत्तम और सुलभ मार्ग 'दान' का है।

हिन्दी के महान् प्रतिभाशाली साहित्यकार 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनो की समान कृपा थी। वे केवल अर्थ से ही धनी नही थे, दिल के भी धनी थे। मुक्तहस्त से उदारतापूर्वक धन लुटाने मे उन्हे अपार सन्तोष होता था। एक दिन एक मित्र ने स्वाभाविक स्नेहवश उन्हे टोकते हुए कहा—"तुम्हारे द्वारा इस प्रकार धन लुटाने से भविष्य मे कोई समस्या तो नही खडी होगी? जरा सोच-विचार कर खर्च किया कर।" इस पर हरिश्चन्द्र ने खिलखिलाते हुए कहा—"अरे भाई! इस धन ने मेरे पिता को खाया, दादा को खाया और प्रपितामह को खाया और मुझे भी तो आखिर खाएगा ही। तो फिर मैं ही इसे क्यो न खालूं?" विस्मय-विमुग्ध मित्र हरिश्चन्द्र की इस दार्शनिकतापूर्ण उदारता से बहुत प्रभावित हुआ।

कहना न होगा कि धन का अगर दान के रूप मे उपयोग नही किया जाता है तो वह मनुष्य को आसक्त, लुब्ध, कृपण अथवा विलासी या पतित बनाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। यानी धन को खाने के बदले, धन मनुष्य को इस तरह खा जाता है।

11

गरीब का दान

गरीब का दान अधिक महत्त्वपूर्ण

कई बार मनुष्य के अन्तर मे दान देने की शुद्ध प्रेरणा होती है, किन्तु उस प्रेरणा को वह दबा देता है। वह कभी तो मन को इस प्रकार मना लेता है कि मैं कहाँ धनवान हूँ। मुझसे बडे-बडे धनिक दुनिया मे पडे हैं, वे सब तो दान नही देते, तब मैं अकेला ही छोटी-सी पूंजी से कैसे दान दे दूंगा। पर वह यह भूल जाता है कि गरीब आदमी का थोडा-सा दान धनिको को महाप्रेरणा देने वाला बन जाता है।

आज मनुष्य का आत्मज्ञान साधारण तौर पर अपने परिवार तक ही विकसित हुआ है। मनुष्य प्राय स्त्री, पुत्र और परिवार के लिए कितना अधिक त्याग करता है और कष्ट सहता है, किन्तु परिवार के बाहर मनुष्य प्राय हृदयहीन रहता है। परिवार के बाहर साधारणत उसका आचरण पशु जैसा ही रहता है। इस मामले मे कम पूंजी वाले लोग भी उन दीन-दु खियो के प्रति सहानुभूति नही रखते। स्वय दरिद्र होने या दु ख का अनुभव किये हुए होने पर भी अधिक दरिद्र और दु खी को देखकर हमदर्दी नही पैदा होती। एक व्यक्ति दु.खी दीख सकता है, पर दूसरे दु खी की अपेक्षा से वह सुखी साबित हो सकता है। समुद्र सबसे नीचे है, इसलिए पृथ्वी का सारा जल समुद्र की ओर प्रवाहित होता है। इसी प्रकार समाज के अति धनी, धनी, मध्यम वर्गीय आदि सबका दान गरीब, दु खी, अभावग्रस्त एव पीडित को मिलना चाहिए। गरीब के पास भी जो थोडी-सी पूंजी है, उसमे से वह थोडा-सा भी देगा तो समाज मे उसके प्रति भी सद्भावना जागेगी और उसकी स्वय की शुद्धि, स्वामित्व विसर्जन की भावना, परम्परा से बालको मे दान देने की भावना, उदारता और सहृदयता पनपेगी।

तथागत बुद्ध एक बार भिक्षा के लिए जा रहे थे। रास्ते मे एक जगह कुछ बच्चे धूल मे खेल रहे थे। उनमे से एक बालक ने ज्योही तथागत बुद्ध को देखा, त्यो ही वह मुट्ठी मे धूल भर कर लाया और बुद्ध के भिक्षापात्र मे देने लगा। लोगो ने देखा तो उस बालक से वे कहने लगे—'गन्दे लडके! यह क्या दे रहा है, महात्मा-बुद्ध को ?' लडका भाव-विभोर हो रहा था। बुद्ध ने अपना पात्र उसके सामने कर दिया और बच्चे के हाथ से धूल लेने लगे। उन्होने उन लोगो को रोका, जो बच्चे को

झिडक रहे थे और धूल देने से मना कर रहे थे। उन्होंने कहा—'यह बच्चा धूल देकर महात्माओ को देना तो सीख रहा है। इसमे दान देने के सस्कार तो हैं।' इस प्रकार गरीबो के दान से उनके बालको मे भी दान के सस्कार सुदृढ होते हैं।

जो गरीब हैं, वे भी यह न मानें कि मैं क्या दे सकता हूँ, मेरे पास दान देने को क्या है ? केवल धन का दान ही, दान नही है, साधन, श्रम, बुद्धि, विचार आदि का दान भी है, उसकी कमी तो शायद गरीब से गरीब व्यक्ति के पास नही होगी। बल्कि गरीब लोग दान देने का सिलसिला शुरू कर देते हैं तो उसमे धनिको को भी शामिल होना पडता है। वास्तव मे, दान के विषय मे पहल धनिको को करनी चाहिए, पर उनको जो सम्पत्ति, साधन आदि देने पडते हैं, उनकी तादाद बडी होने के कारण और अधिक चीज मे ममता-मूर्च्छा भी अधिक होने के कारण धनिको को अपने दिल को समझा कर निर्णय करने मे प्राय कुछ देर लगती है। गरीब की अपनी थोडी-सी पूंजी पर आसक्ति तो होती है, लेकिन समझाने पर वह झटपट निर्णय कर लेता है। वह जल्दी दान देने को तैयार हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि समाज मे एक प्रकार की स्वार्थवृत्ति चल रही है। गरीब हो या अमीर सब पर उसका असर है। स्वार्थवृत्ति घटे बिना समाज का उत्थान नही हो सकता। गरीब-अमीर सबको धन की लालसा भी सता रही है। जो धनिक नही हैं और धनिको को दोष देते रहते हैं, वे भी धनिक बनने की लालसा तो अन्तर्मन मे सजोए हुए हैं ही। चारो ओर धन के लिए—विनश्वर धन के लिए दौडधूप मची हुई है। इसलिए समाज के सभी वर्गों मे पैसा बढाने की लालसा पर लगाम लगाने की जरूरत है। भारत मे ९० प्रतिशत लोग गरीब हैं। १० प्रतिशत ही ऐसे होगे, जो धनाढ्य हो। इसलिए गरीब लोग अगर अपनी सीमित आय मे से थोडा-थोडा दान देंगे तो, उनके हृदय की शुद्धि होगी, धनिको को भी दान करने की प्रेरणा जगेगी और सबका स्वार्थ एव लोभ कम होगा। समाज मे आर्थिक समता, एक-दूसरे के सुख-दु ख की चिन्ता, एकता की भावना बढेगी, परिणामस्वरूप सब लोगो के द्वारा दान मे हिस्सा लिये जाने से राष्ट्रीय जीवन शुद्ध होगा। इसीलिए बुद्ध ने गरीबो के दान को भी बहुत बडा महत्त्व दिया है—

'अप्पस्मा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन सम मता।'

—अगुत्तरनिकाय

थोडे मे से जो दान दिया जाता है, वह हजारो लाखो के दान की बराबरी करता है। इसीलिए धनी के दान मे स्वामित्व का बँटवारा हो जाता है, जबकि गरीब के दान से स्वामित्व विसर्जन की क्रान्ति सम्भव होगी। क्योकि गरीब के दान मे इस क्रान्ति का बीज निहित रहता है। गरीब अच्छी तरह समझकर हृदय से जो अल्प से अल्प दान देगा, उसका मूल्य दान के परिमाण से नही आका जा सकता—वह अमूल्य होगा। क्योकि वह दान अभिमन्त्रित होगा। वह महान् दान समाज के वातावरण को

पवित्र बनाएगा और विचारक्रान्ति की सृष्टि मे भारी प्रेरणा देगा। वह अमूल्
मन्त्रित दान समाज के लिए पारसमणि सिद्ध होगा, जिसके स्पर्श से सारा समा
हो जाएगा।

यहाँ हमे महाभारत की 'राजसूययज्ञ और नेवले' की कथा का स्म
आता है।

देश मे भारी दुष्काल पडा हुआ था। एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार कई
भूखा था। ब्राह्मण किसी प्रकार कही से थोडा सत्तू ले आया। परिवार
व्यक्ति थे—ब्राह्मण, ब्राह्मणी, उनका पुत्र और पुत्रवधू। उतने सत्तू से चार
का पेट भरना तो दूर रहा, प्रत्येक को केवल कुछ ग्रास मिलते। चार व्यक्ति
लिए सत्तू चार भाग मे बाँटा गया। स्नान-ध्यान के बाद ब्राह्मण अपने हिस्से
खाने बैठा। इसी समय उसने देखा कि एक अकाल पीडित भूखा ककाल व्यक्ति
द्वार पर खडा है। ब्राह्मण ने अपने हिस्से का सारा सत्तू अत्यधिक श्रद्धा और
के साथ उसे खाने को दे दिया और स्वय भूखा रह गया। क्षुधार्त्त व्यक्ति उत
खाकर कहने लगा कि उतने से उसकी क्षुधा शान्त नही हुई, बल्कि और बढ
तब ब्राह्मणी ने भी अपने हिस्से का सत्तू स्नेहपूर्वक उसे दे दिया। उसे भी खाक
व्यक्ति ने कहा कि उसकी भूख शान्त नही हुई है। तब ब्राह्मणपुत्र ने सहानुभू
उसे अपने हिस्से का सत्तू दे दिया। उसे भी खाकर उस व्यक्ति ने कहा कि
क्षुधा अभी शान्त नही हुई, तो पुत्रवधू ने भी अपने हिस्से का सत्तू उसे अर्पि
दिया। उसे खाकर वह व्यक्ति तृप्त हो गया और पुलकित मन से आशीर्वाद
वहाँ से चला गया।

एक नेवला पास के एक वृक्ष पर बैठा यह सब देख रहा था। 'कुछ
बची होगी तो उसे मैं खाऊँगा', सोचकर वह पेड से उतरा और उस व्यक्ति ने
बैठकर सत्तू खाया था, वहाँ पहुंचा। किन्तु वहाँ उसे एक कण भी नही मिला
वह उसी स्थान पर लोटने लगा और जब उठा तो उसने देखा कि उसका
शरीर सोने का हो गया है। आनन्द से उसकी भूख मिट गई। उसने सोचा कि
अतिथि खाता है, वहाँ लोटने से शरीर स्वर्णमय हो जाता है। अतएव वह उस
से जहाँ कही अतिथि को भोजन करते देखता रुक जाता और उसी स्थान पर लो
उसकी एकमात्र इच्छा अपने शेष आधे शरीर को सोना बना लेने की थी। मगर
वर्ष बीत जाने पर भी उसकी यह इच्छा पूर्ण नही हुई। अनेक अतिथि सत्कार
स्थानो मे वह लोटा, पर उसका एक बाल भी सोने का नही हुआ। अन्त मे रा
यज्ञ का समय आया। हजारो-लाखो व्यक्तियो ने वहाँ भोजन किया। वह नेवला
बडी आशा के साथ रात-दिन राजसूय यज्ञ के भोजनालय के एक छोर से दूसरे
तक लोटता रहा, किन्तु उसका एक रोम भी सोने का न हुआ। युधिष्ठिर आ
नेवले के मुँह से उसकी सारी कहानी सुनी। राजसूय यज्ञ करने के कारण युधि

सिर्फ ४० डिसमल जमीन है। इसके दो बेटियां भी हैं। इससे आप क्या लीजिएगा ?' विमला बहन ने उससे कहा—'बहन, आपसे हम दान क्या लें, आप यह ४० डिसमल जमीन विनोबा का प्रसाद समझकर वापस ले लीजिए। आप यदि जमीन जोतना चाहेंगी तो जब बंटवारा होगा, आपको भी हम जमीन दिला देंगे।' इस पर वह रोने लगी और हाथ जोडकर कहने लगी—'मैं गरीब हूँ, इसलिए मेरा दान लौटा रही हो ?' आगे वह मुझसे पूछती है—'क्या विदुर का साग भगवान को प्रिय नही था ? क्या सुदामा के तन्दुल भगवान को प्रिय नही थे, जो आज मुझ गरीब का दान लौटाया जा रहा है ?' विमला बहन उसके मुख से भारतीय सस्कृति का दर्शन सुनकर कायल हो गई। उस गरीब बहन के चरणो मे झुककर प्रणाम किया और दरिद्रनारायण का वह प्रसाद लेकर आगे बढी।

उसके दान का यह प्रभाव हुआ कि दूसरे दिन सुबह विमला बहन जब उठी तो अपने पडाव के सामने उस गाव के सभी भूमिधारियो को खडे पाया। जिसने दान दिया था, वे कहने लगे कि बहन जी! रात भर सो नही सके। मुसम्मात ने जब ४० डिसमल जमीन दे दी तो, हमने सोचा ५० एकड मे से सिर्फ १३ एकड जमीन दी, यह ठीक नही हुआ, अत १७ एकड का दान और लिख लीजिए। जिसने २५ एकड मे से ३ एकड का दान दिया था, उसने १४ एकड जमीन और दी। बाकी भूमिधारी भाइयो ने भी थोडी-थोडी जमीन और दान मे दी। अत गरीब के दान का नैतिक प्रभाव अमीरो पर अवश्य पडता है, इसमे सन्देह नही।

अद्भुत दानी—भीमाशाह

भीमाशाह था तो गरीब ही, पर था बहुत ही उदार। उसके दिल मे भी जैन सघ के द्वारा किये जाने वाले सत्कार्यो मे कुछ देने की ललक उठा करती थी। भीमाशाह छोटी-सी हडिया मे घी गाँव से भरकर लाता और शहर मे आकर बेच देता था, इससे उसे जो कुछ आमदनी होती थी, उसमे से थोडा-सा अपने लिए रखता, बाकी सब सघ को अर्पित कर देता या सत्कार्यो मे दान कर देता। गुजरात के चतुर जैन मन्त्री वाग्भट (बाहड) सघपति थे। जैन धर्म की प्रबल प्रभावना का उन्होने जब बीडा उठाया तो सघ के श्रावको ने प्रार्थना की—इस शुभ कार्य मे हमारा भी हिस्सा होना चाहिए। बहुत आनाकानी के बाद मन्त्री वाग्भट ने सघ के सदस्यो से चन्दा लेना स्वीकार किया।

आज सुबह से ही सघपति वाग्भट मन्त्री के यहाँ आने-जाने वाले लोगो का ताता लग रहा था। एक के बाद एक श्रेष्ठी लोग आ-आकर स्वर्ण मुद्राओ के ढेर लगा रहे थे। किसी का नाम नही लिखा गया था। भीमाशाह ने सोचा—'मैं सघ के चरणो मे क्या अर्पण करूँ ?' उसने जेब मे हाथ डाला तो उसमे से केवल ७ द्रमक (दमडी) निकले। मन्त्री वाग्भट समझ गए कि भीमाशाह को कुछ देना है। और भीमाशाह गरीब होने के कारण सकोच कर रहा था, उन ७ द्रमको को, जो उसकी

आज की सर्वस्व बचत थी, देने मे लज्जित हो रहा था। अत मन्त्री ने प्रेम से सबोधित करते हुए अपने पास बुलाया—'भीमाभाई! क्या तुम्हे सघ के फड मे कुछ देना है? लाओ फिर!' यो मन्त्री ने भीमाशाह का सकोच दूर करते हुए वे द्रमक माग लिए। भीमा लज्जित हो रहा था। परन्तु मन्त्री ने उसके भावोल्लास को देकर उसके सकोच को मिटाया। यो तो वे सघोद्धार के कार्य मे वे किसी का लेते ही न थे। परन्तु श्रेष्ठी लोगो ने मनाकर उन्हे इसके लिए राजी किया था। भीमाशाह ने वे ७ द्रमक मुट्ठी बन्द करके दिये। पर मन्त्री तो चतुर थे। उन्होने उपस्थित सेठो को उसके ७ द्रमक बताए। सबके चेहरे से वाग्भट मन्त्री उनके भावो को ताड रहे थे। मानो वे कह रहे हो कि इन ७ द्रमको का क्या लेना?' वाग्भट मन्त्री ने तुरन्त मुनीमजी को बुलाया और कहा—'चिट्ठा लिखो। पहले तो चिट्ठा लिखने का विचार नही था, किन्तु अब लिखना होगा। सबसे पहला नाम लिखो भीमा का, दूसरा मेरा और फिर इन सब भाग्यशालियो का लिखो।' सबके मुह से स्वर फूट पडा—'पहले नाम भीमा का? क्यो? हमने तो !'

मन्त्री वाग्भट ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'इस (भीमा) भाई ने अपनी सर्वस्व सम्पत्ति सघ को अर्पित की है। मैं स्वय सघोद्धार के कार्य मे सलग्न होते हुए भी अपनी सारी सम्पत्ति का शताश भी खर्च करता हूँ या नही, इसमे सन्देह है। आप सब अपनी आय का कितना भाग खर्च करते हैं, यह तो आप जानें। परन्तु सघ का एक सदस्य-साधर्मी भाई नीचे बैठे और हम ऊँचे बैठें, यह ठीक नही, इसमे सघ का अनादर होता है। सघ मे सब भाई समान हैं। यहाँ कोई बडा नही, कोई छोटा नही। सबका बराबर का हक है। मुझे जो सघपति का पद दिया गया है, वह तो केवल व्यवस्था के लिए है। ऊँचे आसन पर बैठने और बडप्पन प्रदर्शित करने के लिए नही।' सब मन ही मन कहने लगे—धन्य है सघपति को! वास्तव मे भीमा का दान ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि वह सर्वस्व दान है।

कहना न होगा कि गरीब का दान क्यो महत्त्वपूर्ण है, यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट ध्वनित हो जाती है।

दूसरो के दिलो मे दान का चिराग जलाओ

कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य स्वय इतना अधिक देने की स्थिति मे नही होता, किसी वर्ग, समाज या राष्ट्र पर आए हुए सकट को दूर करने के लिए प्रचुर मात्रा मे धन की आवश्यकता होती है, उस समय भी गरीब या परिग्रह से अनासक्त व्यक्ति घबराता नही, वह दूसरे के दिलो मे दान की भावना जगाकर उस कमी की पूर्ति कर देता है।

'किमटेम्पिन' आधीपेनी के ढेर मे गले तक छिपकर बहुत खुश हुई। उसने भावविभोर होकर कहा—'काश! मैं इतना धन बेघर गरीब लोगो के लिए दे पाती।' यह राशि उसकी स्वय की नही थी। यह उन बेघर लोगो के लिए धनसग्रह

के अभियान मे इकट्ठी हुई थी । 'किम' और 'स्कक' की हाईग्रेड की तीन छात्राओ ने, जिनमे हेलन भी थी, बेघर लोगो के लिए आवास-योजना के अन्तर्गत एक नया प्रयोग किया । उन्होने बडे-बडे पटल उठाए हुए जुलूस निकाला । पटलो मे यह आग्रह किया गया कि लोग अपने आधे पैनी के सिक्के उन्हे बेघर लोगो के आवास बनाने के लिए दे दें, क्योकि इनका प्रचलन बन्द हो रहा है । लोगो ने उन पर सिक्को की बौछार कर दी । कुछ सिक्के हेलन की दाहिनी आँख मे आकर लगे, जिससे उसकी आँख सूज गई । डॉक्टरो ने उसे यह राय दी कि वह जुलूस मे शामिल न हो, क्योकि इससे आँख को खतरा है । लेकिन वह उनके परामर्श की परवाह न करके अपनी सूजी हुई आँख को सजाकर जुलूस मे फिर शामिल हो गई । इस अभियान मे उन्हे आधी पैनी के ६५ लाख सिक्के मिले । यह दान की राशि लगभग १३५४१ पौण्ड की हुई । इस राशि से कई बेघर परिवारो के लिए मकान बनवाए गए ।

वास्तव मे, इन तीनो छात्राओ ने समय पर दान देकर बेघर लोगो के लिए दान देने की प्रेरणा लोक हृदय मे जागृत की और दान का चिराग जलाया ।

इसी प्रकार कई व्यक्ति धार्मिक तथा सार्वजनिक कार्य के लिए स्वय अपना समय देकर लोक हृदय मे दान का चिराग जलाते हैं । उसमे उन्हे जगह-जगह मागने मे कष्ट तो होता है, लेकिन वे इस कष्ट को कष्ट नही मानते । ऐसे उत्साही और सेवाव्रती आत्मा स्थूल दृष्टि से स्वय दान नही देते दिखाई देते, परन्तु सूक्ष्म रूप से बुद्धि, विचार और समय का वे बहुत बडा दान देते हैं, और जगह-जगह परिभ्रमण करके लोगो के दिलो मे दान का दीपक जगाकर अद्भुत पुण्य कार्य करते हैं ।

दूसरो के हृदय मे दान का चिराग जलाने के लिए कई बार मनुष्य स्वय अपनी ओर से दान की पहल करता है । सस्थाओ के लिए जहाँ बडे-बडे चदे होते हैं, वहाँ कभी-कभी एक व्यक्ति अच्छी रकम देकर पहल करता है, उसके बाद उस सस्था के लिए लोगो मे भावना जगाता है और फिर तो रुपयो की वर्षा होती रहती है । परन्तु इसका एक व्यक्तिगत पहलू भी है । कई बार व्यक्ति अकेला किसी विपन्न या दु खी को साधारण-सा व्यक्ति समझकर अपनी ओर से उसे देकर सहायता करता है । इससे उसके मनमस्तिष्क मे चिन्तन धारा फूट पडती है । और वह कृपण व्यक्ति उससे प्रेरित होकर स्वय दानपरायण बन जाता है ।

एक करोडपति सेठ था, पर था बडा कृपण ! उसमे उदारता नाममात्र को नही थी । दान देने का उसे नाम भी नहीं सुहाता था, एकमात्र धन बटोरना ही उसके जीवन का लक्ष्य था । एक बार मानसिक शान्ति के लिए रात को सेठ समुद्रतट पर पहुँचा । गाडी कुछ दूर खडी रख कर वह समुद्र के किनारे जाकर बैठा । उसके मुँह पर चिन्ता और विषाद की रेखाएँ थी । कुछ ही देर मे एक दूसरे सेठ वहाँ आए । —होने इस सेठ के मुँह पर हवाइयाँ उडते देखी तो सोचा-बेचारा जिंदगी से ऊबकर

यहाँ आत्महत्या करने आया होगा। कोई दु खी मालूम होता है। 'अत वे इस सेठ के पास गये और उसे अपने नाम पते का कार्ड तथा १० डालर भेंट दिए। तथा कहा—"अधिक सहायता की जरूरत हो तो मेरी फर्म पर आना। इस कार्ड पर पता लिखा है।" दानी सेठ के अन्तर मे इसके दु ख को देखकर करुणा का स्रोत उमड पडा था। उस सेठ के चले जाने पर कजूस सेठ के हृदय मे मथन जागा—"अहा ! मानव मे इतनी उदारता, करुणा और सेवा की भावना होती है ! मैंने उनसे मागा नही, फिर भी मुझे चिन्तित देखकर सहायता कर गए। उदार सेठ की इस दानवृत्ति ने इस कजूस धनिक के अन्तर मे दानवृत्ति का दीपक प्रज्वलित कर दिया। पहली बार हृदय मे नया स्पदन, नवमन्थन प्रस्फुटित हुआ। अगर सम्पन्न मनुष्य विपद्ग्रस्त मनुष्य को सहायता न करे तो ससार की क्या दशा हो जाए। क्या मानव पशुओ से भी गया बीता है।

इस घटना के करीब १० वर्ष बाद एक बार उसने समाचार पत्र मे पढा—"जिस सेठ ने (जिसका नाम कार्ड पर छपा था) उसे विना माँगे १० डालर की मदद दी थी, वह मुसीवत मे है। उसके द्वार पर लेनदारो का ताता लगा हुआ है।" अब यह सेठ कजूस नही रहा। इसका दिल उदार, बन गया था। ७० मील दूर बैठे हुए उस सेठ को मदद करने के लिए वह कार मे बैठ कर गया। वहाँ जाकर देखा कि वह सेठ गमगीन बैठा है, उसकी प्रतिष्ठा समाप्त होने जा रही है। जिसने आज तक दूसरो को मुक्तहस्त से दान दिया था, वह स्वय आज आफत मे है, और निरुपाय होकर विष खाकर मर जाने की तैयारी मे है। इस भूतपूर्व कृपण सेठ ने जाते ही उस विषादमग्न सेठ से कहा—"लो भाई ! मेरे पास यह जो धन है, वह आपका ही है। इसका यथेष्ट उपयोग कीजिए। आपने ही आज से १० वर्ष पूर्व एक अँधेरी रात मे समुद्रतट पर उदास बैठें हुए मेरे दिल मे दान का चिराग जलाया था। तब से मुझे प्रत्येक दु खी मनुष्य को देखकर तुरन्त देने की प्रेरणा होती है, मुझे देने मे आनन्द आता है।" यो कहकर उसने वहाँ धन का ढेर लगा दिया, और उस उदार सेठ की इज्जत बचा ली।

वास्तव मे, भूतपूर्व कृपण सेठ के हृदय मे अगर उदारता और दानवृत्ति का चिराग उक्त उदारहृदय धनिक ने न जलाया होता तो शायद ही वह इतना उदार, दानी, करुणाशील और सहृदय बन पाता !

समाज के कई सम्पन्न लोग बडे बडे उत्सव, वर्षगाठ या त्यौहार अथवा खुशी के अवसरो पर हजारो रुपये यो ही फूंक देते हैं, विवाह-शादियो मे रोशनी, बाजे, भागडानृत्य, नाचगान आदि मे बहुत-सा धन व्यर्थ खर्चकर देते हैं, अगर वह धन अच्छे कार्यों मे लगाया जाय अथवा समाज के भूखे, दु खी, विपन्न, रुग्ण अनाथ, असहाय एव अपाहिज व्यक्तियो को दान के रूप मे सहायता देने की परिपाटी डाली जाय तो दान की सुन्दर परम्परा प्रचलित हो सकती है। कुछ व्यक्ति ही समाज मे ऐसे होते हैं, जो

इस पर गहराई से विचार करते हैं, अधिकांश तो गडरिया प्रवाह में बहने वाले गता-नुगतिक होते हैं, वे इस प्रकार के दान को समझते हैं, किन्तु आडम्बर में खर्च करके क्षणिक वाहवाही लूटना चाहते हैं। जन्मदिन दान से मनाने की एक सुन्दर परिपाटी का उदाहरण देखिए—

वडनगर का एक मध्यम वर्गीय परिवार विलेपार्ले में रहता है। उस परिवार मे जन्मदिन मनाने की पद्धति अद्भुत है। परिवार के बालको के जन्मदिन पर ११ रु०, २१ रु० या ५१ रु० मनिआॅर्डर द्वारा डॉ० द्वारकादास जोशी की देख-रेख मे चलने वाले 'नागरिक मडल हॉस्पिटल' को भेजे जाते हैं। म० ऑ० के कूपन पर लिखा जाता है—' ' के जन्म दिवस के उपलक्ष मे यह रकम भेजी जाती है, अत इसे रोगियो की सेवा मे लगावें। परन्तु जब परिवार के मालिक का ६१वाँ जन्म दिवस आया तो अन्तर्देशीय पत्र मे लिखा गया—"६० वर्ष पूरे हो गए। बहुत ही करने की इच्छा होती है। परन्तु बहुत-सी अडचनें हैं। मेरी एक इच्छा यह है कि मेरे ६० वर्ष पूरे हो गए हैं तो मेरी ओर से ६० नेत्ररोगियो की आँखो का मुफ्त ऑपरेशन करवा दें। इसका जो भी खर्च आएगा, वह मैं तीन सप्ताह मे भेज दूंगा।" इस प्रकार अपनी ओर से ६० नेत्र रोगियो के ऑपरेशन करवा कर नेत्रदान दिये और ऑपरेशन का कुल खर्च ८०० रु० आये, जो उन्होने भेज दिये। जन्म दिवस के अवसर मध्यमवर्गीय परिवार का दान की परिपाटी का यह विचार कितना प्रशसनीय है? अगर समाज के धनीमानी लोग व्यर्थ के आडम्बर न करके खुशी के अवसरो पर इस प्रकार की दान की परिपाटी अपना लें तो कितना अच्छा हो?

समाज मे अभावो की पूर्ति दान द्वारा हो

मनुष्य जिस समाज मे रहता है, यदि वह उस समाज को श्रेष्ठ सुसस्कारी, धर्मात्मा, दानपरायण, उदार और परस्पर सहयोगी देखना चाहता है, यदि वह चाहता है कि समाज मे सुख-शान्ति, अमनचैन और सुव्यवस्था हो तो उसे चाहिए कि वह समाज मे जो भी अभावग्रस्त, पीडित, अशिक्षित, निर्धन, रुग्ण, बेकार, बेरोजगार असहाय और दु खी हैं, उनका ध्यान रखें, उनको उचित समय पर कर्तव्य के रूप मे सहायता दे या दिलाकर उनकी सुयोग्य व्यवस्था करे। मनुष्य को सामाजिक प्राणी होने के नाते इन बातो पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। यदि वह दान की परिपाटी को भूलकर अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति मे लगकर केवल धन बटोरने मे रत रहेगा तो उसे सुखशान्ति, अमनचैन या सुव्यवस्था के बदले समाज मे अशान्ति और अव्यवस्था ही देखने को मिलेगी। दान ही एक ऐसा उपाय है, जो परिवार, समाज और राष्ट्र मे पडे हुए अभावो के गड्ढो को भर सकता है।

जब समाज मे किसी अभाव की समय पर पूर्ति नही होती है तो अभावग्रस्त मनुष्य चोरी, डकैती, विद्रोह, धोखेबाजी या बेईमानी करने पर उतारू हो जाता है। इतना ही नही पेट का खड्डा भरने के लिए मनुष्य अपने नन्हे लाल को भी बेचने

और कभी-कभी मार कर खाने को उतारू हो जाता है। इसलिए महापुरुषो ने समाज मे दान की परिपाटी प्रचलित की है। प्राचीनकाल मे राजा या वनिक लोग जगह-जगह दानशालाएँ, भोजनालय, धर्मशालाएँ आदि खुलवा कर समाज के इस अभाव की पूर्ति किया करते थे। मध्ययुग मे मनुष्य इस सामाजिक चिन्तन से दूर हटकर प्राय स्वार्थरत हो गया, शासक लोग प्राय विलासी, ऐयाशी, शराबी और शिकारी बन कर इस ओर से बिलकुल लापरवाह हो गये। प्रजा की गाढी कमाई का पैसा करो के रूप मे उनके खजाने मे आता जरूर था, मगर वे प्राय प्रजाहित के कार्यों मे उस धन का व्यय नही करते थे। यही कारण है, समाज मे व्याप्त विषमता का, गरीबी-अमीरी के भेद का, शोषक और शोषित के अन्तर का, अगर इन्हे मिटाना हो तो समाज मे दान की अजस्र धारा का बहते रहना अनिवार्य है।

महात्मा गांधी ने इसी दृष्टि से भारतीय नरेशो की तडक-भडक को देखकर उन्हे कर्तव्य का बोध दिया था और समाज के दरिद्रजनो के लिए दान की प्रेरणा दी थी।

बात यह थी कि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी की आधारशिला का शुभ महोत्सव होने वाला था। प० मदनमोहन मालवीय ने बहुत बडे आयोजन की तैयारी की थी। देश के प्रसिद्ध विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार, अधिकारी, नेता एव भारतीय नरेश भी इस अवसर पर एकत्र हुए थे। राजा-महाराजा इस पुण्य अवसर पर अपनी शाही पोशाक मे आए थे। राजाओ ने हीरे, मोती और जवाहरात आदि बहुमूल्य अलकार भी धारण किये हुए थे। उस अवसर पर जो भी विदेशी वहाँ पर विद्यमान थे, उन्हे ऐसा आभास हो रहा था कि भारतवर्ष के दरिद्र होने की जो बात कही जाती है, वह असत्य है। महात्मा गांधीजी पर राजाओ की इस तडक-भडक और शान-शौकत का बहुत बुरा असर पडा। इसलिए महात्मा गांधीजी ने राजा-महाराजाओ को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाइयो! आपने जो बहुमूल्य हीरे-जवाहरात के आभूषण धारण किये हुए हैं, वे हमारे गरीब देश मे शोभा नही देते। इसलिए आप इन्हे उतार दीजिए और गरीबो की सेवा मे इन्हें दान कर दीजिए। इस देश मे ९० प्रतिशत गरीब और दीन-हीन हैं, इसलिए आप लोगो को जनसाधारण के बीच ऐसे आभूषण पहनकर नही बैठना चाहिए। इस प्रकार के आभूषणो से तो आपका सम्मान नही, बल्कि अपमान है। आप लोगो के पास जो भी धन है, वह आपका नहीं, बल्कि भारत की गरीब जनता की धरोहर है। इसलिए उसे निजी कार्य व मौज शौक मे नही लगाना चाहिए। राजा-महाराजाओं की सम्पत्ति यदि जनसाधारण के सकट के अवसर पर सहायता के रूप मे लगाई जाय तो बहुत उत्तम है।" कहना होगा कि इस वक्तव्य मे राजाओं की आखें खुल गई और उन्हे दान की बहुत शुद्ध प्रेरणा मिली।

इसलिए फलितार्थ यह निकला कि दान से ही समाज के किसी भी अभाव या

कमी की पूर्ति की जा सकती है। किसी समय जब समाज के सम्पन्न वर्ग का ध्यान समाज की किसी कमी या अभाव की ओर नही जाता, तब अन्दर ही अन्दर अभाव-ग्रस्त लोगो के मन मे विद्रोही भावना या प्रतिक्रिया की भावना बनती जाती है और किसी दिन उसका विस्फोट हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्तियो का कर्तव्य है कि समाज मे इस प्रकार की बढने या पनपने वाली प्रतिक्रियाओ को दान द्वारा वही रोक दें, आगे न बढने दें।

इसी प्रकार समाज मे जहाँ शिक्षा का अभाव हो या शिक्षा की व्यवस्था सुचारु न हो, वहाँ सुधार के लिए दान की अनिवार्य जरूरत होती है। शिक्षा के लिए दिया गया वह सामयिक दान बडा ही महत्त्वपूर्ण होता है।

दानवीर एण्ड्रयूज कारनेगी की आर्थिक हालत बहुत ही खराब थी। इनका पिता जुलाहा था, गरीबी से तग आकर कारनेगी अमेरिका चले आए। वहाँ पिट्सबर्ग मे एक कारखाने मे गन्दे पुर्जे साफ करते थे। पडौस मे ही एक उदार व्यक्ति रिटायर्ड कर्नल एडरसन ने एक फ्री पुस्तकालय खोली, जहाँ से वह प्रति सप्ताह एक पुस्तक लाता और पढकर वापिस लौटा देता। इस प्रकार ७०० पुस्तकें पढली, जिससे अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया। फिर रेल्वे मे एकाउटेंट की नौकरी करली। रेल्वे मैनेजर भी बन गए। एक दिन एक मित्र के कहने से कारनेगी ने रेल्वे की नौकरी छोड दी और लोहे के कारखाने मे शेयर खरीद लिए। इस कारखाने मे मैनेजर भी गए। अपनी ६० वर्ष की उम्र मे कारखाने मे अपना शेयर बेचा, तो उससे ५३ करोड रु० मिले। इस धन को उन्होने अमेरिका मे जगह-जगह फ्री पुस्तकालयो के लिए दान कर दिया। न्युयार्क मे कारनेगी का विशाल पुस्तकालय है। दानवीर कारनेगी का कहना था—'अपने पडौसी की ७०० पुस्तको से मेरा जीवन बना है तो मेरा कर्तव्य है कि मैं भी देश की सेवा पुस्तकालय खोलकर करू।" इसके अलावा इसने शिक्षा के लिए जगह-जगह दान भी दिया है।

मतलब यह है कि राष्ट्र मे जीवन-निर्माण के लिए पुस्तकालयो का जहाँ-जहाँ अभाव था, एण्डयूज कारनेगी ने अपना धन दान देकर उस अभाव की पूर्ति की।

कहना होगा कि इस प्रकार के उदारतापूर्वक दिये गए दान से समाज की अर्थ व्यवस्था भी सुदृढ होती है और समाज मे व्याप्त विविध अभावो की पूर्ति हो जाती है। इन पर से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि दान समाज-विकास मे आने वाली, विविध रुकावटो को दूर करता है। प्रत्येक समाज प्रेमी व्यक्ति इस बात से सहमत होगा और स्वय दान देने को प्रेरित होगा और दूसरो को भी प्रेरित करेगा।

साधन सम्पन्न समाज की माँ बनकर योगदान दे

वास्तव मे देखा जाय तो आज समाज मे कई असहाय, अनाथ और निराधार व्यक्ति हैं, जिन्हे ऐसे सहारे की जरूरत होती है। थोडे-से सहारे से वे ऊँचा उठ सकते हैं। कई लोग यह सोचा करते हैं कि इस प्रकार अपना धन लुटाने से जल्दी खर्च

हो जाएगा, पर उनका यह सोचना गलत है। सत्कार्य मे दिया हुआ धन व्यर्थ नही जाता।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब चीन-जापान-यात्रा कर रहे थे। तब उन्हे चीन मे एक मन्दिर के सस्थापक सन्त काबोदायी जी मिले जो चीन के बालको को ज्ञान-दान देते थे। हजारो बालको को उन्होने पढाया-लिखाया और सुसस्कार दिये। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब उनसे पूछा कि आपको ज्ञानदान की यह प्रेरणा कैसे मिली? तब उन्होने अपनी आपबीती सुनाई कि मैं एक बार वन मे तप कर रहा था। एक दिन एक माता अपने बालक को मरुभूमि मे से होकर ले जा रही थी। मध्याह्न हो गया था। रेत अत्यन्त तप गई थी। चला नही जाता था। अत माता ने सोचा कि दोनो की रक्षा तो सम्भव नही है इसलिए मैं स्वय अपने प्राण देकर इस बालक की रक्षा कर लूं। उसने बालक को अपनी छाती पर लिटाया एव अपना वस्त्र उतार कर बालक को ओढा दिया, और स्वय निर्वस्त्र होकर मरण-शरण हो गयी। उस समय मैं भी उस मरुभूमि मे से होकर गुजर रहा था। बालक का रुदन सुनकर मैं उसके पास गया। और बालक को मृत माता की छाती पर असहाय अवस्था मे देख मैंने छाती से लगाया और उस मृत माता को प्रणाम करके लौटा—"माता! तू मेरी प्रेरणादायिनी गुरु है। तूने वर्तमान मे आत्म-बलिदान देकर भविष्य के बालक की सुरक्षा की। बस, आज से मुझे भी अपना सर्वस्व दान देकर चीन के इन भावी नागरिको के ज्ञानदान एव विकास मे लग जाना चाहिए।" तभी से मैं समाज की माँ बनकर अनाथ, असहाय बालको एव अन्य व्यक्तियो को अपने मन्दिर के विशाल भवन मे रखता हूँ। उन्हे योग्य बनाने के लिए स्वय उपार्जित धन भी मैंने दे दिया है और जनता से भी चन्दा एकत्र करके दान लाता हूँ।

इस पर से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि साधन सम्पन्न व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ के लिए न जीए। उसे समाज के उन असहाय, साधनहीन व्यक्तियो को अपने तन-मन-धन से सहयोग देकर जिलाकर जीने का प्रयत्न करना चाहिए। एक भारतीय विचारक का कहना है—'जो स्वेच्छा से दिया जाता है, वह मीठा होता है, और जो जबरन लिया जाता है, वह कड़ुआ होता है। वृक्ष अपनी इच्छा से, पकने पर जो फल देता है, नीचे गिरा देता है, वह कितना मधुर होता है। परन्तु पकने से पहले ही, बलात् जो फल तोड लिया जाता है, वह मधुर नही होता, वह प्राय खट्टा, कसैला या फीका होगा। इसलिए अपनी इच्छा से दान देने मे धन का माधुर्य है, दूसरो से बटोर-बटोर कर केवल धन-सग्रह करने मे माधुर्य नही होता।

समाज मे लोकप्रिय बनने के लिए उदारता की आवश्यकता है, जो दान के द्वारा ही व्यक्ति को प्राप्त होती है। द्रव्य की स्वय के बहते रहने (दान द्वारा) मे ही अपनी सार्थकता है, एक जगह स्थिर होकर पडे रहने मे द्रव्य की द्रव्यता सार्थक नही होती। इसीलिए कबीरजी ने प्रेरणा की है—

'पानी बाढ़ो नाव मे, घर मे बाढ़ो दाम,
दोनो हाथ उलीचिये यही सयानो काम'

दान से बढकर धन का कोई सदुपयोग नहीं

जिस धन के लिए मनुष्य इतने उखाड-पछाड करता है, इतने स्याह-सफेद करता है, उस धन को जब मनुष्य पूर्वोक्त गलत कामो मे खर्च कर डालता है अथवा चोर आदि उसका हरण कर लेते हैं, या फिर जमीन मे गडा का गडा रह जाता है, तब मनुष्य सिवाय पश्चात्ताप या पाप-सताप के और क्या ले जाता है, साथ मे ? नीतिकार इसी बात को स्पष्टतया कहते हैं—

'दान भोगो नाशस्तिस्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥'

—"धन की तीन गतियाँ (व्यय के मार्ग) है—दान, भोग या नाश । जो मनुष्य अपने धन का सुपात्र मे या सत्कार्य मे दान नही करता और उचित उपभोग नही करता है, उस धन की गति सिवाय नाश के और कोई नही है ।" फिर चाहे वह धन-नाश चोरो-डकैतो द्वारा हो, लुटेरो द्वारा हो, सतान द्वारा हो या डाक्टर, वकील या सरकार द्वारा हो अथवा किसी प्राकृतिक प्रकोप—भूकम्प, बाढ, अग्निकाड आदि से हो । किन्तु दान और उपभोग इन दोनो मार्गों मे से मनुष्य यदि श्रेष्ठ मार्ग चुनना चाहे तो दान का मार्ग ही उसे चुनना चाहिए ।

धन, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद या अन्य सुखसामग्री आदि कोई भी वस्तु मनुष्य को शरणदायक नही होती । एकमात्र दानादि धर्म ही उसके लिए इह-लोक-परलोक मे शरणदायक होता है ।

मानव शरीर रूपी पारसमणि से दान देकर सोना बनाओ

कई मनुष्य अपने जीवन का मूल्याकन नही कर पाते हैं, वे अपनी दैनिक समस्याओ मे इतने उलझे रहते हैं या गरीबी और दरिद्रता की चक्की मे पिसते रहते हैं, वे रात-दिन किसी न किसी अभाव का रोना रोते रहते हैं । परन्तु जो कुछ प्राप्त है, उसी मे सतोष करके अपने प्राप्त साधनो मे से कुछ दान देकर मानव शरीर को सोना बनाने के बदले कोयला बनाते रहते हैं । ऐसे व्यक्ति जान-बूझकर अपनी दरिद्रता का ढोल पीटते रहते हैं, किन्तु आलस्य छोडकर यथार्थ पुरुषार्थ मे नही लगते ।

एक दरिद्र टूटी-फूटी झोंपडी मे रह रहा था । दो चार दिन भूखे रहने के बाद उसे एक दिन दो दिन की बासी रोटी मिली, किन्तु दाल-शाक आदि कुछ भी प्राप्त न हुआ । अत वह एक पत्थर पर मीर्चे पीसने लगा । इतने मे एक विद्वान् योगी ने द्वार पर जोर से आवाज लगाई । दरिद्र झोपडी से बाहर आया और अश्रु-पूरित नेत्रो से कहने लगा—आप देख रहे हैं, मेरे पास कुछ भी नही है । मैं तो ऐसा भाग्यहीन हूँ कि स्वय ही दो दिन के रूखे-सूखे बासी टुकडे खा रहा हूँ । `बताइए,

ऐसी विषम स्थिति मे आपको क्या दे सकता हूँ कैसे आपकी सेवा कर सकता हूँ।' इतने मे ही योगी की पैनी दृष्टि उस पत्थर पर पडी, जिस पर वह नमक-मीर्च रगड रहा था। देखते ही योगी ने कहा—तेरे पास तो ऐसी अद्‌भुत सम्पत्ति है, जिसकी बराबरी धन कुबेर भी नही कर सकता।' दरिद्र—'इन शब्दो मे आप मेरा उपहास कर रहे हैं, मुझे धनकुबेर बता रहे हैं। आपकी बात कुछ समझ मे नही आई।' योगी ने वह पत्थर मगाया, जिस पर वह चटनी पीस रहा था। उसे अच्छी तरह देखा और कहा—"तू जानता है, यह क्या है ? यह साधारण पत्थर नही, पारसमणि है। इसका स्पर्श होते ही लोहा सोना बन जाता है।" उस दरिद्र को विश्वास न हुआ। योगी ने उसके विश्वास के लिए तुरत अपने लोहे के चिमटे का उस पारसमणि से स्पर्श कराया तो वह चिमटा सोने का बन गया। दरिद्र तो अपने पत्थर का यह चमत्कार देख कर हक्काबक्का-सा रह गया। वह तुरन्त योगी के चरणो मे गिर पडा और कहने लगा—आपने महती कृपा करके मुझे इस पत्थर का गुण बतला दिया, वरना मैं तो इसे साधारण पत्थर ही समझ रहा था।' योगी ने उससे कहा—'तेरा शरीर भी पारसमणि है, चाहे वह किसी भी जाति, कुल, धर्म या देश का हो। इससे तू चाहे तो अपने जीवन को सोना बना सकता है। पर तू अपने शरीर से ना समझी के कारण कोयला बना रहा है। अब भी समझ जा, और इस शरीर से दानादि सत्कर्म करके जीवन को अमूल्य स्वर्ण बना ले।"

दरिद्र को योगी पर श्रद्धा हो गई थी। इसलिए वह दूसरे ही दिन से दानादि-धर्म का पालन करने लगा। चमत्कार ऐसा हुआ कि प्रभु कृपा से कुछ ही दिनो मे उसका कायापलट हो गया। ज्यो-ज्यो उसके पास धन बढता गया, त्यो-त्यो वह अधिकाधिक दान करता गया। उसे अब अपना जीवन सुखी, सतुष्ट, तृप्त और सार्थक प्रतीत हुआ।

कृपण को भी दान देने की प्रेरणा

वास्तव मे मनुष्य चाहे तो अपने प्राप्त साधनो से दूसरो को बहुत कुछ दे सकता है, केवल मन की ही कृपणता है, मन उदार हो जाय तो कोई कमी नही रहती।

आचार्य बृहस्पति भी कहते हैं—

"स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्य च तत्स्मृतम्॥"

प्रतिदिन अदीन अन्तरात्मा से थोडे से साधन मे से भी यत्किचित् दान देना चाहिए, इसे ही उदारता कहते हैं। यह कृपणता नही है।

एक तरह से देखा जाय तो जो लोग दान न देकर धन को जोड-जोड कर रखना चाहते हैं, साधनो का स्वय उपयोग न करके तथा दूसरो को भी उपयोग नहीं

करने देते, उनके मन मे शान्ति नही होती, वे स्वय उनकी रक्षा के लिए चिन्तित रहा करते हैं, चोर, डाकू आदि का भय उन्हे रातदिन बेचैन बनाए रखता है । इसलिए ऋग्वेद के एक ऋषि ने भगवान् से इस सम्बन्ध मे प्रार्थना की है—

"अदित्सन्त चित् आघृणे ।
पूषन दाना य चोदय ।
पणेश् चित् विम्रदा मन ।"

—"अन्तर से मानसिक कष्ट, बाहर से परिस्थिति का कष्ट—इन दानो प्रकार के कष्टो मे शुद्धि प्रदान करने वाले विश्वपोषक देव ! जो लोग आज दान नही देना चाहते, उनके मन मे दान देने की प्रेरणा भरो । कृपण के मन को भी मृदुल बना दो।

एक भिखारी नगर मे सबसे मागता हुआ और दुआ देता हुआ चला जा रहा था । अचानक ही उसे एक मूंजी सेठ से मुठभेड हो गई । मूजी सेठ ने उससे पूछा—'तू माग क्यो रहा है ? तेरे से कुछ कमाया नही जाता ? मेहनत नहीं की जाती ?' भिखारी ने कहा—"मैंने पूर्वजन्म मे किसी को देने मे अन्तराय दी होगी, इसी कारण न तो मुझे कोई काम मिलता है, न मेहनत ही इस रुग्ण शरीर से हो सकती है, इसलिए मागने के सिवाय कोई चारा नही है ।'

इतने मे एक सन्त ने उस कृपण से कहा—'सेठजी ! यह भिखारी बार-बार 'कुछ दो, कुछ दो' कहता है, ऐसा क्यो कह रहा है ? आप इसका कुछ रहस्य समझें ?' वह बोला—'मागना इसका पेशा है । वह इसी तरह मागता है, इसका स्वभाव ही कुछ न कुछ मागते रहना है ।'

सन्त ने कहा—'नही, यह केवल मागता ही नही, इसी बहाने लोगो को दान की सुन्दर प्रेरणा दे रहा है । नीतिकार के शब्दो मे वह कह रहा है—

'दीयतां दीयतां मह्यमदातु फलमीदृश्यम् ।'

—'मुझे दो, मुझे दो, मैंने पूर्व जन्म मे दान नही दिया था, धन जोड-जोड कर रखा था, कृपणतावश किसी को दिया नही और दूसरो को भी देने से रोका, इसी के फलस्वरूप मुझे भिखारी व याचक बनना पडा है ।'

क्या धन-सग्रही कृपण इस बात से कुछ सबक सीख सकते हैं ? अन्यथा, धन तो एक दिन सिकन्दर बादशाह की तरह यहीं छोडकर जाना पडेगा, पल्ले पडेगा पश्चात्ताप । अन्तिम समय मे उस धन को देखकर सिवाय आँसू बहाने के और कुछ नही हो सकेगा । अन्तिम समय मे न तो कुछ दान-पुण्य करने का होश रहेगा और न ही वैसी भावना बनेगी । अगर भावना बन भी गई तो अपने हाथ से तो दिया नही जाएगा, अपने परिवार के लोग बाद मे दें या न दें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है । इसलिए व्यक्ति को जीते जी, अपने होशहवाश मे अहर्निश दान देते रहना चाहिए ।

वास्तव मे जो कृपण होता है, वह भविष्य की चिन्ता नही करता । इसी

कारण वह वर्तमान तो सबसे दु खी और असन्तुष्ट रहता ही है, भविष्य मे भी दु खी बनता है।

एक गांव मे एक उदार और दानी रहता था। उसके पास न देने जैसी कोई वस्तु न थी। एक दिन एक महात्मा ने उससे कोई चीज मागी, इस पर उसने उसे देने से इन्कार कर दिया। महात्मा ने उससे कहा—'तू बहुत ही सतोषी है।' किसी विचारक ने महात्मा से पूछा—'आप उल्टा कैसे कहते हैं, जो उदार है, उसे लोभी और जो लोभी है, उसे सतोषी कहते हैं, इसका क्या रहस्य है? मुझे बताइए।' महात्मा ने उत्तर दिया—जो दाता है, वह इस बात को लेकर लोभी है कि उसे एक के बदले मे हजार मिलेंगे, फिर भी वह उतने दान से तृप्त न होकर अधिक से अधिक देता रहता है, और जो लोभी है, वह सतोपी इसलिए है कि वह कुछ भी नही देता। इसलिए उसे आगे (परलोक) मे भी कुछ मिलेगा नही, फिर भी वह सन्तुष्ट होकर बैठा है। भविष्य के लिए कुछ करने की चिन्ता नही करता, इसलिए सतोषी कहा।' महात्मा के मुख से दानी और लोभी के अन्तर का रहस्य प्राप्त कर आगन्तुक बहुत ही सन्तुष्ट हुआ।

वास्तव मे कृपण का स्वभाव अत्यन्त धनलोभी बन जाता है। वह दीर्घ दृष्टि से नहीं सोचता कि यह सारा धन मुझे यही छोडकर जाना पडेगा। इसीलिए कृपण के सम्बन्ध मे सस्कृत के एक मनीषी ने बहुत ही सुन्दर व्यग कसा है—

कृपणेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि य परेभ्य प्रयच्छति॥

—'कृपण के समान दानी ससार मे न तो हुआ है और न ही कोई होगा। क्योकि अपने सारे धन को बिना छुए ही एक साथ दूसरो को दे देता है, अर्थात् छोड-कर मर जाता है।

एक सेठ अत्यन्त ही कृपण था। वह दान देने से खुद तो दूर भागता ही था, पर अगर किसी दूसरे को भी दान-पुण्य करते देखकर हृदय मे जल उठता था। उसका मन मलिन, तन क्षीण होने लगता। एक दिन बाजार मे एक आदमी कुछ दु खी लोगो को दान दे रहा था, उसे देखकर कजूस भाई झटपट उदास होकर वही से ही घर को लौट पडा। उसकी पत्नी अपने पति के कृपण स्वभाव से परिचित थी। इसलिए उसने अपने पतिदेव को उदास और चिन्तित देखकर पूछा—

'कै कुछ कर से गिर पडा, कै कुछ किसको दीन?
कामण पूछै कन्त से, कैसे भये मलीन?'

'क्या आज आपके हाथ से कुछ गिर पडा है, अथवा बाजार मे ५-१० आद-मियो के दबाव से किसी अनाथ, भिखारी को कुछ दान-पुण्य दे दिया है, जिससे आप अब इतने उदास हो रहे हैं? कजूस ने तपाक से उत्तर दिया—

'ना कुछ कर से गिर पडा, ना कुछ किसी को दीन ।
देते देखा और को, तातै भयो मलीन ॥'

—प्रिये ! न तो मेरे हाथ से कुछ गिर पडा है और न मैंने किसी के दवाव मे आकर किसी को कुछ दिया है, इस वात मे तो मैं पक्का हूँ । तू मेरे स्वभाव को भली-भाँति जानती है । पर आज मैंने दान पुण्य करते हुए एक आदमी को देख लिया, बस, तभी से मेरा मन उदास हो गया । मेरा जी जल गया, उसे देखकर । मेरा कोई वश नही चला, इसलिए मैं वहाँ से उकता कर घर को चल पडा ।

यह है, दरिद्र और दीन-हीन मनोवृत्ति का नमूना ! ऐसा करना व्यर्थ है, आए हुए पुण्य के अवसर को हाथ से खो देना है । अगर कोई दे नही सकता है, देने का सामर्थ्य नहीं है तो कम से कम दूसरो को देते देखकर प्रसन्न तो हो, उसकी प्रशसा एव समर्थन तो करे । उसकी तरह स्वय भी प्राप्त साधनो मे से यत्किंचित दान देना सीखे ।

कृपण को भिखारी से दान-प्रेरणा

यो तो ससार का प्रत्येक प्रकृतिजन्य पदार्थ प्रतिक्षण दान की प्रेरणा देता रहता है । नदी, सरोवर, पहाड, सूर्य, वृक्ष आदि भी प्रत्येक मनुष्य को दान की अमूल्य प्रेरणा देते रहते हैं । परन्तु मनुष्य शान्त होकर ठडे दिल से विचार करे तो उसे प्रकृति की उदारता का रहस्य शीघ्र ही ज्ञात हो सकता है । यही नहीं, याचक या भिखारी से भी उसे दान की अद्‌भुत प्रेरणा मिलती रहती है । अगर वह अन्तरात्मा की आवाज सुने और प्रकृति की उदारता के रहस्य पर चिन्तन करे तो कृपण से कृपण व्यक्ति मे दानशीलता आ सकती है । भिखारी से उसे दान की प्रेरणा कैसे मिलती है ? सुनिए—

बच्चों की तरह धन इकट्‌ठा मत करो

कई लोग धन जोड-जोड कर इकट्ठा करते जाते हैं । उन्हें यह भान भी न होता कि आखिर इस धन का क्या उपयोग होगा ? मरने के बाद यह धन यहीं पड़ा रहेगा । कौन इसका उपभोग करेगा ? इससे भी मृत व्यक्ति को कोई लाभ नहीं । उसका लडका या अन्य लोग उसका उपयोग करते हैं, जुए मे उडा देते हैं अथवा आमोद-प्रमोद मे फूंक देते हैं । और जीते जी भी धन किसका हुआ है ? उसका लाभ बटोर-बटोर कर रखने मे नही, दान-पुण्य करने मे है । परन्तु लोभी लोग इस बात को न मान कर धन-सचय करने मे ही गौरव समझते हैं । उनका धन इकट्ठा करना वैसा ही है जैसे बच्चे काच के टुकडे या अन्य कोई रग-बिरगी चीज इकट्ठी करते हैं ।

एक छोटी-सी लडकी थी । वह खेलते-खेलते कांच के टुकडे इकट्‌ठे करती थी । रात को जब वह सोती तो अपनी जेब मे कांच के टुकडे भर कर सोती थी । उसके पिता उसकी जेब से रात को काच के टुकडे निकाल कर बाहर फैंक देते ।

सुबह जब लडकी उठती और अपनी जेब टटोलती तो काच के टुकडे नदारद ! फिर भी वह हिम्मत नही हारती और शाम तक पुन काच के टुकडो से अपनी जेब भर लेती। उसका पिता जब उसे कहते—'बेटी ! तू यह क्या कर रही है ? ये काच के टुकडे कही हाथ मे चुभ गये तो खून निकल आएगा ?' लडकी कहती—'पिताजी ! आप भी यही कर रहे हैं ! मैं अपनी जेब मे काच के टुकडे भरती हूँ, आप अपनी थैली मे नोट भर रहे है। दोनो मे अन्तर क्या है ?'

वास्तव मे, बच्चे के मुँह से निकले हुए इस कटु सत्य पर प्रत्येक व्यक्ति को विचार करना चाहिए और अन्तर को टटोलना चाहिए कि कही वे भी उस बालिका की तरह थैली या तिजोरी मे धन इकट्ठा करके रखने की नादानी तो नही करते ! आज तो धन के पीछे अनेक ग्राहक लगे हुए हैं—चोर, डकैत, आयकर, विक्रय कर आदि कर लगे हुए हैं, उसका धन खीचने मे। अगर वह दान दे देता है तो बहुत अंशो मे इन खतरो से बच सकता है।

यो भी कई लोग व्यर्थ की चीजो का सग्रह करते रहते हैं, जिनका कोई उपयोग नही होता। न तो वे किसी दूसरे के काम आती हैं, न उनके ही।

एक राजा ने बहुत-से कीमती पत्थर, जिन्हे वह पन्ना, हीरा, माणक, पुखराज आदि कहता था, सग्रह कर रखे थे। एक दिन एक सन्त आए। राजा ने उन्हे अपना कीमती पत्थरो का सग्रहालय बताया, परिचय दिया। सन्त ने पूछा—'राजन् ! इन सब पत्थरो से क्या आय होती है ?' आय क्या होती है, इनकी रक्षा के लिए पहरेदार रखने पडते हैं, प्रतिवर्ष हजारो रुपये विश्वस्त खजाची को रखने मे लगते हैं।'

सन्त—'तब तो इससे भी अच्छे दो पत्थर एक बुढिया के यहाँ हैं, जिनसे वह आटा पीस कर अपना गुजारा चलाती है। अगर इतने पडे हुए निरर्थक अनावश्यक धन का उपयोग राज्य के निर्धनो, असहायो, पीडितो विधवाओ और दु खितो के दु ख मिटाने मे हो तो कितना अच्छा हो ? न आपको पहरेदार रखने पडें और न खजाची।' राजा ने सन्त की बात स्वीकार कर ली और तभी से उसने उन कीमती पाषाणो के सग्रह के बदले सन्त के निर्देशानुसार गरीबो, असहायो आदि को सहायता देने मे ध्यान दिया। सच है, धन या कीमती आभूषणो का दान से बढकर और अच्छा उपयोग क्या हो सकता है ?

दान की विविध रूप मे प्रेरणा

कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि दान देकर स्वय कष्ट मे पडना मुसीबत उठाना ठीक नही, परन्तु यह बात ही मानव की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। माता से पूछिए कि वह बालक को देकर सुख पाती है, आनन्दित होती है या स्वय अकेली स्वार्थिनी बनकर खाने से सुख-आनन्द पाती है ? इसी प्रकार समस्त मानवो की वृत्ति होनी चाहिए। बल्कि उदारतापूर्वक प्रसन्नचित्त से दूसरो को देना चाहिए।

पिछले पृष्ठो मे अंकित दान के माहात्म्य, दान से लाभ, एव दान की प्रेरणा के विविध पहलुओ द्वारा यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है कि दान मानव जीवन के लिए अनिवार्य अग है। आवश्यक कर्तव्य है, दैनिक नियम है, इसका पालन न करने से मनुष्य अधोगति की ओर जाता है। तीर्थंकरो ऋषि-मुनियो, भिक्षुओ एव सन्तो के धर्मोपदेशो मे यत्र-तत्र इसी बात की पुष्टि मिलती है। फिर भी कुछ लोग तीव्र लोभवृत्ति के कारण दान देने मे हिचकिचाते हैं। उनके लिए भी वैदिक ऋषियो की यह बार-बार प्रेरणा है। भारतीय आचार्य दीक्षान्त भाषण के समय गुरुकुल के स्नातको के सामने प्राय इन्ही शिक्षा-वाक्यो को दोहराते थे। वे मानते थे कि स्नातक अब गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करेगा, अत गृहस्थाश्रम का सबसे पहला गुण प्रतिदिन दान-धर्म का आचरण करना है, तथापि अश्रद्धावश या अज्ञानवश कोई उन शिक्षावाक्यो को भूल न जाय इसलिए वे पुन -पुन उसकी आवृत्ति करते थे। वे दान प्रेरक शिक्षा-वाक्य ये थे—

'श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्।'
—तैत्तिरीय उपनिषद् १।११

—'श्रद्धा से दान दो, अश्रद्धा से भी दो, धन-सम्पत्ति मे से दो, श्रीवृद्धि न हो तो भी लोक-लज्जा से दो, भय (समाज या अपयश के डर या दबाव) से दो और संविद् (सहानुभूति विवेकबुद्धि और प्रेम) से दो।'

जहाँ तक श्रद्धा से देने का सवाल है, इसमे कोई दो मत नही है कि श्रद्धा से देना ही वास्तविक दान है, परन्तु यहाँ श्रद्धा से तात्पर्य है, दरिद्र या मनुष्यमात्र को परमात्मा या नारायण समझ कर दो। इस श्रद्धा से दो कि मैं इस परमात्मस्वरूप आत्मा को दे रहा हूँ। अगर ऐसी श्रद्धा न हो तो अश्रद्धा से भी समाज मे विषमता, अव्यवस्था और अशान्ति मिटाने हेतु दो, यो समझ कर दो कि मेरी धनसम्पत्ति मे समाज का भी हिस्सा है, इसलिए समाज के चरणो मे उपकृतभाव से अर्पण करना मेरा कर्तव्य है। मान लो किसी के पास श्रीवृद्धि न हो अथवा श्रीवृद्धि होने पर भी श्रद्धादि न हो तो भी लोकलज्जा से दो। लोकलज्जा या लोकदबाव से भी मनुष्य दान देता है तो अच्छा है। पाँच आदमी कहते हैं या देते हैं, उस समय अगर वह इन्कार करता है तो उसे लज्जा आती है, और वह अमुक सेवाकार्य या सार्वजनिक संस्था के लिए दान देता है तो कोई बुरा नही है। दान देने से उसकी कृपणता मे तो कमी ही होगी। समाज मे विषमता भी अमुक अशो मे दूर होगी। अगर दबाव या लोकलज्जा से भी कोई व्यक्ति दान नही देता है तो भय से दो। यह भय एक प्रकार का नैतिक भय है। भय पाकर दान देना भी बुरा नही है। यहाँ ऋषि ऐसा भय नही दिखाते हैं कि अगर तुमने दान नही दिया तो हम हत्या कर देंगे या तुम्हारा घरबार लूट लेंगे। अथवा तुम्हारे परिवार के अमुक व्यक्तियो का अपहरण कर लेगे। जैसे कि डाकू लोग कुछ धनिको के लडको का अपहरण करके उन्हे इस प्रकार की धमकी देते

हैं कि अगर इतने हजार दोगे तो तुम्हे तुम्हारे बालक को सौपेंगे । इस प्रकार का भय ऋषियो के दान की प्रेरणा मे नही है । वे चेतावनी दे देते हैं कि अगर तुमने दान न किया तो समाज मे विषमता बढ सकती है, गरीबो या पीडितो के मन मे प्रतिक्रिया या विद्रोह की भावना जाग सकती है । इस प्रकार भय दिखाना अच्छी चीज है, धर्म-भय है । जैसे हम कहे कि हिंसा करोगे तो अनिष्ट होगा, झूठ बोलोगे तो क्षति होगी, दुनिया मे अविश्वास बढ जाएगा । यह भय नही, एक प्रकार की चेतावनी है कि खराब काम मत करो, करोगे तो उसका खराब फल आना निश्चित है । जैसे कोई व्यक्ति किसी के बिछौने पर साँप देखकर उससे कहे कि तुम्हारे बिछौने पर साँप है, उसे छोडकर दूर हट जाओ, तो इसमे वास्तव मे जो भय है, उसे दिखा देना हुआ । जिस बारे मे मनुष्य को भय होना चाहिए, उससे भयभीत रहना उचित ही है । इसलिए ऋषि समाज को यह समझाते हैं कि समय की पुकार समझ कर या अमुक सकट के समय यदि उदार हृदय से तुमने दान नही दिया तो विपत्ति आ सकती है । दान न देने से जो विविध खतरे (भय) पैदा होते हैं उनसे डर कर भी यदि कोई दान देता है तो वह उत्तम है । अनिष्ट परिणाम समझाना धर्मभय तो है, लेकिन डाकुओ की तरह की धमकी नही है । इस प्रकार का भय दिखाने के पीछे ऋषियो का किसी प्रकार का स्वार्थ नही है । अगर इसे धमकी देना समझते हैं तो जैनशास्त्रो मे जगह-जगह बुरे कार्यों का फल नरक घोर नरक बताकर भय दिखाया गया है । वेद मे तो स्पष्ट धमकी दी है—

> मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता, सत्य ब्रवीमिवध इत् स तस्य ।
> नार्यमण पुष्यति नो सखाय, केवलाघो भवति केवलादी ॥

अर्थात्—मूर्ख निरर्थक अन्न का सग्रह करता है । वह कहता है—मैं सत्य कहता हूँ, वह अन्न जमा नही करता, अपितु अपनी हत्या करता है, यानी जो व्यक्ति अन्न जमा करके रखता है, वह अपनी मौत को बुला रहा है । जो व्यक्ति (दान दिये बिना) अकेले-अकेले खाता है, वह पुण्य का नही, केवल पाप का ही उपयोग करता है ।'

लज्जा और भय भी दान देने की नैतिक शक्ति को प्रकट करने का तरीका है । इसके बाद नम्बर आता है—सविद् से देने का—समाज के प्रति करुणा, सहानुभूति पैदा होते ही दान देना चाहिए । अन्तर मे जब दान देने की स्फुरणा हो, या सकट वगैरह के समय दान देने का वचन दिया हो, वादा किया हो तो तुरन्त दान देना चाहिए । उस समय टालमटूल नही करना चाहिए और न अपनी अन्तरात्मा की आवाज को दबाना ही चाहिए, दान देने मे प्रमाद नही करना चाहिए । इस प्रकार ऋषियो मुनियो एव तीर्थंकरो या आचार्यों की दान के लिए सहस्रमुखी प्रेरणाएँ हैं, जो विविध धर्मशास्त्रो या धर्मग्रन्थो मे यत्र-तत्र अकित हैं ।

●

उपार्जितानामर्थाना, त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसस्थाना, परीवाह इवाम्भसाम् ।

—पचतत्र २।१५५

सचित धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा का एक मात्र उपाय है। तालाब के पानी का बहते रहना ही उसकी शुद्धता का कारण है।

द्वितीय अध्याय

दान :
परिभाषा और प्रकार

1
दान की व्याख्याएँ

पिछले प्रकरणो मे आपके सामने दान का माहात्म्य, दान से लाभ, दान की प्रेरणा और दान के उद्देश्य के सम्बन्ध मे सभी बातें स्पष्ट की जा चुकी हैं। इसलिए अब सहज ही प्रश्न उठता है कि वह दान है क्या चीज ! उसका लक्षण क्या है ? उसकी परिभाषा क्या है तथा उसकी व्याख्या और स्वरूप क्या है ?

('दान' दो अक्षरो से बना हुआ एक अत्यन्त चमत्कारी शब्द है। आप दान-शब्द सुनकर चौंकिए नही। दान से यह मत समझिए कि आपकी कोई वस्तु छीन ली जाएगी, या आपको कोई वस्तु जबरन देनी होगी। दान एक धर्म है, और धर्म कभी किसी से जबरन नही करवाया जाता। हाँ, उसके पालन करने से लाभ और न पालन करने से हानि के विविध पहलू अवश्य समझाए जाते है।) इसी प्रकार दान कोई सरकारी टेक्स नही है, कोई आयकर, विक्रयकर, या सम्पत्तिकर नही है, जो जबरन किसी से लिया जाए अथवा दण्डशक्ति के जोर से उसका पालन कराया जाए। (चूंकि दान धर्म है, अथवा पुण्य कार्य है, इसलिए वह स्वेच्छा से ही किया जाता है। और न ही दान किसी पर एहसान है, जो लादा जाय।) जहाँ पर एहसान करना होता है, किसी को कुछ देकर उसे नीचा मानना होता है, या उससे कोई गुलामी कराना होता है, वहाँ वह कार्य दान नही कहलाता, अपितु वेतन या मजदूरी देकर काम कराना होता है, अथवा वह बेगार या नौकरी है। इसी प्रकार धोबी को धोने के लिए कपड़े दिये जाते हैं, दर्जी को सिलाई के लिए वस्त्र दिये जाते हैं अथवा अन्यान्य श्रमजीवियो को कोई चीज दी जाती है, वह वापिस लेने के लिए दी जाती है, उन्हे धुलाई, सिलाई या अन्य काम करने के बदले मे जो कुछ दिया जाता है, वह दान नही, पारिश्रमिक—मेहनताना कहलाता है।

'दान' शब्द का यह अर्थ भी नही है कि हम जो शरीर के मल, मूत्र, पसीने आदि का विसर्जन भूमि पर करते हैं, या अपनी गन्दी, फटी-टूटी चीजें या कूड़ा-कर्कट आदि जमीन पर फेंक देते हैं, वह दान है यह भूमि को दान देना नही, अपितु विसर्जन है जो प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है, अगर वह नही करता है तो उससे अपना व दूसरो का नुकसान है, स्वास्थ्य का भी और मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक भी।

इन सब बातो पर पहले गहराई से विचार कर लेंगे तो आपको दान की परिभाषा बहुत ही आसानी से शीघ्र ही समझ मे आ जाएगी।

दान का शाब्दिक अर्थ है 'देना।' परन्तु उसका भावार्थ कुछ और ही है। अगर दान के शाब्दिक अर्थ के अनुसार हम 'दीयते इति दानम्' जो दिया जाता है वह दान है, यही अर्थ करेंगे तो बहुत-सी आपत्तियाँ आएँगी। ससार मे असख्य चीजें एक आदमी द्वारा या एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी को दी जाती है, वे सब की सब दान की कोटि मे चली जाएँगी। जैसे डाकिया चिट्ठी देता है या मनिआर्डर देता है, उसका वह कार्य भी दान कहलाएगा। तेली, मोची, लुहार आदि विभिन्न श्रमजीवी तथा पेंटर, डिजाइनर, चित्रकार, मूर्तिकार, फोटोग्राफर आदि भी पैसा लेकर विविध वस्तुएँ देते हैं, वह कार्य भी दान कहलाने लगेगा। इसलिए जब तक दान की वास्तविक परिभाषा ज्ञात नही हो जायगी, तब तक इधर-उधर की भ्रान्तियाँ समाप्त नही हो सकेंगी।

जैन दृष्टि से दान शब्द का लक्षण और व्याख्याएँ

जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान् एव सूत्र शैली मे आद्य ग्रन्थ प्रणेता तत्त्वार्थ-सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने दान शब्द का लक्षण किया है—

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'[1]

—'अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।'

इसी तत्त्वार्थ सूत्र को केन्द्र मे रख कर तत्त्वार्थभाष्य, श्लोकवार्तिक, राज-वार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनीयवृत्ति आदि मे इसी सूत्र की व्याख्या की है, वह क्रमश दी जा रही है—

'स्वपरोपकारोऽनुग्रह, अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दान वेदितव्यम्।'[2]

'परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जन दानम्।'[3]

'आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानादे पात्रेऽतिसर्गो दानम्।'[4]

'स्वस्य परानुग्रहाभिप्रायेणाऽतिसर्गो दानम्'[5]

'परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वत।
स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दान नाम गृहिव्रतम्॥'[6]

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र ६।१२
२ तत्त्वार्थ राज० श्लोकवार्तिक
३ सर्वार्थ सिद्धि ६।१२
४ तत्त्वार्थभाष्य
५ तत्त्वार्थ० सिद्ध सेनीया वृत्ति ६।१३
६ तत्त्वार्थसार ४।८९

'स्वपराऽनुग्रहार्थं दीयते इति दानम् ।'[७]

'स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानम्'[८]

'आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।
स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात् तद्दानमिष्यते ।'[९]

अनुग्रहार्थं स्वोपकाराय विशिष्टगुणसचय लक्षणाय परोपकाराय—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिवृद्धये स्वस्यधनस्यातिसर्गोऽतिसर्जनं विश्राणन प्रदान दानम् ।[१०]

'अपने और दूसरे का उपकार करना अनुग्रह है । इस प्रकार का अनुग्रह करने के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान समझना चाहिए ।'

'दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है ।'

अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए अपने अन्नपानादि द्रव्य-समूह का पात्र मे उत्सर्ग करना देना दान है ।'

अपनी वस्तु का दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अर्पण (त्याग) करना दान है ।'

("धर्म वृद्धि करने की दृष्टि से दूसरे और अपने पर अनुग्रह करने वाली अपनी वस्तु का त्याग दान है, जिसे गृहस्थव्रत रूप मे अपनाते हैं ।")

'अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए जो दिया जाता है, वह दान है ।'
'स्व और पर के उपकार के लिए वितरण करना दान है ।'

'अपने श्रेय के लिए और दूसरो के सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय की समृद्धि के लिए इस प्रकार स्वपर-अनुग्रह के लिए जो क्रिया होती है, वह दान है ।'

'अनुग्रहार्थं' यानी अपने विशिष्ट गुण सचय रूप उपकार के लिए और दूसरो के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिवृद्धिरूप उपकार के लिए स्व=धन का, अति सर्जन करना=देना दान है ।'

इस प्रकार ये सब व्याख्याएँ तत्त्वार्थ सूत्रकार के लक्षण को केन्द्र बनाकर उसके इर्दगिर्द घूमने वाली व्याख्याएँ हैं ।

हम अब क्रमश इन पर विचार व विश्लेषण करें, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि जैन दृष्टि से दान क्या है और क्या नही है ?

---

७ सूत्रकृताग वृत्ति श्रु० १। अ० ११। तथा उत्तरा० एव कल्पसूत्र वृत्ति
८ जैन सिद्धान्त दीपिका
९ उपासकाध्ययन ७६६
१० तत्त्वार्थवृत्ति श्रुत सागरीय ७।३८

स्व-अनुग्रह क्या, क्यो और कैसे ?

अनुग्रह शब्द मे यहाँ दान का उद्देश्य निहित है। किस प्रयोजन से कोई पदार्थ दिया जाय तब दान कहलाता है, यह बात 'अनुग्रह' शब्द मे समाविष्ट हो जाती है। अनुग्रह का अर्थ उपकार करना होता है। दान किसी पर एहसान करने या दबाव डालने की दृष्टि से नही होता। अनुग्रह का अर्थ एहसान नही है। वह खास तौर से अपने पर उपकार करना है। लेने वाला दाता को दान देने का अवसर देकर एक प्रकार से अनुग्रह करता है। वैसे अनुग्रह शब्द मे स्व और पर दोनो का अनुग्रह अभीष्ट है। पहले के कुछ व्याख्याकारो ने अनुग्रह का अर्थ दूसरे पर अनुग्रह करना—उपकार करना लिया है, परन्तु बाद मे व्याख्याकारो ने इसे स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने स्व और पर दोनो पर अनुग्रह करने की दृष्टि से अपनी वस्तु का त्याग करना दान बताया है।

सर्वप्रथम हम स्व-अनुग्रह पर विचार कर ले अपने पर अनुग्रह करने के यहाँ अनेक अर्थ फलित होते हैं, जिनमे से कुछ का निर्देश इन व्याख्याओ मे किया गया है।

एक अर्थ यह है—अपने मे (अपनी आत्मा मे) दया, उदारता, सहानुभूति, सेवा, विनय, आत्मीयता, अहिंसा आदि विशिष्ट गुणो के सचय रूप (अथवा उद्भव) उपकार करना स्वानुग्रह है।

दूसरा अर्थ है—अपने श्रेय—कल्याण के लिए प्रवृत्त होना स्वानुग्रह है।

तीसरा अर्थ है—अपने मे धर्मवृद्धि करना स्वानुग्रह है।

चौथा अर्थ है—दान के लिए अवसर प्राप्त होना स्वानुग्रह है।

(दान के साथ जब तक नम्रता नही आती, तब तक दान अहकार या एहसान का कारण बना रहता है। इसलिए दान के साथ उपकृत भाव आना चाहिए कि मुझे अमुक व्यक्ति ने दान लेकर उपकृत किया।)

(अनुग्रह-दाता की नम्रवृत्ति का सूचक है, वह सोचता है, 'दान लेने वाले व्यक्ति ने मुझ पर स्नेह, कृपा अथवा वात्सल्य दिखाकर स्वय मुझको उपकृत किया है, आदाता ने मुझ पर कृपा की है कि मुझे दान का यह पवित्र अवसर प्रदान किया है। इस प्रकार अनुग्रह शब्द के पीछे यही भावना छिपी है।)

भूदेव मुखोपाध्याय ने अपने पिता श्री विश्वनाथ तर्कभूषण की स्मृति मे 'विश्वनाथ फड' स्थापित किया था। इस फड मे उन्होने एक लाख साठ हजार रु० की स्थायी सम्पत्ति दान कर दी। इस फड से देश के सदाचारी विद्वान ब्राह्मणो को प्रति वर्ष ५०) रुपये बिना मागे घर बैठे मनिआॅर्डर से भेज दिया जाता था। 'एज्युकेशनल गजट' मे प्रकाशित कराने के लिए इस फड की प्रथम वार्षिक वृत्ति का विवरण एक कर्मचारी ने तैयार किया। उस पर शीर्षक दिया गया था—'इस वर्ष जिन लोगों को विश्वनाथ-वृत्ति दी गई थी, उनकी नामावली'। यह विवरण देखकर भूदेव मुखोपाध्याय कर्मचारी पर अप्रसन्न हुए—'तुम्हे विवरण का शीर्षक देना भी नही आता ?

शीर्षक इस प्रकार लिखो—'इस वर्ष जिन-जिन विद्वानो ने विश्वनाथवृत्ति स्वीकार करने की कृपा की, उनकी नामावली।' वास्तव मे इस वाक्य से भूदेव मुखोपाध्याय की दान के साथ नम्रवृत्ति दान की परिभाषा मे उक्त स्वानुग्रह की भावना को चरितार्थ करती है।

यही उपकृत भाव प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा दिये गये दान के पीछे होना चाहिए। यही दान के साथ स्वानुग्रह है। जहाँ दान के साथ अभिमान है, लेने वाले को हीन दृष्टि से देखने की भावना है, एहसान जताना, वहाँ दान का स्वानुग्रह रूप उद्देश्यपूर्ण नही होता। दान एक तरह से बेगार या सौदा बन जाता है। दान का वास्तविक फल भी तभी मिल सकता है, जब दानदाता व्यक्ति के दिल मे दान के साथ आत्मीयता हो, सहृदयता हो और लेने वाले का उपकार माना जाय कि उसने दान देने का अवसर दिया है, या दान लेना स्वीकार किया है।

वैदिक दृष्टि से कहे तो प्रत्येक मनुष्य को मन मे यह विचार दृढतापूर्वक जमा लेना चाहिए कि मैं कुछ अन्नादि देता हूँ, वह भगवान का दिया हुआ है। अगर वह अभिमान करता है तो वह परमात्मा की दृष्टि मे अपराधी है। यह भी एक प्रकार का स्वानुग्रह है।

एक गृहस्थ भूखो को अन्न अपने हाथ से ही देता था, क्योकि वह योग्य-अयोग्य पात्र-सुपात्र को देखकर देना चाहता था। किन्तु दान देते समय वह गम्भीर हो जाता था, और नीचा मुँह कर लेता था।

एक बार एक महात्मा आए, उन्होने उससे पूछा—'भाई! आप दान देते समय नीचा मुँह क्यो कर लेते हैं? नीचा मुख तो पापी करता है। आप तो पुण्य कार्य करते हैं, तब फिर नीचा मुंह क्यो करते हैं? उसने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'महात्मन्! यह सब महिमा ईश्वर की है। मेरे पास क्या था और मेरा अपना भी क्या है? अन्नादि सब ईश्वर का है, और समाज से प्राप्त हुआ है। हम भी ईश्वर के हैं। याचक लोग मेरी स्तुति करते हैं, उससे मैं शर्मिन्दा हो जाता हूँ। परमात्मा का श्रेय मैं ले लूं, यह मेरे लिए पाप है। परमात्मा की दृष्टि मे हम दान का यश लूटकर अपराधी बनें, यह ठीक नही है। वैसे भी तो कई पाप गृहस्थाश्रम मे करते हैं। इसलिए ऊँचा मुह कैसे किया जा सकता है? याचक अन्न ले जाते हैं और मेरा उपकार मानते हैं, यह भी उचित नही है। मुझे ही उनका उपकार मानना चाहिए, क्योकि वे मेरे घर पर आकर मुझे मेरा धर्म समझाते हैं, और मुझे पाप से मुक्त करते हैं। इसलिए मैं उनके सामने देख नही सकता।' गृहस्थ की ऐसी समझ देखकर महात्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए और दान लेकर चल दिये।

वास्तव मे उक्त सद्गृहस्थ याचको का अपने पर उपकार मानकर स्वानुग्रहबुद्धि से दान देता था। इस प्रकार का स्वानुग्रह दान के उद्देश्य को पूर्णतया चरितार्थ करता है।

दूसरे प्रकार का स्वानुग्रह है—दान के द्वारा व्यक्ति के जीवन मे धर्मवृद्धि का होना। धर्म से मतलब यहाँ किसी क्रियाकाण्ड या रूढि परम्परा से नहीं है, अपितु जीवन मे अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य एव परिग्रहवृत्ति की मर्यादा समता आदि से है। व्यक्ति के जीवन मे दान के साथ धर्म के इन अगो का प्रादुर्भाव हो, अथवा दुर्व्यसनो का त्याग हो, तभी समझा जा सकता है, उसका दान स्वानुग्रह कारक हुआ है। अन्यथा, दान से केवल प्रतिष्ठा लूटना, प्रसिद्धि प्राप्त करना, अपितु अपने जीवन मे बेईमानी, शोषणवृत्ति, अन्याय, अत्याचार आदि पापकार्यों को न छोडना कोरी सौदेबाजी होगी। वह दान दान के उद्देश्य को पूर्ण करने वाला नही होगा। दान के साथ हृदयस्थ शैतान न बदले तो वह दान ही क्या ?

सर्वोदय की प्रसिद्ध कार्यकर्त्री बिमला बहन ठकार जिन दिनो बिहार मे पैदल घूम-घूमकर भूदान की अलख जगा रही थी, उन दिनो की एक घटना है। एक छोटी रियासत से होकर वे गुजर रही थी। साथ मे कॉलेज के दो-चार लडके थे। साथियो ने कहा—'इस गाँव मे जाना बेकार है। राजा बडे दुष्ट हैं, शराबी हैं, जुआरी हैं, इनका हृदय परिवर्तन क्या हो सकता है ?' विमला बहन ने कहा—'हम जनता मे जनार्दन का दर्शन करने निकले हैं। बगैर दर्शन के मन्दिर के बाहर से ही लौट जाय, यह अच्छा नही। भूदान-आन्दोलन मानवनिष्ठा का अधिष्ठान है। मैं तो अवश्य ही जाऊँगी, उनके पास।' विमला बहन के साथी नही माने वे दूसरे गाँव चले गए। वे अकेली ही राजासाहब की ड्यौढी पर पहुँची। दोपहर का समय था। बरामदे मे वे आराम से लेटे हुए थे। बिमला बहन के दरवाजा खटखटाया। पूछा गया—'कौन है ?' उन्होने कहा—'आपकी बहन आई है।' जब सुना कि बहन आई है तो चौंक पडे, आगे बढ कर इस तरह देखने लगे कि कही कोई पगली तो दरवाजे पर नही पहुँच गई। पूछने लगे—'यहाँ तक कैसे पहुँच पाई ? गाँव वालो ने तुम्हे बताया नही कि मैं किस प्रकार का शैतान आदमी हूँ ? भला, मेरे पास किसी भले आदमी का कोई काम हो सकता है ? तुम एक नौजवान लडकी हो तुम्हारी भलाई इसी मे है कि तुम लौट जाओ।'

बिमला बहन— भाई साहब ! आप दुष्ट हैं या शराबी, मुझे इससे क्या मतलब ? एक बात का जवाब दीजिए। आपके भी कोई मा-बहन है या नही ? एक सत का सन्देश लेकर, एक फकीर का पैगाम लेकर दरवाजे पर पहुँची हूँ। इस तरह लौटने वाली यह बहन नही है। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन के विचार की राखी यह बहन भाई की कलाई मे बाध कर ही लौटेगी, पहले नही।'

दुनियाँ ने उन्हे दुष्ट कहा था, शैतान कहा था, लेकिन उनकी आँखो मे आँसू छलक पडे। आँसू क्या थे, उनकी अन्तरात्मा मे सोई हुई भलाई, धर्मवृत्ति जाग उठी, उनकी मानवता उमड पडी। हाथ जोडकर कहा—'बहन ! अन्दर पधारिए। मैं आज से शराब, मास, शिकार और परस्त्रीगमन का त्याग करता हूँ, अब तो मैं दान देने

के योग्य हो गया हूँ।' यो कहकर उन राजासाहब ने सभा का आयोजन किया। सभा मे ५०० एकड जेरकाश्त जमीन मे से १२५ एकड जमीन उन्होने दान मे दी, बाकी गाँव वालो ने दी। इस प्रकार ४ घटे मे २१५ एकड जमीन का दान लेकर बिमला बहन उस गाँव से लौटी।

इस दान के साथ राजासाहब के जीवन स्वानुग्रह के रूप मे धर्मवृद्धि हुई।

तीसरे प्रकार का स्वानुग्रह है—अपने श्रेय (कल्याण) के लिए प्रवृत्त होना। व्यक्ति मे जब सोया हुआ भगवान् जाग जाता है तो वह सर्वस्व देकर अपरिग्रही बनकर कल्याणमार्ग मे प्रवृत्त हो जाता है।

सत फ्रासिस एक बहुत बडे धनाढ्य के पुत्र थे। वे पहले अत्यन्त सुन्दर रेशमी वस्त्र पहना करते थे। एक बार एक भिखारी उनकी दूकान पर आया, वह फटे कपडे पहने हुए था। उसे देखकर फ्रासिस को दया आ गई। उन्होने उसे पहनने के लिए कुछ रेशमी कपडे देते हुए कहा—'लो भाई! ये अच्छे कपडे पहन लो।' भिखारी ने उत्तर दिया—'महाशय! क्षमा करे यदि मैं इन रेशमी कपडो को पहनने लगूंगा तो फिर मुझे अपने भीतर बैठा हुआ परमात्मा नही दीखेगा, क्योकि मेरी दृष्टि फिर इनकी चमक-दमक मे ही उलझ जाएगी। तब इन कपडो और शरीर की सभाल मे ही मेरी आयु समाप्त हो जाएगी। अपने परमात्मा का दर्शन कभी नही हो सकेगा।' यह सुनकर फ्रासिस ने कहा—'मुझे भी ऐसा ही अनुभव हो रहा है।' यह कहने के साथ ही उन्होने वे रेशमी कपडे फाड डाले और अपनी दूकान का करोडो रुपयो का सब माल गरीबो को दान मे देकर स्वय उस भिक्षुक के साथ हो गए। निस्परिग्रही सत बन गए। ईसाई सतो मे सेंट फ्रासिस बहुत ऊँचे दर्जे के सत हो गए हैं।

चौथे प्रकार का स्वानुग्रह है—दान के माध्यम से अपने मे दया, करुणा, उदारता, सेवा, सहानुभूति, समता, आत्मीयता आदि विशिष्ट गुणो का सचय करना। जब मनुष्य दान देता है तो मन मे इस प्रकार के उच्च विचार आने चाहिए जो दया आदि सद्गुणो के पोषक हो। अगर दान देते समय, देने के बाद या देने से पहले लेने वाले के प्रति सद्विचार नही हैं, या दया, आत्मीयता या सहानुभूति के विचार नही हैं, तो वह नाटकीय दान निकृष्ट हो जायगा। अथवा दान के साथ लेने वाले के प्रति घृणा की भावना है, उसे हीन समझकर या एहसान जता कर अभिमानपूर्वक दिया जाता है तो वह दान के लक्षण मे कथित उद्देश्य को पूर्ण नही करता। इसलिए एक आचार्य ने स्वानुग्रह का अर्थ किया है कि अपने मे पूर्वोक्त विशिष्ट गुणो का सचय करना-स्वोपकार है।

जोन० डी० रॉकफेलर का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। अमेरिका मे रॉकफेलर अपनी क्रूरता, कृपणता और कठोरता के लिए बहुत प्रसिद्ध था। लेकिन जब उसे दु साध्य बीमारी हुई और इलाज के सारे प्रयत्न निष्फल हो गए, तब उसके जीवन मे अपने पिछले कारनामो के प्रति पश्चात्ताप होने लगा। उसके हृदय मे

के प्रति दया, सहानुभूति और आत्मीयता की भावना उमडी और उसने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबो को दान मे देने का निश्चय कर लिया । रॉकफेलर के उस दान के साथ उसके जीवन मे दुर्गुणो से निवृत्ति और सद्गुणो का सचय हो चुका था। उसने पाप के प्रायश्चित्त के रूप मे सारी सम्पत्ति का दान कर दिया । कई सस्थाएँ उसको अपने पूर्व जीवन के अनुसार दुर्गुणी जान कर उसका धन ले नही रही थी, रॉकफेलर ने अपने बदले हुए सद्गुणनिष्ठ जीवन का परिचय दिया, विश्वास दिलाया और उसका धन लेकर उस पर अनुग्रह करने की प्रार्थना की, अपना अह छोडकर अपने मित्र के द्वारा दिलवाया, तब जा कर उन सेवाभावी सस्थाओ ने उसका दान स्वीकार किया।

यह था स्वानुग्रह का चौथा प्रकार, जो दान को उद्देश्यपूर्ण और सार्थक बनाता है।

जब तक दान के साथ इन चारो मे से किसी प्रकार का स्वानुग्रह नही होता, तब तक दान सच्चे अर्थ मे दान नही होता, क्योंकि केवल देना-दान नही है, उसके पीछे कुछ विचार होते हैं, भावना होती हैं, उसका उद्देश्य होता है, विचार किये बिना यो ही किसी को रूढिवश दे देना, सिक्का फेंकना है—दान देना नही । अपनी वस्तु का दान देने और किसी के सामने वस्तु को फेंक देने मे बहुत अन्तर है। इसलिए दान तभी सच्चे अर्थों मे दान है, जब उसमे स्वानुग्रहभाव निहित होगा ।

परानुग्रह क्या, क्यों और कैसे ?

स्वानुग्रह के साथ-साथ कई आचार्यों ने दान की व्याख्या मे परानुग्रह शब्द भी जोडा है। इसलिए इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। वैसे दान के साथ परानुग्रह की बात तो झटपट समझ मे आ जाती है, बल्कि स्वानुग्रह की बात सर्वसाधारण व्यक्ति को अटपटी-सी लगती है। परन्तु इससे पहले हम दान के साथ स्वानुग्रह की उपयोगिता और अनिवार्यता को स्पष्ट कर आये हैं। इसलिए इसमे सन्देह की अब कोई गुंजाइश ही नही रहती। परानुग्रह का सीधा-सादा मतलब है—अपने से अतिरिक्त दूसरे का उपकार करना। परानुग्रह का यह अर्थ नही है कि कोई शराबी है, उसे शराब पीने की हूक उठी है, पास मे पैसे नही हैं, छटपटा रहा है, बिना शराब के, उसे शराब लाकर पिलाना । इसी प्रकार और भी किसी दुर्व्यसन के पोषण के लिए किसी व्यक्ति को दान देना भी परानुग्रह नही है। जैसे स्वानुग्रह के कई अर्थ विभिन्न आचार्यों ने किये हैं, वैसे ही परानुग्रह के भी अनेक अर्थ आचार्यों ने किये हैं।

एक आचार्य परानुग्रह का अर्थ करते हैं—अपने दान से दूसरो के रत्नत्रय की वृद्धि मे सहायता करना 'परानुग्रह' है।

एक अर्थ यह है—दान देकर दूसरो के रत्नत्रय की उन्नति करना 'परानुग्रह' है।

एक अर्थ है—दान देकर दूसरो की धर्मवृद्धि मे सहायता रूप अनुग्रह करना ।

परानुग्रह का यह अर्थ भी होता है—दूसरो पर आई हुई विपत्ति, निर्धनता, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक प्रकोप की पीडा आदि निवारण करने का अनुग्रह करना ।

परानुग्रह के पहले अर्थ के अनुसार किसी रत्नत्रयधारी, मुनि जो धर्मात्मा हो, धर्मपालन कर रहे हो, सर्वस्व त्यागी हो, भिक्षाजीवी हो, उन्हे अपने रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के पालन के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, ज्ञानदान आदि से सत्कारित करना, ताकि वे अपने शरीर की रक्षा करके रत्नत्रय मे वृद्धि कर सकें, परानुग्रह है ।

सुखविपाक सूत्र मे सुबाहुकुमार आदि का वर्णन आता है । सुबाहुकुमार ने ऐसे उत्कृष्ट महाव्रतधारी सुदत्त अनगार को इसी बुद्धि से स्वानुग्रहपूर्वक दान दिया था। सुबाहुकुमार का यह दान स्वपरानुग्रह-बुद्धि से था ।

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण जैनागमो मे मिलते हैं, जिन्होंने स्वानुग्रहपूर्वक विविध मुनिराजो को दान देकर उन पर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की वृद्धि रूप उपकार किया था ।

श्रमण भगवान् महावीर एक बार कौशाम्बी नगरी मे १३ प्रकार की शर्तो (बोल) का अभिग्रह लेकर विचरण कर रहे थे । वे अपने अभिग्रह (ध्येयानुकूल सकल्प) की पूर्ति के लिए प्रतिदिन नियमित समय पर कौशाम्बी नगरी के उच्च-नीच मध्यम कुलो मे आहार के लिए जाते थे, लेकिन कही भी उनका अभिग्रह पूर्ण न हो सका । आखिर वे घूमते-घूमते धनावह सेठ के यहाँ पधार गए । वहाँ राजकुमारी चन्दनबाला को मुण्डित मस्तक, हाथो में हथकडियाँ और पैरो मे बेडियाँ पहनी तथा तीन दिन की उपवासी देखकर भ० महावीर ने उसी ओर पदार्पण किया, श्रमण भगवान महावीर को देखकर उसे अपार प्रसन्नता हुई कि मैं धन्यभाग्य हूँ जो तीर्थंकर जैसे महान पात्र को दान दे रही हूँ पर उडद के बाकुले जैसी तुच्छ वस्तु को देखकर उसकी आँखो मे आँसू आ गये । कितने ही आधुनिक कथा लेखको ने चन्दनबाला के आँखो मे आसू न देखकर लौटने की बात कही है, पर वह युक्ति-युक्त नही है ।[1] वास्तव मे तो अपनी दशा और देय द्रव्य को देखकर ही वह द्रवित हो गई । हा तो, भगवान महावीर का अभिग्रह पांच महीने और २५ दिन के बाद उस दिन फलित हो गया । राजकुमारी चन्दनबाला के हाथ मे उन्होंने उडद के बाकुले ग्रहण किये । लेकिन वह दान भगवान महावीर के शरीर पोषण तथा उसके फलस्वरूप उनके रत्नत्रय को समृद्ध बनाने के लिए अनुग्रहकारक हुआ । और चन्दनबाला के लिए स्वानुग्रहकारक बना ।

इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव भी एक वर्ष से अभिग्रह धारण किये हुए थे ।

---

१ भगवान महावीर एक अनुशीलन, पृ० ३६१-३६५ (देवेन्द्र मुनि)

विनीता (अयोध्या) नगरी के प्रजाजन इस बात को जानते ही न थे, कि मुनि को आहार कैसे दिया जाय ? फलत उन्हे एक वर्ष तक निराहार रहना पडा। अकस्मात् विचरण करते-करते भगवान ऋषभदेव हस्तिनापुर पधार गए। वहाँ के राजा श्रेयास कुमार को स्वप्न आया— जिसमे उन्होंने कल्पवृक्ष को अत्यन्त सूखा हुआ देखा, साथ ही अपने हाथ से सींचने पर उसे हराभरा देखा। श्री श्रेयासकुमार ने उस स्वप्न पर बहुत ऊहापोह किया, अत उन्हे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिसमे उन्होने पूर्व जन्म के पितामह श्रीऋषभदेव को जान लिया। वे ही शुष्क कल्पवृक्ष के प्रतीक थे—तपस्या से शरीर सूख गया। श्री श्रेयासकुमार के यहाँ जब दूसरे दिन अनायास ही भगवान ऋषभदेव पहुँच गए तो उन्हे अपने यहाँ आया हुआ इक्षुरस दिया। वह दान महादान था, वही भगवान ऋषभदेव के शरीर पोषण के माध्यम से उनके रत्नत्रय को समृद्ध बनाने का कारण बना इसलिए उस दान को स्व-परानुग्रहकारक कहे तो कोई अत्युक्ति नही होगी। इस प्रकार के जितने भी दान आगमो मे वर्णित हैं, वे ही स्वपरानुग्रह कारक होने से दान के उद्देश्य को सार्थक करते हैं, अन्य प्रकार के दान नही।

परानुग्रह का दूसरा अर्थ भी इसी से मिलता-जुलता है—दान द्वारा दूसरो के रत्नत्रय की उन्नति करना। यद्यपि परानुग्रह के साथ स्वानुग्रह तो गर्भित है ही, तथापि परानुग्रह-बुद्धि की मुख्यता आचार्य ने दान के साथ अनिवार्य बताई है। इस प्रकार के परानुग्रह मे भी त्यागी श्रमण-श्रमणी, मुनि, साध्वी आदि सुपात्र होते हैं। 'मेरे दान से इनका ज्ञानादिरत्नत्रय बढेगा, इनके शरीर मे सुखसाता रहेगी तो ये धर्म वृद्धि करेंगे, हजारो व्यक्तियो को सन्मार्ग का उपदेश देंगे और पथभ्रष्ट को सुपथ पर लाएँगे।' इस प्रकार की परानुग्रहबुद्धि जब दान के साथ आती है तो वह दान देदीप्यमान हो उठता है। उस दान से दाता और आदाता दोनो की आत्मा मे चमक आ जाती है।

प्राचीनकाल मे बनारस मे एक नगरसेठ था। उसके पुत्र गन्धकुमार को पिता के देहान्त हो जाने पर राजा ने नगर सेठ का पद दे दिया। तब से वह 'गन्धश्रेष्ठी' कहलाने लगा। एक दिन उसके पुराने मुनीम ने तिजोरी खोलकर गन्धश्रेष्ठी को बताया—'स्वामिन्! इतना पितृधन है, इतना मातृधन है, इतना पितामह से प्राप्त धन है, अब आप इस सारे धन की रक्षा करना।

गन्धश्रेष्ठी—"तो क्या मेरे पिताजी इतना सब धन साथ मे नही ले गए ?"

मुनीम—नही, स्वामी! अभी तक कोई भी अपने कुशल-अकुशल कर्म के सिवाय धन आदि किसी भी चीज को साथ मे लेकर नही गए और न ही आप साथ मे ले जा सकेंगे।" यह सुनकर गन्धश्रेष्ठी सोचने लगा—वे सब मूर्ख थे, धन साथ मे क्यो नही ले गए ? मैं तो सारा धन साथ मे लेकर जाऊँगा।' अत गन्धश्रेष्ठी ने सत्कार्य मे या सत्पुरुषो को सत्कार करने मे अपने धन के सदुपयोग का विचार न करके निश्चय किया कि 'इस सारे धन का मैं ही अकेला उपभोग करूँगा।' अत

उसने अपने धन मे से १० हजार मुद्राएँ खर्च करके एक बढिया स्नानगृह बनवाया। दस हजार रुपयो की एक स्वर्णमण्डित चौकी बनवाई। दस हजार रुपये की एक सोने की थाली बनवाई। तथा हजारो रुपये खर्च करके सिंहासन, शय्या आदि एक से एक बढकर उपभोग्य वस्तुए बनवाईं। तथा अपने सुबह के भोजन पर एक हजार, शाम के भोजन पर भी एक हजार तथा पूर्णिमा के दिन उत्तम मिष्टान्न बनते, उन पर १० हजार रुपये खर्च करने लगा। और अपने वैभव का अच्छे ढग से प्रदर्शन करता हुआ वह ठाठबाट से रहने लगा।

एक बार गन्धश्रेष्ठी ने अपना वैभव दिखाने के लिए नगर के सभी जनो को आमन्त्रित किया। नगर के सभी लोग उसका वैभव देखने के लिए एकत्रित हुए। जब गन्धश्रेष्ठी स्वर्ण थाल मे परोसे हुए उत्तम भोज्य पदार्थ का वैभव-प्रदर्शन के साथ आस्वाद लेने लगा, तभी एक ग्रामीण लकडहारा अपने मित्र के साथ गन्धश्रेष्ठी के वैभव को देखने आया था, वह तो स्वर्णथाल मे रखे हुए मिष्टान्न की मधुर सुगन्ध से मुग्ध हो गया। तथा उसका सारा वैभव देखकर लकडहारा अपने मित्र से कहने लगा—"मैं तो भोजन की गन्ध से ही पागल हो गया हूँ। मेरा मन अब इन पदार्थों को खाने के लिए ललक उठा है। उसका मित्र बोला—"जाने दे, मित्र, ये विचार! मुझे ये चीजे कभी मिल नही सकेंगी।" लकडहारा—"मुझे ये चीजें नही मिली तो मैं जिंदा नही रह सकूँगा। चाहे जिस तरह भी कष्ट सहकर मैं इन चीजो को चखूँगा।" उसका मित्र निरुपाय था। बहुत समझाया पर लकडहारे ने एक न मानी। गन्धश्रेष्ठी का जब भोजन पूरा होने आया, तब उसके मित्र ने जाकर प्रार्थना की—"स्वामिन्! यह ग्रामीण मनुष्य मेरे साथ आया है। यह स्वर्णथाल की चीजें देखकर मुग्ध हो गया है। अत थाल मे से इसे एकाध चीज देकर कृतार्थ कीजिए।" यह सुनते ही सेठ क्रुद्ध हो गया, बोला—"ऐसी धृष्टता करते हो! कुछ भी नही मिलेगा, इसमे से।" परन्तु वह लकडहारा भी अपने मित्र से आग्रह करने लगा,—"मित्र! किसी भी तरह मुझे एक-दो कौर ही मिल जाए, ऐसा प्रयत्न करो! अन्यथा, मैं जीवित न रह सकूँगा। अत उसके मित्र ने पुन गन्धश्रेष्ठी से अनुनय-विनय किया—"श्रेष्ठिन्! इसे जीवितदान के लिए किसी तरह एक कौर दे दीजिए।" सेठ ने काफी देर तक विचार करने के बाद कहा—"अभी तो नही दिया जा सकता, एक कौर भी। किन्तु यदि इसके बिना यह जीवित नही रह सकता है तो तीन वर्ष तक मेरे यहाँ बिना वेतन लिये नौकरी करे तो मैं फिर अन्त मे इसे अपनी थाली मे भोजन दे सकता हूँ।"

लकडहारे ने गन्धश्रेष्ठी की यह कठोर शर्त मंजूर कर ली। वह अपने परिवार को छोडकर सेठ के यहाँ रहने लगा। गाँव का होते हुए भी लकडहारा होशियार था। इसलिए सेठ की रसोई बनाने लगा। कुछ ही समय में वह 'गन्धश्रेष्ठी का रसोइया' नाम से प्रसिद्ध हो गया। तीन वर्ष पूरे हो गए। उसने अपने कार्य एव व्यवहार से

सेठ का दिल जीत लिया था। सेठ ने तीन वर्ष पूरे होते ही अगले दिन अपने घर के नौकरो से कहा—"सुनो ! आज इस घर का स्वामी मैं नही, यह रसोइया रहेगा। तुम सब जिस तरह मेरा आदर-सत्कार करते हो, उसी तरह इस लकडहारे का करना। घर का स्वामी आज इसे मानकर चलना।" यो कहकर सेठ अपनी पत्नी के साथ एक दिन के लिए घर छोडकर बाहर चला गया। जाते हुए सबको कह गया—'आज मेरे बदले यह लकडहारा सेठ है।"

अब क्या था ! इस एक दिन के सेठ को देखने के लिए सारा नगर उमड पडा। तीन वर्ष नौकरी करने के बाद एक दिन नगर सेठ-सरीखा भोजन और सम्मान पाने वाले इस नये नगर सेठ को देखने के लिए सारा नगर उत्सुक था। सगीत हुआ, दिव्यनृत्य हुआ। सोने के थाल मे उत्तम अमृत रसोई परोसी गई। उसी समय गन्धमादन पर्वत पर ७ दिन से समाधिस्थ बौद्ध भिक्षु अपना पारणा करने के लिए निकला। अपने ज्ञान से उसने ३ वर्ष नौकरी करने के बाद रसोइए को नगर सेठ बने हुए जान-देख लिया। उसकी श्रद्धा की परीक्षा के लिए इसी नये श्रेष्ठी के आगन मे आकर खडा रहा। रसोइया सेठ ने देखा तो विचार मे पड गया—"मैंने पूर्वकाल मे कुछ भी दान नही दिया था, इसी कारण एक दिन के भोजन के लिए तीन वर्ष तक नगर सेठ के यहाँ नौकरी करनी पडी। आज का यह भोजन मेरे लिए तो एक ही दिन का है। यह भोजन मुझे तो क्षणिक तृप्ति व सुख देगा। अगर इस भोजन का दान मैं इस भिक्षु को दे दूं तो यह भोजन इसके जीवन मे निर्मलता, सात्विकता और अहिंसा सत्यादि मे वृद्धि करेगा, शरीर को स्वस्थ रख कर यह समाज सेवा करेगा, और मुझे भी यहाँ और परभव मे सुख-शान्ति मिलेगी।" यो सोचकर तीन वर्ष की कठोर मेहनत से प्राप्त भोजन मे से एक भी कौर लिये बिना उस रसोइया सेठ ने सारा-का-सारा भोजन प्रसन्नतापूर्वक उस भिक्षु को दान दे दिया। बौद्धभिक्षु का भिक्षा पात्र भर गया। सारा थाल उसने भिक्षु के पात्र मे उडेल दिया। थाल मे से दो हिस्से उसने नही किये। बौद्ध भिक्षु भिक्षा लेकर अपने स्थान पर गये, उन्होंने विहार के सभी भिक्षुओ को यह आहार बाट दिया।

यह अभूतपूर्व घटना देखकर नगर मे सर्वत्र हर्ष व्याप्त हो गया। सभी के मुह से ये उद्गार निकले—'वैभवशाली मनुष्य को ऐसा ही होना चाहिए।' प्रशसा के ये बोल जब गन्धश्रेष्ठी ने सुने तो वह अपने सुखभोग और वैभव विलास पर बहुत लज्जित हुआ। अपने तीन वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद प्राप्त इस अमृत भोजन को रसोइये ने परम समाधानपूर्वक बौद्ध भिक्षु को सम्मान दान मे दे दिया, यह देख कर रसोइये के प्रति उसके मन मे आदर-भाव जागा। गन्धश्रेष्ठी ने रसोइये को सम्मानपूर्वक अपने वैभव मे से आधा हिस्सा दे दिया तथा अत्यन्त बहुमान करके अपने साथ रखा। बनारस के राजा ने रसोइये के सद्गुणो पर मुग्ध होकर उसे नगर सेठ पद दे दिया। और जो घर एक दिन भोग-विलास का घर बना हुआ था, वही घर उस दिन से 'दानशाला' बन गया।

'सव्व रस धम्मरसो जिनाति,
सव्व दान धम्मदान जिनाति',

बुद्ध के द्वारा धम्मपद अट्ठकथा मे उक्त यह अमर वाक्य उस दानशाला पर और उक्त श्रेष्ठी के जीवन में अकित हो गया।

सचमुच, परानुग्रह बुद्धि से एक दिन के श्रेष्ठी द्वारा दिया गया भोजन दान उसके जीवन को और साथ-साथ गन्धश्रेष्ठी के जीवन को विशिष्ट गुणो से सुसज्जित करने वाला बन गया। इस दान के पीछे स्वानुग्रह के साथ मुख्यत परानुग्रह बुद्धि निहित थी। यह बौद्ध भिक्षु के रत्नत्रय के अभ्युदय रूप परानुग्रह का कारण बना।

परानुग्रह के तीसरे अर्थ के अनुसार दान के द्वारा दूसरो की धर्म-वृद्धि मे सहयोग रूप मे अनुग्रह करना है। दान देने के पहले या पीछे भी दाता की जहाँ यह भावना रहती है कि इस दान से आदाता के जीवन मे धर्मवृद्धि हो, वह धर्म के उत्तम अगो से विभूषित हो, उसका जीवन धर्म से ओतप्रोत और धर्म मे हर समय सुदृढ बना रहे। इस प्रकार की भावना से दिया गया दान परानुग्रहकारक होता है।

यह परानुग्रहपूर्वक दान धर्म प्राप्ति कराने के लिए होता है। विशेषत उस समय यह विशेष रूप से परानुग्रहकारक होता है, जब व्यक्ति अपनी घृणित एव हिंसापरक आजीविका एव पूर्वज परम्परा के कारण पाप मे डूबे रहे हो, तब उन्हे धर्म मे सलग्न करने के लिए अपने धन, साधन आदि का दान दिया जाय।

उज्जयिनी के सम्राट कुणालपुत्र सम्प्रति राजा पूर्व जन्म मे एक भिक्षुक थे। आचार्य सुहस्तिगिरि से प्रतिबोध पा कर वे जैन मुनि बन गये थे। किन्तु जिस दिन वे मुनि बने थे, उसी दिन रात मे भयकर अतिसार रोग हो गया और उसी रात को उनका शुभभावनापूर्वक देहान्त हो गया। वे मर कर राजा कुंणाल के यहाँ पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए। यही सम्प्रति उज्जयिनी के सम्राट बने।

एक बार आचार्य सुहस्तीसूरि उज्जैन मे पधारे हुए थे। शोभा यात्रा नगर के आम रास्तो पर धूमधाम से निकल रही थी। आचार्य श्री सुहस्तीसूरि शोभायात्रा के साथ चल रहे थे। शोभायात्रा जब नगर के मुख्य मार्गों पर से होती हुई राजमहल के निकट पहुँची तो झरोखे मे बैठे हुए सम्प्रति राजा टकटकी लगाकर आचार्यश्री की ओर देखने लगे। सम्प्रति राजा का चित्त आचार्यश्री की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया। इसका कारण जानने के लिए सम्प्रति राजा गहरे मन्थन मे पड गए। सोचते-सोचते राजा को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे उन्हे अपने पूर्व जन्म की सब बातें याद हो आईं कि 'मैं एक दिन भिखारी होकर दाने-दाने के लिए घर-घर भटकता था। किन्तु मुझे मनुष्य जन्म का महत्त्व बताकर ससार-विरक्ति का प्रतिबोध इन्ही आचार्यश्री ने दिया और मैंने इनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की, एक ही रात्रि मे मेरा कल्याण हो गया। इनके परम अनुग्रह से मैं राजकुल मे पैदा होकर आज राज-ऋद्धि का उपभोग कर रहा हूँ। अत इस अनुग्रह रूपी ऋण का बदला मैं कैसे

चुकाऊँ ?' यह सोचकर सम्राट सम्प्रति वहाँ से उठकर सीधे नीचे आये और आचार्यश्री के चरणकमल स्पर्श करके सविनय निवेदन करने लगे—

'भगवन् ! मैं आपका शिष्य हूँ।'

आचार्यश्री ने कहा—'राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम धर्म कार्य मे रत बनो, धर्म से ही सब सम्पत्ति और पदार्थ मिलते हैं।'

सम्प्रति राजा 'धर्मलाभ' सुनकर निवेदन करने लगा—'भगवन् ! आप ही के अनुग्रह से मैंने यह राज्य प्राप्त किया है। कृपया, यह राज्य अब आप स्वय लेकर मुझे कृतार्थ कीजिए।'

आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'यह प्रताप मेरा नही, धर्म का है। धर्म राजा, रक सबका समान रूप से उपकार करता है। अत जिस धर्म के प्रताप से यह सम्पत्ति उपार्जित की है, उसी धर्म की सेवा मे यह व्यय करो, दान दो, जनता को धर्ममार्ग मे लगाओ। ऐसा करने से तुम्हारा भविष्य और भी उज्ज्वल होगा। हम तो नि स्पृही अकिंचन जैन श्रमण हैं, हमे इस राज्य ऋद्धि से क्या सरोकार ! अत यही उचित होगा कि अपनी सम्पत्ति का दान देकर अनेक लोगो को धर्ममार्ग मे लगाओ।'

आचार्यश्री के सदुपदेश को मानकर उसी समय राजा ने निर्णय कर लिया कि मैं इस शोभायात्रा मे सम्मिलित होकर राज्य मे अहिंसा और व्यसन त्यागरूप धर्म प्रवर्तित करने की घोषणा करूँ।' शोभायात्रा की पूर्णाहुति के बाद उसने उद्घोषणा की—'आज से मेरे राज्य मे कोई भी व्यक्ति पशु-पक्षी का शिकार न करे, शराब और मास का सेवन न करे।' उसी दिन से उसने जैन-धर्मावलम्बी श्रावको को धर्म मे सुदृढ रखने हेतु हर तरह से सहायता देने की व्यवस्था की। जगह-जगह दानशालाएँ, धर्मशालाएँ, प्याऊ, कुएँ, तालाब, उद्यान, औषधालय, पथिकाश्रम वगैरह बनवाकर उनके लिए प्रचुर द्रव्य का दान किया। इसके लिए सबसे महान् कार्य सम्राट सम्प्रति ने यह किया कि आन्ध्र आदि अनार्यदेशो मे लोगो को धर्म सम्मुख करने और धर्ममार्ग मे लगाने हेतु अपने सुभटो को प्रचारक के रूप मे भेजा। कुछ ही अर्से मे वे सब प्रान्त साधुओ के विहार योग्य और सुलभ बन गए, तब उन्होने आचार्यश्री से प्रार्थना की—'भगवन् ! उन सुलभ अनार्य क्षेत्रो मे जनता को धर्मोपदेश करके धर्म मे सुदृढ करने हेतु साधुओ को भेजें। वहाँ साधु पहुँचे और अनेक लोगो को धर्म प्राप्ति हुई। इस प्रकार सम्प्रति राजा ने धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह (जिसमे स्वय धर्मप्राप्तिरूप अनुग्रह तो था ही) के लिए करोडो रुपयो का दान दिया।

कर्मयोगी द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने भी द्वारिकावासी अनेक धर्मप्रेमी भाई बहनो को दीक्षा लेकर सयम पालन करने के रूप मे धर्म प्राप्ति के लिए दलाली की। उन्होंने तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु से जब द्वारका नगरी के भविष्य मे विनाश होने की बात सुनी तो उनके दिल मे एक विचार तीव्रता से उठा—'मैं द्वारकानगरी मे इस बात की घोषणा करवा दूँ कि जो द्वारकावासी भाई-बहन भगवान् अरिष्टनेमि के चरणो मे

दीक्षा लेकर श्रमण धर्म का पालन करना चाहते हो, वे निश्चिन्त होकर दीक्षा ग्रहण करें। उनके पीछे जो भी परिवार रहेगा, उनकी प्रतिपालना, उनका भरण-पोषण, मैं अपनी धन-सम्पत्ति देकर करूंगा।' बस, इसी उत्कृष्ट विचार के कारण उन्होने ससार का सर्वोच्च पद--तीर्थंकर पद प्राप्त करने का पुण्य वन्ध कर लिया। उन्होंने सारी द्वारकानगरी मे पूर्वोक्त प्रकार की घोषणा करवा दी और मुक्तहस्त से दान देकर हजारो धर्मात्मा पुरुषो और महिलाओ को धर्म-प्राप्ति करने मे सहयोग दिया।

यह था, दान द्वारा धर्मप्राप्ति करने मे सहयोग देकर किया गया परानुग्रह!

सचमुच, इस प्रकार का धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह दिये गये दान को सफल बना देता है, अनेको गुना सुन्दर फल प्राप्त करा देता है। धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह का एक पहलू यह भी है कि कोई व्यक्ति इस समय अधर्म या पाप मे डूबा हुआ हो, उसे अपने दान द्वारा जागृत करके, उसके हृदय मे धर्मप्रेरणा जगाकर धर्म के सम्मुख करा देना या धर्मप्राप्ति करा देना। ऐसा परानुग्रहकारी दान भी सफल हो जाता है।

एक भक्त थे। कोई चोर उनका कपडा चुरा ले गया। कुछ दिनो बाद उन्होने उस चोर को बाजार मे अपना कपडा बेचते हुए देखा, लेकिन लोगो मे हल्ला मचाकर उसे गिरफ्तार नही करवाया, वे इस अवसर की ताक मे थे कि मौका लगे तो इस चोर को सन्तुष्ट करके इसकी चोरी छुडवा दूं, इसे धर्म की राह पर लगा दूं।' बाजार मे वह चोर जिस दूकान पर कपडा बेचने गया, वह दूकानदार उससे कह रहा था—'कपडा तुम्हारा है या चोरी का, इसका क्या सबूत है? अगर कोई सज्जन पहचानकर बता दे कि कपडा तुम्हारा ही है, तो मैं इसे खरीद लूंगा।' भक्तजी पास ही खडे थे। उनसे दूकानदार का परिचय भी था। उन्होने कहा—'मैं जानता हूँ इन्हे, तुम इन्हे दाम दे दो।' दूकानदार ने कपडा खरीद कर कीमत चुका दी। इसके बाद भक्तजी के एक साथी ने उनसे पूछा—आपने ऐसा क्यो किया? इस पर भक्त बोले—'वह बेचारा बहुत गरीब है। गरीबी से तग आकर उसे ऐसा करना पडा। गरीब को हमने सहायता नही की, उसकी परिस्थिति पर ध्यान नही दिया, इसी कारण उसे चोरी करनी पडी। इसलिए ऐसे गरीब को तो हर हालत मे सहायता ही करना चाहिए। इसके विपरीत उसे चोर बताकर फँसाना और भी पाप है।' चोर के कानो मे जब इस सहृदय भक्त के वाक्य पडे तो उसके हृदय पर बहुत बडा प्रभाव हुआ। उसने विचार किया—मैंने अभाव पीडित होकर चोरी की। चोरी वास्तव मे बहुत बडा पाप है, और वह भी ऐसे सज्जन व उपकारी भक्त की चोरी तो और भी खराब है। उसने निश्चय कर लिया कि वह आज से कभी चोरी नही करेगा, धार्मिक जीवन बिताएगा।' वह भक्त की कुटिया पर पहुँचा और रोने लगा। भक्त ने उसे आश्वासन दिया और धार्मिक जीवन अपनाने के बाद धन्यवाद दिया। तथा उसे अपने पास से कुछ धन देकर विदा किया। तब से चोर कहलाने वाला व्यक्ति धर्मात्मा भक्त बन गया।

भक्तजी का उदारतापूर्वक दिया गया दान, और वस्त्र चुराने पर भी रखा हुआ उदारभाव चोर के जीवन मे धर्म प्राप्ति का कारण बना।

किसी व्यक्ति को धर्म से डिगते हुए देखकर उसे धर्म मे दृढ करने के लिए धन एव साधन से सहायता देना भी परानुग्रह है। कई बार व्यक्ति धर्मात्मा होते हुए भी आफत मे पडने के कारण आर्थिक सकट से तग आकर चोरी आदि अनैतिक कुकृत्य कर बैठता है या करने को तैयार होता है, अथवा एक धर्म छोडकर विधर्मी बनने या अधर्मी बनने को तैयार हो जाता है, उस समय उसे अपने दान द्वारा धर्म मे स्थिर करना भी परानुग्रह है।

धारानगरी का जिनदास एक दिन बडा धनाढ्य, उदार और धर्मात्मा था। परन्तु मनुष्य की परिस्थितियाँ सदा एक-सी नही रहती। परिस्थितियो ने पलटा, खाया, जिनदास के व्यापार मे घाटा लग गया। सब माल बेचकर उसने लेनदारो का रुपया चुकाया। स्थिति ऐसी हो गई कि पुराना व्यापार ठप्प हो गया, नया व्यापार बिना पूंजी के हो नही सकता था। यहाँ तक कि वह घर का खर्च चलाने में भी मजबूर हो गया। कही नौकरी भी नही मिली। मन मे चिन्ता होने लगी कि अब क्या किया जाए ? आर्तध्यान धर्मध्यान को नष्ट कर डालता है। जिनदास के मन मे भी सकल्प विकल्प उठते थे। रातदिन इसी उधेडबुन मे बीतने लगे। नींद उड गई। पति-पत्नी दोनो को फाका करते हुए तीसरा दिन हो गया। नगर के धर्मात्मा एव सम्पन्न पुरुषो ने उसकी ऐसी दुरवस्था देखकर भी सहायता नही की, उलटे वे उसकी हँसी उडाने लगे। आखिर लाचार होकर जिनदास उपाश्रय मे गया। उधर से शान्तनु सेठ उसी समय सामायिक करने आये हुए थे। उन्होने कमीज उतारा, उसकी जेब मे अपना रत्नजटित हार रखा और सामायिक मे तल्लीन हो गये। जिनदास यह सब देख रहा था। उसने कुछ देर तक तो माला फिराने का नाटक किया, फिर सबकी आँख बचाकर दबे पाँवो से शान्तनुसेठ के कमीज के पास पहुँचा और बहुत ही शीघ्र वह हार निकाल कर अपनी जेब मे रखा। उपाश्रय से चलकर सीधा वह घर पहुँचा। इधर शान्तनुसेठ जब सामायिक करके उठे और कमीज पहनने लगे, किन्तु हार न पाकर जरा विचार मे पडे, कुछ वहम जिनदास पर हुआ, किन्तु दूसरे ही क्षण मन को समाहित करके वे अपने घर आये। बात आई-गई हो गई। एक सप्ताह बाद जिनदास शान्तनुसेठ की दूकान पर वही हार लेकर गिरवी रखने के लिए पहुँचा। शान्तनुसेठ ने जिनदास के चेहरे पर हवाइयाँ उडती देख कर मन ही मन कुछ सोचा और फिर उसका स्वागत किया—"आओ, आओ, जिनदास ! आज तो बहुत दिनो के बाद आए हो ! तुम्हारा चेहरा बहुत ही चिन्तित दिखाई देता है। कहो, मेरे योग्य कोई सेवा हो तो।"

जिनदास मन ही मन आशकित हो रहा था कि कही शान्तनुसेठ ने अपना हार देखकर मुझे पुलिस के हवाले करवा दिया या मेरी बेइज्जती करवा दी तो फिर कही मुह दिखाने लायक नही रहूँगा। परन्तु शान्तनुसेठ ने उसे आश्वासन दिया कि कुछ सहायता की जरूरत हो तो कहो, मैं किसी के सामने तुम्हारी स्थिति की बात प्रगट नही करूंगा। तुम नि शक होकर कहो।" तब जिनदास ने चुपके से अपनी

जेब मे से वह (शान्तनुसेठ का चुराया हुआ) हार निकाला और उनके हाथ मे देते हुए कहा—"यह हार अपने यहाँ गिरवी रख लीजिए और मुझे दस हजार रुपये दे दीजिए।'

शान्तनुसेठ—'अरे भाई! इस हार को लाने की क्या आवश्यकता थी? यह अपने पास रहने दो और यो ही दस हजार रुपये ले जाओ। मैं तुमसे व्याज बिलकुल नही लूँगा।'

जिनदास—'नही, नही, आप इसे रख लीजिए। मेरी नीयत कदाचित् खराब हो जाय तो!' शान्तनुसेठ मन ही मन सोचने लगे—'हार तो यह वही है, जिसे मैं उपाश्रय मे पहन कर ले गया था। पर जिनदास की परिस्थिति पर ध्यान देकर मैंने इसे अर्थ सहयोग नही दिया, इसी कारण इसे चोरी करनी पडी यह अपराध तो मेरा ही है। अब चुपचाप इसे रखकर दस हजार रुपये दे देने चाहिए।'

शान्तनुसेठ ने शीघ्र ही वह हार तिजोरी मे रखा और १० हजार रुपये निकाल कर जिनदास को गिनकर दे दिये, और कहा—'और चाहिए तो ले जाओ, जिनदास! ५ हजार और दे दूँ?' 'नही, नही, इतना ही बहुत है। मेरा व्यापार चल पडा तो मैं शीघ्र ही यह रकम वापिस लौटा दूँगा'—जिनदास ने कहा।

जिनदास दस हजार रुपये लेकर घर लौटा। उसके मन मे चोरी का पश्चात्ताप चल रहा था—'शान्तनुसेठ अगर उसकी बाजी न रखता तो आज वह धर्म को ही छोड देता। पहले भी वह अभाव पीडित होने के कारण धर्म से च्युत हो कर चोरी मे प्रवृत्त हुआ था। खैर, अब वह चोरी नही करेगा, और इस पाप का भी प्रायश्चित्त करेगा।' घर पर जाकर उसने पत्नी से सारा हाल सुनाया। अब वह पुन व्यापार करने लगा। एक ही साल मे पासा पलट गया। व्यापार मे काफी अच्छा मुनाफा कमाया। अत दस हजार रुपये व्याज सहित लेकर वह शान्तनुसेठ के यहाँ पहुँचा। शान्तनुसेठ ने कुशल प्रश्न पूछकर आने का प्रयोजन पूछा, व्यापार-धन्धे के बारे मे पूछा। उत्तर देने के बाद जिनदास ने कहा—'मैं आपके १० हजार रुपये व्याज सहित लाया हूँ, इन्हे ले लीजिए।' शान्तनु—'इतनी जल्दी क्या थी, भैया! मुझे अभी कोई जरूरत नही थी रुपयो की।' जिनदास—'परन्तु मुझे तो देना ही था, मेरा कर्त्तव्य ही था कि पास मे होते ही चुकाऊँ! आपने तो मुझे ऐसे गाढे मौके पर रुपये दिये है कि मेरा धर्म बचा लिया। आपके रुपये मेरे लिए बहुत बडा सहारा बन गये।' शान्तनु—'मैं तो मूल भी नही लेता, पर तुम्हारा अत्यन्त आग्रह है, इसलिए ले लेता हूँ, लेकिन व्याज तो हर्गिज नही लूँगा।'

जिनदास—"वाह! अच्छी कही आपने। व्याज तो आपके हक का है। यह तो लेना ही पडेगा।"

शान्तनु—"यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ। व्याज बिलकुल नहीं लूँगा।" यो कहकर शान्तनु ने जिनदास को वह हार, जो गिरवी रखा था, निकाल कर दिया

तो उसने कहा—"भाई साहब ! यह तो आपका ही है। आप मुझे अब शर्मिन्दा न कीजिए। आपने मेरी इज्जत रख दी। नही तो, पता नही, मेरा कितना पतन होता। धर्म का एक सोपान तो मै चूक ही गया था। बस, आप इसे अपने पास ही रखिए।"

शान्तनु—"यह हार तुम्हारा ही है, जिनदास ! अब इस पर मेरा कोई अधिकार ही नही है। मैं तो अपने द्वारा तुम्हारे प्रति उपेक्षा के कारण प्रायश्चित्त के रूप मे तुम्हे यह हार देने का सकल्प कर चुका हूँ। यह लो अपना हार सभालो, जिनदास ! मेरी तरफ से तुम्हे भेंट हैं, यो ही समझलो।"

जिनदास—"पर यह हार मेरा था ही कहाँ, जो मै इसे ले जाऊ। मेरे लिए यह हार लेना हराम है।" यो कहकर वह चलने लगा। शान्तनु ने वह हार और जिनदास ने रुपयो का व्याज दोनो ही धर्मकार्य में खर्च करने का निश्चय किया।

इस प्रकार शान्तनु सेठ ने धर्म से च्युत होते हुए जिनदास को बचा लिया और उसे धर्म मे स्थिर किया। यह दान (हार दान) के द्वारा धर्म-प्राप्तिरूप परानुग्रह हुआ।

इस प्रकार कई आचार्यों की प्रेरणा से कई लोगो ने दान (अर्थ सहयोग रूप) द्वारा धर्मच्युत एव हिंसापरायण लोगो को धर्मप्राप्ति एव धर्मवृद्धि कराई है, वह भी सामूहिक परानुग्रह है।

जैसे रत्नप्रभसूरि ने ओसिया नगरी मे राजा सहित सारी प्रजा को सप्त कुव्यसन छुडाकर राजा के योगदान से धर्मप्राप्ति कराई, इसमे राजा का सहयोग दान भी परानुग्रह हुआ।

अब परानुग्रह के चौथे अर्थ पर भी विचार कर लें। इस अर्थ के अनुसार दान द्वारा दूसरो पर आई हुई विपत्ति, निर्धनता, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक प्रकोप से उत्पन्न सकट आदि का निवारण करना अथवा निवारण में सहयोग देना परानुग्रह होता है। यह परानुग्रह तो समस्त धर्मों की आम जनता मे प्रसिद्ध है।

कई बार व्यक्ति ऐसे सकट मे पड जाता है, खासकर निर्धनता के कारण आर्थिक सकटो से घिर जाता है, उस समय उसे किसी न किसी उदार व्यक्ति के द्वारा सहायता की अपेक्षा होती है। यदि उस समय प्रेमभाव और उदारता के साथ सहायता रूप अनुग्रह मिल जाता है तो वह व्यक्ति अपने आपको सम्भाल लेता है, अपनी खोई हुई शक्ति को बटोर कर वह पुन अपने नैतिक कर्तव्य मे सलग्न हो जाता है।

कई बार व्यक्ति रुग्ण होने के कारण दोहरी आर्थिक मार से घबरा जाता है, और निराश होकर आत्महत्या करने को उतारु हो जाता है, ऐसे समय में किसी दयालु डॉक्टर द्वारा किया गया दानानुग्रह कितना जीवनदायी होता है, यह तो अनुभवी ही जानता है।

सौराष्ट्र के शहर मे एक सेवाभावी डॉक्टर था। एक दिन उसे दूसरे गाँव से रोगी को देखने के लिए एक व्यक्ति लेने आया। डॉक्टर ने अपने नियमानुसार उससे कहा—"दूसरे गाँव मे रोगी को देखने की फीस दस रुपये लेता हूँ, लाये हो।" आगन्तुक बोला—"लाया तो नही, पर वहाँ जाकर दे दूंगा।" डॉक्टर उसे देखने चल पडा। वहाँ जाकर रोगी को देखा तो टी बी का प्रभाव मालुम हुआ। रोगी की पत्नी से पूछा—"बहन! अब तक तुमने क्या-क्या इलाज करवाया है?" उसने कहा—"डॉक्टर साहब! कुछ दिन तक तो घरेलू उपचार किया फिर गाँव के प्रसिद्ध वैद्य का इलाज चला, पर किसी से बीमारी ठीक नही हुई। रोग की पहचान ही नही हुई।" डाक्टर ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'घबराओ मत बहन! देर हो गई है, रोग भी भयकर है। पर सर्वप्रथम इसमे आराम करना और शुद्ध हवा मे रहना जरूरी है। इसके बाद रोगी को पौष्टिक खुराक घी, दूध, फल आदि देना आवश्यक है। दवा और इन्जेक्शन तो लेने ही पडेंगे।' डॉक्टर की बात से उस महिला को सन्तोष हुआ। पर उसके चेहरे पर विषाद की गहरी छाया थी। कुछ ही क्षण बाद उसने कहा—'डाक्टर साहब! आप ५ मिनट बैठना, मैं अभी आती हूँ। यो कहकर हाथ मे कुछ छिपाती हुई वह जाने लगी। डॉक्टर ने पूछा—'बहन! तुम अभी कहाँ और क्यो जा रही हो?' उसने कहा—'आपसे क्या छिपाना है! थोडी-सी बचत थी, वह खर्च हो गई। दो महीने से वे काम पर नही जा रहे हैं। अब मेरे पास कुछ नही है। सिर्फ एक सोने का कगन बचा है, इसे गिरवी रखकर आपकी फीस और दवा के लिए कुछ रुपये लेकर अभी आती हू। मैं आपका अधिक समय खराब नही करूगी। आभूषण पर तो कुछ पैसा मिल ही जाएगा।' डॉक्टर उसकी सकट कथा सुनकर अवाक् हो गया। उसने उस महिला को जाने से रोका और अपनी जेब मे हाथ डाला तो २५) रुपये निकले, वे रुपये डॉक्टर ने उसे दिये और कहा—ये रुपये तुम्हारे एक भाई की ओर से भेंट के समझना और इनसे इनके दवा और पथ्य का प्रबन्ध करना। फिर मैं और कुछ रुपये भेज दूंगा।' वह बहन कृतज्ञता के भार से दबी जा रही थी। उसकी आँखो मे अश्रु उमड आये। डॉक्टर के चरणो मे गिरकर गद्गद स्वर मे बोली—'भाई! तुम्हारी हजार वर्ष की आयु हो! तुम्हारा ऋण मैं कैसे चुका पाऊगी?'

यह है सहृदय डॉक्टर के दान द्वारा स्वानुग्रहपूर्वक परानुग्रह, जिसने रोगी को सजीवन कर दिया, नया जीवन दे दिया।

कई व्यक्ति स्वय को कष्ट मे डालकर भी दान द्वारा परानुग्रह करते हैं। उनका ऐसा परानुग्रह उच्चकोटि का होता है।

एक बार छत्रपति शिवाजी औरगजेब के जाल से मुक्त होकर निकल गए। पर रास्ते मे बीमार हो गए। उनके साथ मे तानाजी व येसाजी थे। स्वस्थ होने मे समय लगता देख उन्होने महाराष्ट्र राज्य की सुरक्षा के लिए दोनो को वापिस जाने,

की आज्ञा दी। येसाजी सावधानीपूर्वक शम्भाजी को लेकर महाराष्ट्र पहुँचे। तानाजी वहीं गुप्तरूप से रहे। मुर्शिदाबाद मे बहुत यत्न करने पर शिवाजी को विनायक देव नामक ब्राह्मण ने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। वह अविवाहित युवक अपनी माँ के साथ रहता था। वह स्वभाव से ही विरक्त था, भिक्षा ही उसकी आजीविका का साधन थी। एक दिन भिक्षा कम मिली। अत अपनी माँ और शिवाजी को उसने जो कुछ भिक्षा मे आया, सब खिला दिया, स्वय भूखा रहा। अकिंचन ब्राह्मण की दरिद्रता शिवाजी के लिए असह्य हो रही थी। सोचा—'महाराष्ट्र जाकर धन भेज दूंगा। पर दक्षिण जाने से पहले यवन बादशाह के हाथो बच पाऊँगा या नही ? यह सन्देह है। अत शिवाजी ने ब्राह्मण से कलम-दवात लेकर वहाँ के सूबेदार को लिखा—'शिवाजी इस ब्राह्मण के यहाँ टिका है। इसके साथ आकर पकड लें, लेकिन इस सूचना के लिए ब्राह्मण को दो हजार अशर्फियाँ दे दें। ऐसा नही करने पर शिवाजी हाथ नही आएगा।" सूबेदार जानता था कि शिवाजी बात के धनी हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हे पकडना खेल नही है। शिवाजी को दिल्ली दरबार मे उपस्थित करने पर बादशाह से एक सूबा तक इनाम मिलने की सम्भावना थी। अत. दो हजार मुहरें लेकर वह उस ब्राह्मण के घर पहुँचा। वह थैली उस ब्राह्मण को सौपकर शिवाजी को अपने साथ ले गया। ब्राह्मण को कुछ भी पता न था, क्योकि वह तो शिवाजी को गोस्वामी समझ रहा था। उनके सेवक तानाजी से उसने पूछा तो उन्होने सारा गुप्त हाल बता दिया। ब्राह्मण सुनते ही मूर्च्छित हो गया। होश मे आने पर रोने लगा—'शिवाजी मेरे अतिथि थे। हाय ! मुझ अभागे की दरिद्रता दूर करने के लिए उन्होने अपने आपको शत्रु के हाथो मे सौंप दिया, एक तरह से मृत्यु के मुख मे स्वय को दे दिया।' ब्राह्मण तानाजी से बार-बार हठ करने लगा कि वे दो हजार मुहरे ले लें और उनसे किसी तरह शिवाजी को छुडा लावें।' तानाजी ने ब्राह्मण को आश्वासन दिया कि 'वह बिना ही कुछ दिये, शिवाजी को छुडा लाएगा।'

परानुग्रह का एक प्रकार अपने दान द्वारा किसी को गुलामी के दु ख से मुक्त कराना भी है। जो उत्तम प्रकार का दयालु व्यक्ति होता है, उसी मे इस प्रकार का गुण होता है।

फ्रास की राजधानी पेरिस मे जर्मेइन नाम का पादरी अपने उत्तम चरित्र के लिए विख्यात था। वहाँ का राजा भी उसका बहुत आदर करता था। एक बार राजा ने प्रसन्न होकर पादरी को एक उत्तम घोडा भेंट दिया। जर्मेइन बडा दयालु था। एक दिन उसे एक गुलाम पर बडी दया आई, जो अत्यन्त कष्टमय जीवन बिताता था। पादरी ने उसे गुलामी से छुडाने की ठानी। पहले तो उसने उस गुलाम के मालिक से उसे छोड देने को कहा। परन्तु उसने उसके बदले मे बहुत बडी कीमत माँगी, जिसे पादरी देने मे असमर्थ था। परन्तु पादरी उस दु खी गुलाम

को मुक्त कराने का निश्चय कर चुका था। अत उसने निरुपाय होकर राजा द्वारा दिया गया घोड़ा बेच दिया। और उससे प्राप्त धन उस गुलाम के मालिक को देकर उस गुलाम को मुक्त करा दिया। इस घटना से पादरी का बहुत ही सम्मान बढा। जनता के दिल मे यह धारणा बन गई कि पादरी बडा दयालु और सच्चरित्र है, जिसने स्वार्थ त्याग करके घोडे को बेचकर भी गुलाम को मुक्त कराया। नि सन्देह पादरी जर्मेइन का गुलाम को सदा के लिए गुलामी से मुक्त कराने के लिए दान परानुग्रहकारक था।

जहाँ स्व-परानुग्रह नहीं, वह दान नहीं

इस प्रकार दान के साथ स्व-पर-अनुग्रह का उद्देश्य पूर्वोक्त अर्थो मे पूर्ण होता हो, वही दान सच्चा दान है। जिस व्यक्ति के दान के साथ न तो पूर्वोक्त अर्थो मे स्वानुग्रह है, और न ही परानुग्रह है, यानी न तो उस देने से कोई अपनी आत्मा का उपकार होता है, न कोई अपने मे दया आदि विशिष्ट गुणो की वृद्धि होती है, बल्कि अपने मे अहकार और बडप्पन की दुर्वृत्ति पैदा होती है, अपने मे प्रसिद्धि, यश और नामना-कामना की भूख बढती है, वहाँ स्वानुग्रह नही है। इसी प्रकार उस दान से किसी की आत्मा का उपकार नही होता, कोई आत्मा दुर्व्यसनत्याग, सद्गुण या सद्धर्म की प्राप्ति नही करता, किसी मे ज्ञान-दर्शन चारित्र या सद्धर्म की वृद्धि नही होती, अथवा किसी दूसरे का उस दान से सकट, दु ख, रोग, प्राकृतिक प्रकोप या क्षुधादि पीडा नही मिटती, केवल नाम के लिए, पक्षपात या किसी स्वार्थ सिद्धि के रूप मे किसी दूसरो को दान देकर परोपकार का नाटक किया जाता है, वहाँ परानुग्रह नही है। इसी प्रकार जहाँ स्वानुग्रह की ओट मे स्वार्थ सिद्ध किया जाता हो, अथवा परानुग्रह के नाम पर दूसरे के किसी व्यसन या दुर्गुण का पोषण किया जाता हो, या परानुग्रह की ओट मे दूसरे से अधिक धन प्राप्ति की आशा से रिश्वत, भेंट, बक्षीस या उपहार के रूप मे धन दिया जाता हो, वहाँ भी सच्चे माने मे परानुग्रह नही है। स्वानुग्रह और परानुग्रह की इन भ्रान्तियो को दूर करके ही इन दोनो के अर्थो को समझ-बूझकर जो दान स्व-परानुग्रह बुद्धि से दिया जाता है, वही वास्तव मे दान है, अन्यथा दान का नाटक है। इसी प्रकार जहाँ किसी के दबाब से, भय से, लोभ से या प्रलोभन से या स्वार्थ से दिया जाता है, वहाँ भी स्वपरानुग्रह न होने से वह दान वास्तविक अर्थ मे दान नही है।

एक कृपण था। वह अपने एक कृपण मित्र के कुशल समाचार पूछने गया। जाते ही उसने कहा—'भाई! यदि दवा से तुम्हे आराम न हो तो, कुछ दान कर दो, जिससे शीघ्रातिशीघ्र शान्ति मिले।' कृपण बोला—'मैंने तो बगैर पूछे पहले से ही दान कर दिया है।' इस पर मित्र ने पूछा—'क्या दान किया ?' कृपण बोला—

"दो दाना तो दाल का, सवा टकाभर चून।
एक टोपर्यो तेल को, तीन ककरी लून॥

एतो दान निज हाथ से, तुरत फुर्त कर दीन।
किसी से पूछ्यो मैं नही, नरभव-लाहो लीन ॥"

बताइए, कृपण के इस दान के नाटक मे क्या तो स्वानुग्रह है और क्या परानुग्रह है ? इसमे कही भी स्वानुग्रह की या परानुग्रह की गन्ध भी नही है। इसी प्रकार का और देखिए दान का नाटक, जहाँ दोनो प्रकार का अनुग्रह नही है—

बगाल-विहार मे उन दिनो भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था। सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था। सडको पर बच्चे, बूढे, जवान मगतो की तरह भूख के मारे चिल्ला रहे थे, सबसे हाथ पसारकर गिडगिडा कर माँगते थे, पर उन्हे कोई नही देता था, कुत्तो को जो झूठन डाली जाती, उस पर भी वे झपट पडते थे। भूख के मारे लडखडाते-गिरते हुए चलते थे। कलकत्ते के एक चावल के बडे व्यापारी के यहाँ बडी तादाद मे चावलो का सग्रह था, जगह-जगह से चावल, खरीदकर भारी स्टाक कर लिया था। दुर्भिक्ष पीडितो का यह हाल देखकर भी उसके मन मे उनको कुछ देने की सहानुभूति या दया नही उमडी। उसके मुनीम बाजार मे चक्कर लगा रहे थे। मुनीम ने जब चावल के व्यापारी (सेठ) से पूछा—'बाजार मे चावल के भाव ३०) रु० मन है क्या बेच दें ?' सेठ—'नही, अभी नही। प्रभु की कृपा हो रही है।' फिर कुछ दिनो बाद जब मुनीम ने ४०)रु मन सुनाया तो सेठ ने कहा—'मन्दिर मे घी के दीपक जलाओ।' यो करते-करते जब चावलो का भाव ७०) मन हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—'गायो को घास के लिए गौशाला को दान दे दो।' भला बताइए, इस देने के पीछे कौन-सा स्वानुग्रह है और कौन-सा परानुग्रह है ? यह तो निरा स्वार्थ है, जिसे साधने के लिए गायो को घास डलवाने के लिए दान का नाटक खेला जा रहा है।

एक गाँव मे कोई स्कूल नही था। गाँव के अग्रगण्य लोगो ने बहुत मेहनत करके स्कूल का मकान बनवाया। इस स्कूल का उद्घाटन इसके मकान बनवाने में आधा खर्च देने वाले और परदेश मे जाकर धनाढ्य बने हुए एक सेठ के हाथो से होने वाला था। उद्घाटन का समय शाम को ४-३० का था, किन्तु सुबह से ही गाँव का वातावरण गूँज रहा था। सेठजी का स्वागत जुलूस एव सभा के कार्यक्रम तो सुबह से ही शुरू हो गये थे। स्कूल के विशाल मैदान मे आयोजित सभा पूर्ण होने के बाद सेठ उद्घाटन के लिए खडे हुए। सेक्रेटरी ने चाँदी की कैंची सेठ के हाथ मे दी। सेठ ने रेशमी फीते पर कैंची चलाई। उद्घाटन विधिपूर्ण हुई। तालियो की गडगडाहट हुई। कैमरे से फोटो लिए गये। सेठ के मुँह पर हास्य की लहर दौड गई। सभा का प्रोग्राम पूरा होते ही कार्यकर्त्ताओ से घिरे हुए सेठ मोटर मे बैठने को तैयार थे। इतने मे एक फटेहाल लडका सेठ की मोटर के फाटक पर खडा हो गया। 'कुछ देंगे', इस आशा से वह नजदीक आकर सेठ से माँगने लगा। सेठ विदा देने वाले लोगो के साथ हँस-हँस कर बातें कर रहे थे, हाथ मिला रहे थे। वह लडका भी सेठ

इनके उदाहरण तो जैनागमो मे प्रचुर संख्या मे मिलते हैं और हर उदाहरण मे कुछ न कुछ विशेषता है।

ये दोनो ही दान के प्रकार श्रावक के अतिथि सविभागव्रत से सम्बन्धित हैं। श्रावक के अतिथि सविभाग व्रत का तात्पर्य और रहस्य आगे खोला जाएगा। एक शास्त्रीय उदाहरण इस विषय मे प्रस्तुत है—

द्वारकानगरी के पास रैवतकगिरि उद्यान मे भगवान् अरिष्टनेमि विराजमान थे। उनकी सेवा में अनेको शिष्य थे। श्रीकृष्ण जी के छह सहोदर भाई, देवकी के आत्मज, जिन्हे कस के हत्यारे हाथो से बचा लिया था और जो नाग गाथापति के यहाँ पले-पुसे एव बडे हुए थे। उन्होने यौवनवय मे ही भ० अरिष्टनेमि के पास दीक्षा-ग्रहण की। और दो-दो उपवास के अनन्तर पारणा करने लगे। एक दिन दो उपवास के पारणे के दिन द्वारकानगरी मे घूमते-घामते दो-दो मुनियो के सघाडे से सयोगवश वे श्रीकृष्ण जी के राजभवन मे अनायास ही पहुँच गए। पहले मुनियुगल के बाद जब दूसरा और तीसरा मुनियुगल पहुँचा तो, देवकी महारानी विचार मे पड गई। तीनो मुनियुगलो को देख उन्होने अपना अहोभाग्य माना और बहुत ही भक्ति-भावपूर्वक विधिपूर्वक आहार दिया। आहार देने से पहले, आहार देते समय एव आहार देने के बाद बहुत ही उत्तम भावना थी। इस प्रकार विधि, देय भोजन, द्रव्य, दाता और पात्र चारो ही शुद्ध थे। परन्तु देवकी रानी के मन मे एक सशय पैदा हुआ कि इतनी बडी द्वारकानगरी मे क्या मुनियो को आहारपानी सुलभ नही है, क्या लोगो मे धर्मभावना कम हो गई है, जो मुनिवरो को बार-बार राजभवन मे ही भिक्षा के लिए आना पडा। उन्होने अन्तिम मुनियुगल से आहार देने के बाद उपर्युक्त प्रश्न पूछा। मुनियो ने सक्षेप मे उत्तर दिया—'महारानी! ऐसी बात नही है कि द्वारका-नगरी मे आहार न मिलता हो और मुनियो को आहारपानी के लिए राजभवन मे ही आना पडा हो। पहले और बाद मे जो मुनियुगल आया था, वह दूसरा था, हम दूसरे हैं। यद्यपि हम छहो सहोदर भाई, एक ही माता-पिता के पुत्र हैं, एक साथ ही हमने भ० अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण की है। दो-दो उपवास के अनन्तर पारणे के दिन हम भिक्षा के लिए दो दो के मुनि-युगल से नगरी मे जाते हैं। आज अनायास ही आपके यहाँ पर सम्भव है, हम तीनो मुनियुगल आ गए हो। किन्तु हम ही बार-बार नही आए हैं।" मुनिराज के सक्षिप्त उत्तर से देवकी महारानी की शका दूर हो गई। वह अपने को धन्य मानने लगी कि मैंने आज रत्न-त्रयधारी पचमहाव्रती मुनियो को आहारदान दिया है।

इस प्रकार के उत्कृष्ट सुपात्र मुनिवरो को स्वकीय प्रासुक, ऐषणीय और कल्पनीय आहार-पानी, औषध-भेषज, वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि का दान देना उत्कृष्ट दान है।

अब दान के जो लक्षण शेष रहे हैं, उन पर हम क्रमश विचार करेंगे। कलि-काल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दान का लक्षण किया है—

'दान पात्रेषु द्रव्य विश्राणनम्'[1]

इस लक्षण के अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट जो भी दान के सुपात्र एव पात्र हैं, उन्हे अपनी वस्तु देना दान कहलाता है।

इसी प्रकार का एक लक्षण आचार्य हरिभद्र ने किया है—

"दानं सर्वेष्वेतेषु स्वस्याहारादेरतिसर्जनलक्षणम्।"[2]

—सभी प्रकार के इन पात्रो मे अपने आहार आदि का त्याग करना—देना, दान है। यह लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षण ने मिलता-जुलता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र की टीका एव प्रवचनसारोद्धार मे दान का लक्षण यो किया है—

'लब्धस्यान्नस्य ग्लानादिभ्यो वितरणे'

—प्राप्त अन्न को ग्लान, रोगी, वृद्ध, अपाहिज और निर्धनो मे वितरण करना दान है।

आचार्य हेमचन्द्र के दान के लक्षण के अनुसार जो भी व्यक्ति दान के लिए पात्र है, उसे अपनी वस्तु प्रेमभाव से दे देना दान है। फिर यह नही देखना पडता कि वह पात्र विद्वान् है या अपढ, वह साधु है या गृहस्थ, वह कोई भी हो, अगर सकटकाल है, अभाव से पीडित है या किसी रोग का शिकार है तो यह दान का पात्र है, बल्कि अनुकम्पापूर्वक उसे देना चाहिए।

एक बार निरालाजी के नाम से १२००) रुपये पारितोषिक के रूप मे रजिस्ट्री से आए। वह पारितोषिक निरालाजी की भव्य भावपूर्ण कविताओ का था। महादेवी वर्मा ने वह रजिस्ट्री लेकर अपने पास उनके नाम से वह पैसा जमा करके रखा। कुछ ही दिनो बाद निरालाजी को इस बात का पता लगा तो वे महादेवीजी के पास वे रुपये लेने आए। महादेवीजी जानती थी कि उनके हाथ मे रुपये टिकेंगे नही। अत उन्होने पूछा—'अभी आप इन रुपयो का क्या करेंगे? मेरे पास रहने दें।'

निराला—'इस समय मुझे इन रुपयो की अत्यन्त आवश्यकता है। मुझे एक व्यक्ति को ये रुपये देने हैं।'

महादेवी—'किसे देने हैं?' 'मेरे एकमात्र स्नेही मित्र की विधवा पत्नी को।' निरालाजी ने सजल नेत्रो से जवाब दिया। 'मेरा मित्र मरणासन्न था। उसकी आत्मा

---

१ योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण २-३१

२ तत्त्वार्थसूत्र हारिभद्रीया वृत्ति ६।१३

इस चिन्ता से पीडित थी कि मेरे मरने के बाद मेरे स्त्री-बच्चो का क्या होगा ? उसके हृदय की व्यथा देखकर मैंने उसे आश्वासन दिया—'परिवार की चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे बच्चो को पढाऊँगा, उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करूँगा।' यह सुनते ही उसकी मृत्यु हो गई। अत यह धन मुझे उस पीडित मृत-आत्मा के परिवार को देना है।' कुदरत ने मेरे वचनपूर्ण करने के लिए यह धन भेजा है।' महादेवीजी ने वे १२००) रु० निराला को सौंप दिये। वे रुपये लेकर मानो वह पराई अमानत हो, इस प्रकार ले जाकर तत्क्षण उन्होने उस मृत मित्र की विधवा पत्नी को दे दिये। वह तो निरालाजी की उदारता देख कर हर्ष-विभोर हो गई।

नि सन्देह निरालाजी के द्वारा समय-समय पर दिये गए ये दानपात्र को दिये गए दान ही कहे जा सकते हैं।

अब आगे बढिए, इसी कोटि के दूसरे लक्षण पर। इस लक्षण का भी यही तात्पर्य है कि इन सभी पात्रो मे आहारादि का त्याग करना, देना—दान है। योग्य पात्र कैसे पहिचाना जाता है ? इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

देशबन्धु चित्तरजनदास को कौन भारतीय नही जानता। वह इतने उदार थे कि उनके पास जो भी गया, खाली हाथ नही लौटा। एक समय की बात है। एक छात्र, जो बहुत ही गरीब था, उनके पास कुछ सहायता मागने के लिए आया। उनकी आर्थिक हालत उस समय तग थी। अत उनके सेक्रेटरी ने उस छात्र को वापस लौटा देना चाहा। सयोगवश देशबन्धुजी वही थे। उन्होने जब सेक्रेटरी की बात सुनी तो वे वही से चिल्ला उठे—'छात्र को खाली हाथ लौटाने की अपेक्षा मेरा फर्नीचर नीलाम कर दो। मैं किसी भी दान के अवसर को खाली नही जाने दे सकता। यह योग्य पात्र है। इस छात्र ने दान का अवसर देकर मुझ पर उपकार किया है।' सेक्रेटरी ने चुपचाप कुछ रुपये छात्र के हाथो पर रख दिये।

यह है, योग्य पात्र मे दान का अवसर न चूकने का मन्त्र। दान के तीसरे लक्षण मे सिर्फ प्राप्त अन्न को ग्लान, क्षुधा पीडित आदि को वितरण करने का सकेत है। यद्यपि दान का यह लक्षण सीमित दायरे मे है, फिर भी अपने-आप मे यह लक्षण परिपूर्ण है।

यद्यपि दान के पिछले लक्षण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि इन तीनो मे पिछले लक्षणो की तरह स्व-परानुग्रहगतार्थ है। व्यक्ति अपने स्वामित्व का अन्न, भोजन या अन्य पदार्थ जिसको देता है, वह भाव से देता है, उस भाव मे दया, सहानुभूति, सेवा, आत्मीयता आदि भाव तो प्राय होते ही हैं, इसलिए स्वानुग्रह तो हो ही गया, और परानुग्रह भी स्पष्ट है, क्योकि दान लेने वाला व्यक्ति जो क्षुधा पीडित या किसी अभाव से पीडित होगा, वही दान लेगा। इसलिए उस पर भी अनुग्रह होगा ही। इस प्रकार स्व-परानुग्रह इन तीनो लक्षणो मे अन्तर्गर्भित है। ☆

2

महादान और दान

दान शब्द के जो लक्षण पहले प्रस्तुत किये गये हैं, तथा उसकी जो विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनमे सामान्य दान की अपेक्षा विशिष्ट दान की व्याख्या भी है। सामान्य दान मे तो प्रत्येक कोटि के पात्र को दान देने का विधान है, जबकि उत्कृष्ट पात्र (मुनिवर) को, कल्पनीय, ऐषणीय एवं प्रासुक दिया जाने वाला आहार आदि पदार्थ उत्कृष्ट दान कहलाता है। यद्यपि दान के दोनो लक्षण तत्त्वार्थसूत्रकार के द्वारा प्रतिपादित लक्षण मे समाविष्ट हो जाते हैं। उसे एक आचार्य ने महादान की सज्ञा दी है। उन्होने महादान और दान का अन्तर बताते हुए कहा है—

"न्यायात्त स्वल्पमपि हि भृत्यानुरोधतो महादानम्।
दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत्तु॥"[१]

अर्थात्—भृत्य आदि के अन्तराय न डालते हुए थोडा-सा भी न्यायोपार्जित पदार्थ योग्यपात्र को देना महादान है, इसके अतिरिक्त दीन, तपस्वी, भिखारी आदि को माता-पिता आदि गुरुजनो की आज्ञा से देना दान है।

इस लक्षण मे सकीर्ण उद्देश्य नही रखा गया है, यानी केवल अनगार मुनि को देना ही दान के लक्षण मे अभीष्ट नही है, किन्तु व्यापक दृष्टिकोण से जो भी योग्य (दान के योग्य) सुपात्र है, उसे देना महादान है, बशर्ते कि देयवस्तु न्यायोपात्त हो, शुद्धभावनापूर्वक दी जाती हो, चाहे वह वस्तु थोडी-सी ही क्यो न हो, वह महादान है, जबकि अनुकम्पा पात्रो को माता-पिता आदि गुरुजनो की अनुज्ञा से देयवस्तु देना सामान्य दान है।

राजकुमारी चन्दनबाला ने दासी-अवस्था मे भगवान् महावीर को देयवस्तु बहुत ही अल्प और अल्प मूल्य के उडद के बाकुले के रूप मे दी थी। लेकिन वह न्याय प्राप्त थी, भृत्यादि के अन्तराय डालकर किसी से छीनकर, अपहरण, शोषण अत्याचार-अन्याय से प्राप्त वस्तु नही थी। साथ ही उत्कट भावनापूर्वक वस्तु दी गई थी। इसलिए वह दान अल्प और अल्पमूल्य होते हुए ही महादान बना। किन्तु

---

१ अभिधान राजेन्द्रकोष, पृ० २४६१।

वह यदि उपर्युक्त गुणविशिष्ट न हो, फिर भी माता-पितादि गुरुजनो द्वारा प्रचलित हो, दया, सहानुभूति आदि गुणो से विशिष्ट हो तो वह दान सामान्य दान होते हुए भी सच्चे माने मे दान कहलाता है।

गुरु नानक के जीवन का एक सुन्दर प्रसग है। गुरु नानकदेव के अनेक शिष्यो मे से एक शिष्य था—'लालो'। वह जाति का बढई था, और अपने गाढे श्रम से उपार्जित अन्न खाता था। एक बार गुरुनानक अपने इसी शिष्य लालो के गाँव मे ठहरे हुए थे, तो मलिक भगो, जो मुगल सम्राट् की ओर से उस प्रान्त का गवर्नर नियुक्त था, गुरुनानकदेव की सेवा मे अपनी श्रद्धाजलि अर्पण करना चाहता था। गुरुनानक को अपने दरबार मे आने के लिए उसने आमत्रण दिया। जब गुरुनानक ने उसका आमत्रण अस्वीकार कर दिया तो मलिक भगो स्वय मिठाई का थाल लेकर गुरु की सेवा मे उपस्थित हुआ। मलिक भगो की भेंट की हुई मिठाई जब गुरुनानक के सम्मुख रखी गई, तभी लालो के यहाँ से बाजरे की सूखी रोटियाँ सेवा मे उपस्थित की गई। नानक साहब ने मिठाई खाने से इन्कार कर दिया। इससे मलिक भगो बहुत ही उदास होकर गुरु से इन्कार करने का कारण पूछने लगा। गुरुनानक ने मलिक भगो द्वारा भेंट की हुई मिठाई को अपनी मुट्ठी मे कस कर दबाया, जिससे उसमे से खून की बूँदें टपकने लगी, और जब लालो की भेंट दी हुई सूखी बाजरे की रोटी को दबाया तो उसमे से दूध की धारा बहने लगी। उपस्थित जनसमुदाय के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। गुरुनानक ने कहा—"न्यायपूर्वक अपने श्रम से कमाए हुए भोजन मे से दूध की धारा बहती है, जबकि अन्याय-अत्याचार द्वारा प्राप्त मिठाई मे से गरीबो का खून टपकता है।' इस घटना से मलिक भगो बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने रिश्वत, झूठ-फरेब तथा अन्य नीच प्रवृत्तियो द्वारा धन इकट्ठा करने का पूरा वृत्तान्त जनता के सम्मुख कह सुनाया। उसी दिन से मलिक भगो अपने पुराने पेशे को छोडकर गुरुनानक का परम भक्त हो गया और न्याय-नीतिपूर्वक श्रम करके अपने पसीने की कमाई खाने लगा। और फिर गुरुनानक ने उसकी रोटी की भेंट स्वीकार की।

वास्तव मे, न्यायोपार्जित अन्न का दान ही श्रेष्ठ दान है, जिसके पीछे स्व-परानुग्रह की भावना भी होती है।

इसीलिए दान की एक व्याख्या मे कहा गया है—*रत्नत्रयवद्भ्य स्ववित्त-परित्यागो दान, रत्नत्रयसाधन दित्सा वा।*—रत्नत्रयधारी साधुसाध्वी अथवा त्यागी पुरुषो को अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्ति से प्राप्त आहारादि पदार्थ देना अथवा रत्नत्रय के पालन के लिए धर्मोपकरण देने की अभिलाषा करना।" वास्तव मे यह व्याख्या भी उपर्युक्त महादान के लक्षण मे ही गर्भित हो जाती है।

इस प्रकार सामान्य दान भी महादान की कोटि मे तब पहुँच जाता है, जब वह अपनी न्यायोपार्जित कमाई मे से दिया जाता हो।

भगवान् महावीर के समय मे पूणिया नाम का एक उत्कृष्ट श्रावक हो चुका है, भगवान महावीर ने भी एक बार उसकी सामायिक साधना की प्रशसा की थी। पूणिया सूत की पौनी बनाकर उन्हे वेचता था, और उसी से अपना व परिवार का पोषण करता था। उसकी आय बहुत ही सीमित थी, पति-पत्नी दोनो अपनी इसी आय से अपना गुजारा चलाते और मस्त रहते थे। कहते हैं, प्राय प्रतिदिन की कमाई साढे बारह दोकडा यानी दो आने होती थी। उसी मे से पूणिया की धर्मपत्नी अनाज स्वय ताजा पीसकर रोटी बनाती थी। दोनो का पेट भरने के लिए इतना पिर्याप्त था। मगर जिस दिन कोई अतिथि आ जाता, उस दिन वे उपवास कर लेते थे और अपने हिस्से का भोजन अतिथि को भेंट कर देते थे।

यह था पूणिया श्रावक का न्यायोपार्जित कमाई द्वारा प्राप्त अन्न का दान, इसे सच्चे माने मे दान कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त पूणिया श्रावक मे यह विशेपता थी कि वह विना श्रम से एक भी वस्तु अपने यहाँ रखता नही था, अगर कोई रख जाता तो उसका उपयोग अपने परिवार के लिए बिलकुल नही करता था।

एक दिन पूनिया के यहाँ एक विद्यासिद्ध अतिथि आए। उस दिन पूनिया के उपवास था। वह पूनिया के सन्तोष, सादगी, सरलता और सत्यता से प्रभावित हुआ। उस दिन पूनिया की पत्नी ने उस अतिथि को भोजन बनाकर स्नेहपूर्वक खिलाया। अतिथि तृप्त हो गया। अतिथि ने सोचा—पूनिया के घर मे विशेष सामान तो कुछ नही है, वेचारे पति-पत्नि कठिनाई से गुजारा चलाते होंगे। मेरे पास विद्या की सिद्धि है तो क्यो नही इसे मदद करता जाऊँ। पूर्णिमा की चाँदनी आकाश मे छिटक रही थी, तभी पूनिया को निद्रामग्न देखकर सिद्ध पुरुष उठा और खडे होकर रसोई मे पडा लोहे का तवा उठाया, फिर उसके साथ पारसमणि का स्पर्श कराया तो तवा सोने का हो गया। सवेरा होते ही सिद्ध पुरुष ने पूनिया से विदा लेकर काशी की ओर प्रस्थान किया। पूनिया ने सुवह रसोईघर मे देखा तो तवा नही मिला। लोहे के काले तवे के बदले वहाँ सोने का तवा पडा था। पूनिया को इसका रहस्य समझते देर न लगी। उसने नि श्वास भरकर कहा—'अतिथि! तुमने तो जुल्म कर दिया। तुम तो चमत्कार कर गये, पर मैं अब नये तवे के लिए धन कहाँ से लाऊँगा? तुम्हारा यह सोने का तवा मेरे किस काम का? श्रम के विना प्राप्त धन धूल के समान है, मेरा नियम है—अपने श्रम द्वारा उपार्जित वस्तु का ही मैं दान कर सकता हूँ।'

काफी अरसे के बाद अनेक स्थानो की यात्रा करके वे सिद्धपुरुष राजगृही आए और पूनिया के यहाँ मेहमान बने। सिद्ध पुरुष ने अपनी यात्रा मे हुए कडवे-मीठे अनेक अनुभवो की बातें सुनाई। पूनिया ने कण्डो और लकडियो के ढेर मे रखा हुआ वह सोने का तवा लाकर अतिथि के सामने रखते हुए कहा—'लो यह अपना तवा! मुझे नही चाहिए। अब यह मेरे काम का बिलकुल नही रहा। आप यात्रा करने

निकले हैं या दूसरो का फिजूल खर्च कराने के लिए ? आपको तो सद्भावना से मुझे मदद करने की सूझी होगी, पर मैं बिना मेहनत का सोना लूंगा तो मेरी सोने-सी शुद्ध बुद्धि काली हो जाएगी। फिर तो मुझ मे लेने की आदत पड जाएगी, अतिथि सत्कार करने या दान करने की वृत्ति ही नही रहेगी। धनकुबेर हो जाने पर भी मुझे देने की नही, लेने की बात सूझेगी।'

विद्या सिद्ध व्यक्ति ने पूनिया को नमस्कार करते हुए कहा—'धन्य हो पूनिया! मैंने तो वर्षों मे जाकर विद्या सिद्ध की है, परन्तु आपने तो सच्ची विद्या सिद्ध कर ली है। आपसे मै सन्तोष विद्या का लाभ प्राप्त कर सका हूँ, जो तीर्थ स्नान के लाभ से अनेक गुना बढकर है। तो, इस प्रकार अपनी न्यायोपार्जित शुद्ध कमाई मे से योग्य व्यक्ति को देना महादान है, महादान मे मुख्यता अन्त करण की पवित्र प्रेरणा की है, यदि यह परम्परानुसार बिना किसी विशेष भावना के दिया जाता है तो वह सामान्य दान कहा जाता है।

3

दान का मुख्य अंग : स्वत्व-स्वामित्व-विसर्जन

दान के पूर्वोक्त सभी लक्षणो या व्याख्याओ के साथ दान का मुख्य अग और उत्तरार्द्ध भाग—स्वत्व विसर्जन है, यानी जो वस्तु दी जाय, उस पर से स्वामित्व, ममत्व या स्वत्व (अपनापन) हटा लेना, उसका त्याग कर देना, 'इद न मम'—यह मेरा नही है, इस सकल्प के साथ दूसरे को अपनी मानी हुई वस्तु सौप देना, अर्थात्—वस्तु पर अपना स्वामित्व छोडकर दूसरे का स्वामित्व स्थापित कर देना दान है। इसीलिए दान के पूर्वोक्त लक्षणो और व्याख्याओ मे स्व के अतिसर्ग—अर्थात् त्याग का स्वर स्पष्ट सुनाई दे रहा है, जैसे—

'....स्वस्यातिसर्गो दानम्'
'. . स्वस्यातिसर्जन दानम्'
'....वितरण दानम्'
' स्वस्य धनस्यातिसर्गो, अतिसर्जन, विश्राणन, प्रदानं दानम् ।'
' . स्व धन स्यात्परित्यागोऽतिसर्ग '
' 'दान स्वस्याहारादेरतिसर्जनलक्षणम्'
'दानम् द्रव्य विश्राणनम्'

चूँकि दान का कार्य किसी वस्तु को एक हाथ से दूसरे हाथ मे सौंपे बिना हो नही सकता, परन्तु जब तक उस छोडने के साथ ममत्व या स्वामित्व के त्याग के भावो का तार न तोडा जाय, तब तक वह दान नही कहलाता। इसी कारण प्राचीन काल मे राजा या किसी धनिक को जब दान देना होता तो प्राय ऋषिमुनियो की साक्षी से वह राजा या धनिक सकल्प लेता था। वह सकल्प—ममत्वत्याग का होता था, वही दान का प्राण होता था। सकल्प इसलिए किया जाता था कि कदाचित् मन पुन लोभवश या किसी स्वार्थवश फिसल न जाय। बल्कि वैदिक धर्म ग्रन्थो मे या वैदिक कथाओ मे तो यहाँ तक वर्णन आता है कि दान अगर किसी ब्राह्मण या ऋषि-मुनि को दिया जाता था, तो प्राय उसके साथ दक्षिणा भी दी जाती थी। दान पर दक्षिणा की मुहर छाप लग जाने के कारण दान पक्का हो जाता है, दानी व्यक्ति सकल्पबद्ध या वचनबद्ध हो जाता था।

राजा हरिश्चन्द्र ने जब विश्वामित्र जी को दान देने का विचार किया तो विश्वामित्रजी ने अपने सामने उनसे सकल्प कराया । सकल्प कराने के बाद उस दान को पक्का घोषित करने के लिए उन्होने ऊपर से दक्षिणा देने की बात रखी, जिसे चुकाने के लिए दानी राजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारामती को अपना राजपाट राजसी वस्त्र, वैभव आदि सर्वस्व छोडकर काशी मे जाना पडा था, और स्वय उपार्जित धन से अपना गुजारा चलाकर दक्षिणा देने की अवधि निकट आने के कारण पहले तारामती ने अपने आपको बेचकर आधी स्वर्ण मुद्राएँ दक्षिणा के रूप मे विश्वामित्र को चुका दी । शेष आधी स्वर्ण मुद्राओ को राजा हरिश्चन्द्र ने स्वय एक भगी के यहाँ बिककर उसके श्मशान मे पहरेदारी का कठोर कर्त्तव्य अदा करके चुकाई । इसीलिए राजा हरिश्चन्द्र का दान इस आदर्श एव न्यायोपार्जित धन से युक्त दक्षिणा के कारण महादान के रूप मे प्रसिद्ध हो गया । इस प्रकार से सकल्पबद्ध हो जाने के बाद वह दान आम आदमियो मे प्रकट हो जाता था, सार्वजनिक रूप से घोषित कर दिया जाता था ।

आजकल भी जहाँ सभा-सोसायटियो मे दान देने का कोई विचार प्रगट करता है तो उसके नाम की घोषणा की जाती है, साथ ही उसके द्वारा दिये जाने वाले अर्थ की सख्या की भी घोषणा की जाती है । सार्वजनिक सभा मे दिये गए इस प्रकार के वचन के कारण दान पक्का हो जाता है, उसमे फिर हेर-फेर करने या मुकरने की गुजाइश नही रहती ।

परन्तु कई व्यक्ति तो आजकल ऐसे भी होते हैं, जो आम सभा मे दान की घोषणा करके भी नही देते, या मुकर जाते हैं । ऐसे लोग प्राय अपनी नामवरी या वाहवाही के लिए दान की घोषणा करा देते हैं, परन्तु देने के समय अँगूठा बता देते हैं ।

दान के साथ कठोर शर्त स्वत्व-विसर्जन

इसीलिए दान के लक्षण मे दान के साथ यह शर्त रखी गई है—स्वत्व का विसर्जन करना—अपने ममत्व, अहत्व, स्वामित्व और स्वत्व का सर्वथा उस देयवस्तु पर से त्याग कर देना, छोड देना । जब तक वस्तु पर से स्वामित्व नही हट जाता, तब तक दान एक स्वार्थ साधन भी बन सकता है, एक सौदेबाजी भी हो सकता है । इसी कारण कुछ लोग दान के साथ प्रविष्ट हो जाने वाले अहत्व, ममत्व, स्वत्व या स्वामित्व के विकार से बचने के लिए गुप्तदान देना ही अधिक पसद करते हैं, वे न नाम की घोषणा कराते हैं, न अखबारो मे अपना नाम बडे-बडे अक्षरो मे प्रकाशित कराते हैं और न ही किसी प्रकार की वाहवाही, प्रतिष्ठा, पद की लालसा या कीर्ति की इच्छा करते हैं ।

पजाब के अमृतसर मे एक ओसवाल जैन थे—श्रावक बुधसिंह जी । लोग उन्हे लाला बुधसिंह जौहरी कहा करते थे । वे जवाहरात का व्यापार बडी सचाई और

प्रामाणिकता से किया करते थे। बुर्धसिंह जी अपनी बिरादरी के गरीब भाइयो को गुप्तरूप से सहायता किया करते थे। वे इस ढंग से रुपये-पैसे की मदद किया करते थे, जिससे किसी को पता न लगे। कटरा मोहर्रसिंह मे जहाँ उनका मकान था, उस मोहल्ले मे जो भी जैन, सिक्ख, ब्राह्मण, खत्री किसी भी धर्म व जाति का व्यक्ति हो, उसकी तग हालत मे या बीमारी के समय जिस प्रकार की सहायता की जरूरत होती तो वे चुपचाप स्वय उसके घर जाकर दे आया करते थे। वे सुबह चार बजे उठते और अपनी परोपकारिणी दयालु धर्मपत्नी से पूछते—'कौन गरीब भाई बीमार है, जो अपना इलाज नही करा सकता ? किसकी आर्थिक हालत कमजोर है ? कौन बहन दु खी है ?' उसका पता लगते ही सूर्योदय से पहले ही वे अर्क, मुरब्बा, दूध, दवा एव पथ्य वगैरह लेकर स्वय उसके यहाँ दे आया करते थे। उनकी निगाह मे सब जाति व धर्मो के आदमी अपने भाई-बन्धु ही थे। वे सबकी सेवा किसी प्रकार के नाम, प्रसिद्धि या विज्ञापन किये बिना चुपचाप दान देकर किया करते। उनकी दान-भावना मनुष्यो तक ही सीमित नही थी, पशु-पक्षियो को भी वे दाना, चुगा, घास-चारा डालते थे, और बीमार पशुओ का अपने खर्च से इलाज कराते थे। वे प्रतिदिन उपाश्रय मे जाकर सामायिक करते, परमेष्ठी-जप करते और फिर धर्मोपदेश सुनते थे। वे साधु-साध्वियो को भी आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शास्त्र आदि धर्मोपकरण अत्यन्त भक्तिभाव से दिया करते थे।

इस प्रकार गुप्त रूप से किसी प्रकार की प्रसिद्धि, आडम्बर या विज्ञापन किये बिना श्रावक बुर्धसिंहजी का यह दान स्वत्वोत्सर्ग का उत्कृष्ट नमूना था।

'स्व' का अतिसर्ग क्या, कब और कैसे ?

स्व का अर्थ स्वय व्यक्ति या व्यक्तित्व (अहत्व-ममत्व), ज्ञाति, धन और आत्मीय या अपना होता है। यहाँ स्व का अर्थ केवल धन लगाने से जो पात्र धन नही ग्रहण करते हैं, या जो धन के सिवाय अन्न, वस्त्रादि देते हैं, वहाँ दानशब्द का लक्षण घटित नही होगा। इसलिए 'स्व' का अर्थ यहाँ अपनी मानी हुई वस्तु ही अभीष्ट है। इस अर्थ से दूसरो के लिए स्व-प्राणविसर्जन करना अथवा दूसरो के लिए कष्ट उठाकर आत्म-भोग देना भी दान मे गृहीत हो जायगा, दूसरो को अभयदान देना भी दान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाएगा। इस प्रकार स्व के अतिसर्ग का अर्थ अपना, अपनी वस्तु का अथवा अपने स्वामित्व, अहत्व, स्वत्व या ममत्व का त्याग करना है।

वैसे मनुष्य जब से इस भूमण्डल पर आकर आँखें खोलता है, तब वह परलोक से कोई चीज साथ लेकर नही आता। न उसके पास अपने पीने के लिए दूध होता है, न कोई खाद्य या पेय वस्तु ही साथ मे होती है। धन या वस्त्रादि साधन तो होते ही क्या ? उसका अपना माना जाने वाला, शरीर भी उसका अपना नही होता, क्योंकि शरीर या बाद मे बनने वाली इन्द्रियाँ अपनी नहीं होती। सच्चे माने मे तो

उसकी अपनी कही जा सकने वाली तो आत्मा ही होती है। परन्तु कर्मफल के रूप में उसे मानव शरीर, इन्द्रियाँ, अन्य अवयव विविध इन्द्रियो की कार्य-क्षमता अथवा माता, पिता, परिवार आदि से सम्बन्ध जुडता है और वह उन्हे अपने मानने लग जाता है। जब वह कुछ सयाना और समझदार हो जाता है, तो अपने घर, मकान, पुस्तक तथा घर के अन्य सामान, खेत या कारखाने, अथवा दूकान आदि से फिर और बडा हो जाने पर धन, जमीन, जायदाद आदि से अपनेपन का सम्बन्ध जोड लेता है, विवाह होने पर पराई कन्या से फिर सन्तान होने पर पुत्र-पुत्री से अपनेपन का सम्बन्ध जुड जाता है। इस प्रकार उसके ममत्व, स्वत्व और स्वामित्व का दायरा बढता जाता है।

यही कारण है कि 'कन्यादान' शब्द हिन्दू समाज मे इसी कारण प्रचलित हुआ कि कन्या को अपनी वस्तु मानी जाती थी, इसलिए उस पर से स्वत्वाधिकार हटाकर दूसरे के अधिकार मे सौपने को कन्यादान माना जाने लगा। इसी प्रकार प्राचीनकाल मे विवाह के बाद पति अपनी पत्नी को अपना धन, मानकर चलता था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग मे चातुर्याम धर्म—चार महाव्रत ही होते थे, पत्नी या स्त्री को परिग्रह माना जाता था, और पाँचवें महाव्रत मे ही चौथे महाव्रत (ब्रह्मचर्य या मैथुन विरमण) का समावेश कर लिया जाता था। इसी कारण पत्नी को परिग्रह मानकर उसे अपनी सम्पत्ति मानी जाती थी, उसे दान देने का अधिकार भी पति को होता था। जातक मे एक बौद्ध कथा इसी प्रकार की आती है कि वेशतर महाराज बडे दानी थे, परोपकारी थे, उनसे कोई भी दु खी आकर याचना करता तो वे उसे तुरन्त दे डालते थे। एक व्यक्ति ने आकर अपनी करुण कथा सुनाते हुए उनकी पत्नी की माँग की। उसने कहा—'मुझे आपकी पत्नी दे दीजिए, ताकि मेरी सेवा भली-भाँति हो सके, मैं सुख से अपना जीवनयापन कर सकूँ। यद्यपि उस व्यक्ति की नीयत वेशतर महाराज की पत्नी के साथ कामाचार या व्यभिचार की नही थी, वह केवल सेवा के लिए चाहता था, वह भी अमुक अवधि तक। इसलिए वेशतर महाराज ने अपनी पत्नी से कहा—'मैं तुम्हे इस महानुभाव की सेवा के लिए दान मे देता हूँ। तुम इनकी सेवा करना, अमुक अवधि तक इन्हे सुख-शान्ति देना।' कथाकार कहते हैं, वेशतर महाराज की पत्नी को अपने पति की आज्ञा माननी पडी, क्योकि वह पति की सम्पत्ति जो मानी गई थी! इसीलिए 'अमरकोष' मे पत्नी का पर्यायवाची शब्द 'परिग्रह' भी बताया गया है—'पत्नी परिग्रहेऽपि च'।

कौरव कुलागार दुर्योधन जब अपने मामा शकुनि की सहायता से पाण्डवो के साथ हुए जुए मे जीत गया, तो पहले रखी हुई शर्त के अनुसार युधिष्ठिरादि ने द्रौपदी को दाव पर लगा दिया। किन्तु जुए मे हार जाने के कारण कौरवो ने द्रौपदी को अपने कब्जे मे दे देने का कहा। पाँचो पाण्डव, विदुर, विकर्ण, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि सबकी उपस्थिति मे भरी सभा मे द्रौपदी को बुलाया गया, क्योकि

जुए मे हार जाने के कारण पाण्डवो को पूर्व शर्त के अनुसार द्रौपदी कौरवो को सौंपनी पड़ी। हालांकि द्रौपदी की तेजस्विता और पाण्डवो के व्यक्तित्व के कारण द्रौपदी कौरवो के कब्जे मे नही आई।

यह था पत्नी को 'स्व' मानकर उसका उत्सर्ग करने की विकृत प्रक्रिया। इसलिए सच्चे माने मे 'स्व' तो आत्मा है, किन्तु उसके बाद व्यवहार दृष्टि से 'स्व' धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद है। मकान, दूकान तथा साधन सामग्री है, इन पर स्वामित्व हो सकता है, व्यवहार से और सरकारी कानून से, किन्तु कन्या, भाई, बन्धु और पत्नी आदि कुटुम्बीजनो पर या मित्र, ज्ञाति, समाज, धर्मसस्था आदि पर स्वत्व तो हो सकता है, स्वामित्व नही। दान मे स्वत्व के साथ स्वामित्व का भी विसर्जन होता है, इससे भी आगे बढकर अहत्व-ममत्व का भी विसर्जन आवश्यक होता है। अहत्व या ममत्व इन सभी अपनी मानी जाने वाली चीजो (जड या चेतन पदार्थों) पर होता है, किन्तु स्वामित्व (मालिकी) चेतन पदार्थों पर नही होती, ममत्व या स्वत्व हो सकते हैं। यही कारण है कि जब कोई पुरुष या स्त्री ससार से विरक्त होकर भागवती दीक्षा ग्रहण करने को तैयार होता है, तो उसके रिश्तेदार (भाई, पिता, माता, पत्नी या पति पुत्र आदि) हो तो वे अपना ममत्वविसर्जन करने के लिए अनुमति, आज्ञा या अनुज्ञा देते हैं, किन्तु वह दान नही होता, क्योंकि उन चैतन्य पदार्थों पर सिवाय खुद की आत्मा के और किसी का स्वामित्व नही होता।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ स्वत्व—विसर्जन के साथ अहत्व, ममत्व और विशेषत स्वामित्व का विसर्जन (त्याग) हो, वही दान कहलाता है। वैसे ही किसी को कोई चीज गिरवी रखने या सुरक्षित रखने या सभाल रखने को दी जाय, वहाँ दान नही कहलाता, क्योंकि वहाँ स्वत्व ममत्व और स्वामित्व का विसर्जन नही किया जाता। इसलिए यथार्थ दान चार बातो से सम्पृक्त होता है—

(१) स्वत्व (जिस चीज पर अपनापन हो उस) के त्याग से।

(२) अहत्व (जिस चीज के होने से अपना अहकार या अभिमान प्रगट होता हो, उस) के त्याग से।

(३) ममत्व (जिस वस्तु पर मेरापन हो, उस) के त्याग से।

(४) स्वामित्व (जिस वस्तु पर अपनी मालिकी या कब्जा (Pussessing) हो, उस) के त्याग से।

ये चारो बातें जिस देने के साथ न हो, वह देना कहला सकता है, दान नही। दशवैकालिक सूत्र मे बताया गया है कि दो व्यक्ति एक ही जगह रहते हैं, एक ही रसोडे मे भोजन करते हैं, घर के या दूकान के आय-व्यय मे दोनो का आधा-आधा हिस्सा है, किन्तु उनमे से एक तो भिक्षार्थ साधु के आने पर आहारादि देना चाहता है और दूसरा नही देना चाहता, ऐसी स्थिति मे साधु उस भिक्षा (आहारदान) को

न ले। क्योंकि दोनो के स्वामित्व की वस्तुएँ होने मे जब तक दोनो व्यक्ति स्वेच्छा से उस आहारादि पर से स्वत्व, ममत्व या स्वामित्व का विसर्जन न कर दें, तब तक साधु के लिए एक के द्वारा दिया हुआ वह आहारदान ग्राह्य नही है, कल्पनीय नही है।

इसके पीछे रहस्य यह है कि जबर्दस्ती लेना या किसी की बिना मर्जी के दवाव डाल कर, भय दिखाकर या अपना प्रभाव डालकर आहार-या किसी पदार्थ का लेना वास्तविक दान नही है, उसे तथाकथित दान से लेने वाले और देने वाले दोनों का हित नही है। देने वाले के साथ उसके भागीदार का झगडा होता है, उसके मन मे सक्लेश और अश्रद्धा पैदा होती है, और लेने वाले के लिए भी वह हितावह नहीं, शास्त्राज्ञा विरुद्ध है। मिगार सेठ श्रावस्ती का अति धनाढ्य पुरुष था, वह निर्ग्रन्थो-पासक था। मिगार सेठ ने अपने पुत्र पूर्णवर्धन का विवाह साकेतनगर के धनजय श्रेष्ठी की कन्या विशाखा के साथ किया। विशाखा बौद्ध भिक्षुओ की उपासिका थी, और धनाढ्य सेठ की पुत्री होने का भी उसके मन मे गर्व था। इसलिए जब एक बार मिगार सेठ भोजन कर रहे थे, तभी एक निर्ग्रन्थमुनि भिक्षा के लिए पधारे। मिगार सेठ ने उनका आदर-सत्कार किया और आहार ग्रहण करने की कृपा करने के लिए निवेदन किया। किन्तु विशाखा ने उन्हे न आदर दिया और न आहार ही दिया।' इस कारण निर्ग्रन्थमुनि वापस लौट गए। मिगार सेठ ने उन्हे बहुत कुछ अनुनय-विनय किया कि आप आहार लेकर पधारिए। मगर वह आहार उनके लिए ग्राह्य इसलिए नही था कि उसके पीछे एक की मर्जी थी, एक की नही, इस कारण मुनि ने वापस लौट जाना ही उचित था। एक उक्ति है इस विषय मे गोरखनाथ जी की—

"सहज मिला सो दूध बराबर,
माँग लिया सो पानी।
खींच लिया सो रक्त बराबर,
कह गए 'गोरख' बानी॥"

साधु के लिए इसी कारण सहजभाव से जो स्वेच्छा से अपने स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व या अहत्व का विसर्जन करके देता है, उसी का लेने का विधान है। कोई दाता उधार लेकर या दूसरे से जबरन छीनकर या डर दिखा कर दूसरे से लेकर देना चाहे तो भी साधु के लिए वह देय वस्तु ग्राह्य नही है। क्योंकि वहाँ भी सहजभाव से स्वामित्व स्वत्व, अहत्व-ममत्व का विसर्जन नही है। इसलिए वहाँ भी दान की यथार्थता नही है।

दान के पीछे कौन-कौन-सी भावनाएँ होनी चाहिए ? उसकी विधि क्या है ? द्रव्य कौन-सा देय है ? दाता और आदाता (पात्र) कैसा होना चाहिए ? इन सब पर विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायो मे किया जाएगा। यहाँ तो दान की परिभाषा और व्याख्या को समझने के लिए कुछ सकेत दिये जा रहे हैं।

इसी प्रकार पहले यह कहा जा चुका है कि जिसके देने के पीछे कोई विचार या शुभभाव नही है, जिसमे स्व-परानुग्रह नही है, बल्कि कोई स्वार्थ है प्रसिद्धि, यश या वाहवाही लूटने की या बदले मे अधिक या बराबर लेने की भावना है, अपने अहत्व ममत्व, स्वत्व या स्वामित्व के विसर्जन का भी भाव नही है, वह सच्चे अर्थो मे दान नही है।

तात्पर्य यह है, स्व-परानुग्रह के साथ स्वत्व, स्वामित्व, अहत्व और ममत्व का विसर्जन दान है। वास्तव मे दान होता भी तभी है, जब व्यक्ति अपने स्वत्व को नष्ट कर देता है। इसीलिए स्मृतिकारो ने दान शब्द का लक्षण किया है—

'स्व-स्वत्वध्वसपूर्वक-परस्वत्वोपपत्यनुकूलत्याग दानम्'

अर्थात्—दान वह है, जिसमे अपने स्वत्व (स्वामित्व, अहत्व-ममत्व) को नष्ट करके दूसरे के स्वत्व (स्वामित्व) की उपपत्ति के अनुकूल त्याग किया जाय।

यह लक्षण स्वत्व-विसर्जन से मिलता-जुलता ही है। इस लक्षण मे एक विशेष बात ध्वनित होती है, वह यह है कि कोई व्यक्ति अपनी मानी गई वस्तु दूसरो को सौंपे नही, केवल उस पर से स्वत्व या ममत्व छोड कर घर मे ही रखी रहने दे, उसका न तो कोई स्वय उपयोग करे और न ही दूसरे को सुपुर्द करे, तो वहाँ दान नही होता। दान वही कहलाता है, जहाँ स्व स्वत्व विसर्जन पूर्वक वस्तु का परस्वत्व के अनुकूल त्याग किया जाय। केवल स्वत्व विसर्जन, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कोई करे तो वहाँ दान नही होगा, दान का कार्य तभी परिपूर्ण होता है, जब दाता अपना ममत्व-स्वत्व छोड कर वस्तु को दूसरे के हवाले कर दे, इस प्रकार दूसरो के स्वत्व के अधीन उस वस्तु को कर दें। यानी दान के साथ ये दोनो प्रक्रियाएँ होनी आवश्यक हैं। अगर कोई व्यक्ति अपनी वस्तु केवल दूसरो के सुपुर्द (अधीन) करता है, किन्तु अपना स्वत्व उस पर से हटाता नही है, अपना ममत्व उस पर बनाए रखता है, तो वह दान की अधूरी प्रक्रिया है। इसी प्रकार व्यक्ति केवल स्व-स्वत्व का त्याग तो कर दे, किन्तु दूसरे के अधीन उस वस्तु को न करे तो भी वह दान प्रक्रिया अपूर्ण है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु से ममत्व हटाकर उसे कूडादानी मे फैंक दे या उन नोटो को जला दे तो वह दान नही कहलाएगा।

स्वराज्य आन्दोलन के दिनो मे कई राष्ट्रीय नेताओ ने विदेशी कपडो पर से अपना ममत्व हटाकर उनकी होली जला दी थी। उसके पीछे उद्देश्य था—विदेशी वस्त्रो का बहिष्कार। किन्तु क्या कोई इस स्वत्व-विसर्जन को दान कहेगा ? सचमुच, इसे दान नही कहा जायगा, क्योकि एक तो इस स्वत्व त्याग का उद्देश्य ही दूसरा है—जबकि दान मे स्वपरानुग्रह रूप उद्देश्य अवश्य होता है। दूसरे, स्वत्व विसर्जन के साथ ही दूसरो के स्वत्वाधीन करने की क्रिया इसमे नही है।

इसी प्रकार अमेरिका के एक धनिक ने अपनी जिन्दगी मे ऊब कर और अपने परिवार वालो से रुष्ट होकर अपने पास जितने नोट थे, वे सब आग मे डालकर

स्वाहा कर दिये । इसमे स्वत्व-विसर्जन का प्रदर्शन भी है, परन्तु नोटो को जलाकर स्व-स्वत्वध्वस करने का उद्देश्य बिलकुल दूसरा है, यानी यहाँ स्वपरानुग्रह के बदले उद्देश्य है—जिन्दगी से परेशानी या पारिवारिक जनो के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शन और परस्वत्व के अनुकूल त्याग का तो इसमे नामोनिशान भी नही है । इसलिए इसे दान हर्गिज नही कहा जा सकता ।

कई वर्षों पहले समाचारपत्रो मे एक खबर छपी थी कि एक व्यक्ति अपनी सारी सम्पत्ति कूडादानी मे डाल आया और फिर आत्महत्या कर ली । भला, बताइए कि कूडादानी को अपनी सम्पत्ति अर्पण करना भी कोई दान है ?

इसी प्रकार जो लोग धन जोड-जोड कर इकट्ठा करते हैं, और फिर उसे अन्तिम समय मे यो ही रखकर चले जाते हैं, इसमे न तो स्वस्वत्व का विसर्जन है, और न ही पर-स्वत्वाधीनता है । दोनो ही प्रकार का त्याग नही है, इस कारण इसे तो दान किसी भी हालत मे नही कहा जा सकता ।

मतलब यह है कि जहाँ अपने स्वत्व (अपनेपन, ममत्व, स्वामित्व) के विसर्जन के साथ ही उस वस्तु पर दूसरे व्यक्ति का स्वत्व या स्वामित्व स्वेच्छा से स्थापित कर दिया जाए, वही दान की पूर्ण क्रिया होती है ।

इस परिष्कृत लक्षण के अनुसार अगर कोई व्यक्ति दूसरे की मालिकी की चीज पर झूठमूठ अपना स्वामित्व स्थापित करके उसका विसर्जन करता है और उक्त वस्तु को दूसरे के हाथ मे सौंप कर उसे उस वस्तु का मालिक बना देता है, तो वहाँ भी उसे दान नही कहा जा सकता । वास्तविक दान वही है, जो स्व-परानुग्रह के उद्देश्य से अपने द्वारा उपार्जित धन या साधनो पर से अपनी मालिकी छोडकर दूसरे को सौंप दिया जाता है ।

कई बार व्यक्ति स्वत्व विसर्जन करता है, परन्तु किसी एक व्यक्ति के हाथो मे न सौंपकर उस दान को या तो अनेक गरीब व्यक्तियो मे, एक या अनेक सस्थाओ मे वितरण कर देता है । इससे एक लाभ यह होता है कि लेने वाले व्यक्तियो या सस्थाओ मे हीनता के भाव नही आते, और न देने वालो मे अहकार या महत्ता की भावना नही आती । ऋद्धि गौरव की गाँठ भी एक बहुत बडा दोष है, दान के साथ ।

महान् लेखक एव विश्वविश्रुत साहित्यकार बर्नार्ड शॉ को १९२५ ई० मे जब साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार मिलने की घोषणा हुई, तब उन्होने पुरस्कार दाता का सम्मान रखने के लिए उस नोबल पुरस्कार को स्वीकार तो किया, परन्तु उस पारितोषिक की मिलने वाली विशाल रकम को अस्वीकार करते हुए उन्होंने पारितोषिक वितरण व्यवस्थापको से कहा—"अब मेरे पास अपना गुजारा चलाने लायक धन है, इसलिए मेरी इच्छा है कि पारितोषिक की इस रकम को स्वीडन के गरीब लेखको मे बाँट दी जाए ।"

कितना उदात्त उद्देश्य है—धन के साथ स्वपरानुग्रह का और पारितोषिक के धन पर स्वत्व—स्वामित्व स्थापित होने से पहले ही बर्नार्डशा ने स्वेच्छा से पारितोषिक के धन से अपने स्वत्व-स्वामित्व का परित्याग कर दिया, परन्तु उसी सस्था को वह धन गरीब लेखको मे बाँटने का निर्देश कर दिया। यद्यपि अपने हाथ से बर्नार्डशॉ ने यह दान सीधे लेखको को नही दिया, अपितु पारितोषिक वितरण-व्यवस्थापको से कहकर उन गरीब लेखको को वितरण करने का आदेश दिया। यह स्वत्व विसर्जन का विलक्षण प्रकार था। ऐसे स्वत्व विसर्जन से दान भी, दाता भी और आदाता भी धन्य हो उठते हैं।

दान मे चमक कब आती है ?

दान मे चमक तो तब आती है जब व्यक्ति स्वत्व विसर्जन के चारो अगो को पूर्ण करता है। कोई निर्धन एव साधनहीन अवस्था से ऊपर उठ कर साधन सम्पन्न हो जाता है और उस समय स्वपरानुग्रह के उद्देश्य से पवित्र भाव से जो अपनी वस्तु पर से स्वत्व, स्वामित्व, ममत्व और अहत्व का छोड कर अभावग्रस्तो, निर्धनो या पीडितो को देता है, सहायता करता है, या उनकी सेवा के लिए अर्पण कर देता है।

यहाँ हम एक ऐसे उदार भिखारी का जीवन-प्रसग दे रहे हैं, जो अत्यन्त गरीबी और असहाय अवस्था से अपने परिश्रम और अध्यवसाय के बल पर ऊपर उठ कर अपने जैसे लोगो के जीवन विकास के लिए अपनी सर्वस्व कमाई दे देता है।

धनिया अत्यन्त निर्धन पिता का पुत्र था। जब वह ५ वर्ष का था, तभी उसके माता-पिता महामारी रोग मे चल बसे थे। काने, लूले, लगडे, शरीर से हृष्ट-पुष्ट किन्तु सावले रग के कोरी जाति के निराधार धनिया को पडौसियो ने आश्रय दिया। दो वर्ष तक उन्होंने पाला-पोसा। फिर धीरे-धीरे सभी उसके प्रति लापरवाह हो गए। न किसी के दिल मे उसके प्रति सम्मान था, और न ही प्रेम था। उदास और निराश धनिया एक दिन उस गाँव से चल दिया और निकट के एक गाँव मे भिखारियो के मोहल्ले मे जाकर खडा हो गया। एक भिखारी-कुटुम्ब ने उसे स्वजन की तरह रख लिया। भिखारियो के बच्चो के साथ वह भी माँगने के लिए जाने लगा। जो कुछ मिल जाता, उसी मे अपना गुजारा चलाता था। धनिया को भीख माँगने के काम से घृणा होती थी, किन्तु अग-विकलता होने के कारण नौकरी आदि के दूसरे काम न मिलने पर भी विवश होकर उसे भीख माँगने का कार्य ही करना पडा दुर्भाग्य से उस गाँव मे दुष्काल पडने से सभी को दूसरी जगह जाना पडा। धनिया भी सबके साथ था। कुछ दूर एक स्थान पर भिखारियो ने झोपडे बनाकर रहना शुरू किया। वहाँ गाव मे और पहाड पर अनेक आराधना देवालय थे, दूर-दूर से यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते थे। धनिया का काम जोर-शोर से चलने लगा।

धनिया ज्यो-ज्यो बडा होता गया, त्यो-त्यो उसमें समझदारी भी बढती गई।

वह इतना सन्तोषी था, कि जो कुछ रूखा-सूखा खाने को मिलता, उसी से काम चलाता। उसमे कोई भी व्यसन नही था। लोग बीडी, चाय आदि पीने का आग्रह करते थे, लेकिन वह नही पीता था। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए। धनिया जवान हुआ, लेकिन उसने इस विचार से शादी न की कि क्यो किसी का जीवन नष्ट किया जाय। अब तो उसने अपना ध्यान मांग-मांग कर बचे हुए पैसे इकट्ठे करने मे लगा दिया। उसने अपना एक स्वतन्त्र झोंपडा बना लिया, जिसमे वह भजन-कीर्तन करता था, महात्माओ या पढे-लिखे लोगो के उपदेश कराता था, जिसे वह स्वय सुनता था, और लोगो को भी आमन्त्रित करता था। वह भगवान् की भक्ति मे तन्मय हो गया। समय-समय पर वह अपनी बची हुई पूंजी मे से भिखारी मुहल्ले मे रहने वालो का इलाज और आफत, दिक्कत मे मदद करता था। वह दिये हुए पैसे वापस नहीं लेता था। मुहल्ले के सभी लोग उसे आदर की दृष्टि से देखते थे।

एक दिन भिखारी मुहल्ले के झोंपडो मे भयानक आग लग गई। एक झोंपडे मे एक छोटा-सा बच्चा रह गया। धनिया उसे बचाने के लिए आग मे कूद पडा। उसके हाथ-पैर बुरी तरह झुलस गए, लेकिन बच्चे को सही सलामत बचा कर ले आया। झुलस जाने के कारण धनिया को अस्पताल मे दाखिल करना पडा। १५ दिनो के बाद वह अच्छा होकर आया। सबने उसका स्वागत किया।

लोगो को सन्देह हुआ कि धनिया इतना पैसा बचा कर रखता कहाँ है? उससे पूछने पर वह मौन रहता था। किसी को पता न था कि वह सहायता के रूप लोगो को दान देता है, वह पैसा कहाँ से आता है? एक दिन धनिया कही दूसरे गाव गया हुआ था। पीछे से कुछ लोगो ने उसका झोंपडा खोद डाला, पर कुछ नही मिला। लोगो ने जमीन को बराबर कर दी। लेकिन धनिया जब वापस लौटा तो उसे सारी स्थिति समझ मे आ गई, परन्तु उसने किसी से कुछ भी नही कहा।

धनिया के जीवन के ६५ वर्ष व्यतीत हो गए। एक रात को धनिया की छाती मे अचानक जोर का दर्द उठा। उसने मुहल्ले के आदमियो को आवाज देकर बुलाया। कुछ लोग इकट्ठे हो गए और उसकी सेवा-सुश्रूषा मे जुट गए, दर्द बढता ही जा रहा है, यह जान कर कुछ लोग डॉक्टर को बुलाने गए। डॉक्टर ने ज्यो ही धनिया के झोंपडे मे पैर रखा कि उसके प्राणपखेरू उड गए। डॉक्टर ने जाँच-पडताल के बाद बतलाया कि धनिया की मृत्यु हार्टफेल से हुई है। सारे गाव मे धनिया की मृत्यु के समाचार बिजली की तरह फैल गए। शवयात्रा मे नगरसेठ व अन्य प्रतिष्ठित पुरुषो ने भी भाग लिया। रात को आजाद चौक मे नगरसेठ के सभापतित्व मे एक शोकसभा हुई। नगरसेठ ने शोक व्यक्त किया—"धनिया निर्धन के रूप मे जन्मा, लेकिन मरा है, श्रीमान् के रूप मे। उसने श्रम और सयमनिष्ठ रह कर एक-एक पैसा बचा कर इकट्ठा किया है। बैक मे उसके नाम पर २५ हजार रुपये जमा हैं। इतनी बडी रकम उसने दान मे दे दी है। उसने एक वसीयतनामा

भी लिखवाया है, जिसे मैं पढकर सुनाता हूँ—"मेरे जैसे क्षुद्र से क्षुद्र भिखारी का वसीयतनामा कैसा ? मेरी इस वसीयतनामे की बात सुनकर आपको हँसी आएगी, मेरे मन मे जीवनभर यही विचार आते रहे कि मेरे सरीखे लूले-लँगडे, अशक्त और निराधार मनुष्यो को कितना कष्ट सहन करना पडता होगा ? कितनी मुसीबतें उठानी पडती होगी ? अत्यन्त तिरस्कार और अपमान भी सहना पडता होगा ? उन सबको थोडी बहुत सुविधा मिले, इसके लिए एक आश्रम स्थापित करने की आवश्यकता है। मैंने माँग-माँग कर ये पैसे इकट्ठे किये हैं। यह कुल रकम मैं आश्रम के लिए दे रहा हूँ। मैंने कोई दान किया है, यह मैं नही मानता। समाज का दिया हुआ पैसा मैं समाज के चरणो मे अर्पण कर रहा हूँ। मैं इन पैसो की सम्भाल रखने के लिए नगरसेठ का और रकम स्वीकार करने के लिए समाज का उपकार मानता हूँ। " .."

नगर सेठ ने इस आश्रम की स्थापना के लिए अपनी ओर से दस हजार रुपये के दान की घोषणा की। सभा विसर्जित हुई। सभी लोग धनिया की प्रशसा कर रहे थे, लेकिन वह प्रशसा सुनने के लिए नही रहा। जगत् के इतिहास मे धनिया का यह वसीयतनामा अजोड है। धनिया को प्रशसा की चाह नही थी, वह चुपचाप बिना किसी प्रसिद्धि के दान कर गया।

इस दान मे दान का उद्देश्य, स्वत्व आदि चारो का त्याग और असहाय एव अशक्त लोगो के लिए अपनी वस्तु का समर्पण आदि सभी वस्तुएँ निहित हैं।

केवल स्वत्व-विसर्जन (त्याग) दान नहीं

बहुत-से लोगो का भ्रम है कि किसी व्यक्ति ने घरबार, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद सब कुछ छोड दिया तो उसका वह त्याग दान हो गया। परन्तु वह त्याग हो सकता है, दान नही। दान मे स्व-वस्तु का विसर्जन किया जाता है, किन्तु वह विसर्जित वस्तु को किसी खास उद्देश्य से किसी व्यक्ति या सस्था को या समूह को सौंपी जाती है। इस विश्लेषण को समझ लेने पर ही दान का लक्षण यथार्थ रूप मे हृदयगम हो जाएगा। अन्यथा, त्याग मे ही दान की भ्रान्ति हो जाएगी, और उसे ही दान समझ लिया जाएगा।

एक बहुत पुरानी घटना है। एक राजकुमार ने घरबार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति और जमीन-जायदाद सब कुछ छोड कर दीक्षा ले ली। वह साधु बन गया, अपने विपुलवैभव का त्याग करके। लोग उसके इस त्याग की प्रशसा करने लगे और इसे बहुत बडा दान कहने लगे। लोगो ने साधु बने हुए राजकुमार से कहा—'आपने बहुत बड़ा त्याग किया है। आपने सचमुच महान् दान दिया है।' राजकुमार (साधु) ने कहा—'भाई! यह क्या कह रहे हो? मैंने क्या छोडा है? और क्या दान दिया है?' लोगो ने कहा—'दुनिया तो पैसे-पैसे के लिए मरती है, उसे पाकर छाती से चिपटा लेती है। लेकिन आपने तो इतना बडा वैभव छोड दिया है। आप इसे त्याग

या दान नही कहते, यह आपकी महानता है।' तब राजकुमार (साधु) ने कहा—'इसमे मेरी कोई महत्ता नही। और जिसे तुम दान कहते हो, वह त्याग से अलग चीज है। उसमे अपनी वस्तु पर से ममत्व छोडकर दूसरे के हस्तगत करनी होती है, ऐसा मैंने कुछ नही किया है। और छोडा भी मैंने क्या है? जहर ही तो छोडा है? मैल ही तो विसर्जित किया है। किसी के पास जहर की छोटी-सी पुडिया है, और दूसरे के पास जहर की बोरी भरी है। दोनो को पता नही कि यह जहर है, तब तक वे उसे सभाले रहे। जब उसने किसी ज्ञानी से यह समझ लिया कि जिसे हम अमृत समझकर सहेज रहे है, वह वास्तव मे अमृत नही विष है, तो क्या वह उसका त्याग करने मे फिर देर करेगा? पुडिया वाला पुडिया का और बोरी वाला बोरी का त्याग कर देगा। अब लोग कहे कि बोरी वाले ने बडा त्याग किया है, पर मैं कहता हूँ, यह त्याग काहे का? पुडिया जहर की थी, तो बोरी भी जहर ही की थी। उसे छोडा तो कौन-सा बडा त्याग कर दिया? मैंने तो अमर बनने के लिए जहर को छोडा है।' साधू के इस वक्तव्य को सुन कर सभी लोग अत्यन्त सन्तुष्ट हो गए। उनके मन का समाधान हो चुका था।

वास्तव मे 'त्यागो दानम्' ऐसा जो लक्षण किया जाता है, वह लक्षण अधूरा है। परिष्कृत लक्षण यही है कि स्व-परानुग्रह के उद्देश्य से अपनी वस्तु पर से ममत्व का त्याग कर दूसरे को सौंप दिया जाता है, वही दान है। कोरा त्याग दान नहीं है। यह साधु बने हुए राजकुमार के उपर्युक्त सवाद से पूर्णत स्पष्ट हो जाता है।

त्याग के साथ दान ही सर्वांगीण दान

वैसे देखा जाय तो त्याग के साथ दान ही सर्वांगपूर्ण दान कहलाता है। कोरा दान (देना) कोई महत्त्वपूर्ण नही होता। त्यागरहित दान प्राणरहित शरीर जैसा है। केवल दान तो किसी स्वार्थ, भय, लोभ या परम्परागत रूढिवश भी हो सकता है। केवल दान से व्यक्ति के जीवन मे बदले में कुछ लेने की भावना भी हो सकती है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति है। उसने भलाई और ईमानदारी से व्यापार कर के धन कमाया। अपनी गृहस्थी सुखपूर्वक चला रहा है। उसे अपने स्त्री-पुत्रो के प्रति एव अपने शरीर के प्रति ममता है। इसलिए उनके भरणपोषण के लिए जो पैसा कमाता है, उसके प्रति भी आसक्ति है। परन्तु साथ ही उसे कीर्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा या परोपकार की भी लालसा है। वह सोचता है—अगर इसमे से मैं किसी को कुछ पैसे (सामाजिक कार्य मे या धर्मकार्य मे) दूं तो उसके बदले मुझे कई गुने मिलते हैं, तो यह सौदा बुरा नही है। अत वह मुक्त-हस्त से खर्च करता है, समाज और धर्म के तथाकथित नायको को थोडे-से पैसे देकर खुश कर देता है। इसी को वह दान कहता है, तथाकथित समाज या मध्यमवर्गीय गरीब लोग भी दान कहकर पुकारते हैं। परन्तु दान के पूर्वोक्त लक्षणो की कसौटी पर उसे कसते हैं तो वह खरा दान नही उतरता। क्योकि उसमे त्याग—स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व या अहत्व का

को बेच दो।' उन्होंने बहुत तलाश की, लेकिन उन पीपो का कोई खरीददार नहीं मिला। आखिर एक गरीब व्यक्ति ने कहा—'यदि सस्ते मे दे दें तो मैं खरीद सकता हूँ। मैं तो मोमबत्ती बनाकर गुजारा करता हूँ।' जो कुछ पैसे उसने दिए, शत्रुसैनिको ने उतने पैसे ले लिए और अपनी जेब मे डाल लिए फिर उससे कहा—जितनी जल्दी इन पीपो को उठाकर ले जा सको, ले जाओ, इन पर पहरा देते-देते मेरी जान जा रही है।' मोमबत्ती वाला उन तीनो पीपो को उठाकर घर ले आया। शत्रु के चले जाने पर जब मोमबत्ती वाले ने मोमबत्तियाँ बनाने के लिए पीपो मे से मोम निकालना चाहा, मगर मोम के बदले किसी कठोर वस्तु का स्पर्श हुआ। उन्हे ऊपर उठाकर देखा तो सोने के सिक्के थे। उस गरीब ने जब दूसरे पीपे की मोम हटाई तो नीचे चाँदी के सिक्के और तीसरे पीपे मे नीचे ताँबे के सिक्के मिले। उसे आश्चर्य और सन्तोष हुआ उसने हिफाजत से वे तीनो पीपे रखकर उस कोठरी के ताला लगा दिया। यद्यपि उसे अपनी गरीबी का भय न था, परन्तु अमीरी का भी उसने कोई दिखावा न किया। और आराम से जिन्दगी बिताने लगा। समय बीतता चला गया, पर उसका खजाना खाली नही हुआ।

एक बार उसने अपने दोस्त दर्जी से कपडे सिलवाए, और उसे सिलाई के बदले मुट्ठी भर सोने के सिक्के दिए। दर्जी चकराया—इतना पैसा तो मैं नही लूंगा, मेरा मेहनताना इतना नही होता। मुझे तो केवल मेरी मजदूरी के पैसे दे दो।' मोमबत्ती वाले ने कहा—मेरे पास तो सोने का पीपा भरा है, मैं उस सारे का करूंगा क्या? तुम भी कौन-से धनी हो! रखो इसे!' दर्जी ने इस पर विश्वास न किया। उसने पूछा—'तुम्हारे पास इतना सोना कहाँ से आया?' मोमबत्ती वाले ने कहा—'मेरे साथ चलो, अपनी आँखो से देख लेना।' मोमबत्ती वाले ने अपने दोस्त दर्जी को साथ ले जाकर सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्के वाले पीपे बताए। और अन्त मे कहा—'इन सबका मैं क्या करूंगा, इनमे से आधा तुम ले जाओ।' दर्जी ने दो मुट्ठी भर सोना लिया और कहा—'मेरे लिए इतना ही काफी है। इससे मेरी सारी जिन्दगी आराम से कट जाएगी, मैं तुम्हे एक सलाह देता हूँ, सुनो? इतना धन तो तुम हजार सालो मे खर्च नही कर सकते, केवल देख देखकर तसल्ली भले ही कर लो। यह बिलकुल बेकार धन है। इसलिए इसे चुपचाप (गुप्त रूप से) गरीबो को बाँट दो। कम से कम वे इससे फायदा तो उठाएँगे। पैसे का भी उपयोग हो जाएगा।' मोमबत्ती बनाने वाले को दर्जी की यह सलाह जच गई। उसने सब के सब सोने चाँदी और ताबे के सिक्के गरीबो को दान कर दिये, और अपनी मेहनत से कमाकर आराम से जिन्दगी बसर करने लगा।

इस उदाहरण मे कोरा दान और त्यागयुक्त दान दोनो की प्रक्रिया स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। प्रथम प्रक्रिया मे मोमबत्ती वाले ने अधिक धन रखकर कुछ अपने मित्र दर्जी को देना चाहा। उसमे न तो दान का कोई उद्देश्य ही उसके सामने स्पष्ट

था, और न ही ममत्व विसर्जन की क्रिया थी। वह धन को रखने की चिन्ता के कारण उस धन को इल्लत समझकर मित्र को कुछ देना चाहता था। लेकिन दूसरी प्रक्रिया मे मित्र की सलाह से उसने सारे के सारे धन पर से स्वामित्व, ममत्व, अहत्व छोडकर चुपचाप उसे गरीबो को दे डाला, और स्वय परिश्रम पर निर्वाह करके जिन्दगी का आनन्द लूटने लगा। अत दूसरी प्रक्रिया मे त्यागयुक्त दान है।

त्याग, दान से बढकर है, किन्तु……

एक दूसरे दृष्टिकोण से त्याग और दान का विश्लेषण करे तो दान की अपेक्षा त्याग बढकर मालूम देगा। एक व्यक्ति अविवेकपूर्वक, किसी प्रकार का पात्र, देश, काल, स्थिति, विधि, द्रव्य आदि का कोई विचार न करके किसी व्यक्ति को परम्परागत रूप से गायें दे देता है, किसी को घोडे या हाथी दे देता है। पर लेने वाला इतने पशुओ को सँभाल नही सकता, न उन्हे पूरा चारा दाना दे पाता। अब बताइए, ऐसे दान से क्या मतलब सिद्ध हुआ ? इसकी अपेक्षा एक व्यक्ति इन सब सोने, चाँदी, सिक्के, जमीन, जायदाद आदि सबको मन से भी त्याग करके मुनि बन जाता है। उस व्यक्ति का त्याग दान की अपेक्षा बढकर है।[1]

श्रमण भगवान महावीर के पचम गणधर आर्य सुधर्मा के चरणो मे जहाँ बडे-बडे राजा, राजकुमार, श्रेष्ठी, श्रेष्ठीपुत्र आकर मुनिदीक्षा लेते थे, वहाँ दीन दरिद्र भी, पथ के भिखारी तक भी दीक्षित होते और साधना करते थे। इसी शृ खला मे एक बार राजगृह का एक दीन लकडहारा भी विरक्त होकर मुनि बन गया था। साधना के क्षेत्र मे तो आत्मा की परख होती है देह, वश और कुल की नही। एक बार महामन्त्री अभयकुमार कुछ सामन्तो के साथ वन विहार के लिए जा रहे थे, मार्ग मे उन्हे वही लकडहारा मुनि मिल गए तो उन्होने तुरन्त घोडे से उतरकर मुनि को भक्तिभाव से विनम्र वन्दना की। घूमकर पीछे देखा तो सामन्त लोग कनखियो मे हँस रहे थे, अन्य पास मे खडे नागरिक भी मजाक के मूड मे थे।

महामन्त्री अभय को सामन्तो और नागरिको के हँसने का कारण समझते देर न लगी। फिर भी उसने पूछा तो एक सामन्त ने व्यगपूर्वक कहा—'जो कल दर-दर की ठोकरें खाने वाला दीन लकडहारा था, वही आज बहुत बडा त्यागी और राजर्षि बन गया है कि मगध का महामत्री भी उसके चरणो मे सिर झुका रहा है। धन्य है, इसके त्याग को कि महामन्त्री तक को अश्व से नीचे उतरकर प्रणाम करना पडा।'

सामन्त के इस तीखे व्यग और त्याग के उक्त सस्कारहीन उपहास पर अभयकुमार को रोष तो आया, पर उन्होने मन ही मन पी लिया। अभयकुमार

---

१ जो सहस्स सहस्साण, मासे मासे गव दए।
तस्सावि सजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण॥

—उत्तरा० अ० ९।४०

जानते थे कि सामन्त ने मगध के महामन्त्री का नही, ज्ञातपुत्र महावीर की क्रान्तिकारी त्याग-परम्परा का उपहास किया है। भोग का कीट त्याग की ऊँचाई की कल्पना भी कैसे कर सकता है ? एक गम्भीर अर्थ युक्त मुस्कान के साथ अभयकुमार आगे बढ गए। सब लोग वन-विहार का आनन्द लेकर अपने अपने महलो मे लौट आए।

दूसरे दिन महामन्त्री ने राजसभा मे एक-एक कोटि स्वर्णमुद्राओ के तीन ढेर लगवाए और खडे होकर सामन्तो मे कहा कि—"जो व्यक्ति जीवन भर के लिए कच्चे पानी, और अग्नि के उपयोग तथा स्त्रीसहवास का त्याग करे, उसे मैं ये तीन कोटि स्वर्णमुद्राएँ उपहार मे दूंगा।" सभा मे सन्नाटा छा गया। सभी एक दूसरे के मुह की ओर ताकने लगे। इन तीनो के त्याग का अर्थ है, एक तरह से जीवन का ही त्याग, फिर तो साधु ही न बन गए" और तब इन स्वर्णमुद्राओ का करेंगे क्या ? न न बाबा ये त्याग बडे कठिन हैं'।" एक सामन्त ने कहा। इसके बाद सभा मे सन्नाटा छा गया। महामन्त्री फिर खडे होकर गम्भीर स्वर मे बोले—लगता है, हमारे वीर सामन्त एक साथ तीन बडी शर्तों को देखकर हिचकिचा रहे हैं। अच्छा तो, मैं उनके लिए विशेष रियायत की घोषणा कर देता हूँ—तीनो मे से कोई भी एक प्रतिज्ञा करने वाला भी स्वर्णमुद्राओ का अधिकारी हो सकता है।" फिर भी सभी सभासद अवाक् थे। कोई भी वीर सामन्त इस नरम की गई शर्त को भी स्वीकार करने की हिम्मत न कर सका। महामन्त्री ने जोर से गर्जकर कहा—क्या कोई भी यह मामूली-सा साहस नही कर सकता ?"

तभी एक समवेत ध्वनि गूंज उठी—"नही, नही, महामन्त्री ! जिसे आप मामूली त्याग कहते हैं, वह तो असाधारण है। एक ही वस्तु के सम्पूर्ण त्याग का मतलब है—जीवन की समस्त सुख-सुविधाओ का त्याग ! कितना कठोर है यह !" सबके मस्तक इन्कार मे हिल रहे थे।

"तो फिर सामन्तो ! जिस व्यक्ति ने इन तीनो का त्याग किया हो, वह कितना महान और कितना वीर होगा ?"

"अति महान् अतिवीर ? अवश्य ही वह अति कठिन एव असाधारण साहस करने वाला है। उसका त्याग महान् है !" एक साथ कई स्वर गूंज उठे।

"वीर सामन्तो ! हमने कल जिस मुनि को नमन किया था, वह तीनो का ही नही, बल्कि ऐसे अनेक असाधारण उग्रव्रतो तथा प्रतिज्ञाओ का पालन करने वाला वीर है, त्यागी है। उसके पास भोग के साधन भले ही अल्प रहे हो, पर भोग की अनन्त इच्छाओ को उसने जीत लिया है। त्याग का मानदण्ड राजकुमार या लकडहारा नही हुआ करता, किन्तु व्यक्ति के मन की सच्ची विरक्ति हुआ करती है।" महामन्त्री के इस विश्लेषण पर सभी सामन्त मौन थे, साथ ही निरुत्तर भी। कई प्रसन्न भी थे कइयो के चेहरो पर पश्चात्ताप की रेखाएँ स्पष्ट परिलक्षित हो रही थीं।

दूसरे ही क्षण धन्य, धन्य ! के हर्षमिश्रित गभीर घोष से राजसभा का कोना-कोना गूंज उठा।

इस कथानक मे यद्यपि दान का प्रसग तो नही है, किन्तु तीन कोटि स्वर्ण मुद्राएँ, जो इनाम के लिए रखी गई थी वे एक तरह से दानस्वरूप ही थी, मगर त्याग के सामने दान का लाभ फीका पड गया। इसलिए इस कथानक मे मुनि के त्याग के साथ वह त्यक्त वस्तु किसी को सौंपी नहीं जाने से उसे दान तो नही कहा जा सकता, कोरा त्याग अवश्य है। इस विश्लेषण से एक बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि कोरा दान जैसे महत्त्वपूर्ण नही है, वैसे कोरा त्याग भले ही दान से बढकर हो, मगर दान के वास्तविक लक्षण की दृष्टि से वह दान की कोटि मे नही आ सकता।

वास्तव मे कोरा दान तो पापी से पापी, अधर्मी, अन्यायी, अत्याचारी भी कर सकता है, किन्तु स्वपरानुग्रह के उद्देश्य से स्वत्व या स्वामित्व का त्याग करना टेढी खीर है। पालनपुर मे एक डॉक्टर, जो अपनी पत्नी के होते हुए भी पराई स्त्रियो को फसाता था, उसके विरुद्ध जब सत्याग्रह हुआ तो उसने एक प्रसिद्ध सत के सामने कहा—"आप कहे, उस सस्था को मैं दान दे दूं, मेरे खिलाफ गलत वातावरण न फैलने दें और पालनपुर छोडकर अमुक समय से बाहर जाने का सामाजिक दण्ड न दिलावें।" क्या ऐसे अनाचारी व्यक्ति द्वारा अपने को सुधारे बिना दिया गया दान वास्तविक दान है, या दान का नाटक है ? इस प्रकार का तथाकथित दान भी कई बार पापी या अनाचारी व्यक्ति के पाप पर पर्दा डालने वाला हो जाता है, अनाचारी व्यक्ति अपने पापो को दबाने या छिपाने के लिए ऐसे तथाकथित दान का सहारा लेता है। लेकिन पूर्वोक्त त्याग के बिना कोरा दान दान की कोटि मे नही आता।

दान और त्याग मे अन्तर

कोरे त्याग (जैसा कि ऊपर वाले दृष्टान्त मे है) और दान मे बहुत अन्तर है। जो वस्तु बुरी होती है, उसका हम त्याग करते हैं। हम अपनी पवित्रता उत्तरोत्तर बढाने के लिए पवित्रता मे रुकावट डालने वाली वस्तुओ का त्याग करते हैं। जैसे गृहस्थ लोग घर स्वच्छ करने और उसे साफ-सुथरा रखने के लिए कूडाकर्कट का त्याग करते हैं, उसे फैंक देते हैं। इसलिए त्याग का अर्थ होता है—फैंक देना। परन्तु दान का अर्थ 'फैंक देना' नही है। किसी के द्वार पर कोई बाबा या भिखारी आया, उसे उसने एक मुट्ठी सिके हुये चने या एक पैसा दे दिया, इतने से दान क्रिया नही होती। वह मुट्ठी अन्न या एक पैसा फैंक दिया, फैंकने की क्रिया मे लापरवाही होती है, अविचारपूर्वक क्रिया होती है, उसमे न तो हृदय होता है और न बुद्धि ही। बुद्धि और हृदय अर्थात् विवेक और विचार (भावना) इन दोनो के सहयोग से जो देने की क्रिया होती है, उसे ही दान कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि दान का अर्थ फैंकना नही, अपितु विचारपूर्वक अपनी मानी हुई वस्तु दूसरे को सम्मानपूर्वक समर्पित करना है।

दान की सर्वोच्च भूमिका अहंता दान

जिस प्रकार गंगा आगे बढ़ती-बढ़ती अन्त में समुद्र में जाकर मिल तब वह अपना नाम, रूप सब कुछ खो देती है, शून्य हो जाती है। उसी प्र भी देते-देते जब स्वयं दाता को ही दे दिया जाता है। यों तो सागर में असर भरी हैं, पर यहाँ दाता के दिये जाने का मतलब है—'गागर में सागर लेना।' यह दान पूर्ण अहंता का दान है। किसी वस्तु पर अपना जो ममत्व उसे त्याग देना, उस पर से अपना स्वामित्व-विसर्जन करना और स्वत्व को जैसे दान है, वैसे ही उसका उत्कृष्ट रूप अहंत्व का दान करना है। स्वामित्व और स्वत्व का दान करते-करते जब अहंत्व का दान हो जाता है, त की सर्वोच्च भूमिका आती है। यही दान की व्याख्या में सर्वोच्च कल्पना है। यह है कि दाता पर अहंता, ममता, स्वामित्व और स्वत्व का आक्रमण न हो न ही दाता अहंत्व-ममत्व पर आक्रमण करे। यानी न तो दाता अहंता-ममता लगेगा और न ही अहंता-ममता दाता के पीछे लगेगी। दान की यही अवस्था है, जिसे 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' की व्याख्या में स्वीकृत गया है।

जगडूशाह के दान के पीछे यही मनोवृत्ति थी। वह देता था, मुक्त हस्त परन्तु साथ ही उसमें दान के साथ निरभिमानता, नम्रता अर्पण की भावना वह स्वत्व, ममत्व और स्वामित्व के साथ अहंत्व का विसर्जन दान करते समय करता था। उसकी अहंता के विसर्जन का सबसे प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वह देते समय पर्दे के पीछे बैठा करता था और केवल व्यक्ति के हाथ को देखकर दे दिया करता था। वह इसलिए कि स्वयं को अहंकार न आये, दूसरा कारण भी था कि लेने वाले के मन में हीन भावना न आए। दान-शूर जगडूशाह इसी क का भी दान साथ-साथ दे देता था।

लखनऊ के नवाब आसफुद्दौला के विषय में पूज्य गुरुदेव स्व० महास्थ ताराचन्दजी महाराज कहा करते थे कि वे गुप्तरूप से बहुत दान दिया करते थे। कोई मनुष्य उनके महल के पास से थाली में कुछ लेकर निकलता तो वे युक्ति उसमें सोने की अशर्फी डाल देते थे। थाली ले जाने वाले को बिलकुल पता न लगता, जब वह व्यक्ति घर पहुँचता और थाली में पड़ी हुई सोने की अशर्फी देखता तब उसे बहुत खुशी होती। नवाब की दानशीलता देख कर किसी ने उनसे कहा- 'आप बहुत ही बड़े दानी हैं।' तब आसफुद्दौला कहते—मुझे मनुष्य दानी न क इसीलिए तो मैं चुपके से दान देता हूँ।"

सचमुच नवाब का दान के साथ अहंत्व त्याग बहुत ही ऊँचे स्तर का था।

दान के साथ अहंत्व का त्याग करने के लिए कई लोग तो दान देते सम अपनी आँखें नीची कर लेते हैं। यह भी एक सद्गुण है।

एक शेखजी थे। वे गरीब, दु खी, अपाहिज आदि लोगो को बहुत दान दिया करते थे। एक बार उनसे किसी ने पूछा—जब आप दान देते हैं, तो नीची निगाह क्यो कर लेते हैं ?

"कैसे सीखे शेखजी ऐसी देना देन ?
ज्यों-ज्यो कर नीचा करो, नीचा राखो नैन ॥"

उन्होंने भी कविता मे ही उसका उत्तर दिया—

देने वाला और है, भेजत है दिन रैन।
लोग नाम हमरो कहे, तातै नीचे नैन ॥

यहाँ भाव स्पष्ट है कि देने वाला तो खुदा है, जो रातदिन भेजता ही रहता है, उसी का दिया हुआ है, परन्तु जब मैं किसी को कुछ देता हूँ तो लोग कहते हैं—शेखजी ने दिया है, मैं देने वाला कौन हूँ ? मैं तो उनका ही दिया हुआ देता हूँ। इस कारण मैं अपनी आँखें नीची कर लेता हूँ, ताकि लोगो को मेरा नाम कहने की आदत मिट जायगी। कितना प्रामाणिक प्रयत्न है—अहत्त्व त्याग का ! ऐसा प्रामाणिक प्रयत्न हो तो दान के साथ अहत्त्व का त्याग होते क्या देर लगती है ?

दान के साथ अहत्त्व-विसर्जन अत्यन्त कठिन

कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य दान देते समय स्वत्व और स्वामित्व का विसर्जन उस देय वस्तु पर से कर लेता है, ममत्व भी छोड देता है, परन्तु दान के साथ जो अहत्त्व का त्याग करना चाहिए, उसमे असफल हो जाता है। हजारो-लाखो मे से इनेगिने ही ऐसे मिलेंगे, जो दान तो करते हो, पर अपना नाम न चाहते हो, मन को गुदगुदाने वाली प्रसिद्धि और वाहवाही से बिलकुल नि स्पृह रहते हो।

दान के पूर्वोक्त लक्षणो के उत्तरार्द्ध मे जिस स्व का परित्याग करने की बात है, जीवन के गाढे पसीने की कमाई से प्राप्त होने पर भी उस पर से ममत्व छूटना कठिन है, अगर ममत्व और स्वामित्व भी छूट जाए तो भी उस दान के निमित्त से होने वाले अह, गौरव-गुणगान, प्रसिद्धिलालसा, कीर्तिलिप्सा, नामबरी वाली वाहवाही की इच्छा आदि अहत्त्व का छूटना जब ही कठिन होता है यह छूट जाय तो दान अपने आप मे सर्वांग लक्षणो से युक्त हो सकता है। बहुत-से लोगो के पास श्री तो होती है, पर श्रीमत्ता अथवा श्री का वैभव नही होता। श्री का वैभव या श्रीमत्ता तब आती है, जब श्री के साथ अहकार न हो, नम्रता, दयालुता, कोमलता, करुणा और आत्मीयता हो, तथा श्री के दान के साथ भी नामना-कामना प्रसिद्धिलिप्सा आदि का अहत्त्व न हो, अहता-ममता न हो। तभी उस दान को वास्तव मे निष्कलक दान कहा जा सकता है।

स्वत्व विसर्जन के बाद पुन स्वत्व स्थापित करना ठीक नहीं

कई बार मनुष्य अपने स्वत्व का विसर्जन करने के बाद पुन लोभवश या

स्वार्थवश दी हुई वस्तु मे पुन अपना स्वत्व स्थापित कर लेता है, या उस दी हुई वस्तु को पुन ले लेता है अथवा अपने उपयोग मे लेने लगता है, यह ठीक नहीं। यह दान का कलक है। कई जगह धर्मशालाओ का यही हाल हो रहा है। उन मकानों पर नाम धर्मशाला लिखा है, पर उनका उपयोग धर्मशाला के रूप मे नही होता, वहाँ किसी भी यात्री या अतिथि को ठहरने नही दिया जाता, उसका उपयोग केवल धर्मशाला बनाने वाले का परिवार ही कर रहा है। इसी प्रकार कई जमीन-जायदादें किसी के बाप-दादो ने दान मे दे दी हैं, पर जिनको वे दी गई थी, या जिनकी मौजूदगी मे वे दी गई थीं, वे अब नही रहे, इस कारण उनके परिवार वालो ने या उसके ट्रस्टियो ने या सम्बन्धित अधिकारियो ने उन दान मे प्रदत्त जमीन-जायदादो पर अपना कब्जा जमा लिया है, उसकी आय का उपयोग वे स्वय करने लगे हैं। इसीलिए भारतीय सस्कृति मे दान के साथ यह शर्त रखी गई है कि दिया हुआ दान यानी स्वत्व विसर्जन किया हुआ पदार्थ वापस नही लिया जा सकता।

कहते हैं, सत्यवादी दानी राजा हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र ऋषि को अपना सारा राज्य दान मे दे दिया था, उसका सकल्प भी विश्वामित्रजी के सामने कर लिया था। किन्तु जब दान के बाद उस दान को पक्का करने की दृष्टि से विश्वामित्रजी ने दक्षिणा मागी तो भ्रान्तिवश अपने द्वारा प्रदत्त राज्य के खजाने मे से देने लगे। मगर विश्वामित्रजी को तो उनके दान की कसौटी करनी थी, इसलिए वे बोले—'राजन्! इसमे से अब दक्षिणा देने का अधिकार तुम्हे कहाँ है? जब सारा राज्य तुम मुझे दान मे दे चुके हो, तब फिर राज्य के कोष पर तुम्हारा अधिकार, तुम्हारा स्वामित्व कहाँ रहा?' हरिश्चन्द्र तुरत समझ गये, उन्होने अपनी भूल स्वीकार की, और स्वत्व विसर्जन करने के बाद पुन स्वत्व स्थापित करने के विचार के लिए क्षमा मागी। और राजपाट एव अयोध्या छोडकर सादे वेष मे राजा हरिश्चन्द्र रानी तारामती और पुत्र रोहिताश्व काशी की ओर प्रस्थान कर गये। काशी मे इसलिए गए कि काशी पूर्वजो के द्वारा इस राज्य से अलग ही रखी हुई थी। वहाँ जाकर राजा और रानी ने स्वय श्रम किया, पति-पत्नी दोनो बिके और अपने सकल्प के अनुसार स्वोपार्जित सम्पत्ति से विश्वामित्र को दक्षिणा चुकाई। इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र ने दिये हुए दान पर पुन अपना स्वामित्व या स्वत्व स्थापित नही किया। भारतीय सस्कृति के अनुसार उन्होने पूर्णत स्वत्व विसर्जन कर दिया।

हाँ, यह तो हो सकता था कि राज्य दान करने के बाद जिसको वह दान दिया गया है, उनकी अनुमति से उनके प्रतिनिधि बन कर राज्य-सचालन करे। परतु उस सचालन मे राज्य पर स्वामित्व उस राजा का नही रहता था, वह तो केवल उनका सेवक या प्रतिनिधि बनकर राज्य-सचालन करता था।

समर्थ स्वामी रामदास के शिष्य छत्रपति शिवाजी अपने गुरु की मस्ती और आनन्द को देखकर सोचने लगे—इन राज्य, शासन, देशभक्ति और अन्य परेशान

यह था स्वत्व विसर्जन करके पुन आदाता की अनुमति या इच्छा मे उसके सेवकमात्र रहकर प्रदत्त वस्तु को सभालने की प्रक्रिया !

महात्मा गाँधी जी की बताई हुई ट्रस्टीशिप की भावना और इसमे थोडा-सा अन्तर है। ट्रस्टीशिप मे अपनी वस्तु पर से आशिक स्वत्त्व या स्वामित्व तो छूट जाता है, परन्तु उसका उपयोग भी वह कर लेता है, जबकि स्वत्व-विसर्जन के बाद प्रतिनिधि के रूप मे कार्यभार सँभालने मे दाता केवल सेवक बनकर रहता है, और नौकरी के रूप मे वेतन ले लेता है। इसलिए ट्रस्टीशिप की व्यवस्था मे ट्रस्टी का आशिक स्वामित्व उस वस्तु पर रहता है, जबकि स्वत्व-विसर्जनकर्त्ता मे पुन सचालन हेतु हाथ मे उस वस्तु को लेने पर भी उसका स्वामित्व नही रहता।

किन्तु स्वामित्व-विसर्जन के बाद यह बात निश्चित होती है कि वह वस्तु पुन अपने अधिकार या स्वामित्व मे नही ली जा सकती। दान के साथ यह कडी शर्त रखी गई है।

गुजरात के सुलतान मुजफ्फरखान के समय मे एक खोजे राज्य कर्मचारी ने एक जागीरदार की जागीर जप्त करके बहुत-सा धन लाकर बादशाह के सामने पेश किया। सुलतान ने पूछा—"यह धन किसका है ? कहाँ से लाए हो ? राजकमचारी बोला—"यह धन बादशाह का है। पहले मुजफ्फरशाह के समय धार्मिक पुरुषो को जितनी जागीरें दी गई थी, उस समय से उनकी आय भी बढती ही गई। जब मैंने वहाँ जाकर जाच-पडताल की तो मालूम हुआ कि असली जागीरदार तो मर चुका। इसलिए उसकी मृत्यु के बाद उसकी जागीर की जितनी आय थी, वह सब इकट्ठी करके आपके सामने पेश की है।" बादशाह ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा—"अरे बेवकूफ ! निर्लज्ज ! तुझे क्या कहूँ, तेरी अक्ल कहाँ चरने गई है ? तूने यह नही सोचा कि जागीरदार तो मर गये, लेकिन उनके लडके-लडकियाँ और परिवार के अन्य लोग तो होगे। वे बेचारे अब क्या खाएँगे ? क्या दान मे दी हुई वस्तु वापस ली जा सकती है ? तूने अपनी खुद की मर्जी से बहुत बुरा किया है। इसलिए जिन-जिनका यह पैसा लाए हो, उन्हे वापस सौंप दो और उन्हे उनकी जागीरें भी वापस करदो। अपने बुरे कृत्य के बदले उनसे माफी माँगो।" वास्तव मे एक बार स्वत्व-विसर्जन करने के बाद उस वस्तु को वापस लेना या लेने की इच्छा करना या नीयत रखना दान का कलक है।

☆

4

दान के लक्षण और वर्तमान के कुछ दान

दान के अब तक बताये हुए लक्षणो से यह बात तो स्पष्ट हो जानी चाहिए कि दान किसी पर एहसान करने, दवाव डालने, अपनी चीज को अविवेकपूर्वक फेंक देने या अपना अभिमान प्रगट करने की चीज नही और न ही केवल त्याग कर देने या सिर्फ दे देने को ही दान कहा जा सकता है। दान के उद्देश्य को भी स्पष्ट करते हुए यह कहा जा चुका है कि दान स्व और पर की अनुग्रहबुद्धि या उपकार भावना से होना चाहिए। जिस दान के पीछे अपनी और पराई अनुग्रह-बुद्धि नही है, वह दान वास्तविक दान नही है। और यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अनुग्रह बुद्धि क्या है ? कोई शराबी शराब मांगता है, कोई जुआरी जुए मे हार गया, वह जुए मे जीतने के लिए धन चाहता है, कोई व्यक्ति स्वस्थ और सशक्त होते हुए भी, और धनादि परिग्रह का त्यागी न होते हुए भी बैठे-बैठे खाने के लिए दान चाहता है, कोई दुर्व्यसनी अपने व्यसन-पोषण के लिए पैसे चाहता है, इन और ऐसी ही कोटि के अन्य लोगो को अपनी मानी हुई धन, साधन या सामग्री इत्यादि चीजें दे देना उन पर अनुग्रह-बुद्धि नही है, और अनुग्रहबुद्धि न होने से इनको दिया हुआ दान दान के लक्षणो के अन्तर्गत नही आता।

परन्तु वर्तमान युग मे इस प्रकार की दान की कुछ परम्परा चल पडी है, जिसे रीतिरिवाज, रूढि या परम्परा के नाम पर अपनी वस्तु देकर दान का नाम दिया जाता है। ऐसा तथाकथित दान बाप-दादो की चलाई हुई प्रथा के रूप मे भी दिया जाता है। जैसे चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, सक्रान्ति आदि पर्वतिथियो पर अमुक वर्ग को दान देने का रिवाज है। हिन्दू-समाज मे अमुक वर्ग अपने-आप को उस दान के लेने का अधिकारी मानता है। वह दान भी अमुक धर्मग्रन्थो मे फलयुक्त बताकर स्वपरानुग्रह कारक सिद्ध किया गया है। परन्तु स्व-परानुग्रह की पूर्वपृष्ठो मे बताई गई कसौटी पर कसने से वह न तो परानुग्रहकारी सिद्ध होता है, और न ही स्वानुग्रहकारक। बल्कि कई प्रथाएँ तो ऐसी हैं कि उनमे अमुकवर्ग अपने दान लेने का अधिकारी मान कर जबरन दान लेता है, दाता पर दवाब डालकर एक परम्परा के नाम पर दान लिया जाता है और दाता यह सोचकर देता है कि अगर मैंने इन्हे नही दिया तो मेरी ये अपकीर्ति करेंगे, मुझे दुराशीष देंगे, मुझे नरक मे जाने या मुझे नि सन्तान होने क

शाप दे देंगे, मुझे तिर्यंचगति मे किसी पशु की योनि मे या नरक मे जाने का भय दिखायेगे। भला, इस प्रकार के दवाव, श्राप, दुराशीष अपकीर्ति या नरकादि के भय से प्रेरित होकर दिया जाने वाला दान क्या स्व-परानुग्रहकारक या सच्चे माने मे स्वत्वविसर्जनयुक्त होता है ? बल्कि इस प्रकार का दान दान का एक विकार और दान देने की श्रद्धा को उखाडने वाला बन जाता है। ऐसे दान से समाज मे कई बार आलस्य, व्यभिचार और अनीति का पोषण होता देखा गया है।

मध्ययुग मे दान शब्द कुछ विकृत अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। कुछ लोग गलत ढग से केवल रूढि या परम्परा के आधार पर दान के अधिकारी बन बैठे। दान देने वाले मे भी कोई विवेक नही रहा। कोई व्यक्ति दूसरे की सहज आजीविका छीन लेता है, इसी से वह धनी हो जाता है, दूसरा गरीब। फिर वह पुण्योपार्जन करने के लिए गरीबो को कुछ दे देता है, उसी मे वह दानवीर या दानेश्वरी कहलाने लगता है। वह यही समझता है कि गरीबी आर्थिक सकट या विपन्नता के लिए वह या उसका शोषण आदि बिलकुल जिम्मेदार नही है। गरीबी को समाप्त करने का भी उन पर कोई उत्तरदायित्व नही है। वे दान देते हैं, केवल पुण्य कर्म मानकर, पुण्योपार्जन के लिए। 'गरीबो का अपने धन मे हिस्सा है' यह वह नही मानता। इसलिए दान केवल धनिको की कृपा पर आधारित होकर रह गया। इस प्रकार की वृत्ति मे गरीबो को धनिको से लेने का हक नही, उनकी इच्छा और दया हो जाय तो दे सकते हैं, नही तो नही। ऐसी दशा मे गरीबो की अप्रतिष्ठा और पुण्यहीनता सिद्ध हो गई। दान देने वाले भी और न देने वाले भी गरीबो के पाप कर्म के फलस्वरूप ही गरीबी मानने लगे। और दान का अर्थ केवल भीख मॉगने की तरह गरीबो द्वारा धनिको से मॉगना हो गया। दान लेने वाला और देने वाला दोनो ही दान का गलत अर्थ पकड कर चल पडे। महाभारत का 'दरिद्रान् भर कौन्तेय !' ईसाईमत का (Charity) (चैरिटी) अथवा इस्लाम मजहब का खैरात अभावग्रस्त या गरीब लोगो के लिए कोई आशा का सन्देश नही देता। इस प्रकार भिक्षा के रूप मे दिया जाने वाला दरिद्र की दरिद्रता को कभी समाप्त नही करता। न ऐसे दान से दुर्दैवग्रस्तो का धनिको के सामने हाथ फैलाना समाप्त होता है। दान के इस विकृत अर्थ से धनिको को अपने आत्मानुग्रह हेतु कर्तव्य बुद्धि से या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप मे दान देने की कभी प्रेरणा नही होती। इसीलिए एक व्यक्ति ने तो ऐसे विकृत अर्थ वाले दान पर कटाक्ष करते हुए कहा था—दान अगणित दरिद्र पैदा करने की कला है।

एक ईसाई सन्त हो गये हैं—सत विन्सेण्टपाल। उन्होने गरीबो पर दया करके दान देना शुरू किया। पहले दिन १० गरीब थे। दूसरे दिन २० हुए, तीसरे दिन ५० से अधिक और इस तरह गणित शास्त्र की गुणोत्तर वृद्धि से भी अधिक उनकी सख्या बढती गई। और फिर एक दिन राजा के मन्त्री कॉलबर्ट ने उस सत की दुरवस्था देखकर आलोचना की—'ऐसा मालूम होता है, हमारा भाई अपने गरीब लोगो को अनगिनत पैदा करने जा रहा है।

या अनीति के पोषण के लिए दान देना भी हितावह नही। और न ही नामवरी या यश का प्रलोभन देकर किसी लोक सेवार्थ दान उगाहना शुद्ध दान है।

जिस वस्तु पर आज तक मेरा स्वामित्व रहा, उस वस्तु पर आज से तुम्हारा स्वामित्व हुआ, मैं अपनी ओर से कुछ नही दे रहा हूँ, समाज की ओर से समाज की अमानत या वैदिक दृष्टि से कहे तो ईश्वर के द्वारा प्रदत्त वस्तु ही तुम्हे दे रहा हूँ इसमे मेरा अपना कुछ नही है, यही वास्तविक दान है। इसमे 'अहत्व' की भावना का भी विसर्जन हो जाता है।

रिचर्ड रेनाल्ड्स बडे ही उदार हृदय के दानी सज्जन थे। वे चुपचाप किसी भी समाजकल्याणकारी प्रवृत्ति के लिए लगातार सहायता करते रहते थे। एक बार एक महिला, जो किसी अनाथालय की सचालिका थी, उनके पास उसके लिए कुछ निश्चित रकम माँगने आई। उसने सोचा था—'इतना तो वहाँ से मिल ही जाएगा। उसने सस्था की गतिविधियो की उन्हे जानकारी दी और अपनी इच्छा भी व्यक्त की। रेनाल्ड्स ने उनकी सस्था की काफी तारीफ करते हुए उन्हे खूब डटकर सहायता राशि देने की उदारता बतलाई।

भारी भरकम रकम का चैक हाथ मे थामे वह भद्रमहिला उन्हें धन्यवाद देती हुई बोली—'सर! जब ये बालक बडे हो जायेंगे, तब मैं उन्हे आपको धन्यवाद देने के लिए तथा आगे भी आपको बराबर धन्यवाद देते रहने को प्रेरित करूँगी, क्योंकि आपकी सहायता (दान) से ही उनका केरियर बन पाएगा।' तभी रेनाल्ड्स ने उन्हे रोका—'नही, ऐसा मत कीजिएगा, बहन! ऐसा करके आप मुझे निश्चय ही शर्मिन्दा होने का अवसर दे देगी। क्योंकि जब बादल बरसते हैं तो हम उन्हे धन्यवाद नही देते। बालक जब बडे हो जाय तो आप उन्हे यह सिखाइए कि वे परमात्मा को धन्यवाद दें, जिसने बादल, बरसात और बरसात की जरूरत वाली यह धरती, तीनो को बनाया है।'

सचमुच रेनाल्ड्स की दान के साथ अहत्व विसर्जन की भावना यह बताती है कि मैं दान के लिए धन्यवाद का प्रतिदान नही चाहता, धन्यवाद देना हो तो, भगवान् को दो, जिनकी कृपा से यह सब प्राप्त हुआ है। अथवा समाज को धन्यवाद दो, जिसका ऋण उतारने का मुझे अवसर मिल रहा है।'

इस विवेचन का फलित यह है कि जिस देने मे किसी प्रकार का भय, प्रतिफल की आकाक्षा अथवा दूसरे को हीन समझ कर देने की भावना हो वह दान दान नही है। ☆

5
दान और संविभाग

यथाशक्ति सविभाग ही दान है

पिछले प्रकरण मे वर्तमान के कुछ दानो की चर्चा की थी, भय, अहत्व प्रति-फल कामना आदि के साथ दान देने की व्यर्थता बताई गई है। मनीषियो ने दान के साथ लगी हुई इस अहत्ववृत्ति या नाम, प्रसिद्धि आदि की विकारीवृत्ति को मिटाने के लिए अथवा दान मे आदाता के मन मे हीनभावना और दाता के मन मे गौरव भावना आने को रोकने के लिए दान के साथ परिष्कार जोड़ा है 'सविभाग करना दान है।' आद्यशकराचार्य ने दान का अर्थ किया है—'दान सविभाग' दान का अर्थ है—सम्यक् वितरण—यथार्थ विभाग, अथवा सगत विभाग। अपने पास जो कुछ है, उसका यथाशक्ति उचित विभाजन करने के अर्थ मे दान शब्द का प्रयोग स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व और अहत्व की वृत्ति को कोई गुंजाइश ही नही देता।

चूंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। किसी मनुष्य ने जो कुछ पाया है, या जो कुछ पाने मे वह समर्थ हुआ है, उसमे सारे समाज का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग है, इसलिए मनुष्य समाज का ऋणी है और समाज प्रत्येक मनुष्य से उसका हिस्सा पाने का अधिकारी है। इस दृष्टि से यह निष्कर्ष सहज ही उपलब्ध है कि दान किसी पर एहसान नही, किन्तु दान समाज के ऋण का प्रतिदान या उचित विभाग है, वह एक सहज मानव कर्तव्य है। इस प्रकार दान यहाँ भिक्षा या कृपा के रूप मे नही, अपितु एक अधिकार के रूप मे, समाज के अभावग्रस्त को अपना आवश्यक कर्तव्य समझकर देना है।

इसलिए सविभाग के अर्थ मे जो दान है, वह दान का परिष्कृत अर्थ है, और इसी अर्थ मे दान को जैन धर्म ने स्वीकार किया है। सद्गृहस्थ श्रावक (श्रमणोपासक) के लिए बारहवाँ यथासविभागव्रत (अहासविभाग) निश्चित किया है, वहाँ दान शब्द मे अहत्व, हीनत्व-गौरवत्व की भावना आ जाने के अदेशे के कारण दान शब्द का प्रयोग न करके, 'यथा-सविभाग' का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ भी लगभग वही है, जो ऊपर बताया गया है। तुम्हारे पास जो भी साधन हैं, उनमे से जिसके (जिस जघन्य, मध्यम, उत्तम पात्र के) लिए जो उचित हो, उस यथोचित वस्तु का सम्यक् (यथोचित) विभाग कर दो। यानी उसके हिस्से का उसे दे दो।'

यही कारण है कि कुछ व्यापारी लोगो मे यह परम्परा रही है कि वे अपनी आमदनी का एक निश्चित हिस्सा दान धर्म के लिए प्रतिवर्ष अलग रखते हैं। वे समय-समय पर आये हुए जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट पात्र को अतिथि समझकर उसकी आवश्यकतानुसार यथोचित देते हैं, इसीलिए बाद मे इस व्रत का नाम अतिथि सविभागव्रत रूढ हो गया। इससे पात्र की स्थिति, योग्यता, आवश्यकता आदि देख कर जो कुछ दिया जाता था, वह किसी पर दया या एहसान के रूप मे नही दिया जाता, पुरानी पद्धति मे सम्पत्ति या साधनो पर अपना पूर्ण हक मानकर दया या एहसान के रूप मे दूसरे को मदद करने की बात थी। इसलिए उसमे दान के साथ अहत्व की भावना या यशोलिप्सा लिपटी हुई रहती थी। यद्यपि दान करने वाले मे दया, नम्रता, सेवाभावना आदि गुण तो होने ही चाहिए। अन्यथा, दान स्व परानुग्रह, कारक नही रहेगा, परन्तु दान के साथ जो विकृति आ जाती है, उसे दूर करने में दान का यह लक्षण बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है। बल्कि आगे चलकर जब उत्कृष्ट पात्र के लिए ही जहाँ अतिथिसविभाग शब्द को सीमित कर दिया गया है, वहाँ भी गृहस्थ श्रावक दान देता हुआ जीवनयापन कर रहा है' ऐसा कहने के बजाय 'समण माहण पडिलाभेमाणे विहरई' ऐसा पाठ जैनागमो मे जगह-जगह मिलता है। जिसका अर्थ होता है—'श्रमण, ब्राह्मण या साधु-सन्त, अथवा अमुक मध्यम या जघन्य पात्र को आहार आदि देकर प्रतिलाभ लेता हुआ विचरण करता है।' गुजरात आदि मे श्रावक वर्ग मे यही भाषा प्रचलित है, वे साधु-मुनिराजो से जब कभी प्रार्थना करते हैं, तब प्राय बोलते हैं—'स्वामिन्। भात-पानी का लाभ दें।' इसमे स्पष्टत यही अर्थ झलकता है कि मुझसे अमुक कल्पनीय वस्तु लेकर या मेरे पास जो साधन हैं उनमे से अमुक हिस्सा लेकर मुझे समाज के उस ऋण से अमुक अश मे मुक्त कीजिए या मुझे अपने कर्तव्य (व्रत) के पालन करने का अवसर दीजिए, यानी श्रमणोपासक गृहस्थ उपकृत भाव से, समाज से प्राप्त लाभ के बदले देकर प्रतिलाभ प्राप्त करना चाहता है।

चूँकि बाद मे प्रतिलाभ शब्द जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द बन गया, इसलिए पडौसी धर्मों मे प्रचलित 'दान' शब्द का ही अधिकाश प्रयोग होने लगा।

किन्तु जैन गृहस्थ श्रावक अपने समस्त परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करता है, वह भी मर्यादा से उपरात वस्तु या साधनो को अपनी न मानकर समाज की अमानत मानता है और समय-समय पर समाज के विशिष्ट सत्कार्यों मे, या अमुक योग्य पात्रो को देता रहता है। वह दान के योग्य पात्रो मे कई बार कई सस्थाओ को भी देता है। उन्हें भी अतिथि समझता है, क्योकि सस्थाओ के प्रतिनिधियो के आने की भी कोई तिथि नियत नही होती। यही कारण है कि 'यथा सविभाग' शब्द बाद मे घिसता-घिसता 'अथिति सविभाग' के रूप मे प्रचलित हो गया।

पहले बताए हुए दान के सभी लक्षणो का इसमे समावेश हो जाता है। क्योकि

स्वपरानुग्रह रूप उद्देश्य तो 'यथा' शब्द मे गर्भित हो ही जाता है। क्योकि जब देने वाला दान देते समय पात्र की स्थिति, आवश्यकता, एव उसके योग्य वस्तु का विचार करेगा, तो उसमे परानुग्रह तो आ ही जाएगा, रही बात स्वानुग्रह की, वह भी दान देने वाला समाज के ऋण से मुक्त होकर उपकृत होता है, अथवा अपनी आत्मा के लिए प्रतिलाभ प्राप्त करता है, इस प्रक्रिया मे आजाता है। स्वत्व-अहत्व विसर्जन भी इसमे गतार्थ है। अगर वह ऐसा नही करता है तो उसके लिये यह दान विकृत—दोपयुक्त—अतिचारयुक्त बताया है। इस व्रत मे 'यथा' शब्द ही एक ऐसा पडा है, जो दान के साथ सब प्रकार का विवेक करने के लिए प्रेरित करता है। 'यथा'—शब्द के प्रकाश मे दाता यह देखेगा कि इस दान का पात्र कौन है? उसकी योग्यता, स्थिति और आवश्यकता कितनी है और किस वस्तु की है? इस दान से उसके आलस्य, अन्याय या विलास का पोपण तो नही होगा? इसीलिए श्री शकराचार्य ने भी आगे चलकर केवल 'सविभाग' के बदले 'दानं यथाशक्ति-सविभाग'—जैसी जिसकी शक्ति (योग्यता, क्षमता, आवश्यकता, स्थिति आदि) है, उसके लिए तदनुसार यथोचित विभाग करना दान है, "कहा। इस अर्थ के अन्तर्गत समाज के उस ऋण को अदा करने की प्रक्रिया भी आ जाती है। व्यक्ति माता, पिता, पडोसी, गुरु, मित्र, परिवार, जाति, धर्मसघ आदि की सेवा के कारण पुष्ट होता है, अत उनकी सेवा करने तथा समाज के उस ऋण को अदा करने की प्रक्रिया को दान कहा जाता है। इस लक्षण मे न तो गरीबों की अप्रतिष्ठा है, और न ही धनिको के अहत्व का पोपण है। इससे यह भी फलित होता है कि जो अनुचित विभाजन हो गया हो, विपमता आ गई हो, उसे मिटाने के लिए समुचित विभाजन करना दान की प्रक्रिया है, इसी का समावेश 'दान सम्यग् विभाजनम्' के अन्तर्गत हो जाता है।

दान का परिष्कृत अर्थ शकराचार्य के अनुसार पूर्वोक्त सभी उद्देश्यो एव स्वत्व विसर्जन की प्रक्रिया को चरितार्थ करता है।

नीचे की घटना सविभाग के अनुसार घटित होती है—

महाराष्ट्र के सत एकनाथ के जीवन का एक प्रसग है। एक बार उनके यहाँ श्राद्ध था। भोजन तैयार हो गया। वे घर के द्वार पर खडे होकर निमन्त्रित ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने मे उस ओर से ४-५ ढेढ निकले। एकनाथ के घर मे बहुत-से मिष्टान्न तथा सुस्वादु भोजन बना था। बाहर तक उसकी महक आ रही थी। ढेढो का मन ललचाया। अत वे आपस मे बातें करने लगे—'भाई! ऐसा भोजन तो हमें देखना भी दुर्लभ है।' दूसरा बोला—'देखना तो दूर रहा, इसकी सुगन्ध भी जीभर कर नही पा सकते।' उनकी बातें एकनाथ के कानो मे पडी। उनका दयार्द्र हृदय पसीज गया। मन मे विचार आया कि इस भोजन के सच्चे अधिकारी तो ये हैं, गीता मे कहा है—दरिद्रान्भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।' दरिद्रो का भरण पोषण करना चाहिए।' उन्होने अपनी पत्नी गिरिजाबाई को बुला-

कर कहा—"इन बेचारो ने कभी उत्तम भोजन का स्वाद नही लिया। मैं चाहता हूँ कि श्राद्ध के लिए बना हुआ भोजन इनको दे दिया जाय। ये लोग भोजन करके तृप्त होगे। इनकी आत्मा को सुख मिलेगा।" एकनाथ की पत्नी ने उत्साहपूर्वक कहा—हमारे पास काफी भोजन है। ढेढो की स्त्रियो और बच्चो को बुला लें। वास्तव मे वे इस भोजन के अधिकारी हैं। ब्राह्मणो के लिए मैं शीघ्र ही फिर से रसोई बना लूंगी।' एकनाथ और उनकी पत्नी ने ढेढो और उनके स्त्री-बच्चो को बुलाकर प्रेम से भोजन कराया। वे प्रसन्नचित्त से सन्तुष्ट होकर विदा हुए। गिरिजाबाई ने ब्राह्मणो के लिए फिर से रसोई बना ली। परन्तु सारे नगर मे यह बात फैल गई कि एकनाथ ने ब्राह्मणो के लिए बनाया हुआ भोजन चमारो को दे दिया। सभी ब्राह्मणो ने मिलकर निश्चय किया कि एकनाथ के घर कोई भोजन के लिए न जाए। एकनाथ ने नम्रता पूर्वक बहुत समझाया, पर ब्राह्मण टस से मस न हुए। श्रद्धालु एकनाथ को ब्राह्मणो के इन्कार से बडी चिन्ता हुई। सोचने लगे—पितर तृप्त न हुए तो कैसे होगा? परन्तु उनके श्रीखण्ड नामक नौकर ने कहा—"आप निश्चिन्त रहिए, इस प्रकार दिये हुए श्राद्ध भोजन से पितर अवश्य तृप्त होगे।" कहते हैं, पितरो ने स्वय आकर थाली में परोसा हुआ अन्न ग्रहण किया। इससे एकनाथ को बहुत ही प्रसन्नता हुई। आज उन्होने सच्चा श्राद्ध किया था, पितर क्यो न तृप्त होते। ब्राह्मणो को इस घटना से बहुत लज्जित होना पडा।

वास्तव मे श्राद्ध के निमित्त बने हुए भोजन का दान—सम्यक् विभाग के रूप मे ढेढ लोगो को देकर एकनाथ जी ने अपना दान और श्राद्ध दोनो सार्थक किये।

सविभाग के पीछे भावना

दान का सविभाग अर्थ तभी सार्थक होता है, जब दाता की वैसी भावना बने और वह स्वेच्छा से दान के लिए प्रेरित हो। सविभाग का यह अर्थ नही है कि अमुक के पास अधिक धन है तो उसे हम जबरन ले लें और अमुक साधनहीनो मे वितरित कर दें, या अमुक व्यक्ति पर दवाब डालें कि वह अधिक वस्तुओ का उपयोग न करे। इसके विपरीत दान मे तो ऐश्वर्य और स्वैच्छिक अहोभाव की भूमिका पाई जाती है कि मेरे पास जो कुछ है, उसे मैं सबको कैसे बांटूं? सविभाग रूप दान मे यह वृत्ति भी नही रहती कि अमुक के पास अमुक वस्तु है तो उसे छीन कर सबको कैसे बाँटूं? अथवा अमुक के पास वस्तु की बहुतायत है, फिर भी वह उसे नही देता तो उसे किसी तरह देने के लिए विवश किया जाय। वहाँ तो न देने वाले के मन मे सद्भावना या कर्तव्य भावना जगा देना ही मुख्य है।

इस प्रकार सविभाग रूप दान के पीछे पहले के पृष्ठो मे बताई हुई दान की सभी व्याख्याएँ गतार्थ हो जाती हैं।

'यथासविभाग' का प्राचीन आचार्यों द्वारा कृत अर्थ

यथासविभाग का प्राचीन आचार्यों ने जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है—

'यथासिद्धस्य स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थं अशनादे समितिसगतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोष परिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरण यथासविभाग ।'[1]

'जिस प्रकार अपने (गृहस्थ के) घर मे आहारादि अपने लिए बना हुआ है, उसका एपणा समिति से सगत पश्चात्कर्म आदि आहार दोषो को टालकर साधु-साध्वी को दान के द्वारा विभाग करना यथासविभाग है ।

प्राचीन आचार्यो ने यथासविभाग का पूर्वोक्त अर्थ करके श्रावक के बारहवें व्रत को केवल साधु-साध्वियो को दान देने मे ही सीमित कर दिया है। सविभाग का यह प्राचीन अर्थ-आत्म शुद्धि की दृष्टि से तो परिपूर्ण है, किन्तु जहाँ सामाजिकता का या मानवता का प्रश्न आता है वहाँ इस पर कुछ व्यापक चिन्तन करना आवश्यक है। यह ठीक है कि सद्गृहस्थ अपने शुद्ध निर्दोप आहार आदि मे से सयति श्रमण आदि को प्रतिलाभित कर आत्म कल्याण के पथ पर आगे बढे, किन्तु गृहस्थ को सदा सर्वत्र सयती अणगारो का योग मिलता कहा है। मुनिजनो का विहार क्षेत्र बहुत सीमित है, बहुत कम अवसर ही जीवन मे ऐसे मिलते हैं जब उनको शुद्ध एषणीय आहार आदि देकर धर्मलाभ लिया जाय ऐसी स्थिति मे तो दान धर्म का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जायेगा, जब कि यह तो प्रतिदिन प्रत्येक स्थान पर किया जाना चाहिए। इसलिए अतिथि सविभाग को व्यापक अर्थ मे लेवें तो यह स्पष्ट होगा कि—उसका मूल उद्देश्य तो गृहस्थ को उदार और लोभ एव आसक्ति से रहित बनाना था, ताकि वह प्रतिदिन इस व्रत के माध्यम से उदारता का अभ्यास कर सके ।

इतने विस्तृत विवेचन पर से दान का लक्षण, परिभाषा और तदनुसार व्याख्याएँ पाठक समझ गए होंगे। वास्तव मे दान के जितने भी लक्षण, परिभापाएँ और व्याख्याएँ हैं, वे सब एक-दूसरे के साथ परस्पर सलग्न हैं। इसीलिए कई आचार्यो ने बाद मे दान का परिष्कृत अर्थ भी दे दिया है।

इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि दान मानव जीवन का अनिवार्य धर्म है, इसे छोडकर जीवन की कोई भी साधना सफल एव परिपूर्ण नही हो सकती, दान के बिना मानव-जीवन नीरस, मनहूस और स्वार्थी है, जबकि दान से मानव जीवन मे सरसता, सजीवता और नन्दन वन की सुपमा आ जाती है। ☆

---

१ उपासकदशाग, श्रु० १, अ० १

6

दान की तीन श्रेणियाँ

दान और भावना

मनुष्य का मन विविध भावो का भण्डार है। कभी उसके मन मे अत्य उच्च भाव उठते हैं, कभी अत्यन्त निम्नकोटि के भाव उद्बुद्ध होते हैं। उन भावो के भी कई श्रेणियाँ और कोटियाँ हो सकती हैं। जैसे आकाश से बरसने वाला मीठा जल भी विविध स्थलो मे जाकर रग, रूप एव स्वाद मे बदल जाता है, वैसे ही दान के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रसगो को लेकर मानव मन मे कई कोटि के भाव उठते हैं। कभी वह दान की पूर्वोक्त वास्तविक व्याख्याओ तथा परिभाषाओ की लीक पर चलता है तो कभी उस लीक से हट कर अलग-अलग भावनाओ मे बहकर दान का प्रवाह निम्न धरातल पर उतर आता है। वे भाव भी अनेक कोटि के और अनेक प्रकार के होते हैं, अत दान भी अनेक कोटि और अनेक प्रकार के होते हैं।

भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण

और सच पूछा जाय तो दान का मुख्य सम्बन्ध भी भावो के साथ होता है। भावो का तार जुडने पर जिस प्रकार की और जैसी प्रेरणा दान की होती है वह दान वैसा ही कहलाता है। क्या जैन धर्म, क्या बौद्ध धर्म और क्या वैदिक धर्म, सभी धर्मों मे भावो के आधार पर दान का वर्गीकरण किया गया है। दान को नापने और उसका प्रकार निर्धारित करने का थर्मामीटर भाव हैं। इसलिए दान मे दी गई वस्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नही मानी जाती, जितनी महत्त्वपूर्ण उसके पीछे दाता की वृत्तियाँ, भावना मानी जाती है। वृत्ति से ही दान की किस्म का पता चलता है। चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को सिर्फ मुट्ठीभर उडद के बाकले दान मे दिये थे, परन्तु उन थोडे से, अल्पमूल्य उडद के सीजे हुए बाकलो के पीछे भावना उत्तम थी और बडी ही श्रद्धा, भक्ति, नि स्वार्थता और नि स्पृहता से वे दिये गये थे। इसी कारण उस दान के साथ देवो ने अहोदान, अहोदान की घोषणा की थी। एक गरीब से गरीब व्यक्ति भी शुद्ध, नि स्वार्थ एव प्रबल भक्ति भावना से दान देता है, तो चाहे उसकी देयवस्तु बहुत ही अल्प हो, अल्पमूल्य हो, सामान्य हो, मगर उस दान का मूल्य अत्यन्त बढ जाता है।

दान मे वस्तु मुख्य न होकर अन्त करण ही मुख्य है।

दान के पीछे जितनी-जितनी भावना की शुद्धि या अशुद्धि अध्यवसायो की पवित्रता या अपवित्रता होगी, जिस-जिस स्तर की उसके साथ क्रिया होगी, या जिस-जिस श्रेणी की उच्च, मध्यम या क्षुद्र मनोवृत्ति होगी, या जिस-जिस कोटि का हीन, मध्यम या उदात्त विचार दान के पीछे होगा, उसी-उसी विचार, क्रिया, मनोवृत्ति या भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण महान पुरुषो ने किया है।

दान की तीन श्रेणियाँ

भावना एव मनोवृत्ति के अनुसार विद्वानो ने दान को तीन श्रेणियो मे निर्धारित किया है—**सात्त्विक, राजस और तामस।**

भगवद्गीता मे सात्त्विक दान, राजसदान और तामसदान की स्पष्ट व्याख्या की गई है, वैसे ही सागारधर्मामृत आदि जैन धर्मग्रन्थो मे भी इन तीनो की विशद व्याख्या मिलती है। परन्तु यह निश्चित है कि इन सबमे इन तीन कोटि के दानो का वर्गीकरण किया गया है, भावना अथवा मनोवृत्ति के आधार पर ही।

सात्त्विक दान का लक्षण

अब हम क्रमश उक्त तीनो का लक्षण देकर साथ ही उस पर विस्तृत चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम सात्त्विक दान को ही ले लें। सात्त्विक दान ही उच्चकोटि का दान है। इस दान के पीछे दाता मे दान के बदले किसी प्रकार की यश, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि या धन आदि के लाभ की कामना नही रहती। नि स्वार्थ और नि स्पृह भाव से ही यह दान दिया जाता है। इस प्रकार के दान का दाता अत्यन्त विवेकी होता है, वह देश, काल, पात्र, पात्र की परिस्थिति, योग्यता और आवश्यकता के अनुसार दूसरो को दान देता है। वह दान के साथ किसी प्रकार की सौदेबाजी नही करना चाहता है, न ही अपने नाम की तख्ती लगाना चाहता है, और न समाचार पत्रो मे अपना नाम दानवीरो मे या उच्च पद के साथ प्रकाशित करवाना चाहता है। उसके द्वारा देय वस्तु भी सात्त्विक होती है। वह ऐसी किसी भी देय वस्तु को नही देता, जो नशीली हो, मारक हो, व्यक्ति का प्रमाद, आलस्य या अनीति मे डाल दे। अथवा व्यक्ति का जीवन सकट मे डाल दे। ऐसा सात्त्विक दान देने वाले की आत्मा का भी विकास, शुद्धि और अनुग्रह करता है और लेने वाले का भी हित, कल्याण, विकास, शुद्धि और अनुग्रह करता है। ऐसे सात्त्विक दान का दाता भी श्रद्धा, भक्ति, एकान्त हितैषिता और उपकृत भावो से ओतप्रोत होता है और आदाता को वह सत्कारपूर्वक एव श्रद्धापूर्वक देता है, आदाता भी बहुत ही पवित्र और उपकृत भावो से उसे ग्रहण करता है, वह भी लिए हुए उस दान से धर्मार्जन करता है, दान पाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना एव स्व-पर कल्याण साधना के लिए पुरुषार्थ (श्रम) करता है,

उस दान को लेने वाला स्व-परश्रेय के लिए उद्यम करके दान को सार्थक कर देता है। इसीलिए सात्त्विक दान का लक्षण किया गया है—

—"जो दान देश, काल (स्थिति) और पात्र देखकर जिसने कभी अपना उपकार नही किया है, ऐसे व्यक्ति को भी, 'इसे देना मेरा कर्तव्य है', यह समझकर दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक दान माना गया है।"[1] तात्पर्य यह है कि योग्य देश यानी योग्य क्षेत्र या कार्य मे, उचित समय मे जो उत्तरोत्तर पुण्य प्रेरणा का बीजारोपण करता रहे, ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को कर्तव्य-भावना से, किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना जो दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहलाता है। ऐसे सात्त्विक दान का लक्ष्य समाज मे दैवी भाव का निर्माण करना होता है। वस्तुत सात्त्विक दान मे स्व और पर की अनुग्रह बुद्धि, देश, काल, पात्र का विवेक, तथा स्वत्व, ममत्व, स्वामित्व और अहत्व का परित्याग होता है, इसलिए वह दान के परिष्कृत पूर्वोक्त लक्षणो के अन्तर्गत आता है। सात्त्विक कोटि के दान मे दाता की श्रद्धा, भावना और शुद्धि की मनोवृत्ति, कर्त्तव्य बुद्धि आदि उन्नत और जागरूक होती है। इसीलिए गृहस्थाचार्यकल्प प० आशाधरजी ने जैनधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ सागार-धर्मामृत मे सात्त्विक दान का लक्षण उद्धृत किया है—

—"जिस दान मे अतिथि (लेने वाले) का हित-कल्याण हो, जिसमे पात्र का परीक्षण या निरीक्षण स्वय किया गया हो, जिस दान मे श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, आत्मीयता, अनुग्रह बुद्धि आदि समस्त गुण हो, उस दान को सात्त्विक दान कहते हैं।[2] ऐसा सात्त्विक दान दाता और आदाता दोनो का कल्याण करता है, इस दान मे धर्म का प्रकाश होता है। इस दान मे भक्तिभाव, श्रद्धा, स्नेह, समर्पण भावना, सहानुभूति, आत्मीयता एव अनुग्रह बुद्धि की प्रबलता होती है और स्वत्व विसर्जन तो होता ही है।'

सात्त्विक दान के साथ सबसे बडी विशेषता यह है कि इस दान के पीछे दाता मे आदाता से या दान के फलस्वरूप किसी भी प्रकार के बदले की भावना नही होती। मैं यह दान दे रहा हूँ, मुझे भी समय पर इससे मिलेगा या इस दान के बदले मुझे स्वर्ग, यश, प्रतिष्ठा प्रसिद्धि या प्रभूत धन मिलेगा, या इस दान से मुझे अमुक पद मिल जाएगा या अमुक सत्ता मिल जाएगी अथवा अमुक लोग मेरे अधीन चलने लग जाएँगे, दान के कारण अमुक विरोधियो का मुँह बन्द हो जाएगा, वे मेरे दोष प्रकट नही करेंगे, दान से इस प्रकार की प्रत्युपकार की इच्छा सात्त्विक दान मे कतई नही

---

१ दातव्यमिति यद्दान, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे तद्दान सात्विक विदु ॥ —गीता १७।२०

२ आतिथेय हित यत्र, यत्र पात्रपरीक्षण।
गुणा श्रद्धादयो यत्र, तद्दान सात्त्विक विदु ॥ ५।४७

को देने का अवकाश बहुत ही कम होता है। यदि किसी समय दवाव से या शर्माशर्मी से दीन-दु खियो को दिया भी जाता है, तो सामूहिक रूप से, प्रसिद्धि या आडम्बर के साथ दिया जाएगा। अथवा लेने पर एहसान करके अभिमानपूर्वक दिया जाएगा, जिससे लेने वाले के मन मे हीन भावना पैदा हो। सात्त्विक दान और राजसदान के अन्तर को समझना आवश्यक है।

सात्त्विक दान मे भावना है, दूसरे के दु ख मे सहानुभूति का कोमल स्वर है, वह उत्साह और सहृदयता से दिया गया है, जबकि राजसी दान मे दान देने की भावना मरी हुई है, वेगार समझकर, एहसान से, शर्माशर्मी और बहाना बनाकर दिया गया दान है। दान क्या, एक प्रकार से आदाता पर एहसान है, व्यर्थ का झझट समझ कर पैसे फैकना है। फैकने और त्याग करने मे बहुत अन्तर है। फैकने मे व्यक्ति अभिमान से ओतप्रोत होता है। अथवा व्यक्ति का तिरस्कार सूचित होता है, जबकि त्याग (अहत्व-ममत्व-स्वामित्व का विसर्जन) करने मे व्यक्ति की नम्रता, मृदुता, सहृदयता और आत्मीयता व्यक्त होती है।

तामसदान का लक्षण

अब लीजिए तामसदान की पहचान करें। तामसदान सात्त्विक से तो निकृष्ट है ही, राजसदान से भी निकृष्ट है। इस दान मे मनुष्य अपनी इन्सानियत खो देता है, अविवेक से देता है, दूसरे को कायल करके देता है, एहसान का बोझ इतना लाद देता है या गर्व का इतना वजन डाल देता है कि लेने वाला बिलकुल दब जाता है, दाता के सामने भीगी बिल्ली-सा बन जाता है। तामसदान मे देय वस्तु जरा-सी होती है, किन्तु उसका विज्ञापन अत्यधिक होता है। कभी-कभी तो तामसदानी वस्तु भी निकृष्ट, गदी, बासी, सडी, मैली या अयोग्य देकर बला टालता है। एक तरफ वह दान देने का नाटक भी करता है, दूसरी तरफ वह आवश्यकता के अनुसार अथवा लेने वाले की परिस्थिति के अनुसार नही देता। तामसदानी अपने दान का जितना ढिढोरा पीटता है, उतना देता नही है। जितना भर देता है, वह भी अनेको बार चक्कर खिलाकर, बहुत सी बार टालमटूल करने के बाद, और कई बार हैरान करके देता है। इसीलिए गीता मे तामसदान का लक्षण किया गया है—

—"जो दान तिरस्कारपूर्वक अवज्ञा करके, अयोग्य देश और काल मे, कुपात्रो (मासाहारी, शराबी, चोर, जार, जुआरी आदि निन्द्य, नीचकर्म करने वालो) को दिया जाता है, वह तामसदान कहलाता है।[1]

तामसदान मे तिरस्कार, अपमान एव अवज्ञा तो होती ही है, साथ ही उस

---

१ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञात तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

—भगवद्गीता अ० १७, श्लो० २२

और जिसके सब उद्योग दास और भृत्य से कराये गये हो, ऐसे दान को तामसदाव कहा है ।[1]

इस लक्षण मे दो बातें और समाविष्ट कर दी गई हैं। एक तो—जो दान निन्दनीय हो, दूसरी बात—जिस दान के सब उद्योग दास और भृत्य से कराये गये हो। निन्द्य इसलिए कहा गया है, इस दान मे वस्तु या व्यक्ति का कोई विचार नही किया जाता। जैसे कोई भूखे व्यक्ति को अन्न के बदले मास खाने को देता हो, अथवा प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाने की अपेक्षा बर्फ मे रखी हुई शराब की बोतल पीने को देता हो। अथवा दान देने की चीज गदी, मैली, फटी-टूटी या जीर्ण-शीर्ण हो, जो किसी के काम मे न आसके, ऐसी वस्तु देना निन्दनीय है। दान देना ही हो तो अच्छी चीज या देय वस्तु अच्छी हालत मे हो, उसे दी जाये। इसके बदले जो किसी काम मे न आ सकती हो, उस वस्तु को दान मे दे देना—निन्द्य एव तामस दान है।

कठोपनिषद् मे एक कथा आती है—नचिकेता की। नचिकेता के पिता वाजिश्रवा ऋषि ने एक बार दान देने का विचार किया। उसने सोचा—"ये बूढी गायें न तो दूध देती हैं और न ही बछडा बछडी देती हैं, न ये और किसी काम मे आती हैं। उलटे, इनके लिए चरने की व्यवस्था करनी पडती है। अत क्यो न इन्हे ऋषियो को दान मे दे दी जाएँ, जिससे दान का पुण्य भी मिलेगा और इन्हे चराने एव सभालने की झझट से भी छुट्टी मिल जाएगी।" यह सोचकर वाजिश्रवा बूढी गायें ऋषियो को दान देने लगा। बेचारे ऋषि मुफ्त मे मिली हुई गायो को क्यो छोडते ? वे भी गायो का दान लेने लगे। नचिकेता समझदार बालक था। उसने पिताजी को बूढी गायें दान मे देते देखकर कहा—"पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं? इन बूढी गायो को दान मे क्यो दे रहे हैं? अगर दान ही देना हो तो अच्छी दुधारु गायें दान मे दें।" इस पर नचिकेता का पिता उस पर बहुत रुष्ट हो गया। पिताजी ने नचिकेता को फटकार दिया—"बेटा! तू क्या समझता है, इन बातो मे! ये गायें एक दिन यो ही मर जाएँगी, इसकी अपेक्षा मै इन्हे पहले से ही दान मे दे दूंगा तो दान का पुण्य भी मिलेगा और इनके पालन-पोषण की झझट से भी मुक्ति मिल जाएगी।"

नचिकेता के गले पिता की बात नही उतरी। उसने झुंझलाकर पिता से कहा—"पिताजी! मुझे आप किसको देंगे?"

पिता ने कहा—"तुझे मैं यम को देता हूँ।"

नचिकेता पिता की बात से नाराज नही हुआ। कहते हैं, वह सीधा यमराज के द्वार पर पहुँच गया। आगे की कहानी लम्बी है। आगे की कथा से यहाँ कोई मतलब नही है।

१ पात्रापात्रसमावेक्षमसत्कारमसम्स्तुतम् ।
दासभृत्यकृतोद्योग दान तामसमूचिरे ॥ —सागारधर्मामृत ५।४७

नचिकेता के पिता द्वारा वृद्ध गायों का दान वास्तव मे तामसदान था। क्योंकि वह अनुपयोगी देय वस्तु देकर बला टालना चाहता था।

दूसरी विशेष बात इस लक्षण मे बताई गई है कि वह दान तिरस्कारपूर्वक दिया गया हो, मन मे आदाता के प्रति दाता की बिलकुल श्रद्धा या भावना न हो। कई दफा ऐसा तामसदानी तिरस्कृत भाव से ऐसी चीज आदाता को दे देता है, जो दिखने मे तो बहुत ही अच्छी और स्वादिष्ट लगती है, परन्तु वह आदाता के प्राण सकट मे डाल देती है।

जैनशास्त्र ज्ञाता धर्मकथाग सूत्र मे इस विषय मे एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है—

नागश्री एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार की गृहिणी थी। वह बाहर से जैसी सुन्दर और सुघड लगती थी, वैसी हृदय से नही थी। उसके मन मे सदा यही भावना रहती थी कि 'मैं घर मे सबसे अधिक सुघड कहलाऊँ और परिवार के सब लोग मुझे श्रेष्ठ महिला कहें।' धर्म-कर्म मे उसकी बिलकुल रुचि नही थी, और न ही साधु-सन्तो पर उसकी कोई श्रद्धा थी। वह अविवेकी और आलसी थी।

एक दिन घर मे रसोई बनाने की उसकी बारी थी। अपने को अधिक चतुर कहलाने की दृष्टि से उसने खूब मिर्च-मसाले डालकर छौंक देकर स्वादिष्ट व्यञ्जन बनाया। उसने बनाया तो था तरबूज का शाक समझकर, किन्तु ज्यो ही उसने जरा-सा हाथ मे लेकर व्यजन को चखा, त्यो ही अत्यन्त कडवा तुम्बे का शाक प्रतीत हुआ। वह मन ही मन बहुत भयभीत हुई। और सोचा—"इसे फैंक देने से तो मेरी बहुत बडी तौहीन होगी, परिवार के मुखिया की डाँट भी सहनी होगी, इसे अगर कोई ले जाए तो उसे सारा का सारा दे दूँ।" उसके भाग्य से उसी दिन धर्मरुचि नामक मासिक उपवास के तपस्वी अनगार भिक्षा के निमित्त नागश्री के यहाँ अनायास ही पहुँच गए। नागश्री की श्रद्धा तो मुनिराज पर नही थी, किन्तु उसे तो वह शाक किसी तरह देकर बला टालनी थी। अत नागश्री ने मुनिराज की खूब आवभगत की। उन्हे सत्कारपूर्वक अपने रसोईघर मे ले गई और मुनि ने ज्यो ही आहार लेने के लिए पात्र नीचे रखा, नागश्री ने मुनिराज के बस-बस कहते-कहते सारा का सारा वह कडवे तुम्बे का शाक मुनि के पात्र मे उडेल दिया। मुनिवर समभाव से वह आहार लेकर अपने स्थान पर पहुँचे। नागश्री ने सोचा—"घूरे पर डालने से तो अच्छा है, साधु के पात्र मे डाल दिया मैंने। कौन किसको कहता है? अगर साधु का कुछ हो गया तो भी यह साधु किसी का नाम लेंगे नही? इसलिए मेरा बचाव भी हो जाएगा। साधु का हो सो हो! मैं क्या क्या करूँ?"

धर्मरुचि ने ज्यो ही लाये हुए आहार का पात्र अपने गुरु को दिखाया, त्यो ही गुरु ने देखते ही कहा—"वत्स! यह तो कडवे तुम्बे का शाक है। इसे तुम गाँव के बाहर ले जाकर निरवद्य स्थान मे सावधानी से डाल आओ।" परन्तु धर्मरुचि

अनगार ने गाँव के बाहर जीवजन्तु से रहित निरवद्य स्थान देखकर ज्यो ही एक बूँद शाक के रस की डाली, त्यो ही वहाँ हजारो चीटियाँ आ गई। मुनिवर ने सोचा—ओ हो ! यह तो बडा अनर्थ होगा, मेरे निमित्त से ये चीटियाँ मर जाएँगी। इससे तो अच्छा है, मैं ही इस आहार को उदरस्थ कर जाऊँ। मेरे उदर से बढकर निरवद्य स्थान कौन सा होगा ?" बस मुनिवर ने वह कडवे तुम्बे का शाक उदरस्थ कर लिया। कुछ ही समय मे मुनिवर के शरीर मे विष ने प्रभाव डालना शुरू किया। समभाव से वेदना सह कर मुनि ने अपना शरीर छोडा।

यहाँ यद्यपि नागश्री ने दान एक उत्कृष्ट पात्र को दिया था, किन्तु भावना खराब थी, और वस्तु भी घृणित थी, मुनिराज को घूरे सा समझकर उसने दिया था, इसलिए वह दान तामस हो गया।

तीसरी विशिष्ट बात इस तामसदान के लक्षण मे यह बताई गई है कि इस प्रकार का दानी तिरस्कार से दान देता है, परन्तु स्वय नही देता। वह अपने नौकर या दास-दासी से दान दिलवाता है। यद्यपि देय वस्तु उसी की है, परन्तु वह आदाता, याचक या भिक्षाजीवी से घृणा करता है। कदाचित् वह मन मे यह सोचकर सामने नही आना चाहता कि थोडी-सी वस्तु या अल्प अर्थराशि देने पर लेने वाला भडक उठे, श्राप दे दे, अथवा दवाव डालकर अधिक मात्रा मे देने का कहे, और फिर दवाब से या लज्जा से देना पडे। इसलिए वह आदाता के सामने स्वय आने मे किनाराकसी करता है, और नौकर या दास से दिलवाकर छुट्टी पा लेता है। कई बार दाता इसी भय से स्वय कही बाहर चला जाता है, और जाते समय नौकर या घरवालो मे से किसी को कह जाता है कि अमुक व्यक्ति आए तो उसे इतना-सा अमुक पदार्थ दे देना। ज्यादा देने का कहे तो कह देना—'मालिक बाहर गए हैं। हम नही दे सकते।' किन्तु इस प्रकार किनाराकसी या टालमटूल करके दिया गया दान तामस ही कहलाता है।

इसी लक्षण के अन्तर्गत एक और बात गर्भित है, वह यह कि जब किसी आदाता या भिक्षाजीवी के लेने का समय हो, उस समय दरवाजे बन्द कर देना, उस समय को टालकर अन्य समय मे द्वार खुले रखना, ताकि आदाता अनायास ही निराश होकर चला जाए। अथवा देने के लिए आश्वासन देता रहे, कहता रहे, परन्तु जब आदाता लेने के लिए जाय, तब उसे कहे—'एक सप्ताह बाद आना, कल ले जाना, परसो दे दूंगा। अभी क्या जल्दी है ! ले जाना कभी।' इस तरह आदाता को धक्के खिला-खिला कर टरकाते रहना। अथवा तगी, अभाव या दुष्काल आदि सकट के समय जब उसे आवश्यकता हो, तब न देना, समय बीत जाने पर देने के लिए कहना अथवा निराश करके देना। इसी प्रकार दान के लिए आदाता जिस स्थान पर लेने आते हो, उस स्थान को बदल देना, उस स्थान मे आदाता के पहुंचने पर उसे कहना—"अब यहाँ दान नही मिलता। अमुक जगह जाओ।" या देश या नगर

अथवा गाँव छोडकर चले जाना, और आदाता के वहाँ मुश्किल से पता लगा कर पहुँच जाने पर अपमानपूर्वक देना। आदाता को डाँटना—तुम्हें कोई विचार है या नही ? यो ही चले आते हो, किसी व्यक्ति की इज्जत लेने के लिए ! तुम तो लेने के लिए मेरे पीछे हाथ धोकर पड गये हो। जाओ, इस समय मैं नही दे सकता, फिर कभी आना।' यो किसी को रुला-रुला कर देना।

ये और इस प्रकार की सारी हरकतें तामस दान की कोटि मे आती हैं।

तीनो दानो मे अन्तर

इस प्रकार ये तीनो प्रकार के दान भावना और व्यवहार की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और जघन्य हैं। सात्त्विक दान ही इन तीनो मे सर्वश्रेष्ठ कोटि का है, राजसदान और तामसदान दान होते हुए भी निकृष्ट और निकृष्टतर कोटि के हैं। यही बात सागारधर्मामृत मे स्पष्ट कही है—

'सात्त्विक दान सर्वोत्तम है, उससे निकृष्ट दान राजसदान है, और सब दानो मे तामस दान जघन्य है।[1]

सात्त्विक दान उत्तम फलदायक है, बल्कि उसमे दाता के मन मे कोई फलाकाक्षा नही होती, वह अनायास ही उस दान का मधुर फल प्राप्त कर लेता है। राजसदान का फल कदाचित् पुण्य प्राप्ति हो जाता है, किन्तु ससार परिभ्रमण के कारणभूत कर्मबन्धन को काटने मे वह सहायक नही होता। और तामस दान तो सबसे निकृष्ट है, उसका फल प्राय अधोगति या कुगति है। ☆

---

१ उत्तम सात्त्विक दान, मध्यम राजस भवेत्।
दानानामेव सर्वेषा जघन्य तामस पुन ॥ —सागार० ५।४७

7

अनुकम्पादान : एक चर्चा

दान का दायरा इतना विस्तृत है कि उसकी अनेक श्रेणियाँ, अनेक कोटियाँ और अनेक सीमाएँ हो सकती हैं। परन्तु दान के ये सभी प्रकार भावना की दृष्टि से है। समुद्र की लहरो की गिनती नही हो सकती। एक लहर आती है, वह समाप्त नही होती, इतने मे तो दूसरी लहर आती है। इस प्रकार एक क्षण मे असख्य लहरें उठती हैं, और उतनी ही विलीन होती जाती हैं। इसी प्रकार दान की भी लहरें असख्य हैं। एक प्रकार की भावना की लहर होती है, वह किसी निमित्त को लेकर समाप्त हो जाती है, इतने मे अन्य अनेक प्रकार की भावना की लहरें उठ जाती हैं। यद्यपि भावना की ये लहरें असख्य होती हैं, इस कारण दान की भी लहरें असख्य होती हैं, तथापि सर्वसाधारण अल्पज्ञो या छद्मस्थो के समझने के लिए ज्ञानी पुरुषो ने दान के मुख्य दस प्रकार निर्धारित किये हैं। स्थानाग सूत्र मे इन दस प्रकार के दानो की एक सग्रहणी गाथा दी गई है, वह इस प्रकार है—

> अणुकपा सगहे चेव, भये कालुणितेति य।
> लज्जाते गारवेण च, अधम्मे पुण सत्तमे।
> धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहीति य कतंति य॥
>
> —स्थान० १०, सूत्र ४७५

अर्थात्—दान के दस भेद हैं—(१) अनुकम्पादान, (२) सग्रहदान, (३) भय-दान, (४) कारुण्यदान, (५) लज्जादान, (६) गौरवदान, (७) अधर्मदान, (८) धर्म दान, (९) करिष्यतिदान और (१०) कृतदान।

अब हम क्रमश एक-एक का लक्षण देकर इस पर विश्लेपण करेंगे।

अनुकम्पा दान क्या, कैसे कब ?

सर्वप्रथम अनुकम्पादान है। वास्तव मे दान का मूलाधार ही अनुकम्पा है। अनुकम्पा दान का प्राण है। जब किसी दु खी या पीडित प्राणी के प्रति अनुकम्पा जागती है, सहानुभूति पैदा होती है, सहृदयता का प्रादुर्भाव होता है, आत्मीयता की सवेदना होती है. तो सहसा कुछ सहायता करने की हृदय मे भावना उद्भूत होती है, उसे कुछ दे देने के लिए मन मचल उठता है, उस दीन-हीन, पीडित व्यक्ति के दु ख

को अपना दु ख समझ कर उस दु ख को निकालने की तीव्र उत्कण्ठा जागती है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं। वाचक मुख्य आचार्य श्री उमास्वाति ने अनुकम्पादान का स्पष्ट लक्षण बताया है—

कृपेणऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पात् तद्भवेद् दानम्॥

—"अनुकम्पादान वह है, जो कृपण (दयनीय), अनाथ, दरिद्र, सकटग्रस्त, रोगग्रस्त एव शोक पीडित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो दान अपनी अपेक्षा अधिक दु खी के दु ख को देखकर अनुकम्पाभाव से दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है। इसे दूसरे शब्दो मे करुणायुक्तदान, दयापूर्वकदान या सहानुभूतियुक्त दान भी कहा जा सकता है। अनुकम्पादान भी तभी सफल होता है, जबकि उसमे जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि के भेदो से ऊपर उठकर दिया जाए। कई लोग अपनी जाति का या अपने कुल को दान देने का विचार करते हैं, कई अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय के दायरे मे ही दान की भावना को सकुचित कर लेते हैं। कई प्रान्तीयता और अन्धराष्ट्रीयता के सीमित दायरे मे ही बन्द होकर दान देने का सोचते हैं। परन्तु अनुकम्पादान तभी सार्थक होता है, जब इन भेदभावो से ऊपर उठकर सोचा जाय। हाँ, यह बात दूसरी है कि व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित हो, परन्तु भावना तो उसे सारे विश्व के अनुकम्पा पात्रो, दयनीय और करुणापात्र व्यक्तियो को दान देने की रखनी चाहिए। सीमित कार्यक्षेत्र होने के कारण भले ही दूर-सुदूर न पहुँच सके, परन्तु उसका हृदय सारे विश्व के अनुकम्पनीय प्राणियो के प्रति उदार होना चाहिए। समय आने पर, या मान लो, उस सुदूर क्षेत्र मे पहुँच गया हो तो वहाँ किसी दीनदु खी को देखकर उसे सहायता पहुँचाना चाहिए। परन्तु सीमित कार्यक्षेत्र के अन्दर जाति-पाति का चौका नही लगाना चाहिए और न ही प्रान्तीयता, सकुचित राष्ट्रीयता आदि भेदो की दीवारें खीचनी चाहिए। उस सीमित कार्यक्षेत्र मे तो जो भी व्यक्ति दीन, दु खी या पीडित मिले उसे दान देने मे भेदो की विभाजक रेखा नही खीचनी चाहिए। अनुकम्पादान का दायरा बहुत ही व्यापक है। क्योकि अनुकम्पादान मे यह नही देखा जाता कि अमुक व्यक्ति या प्राणी मेरा सगा-सम्बन्धी है या मेरे प्रान्त, देश या जाति का है अन्यथा मेरे से सम्बन्धित है, इसलिए दान देना है, अन्यथा नही। अनुकम्पादान के घेरे मे वे सभी प्राणी आ जाते हैं, जो सकट, आफत या दु ख मे पडे हो। क्योकि अनुकम्पादान का अर्थ ही यही है 'किसी प्राणी को सकट, आफत या दु ख मे पडा देखकर तदनुकूल कम्पन, सहानुभूति या करुणा पैदा होना और उसके दु ख को अपना दु ख समझकर उसके दु ख निवारण के लिए दान देना। अनुकम्पादान के पात्र दीन, दु खी, रोगी, सकट-ग्रस्त, अन्याय या किसी भी अभाव से पीडित व्यक्ति या सुसस्था है।

यदि किसी सम्पन्न व्यक्ति के हृदय मे किसी दीन, दु खी, अनाथ, असहाय या

अभाव से ग्रस्त व्यक्ति या संस्था को देखकर तत्काल करुणा नही उमडती, आँखो मे सहानुभूति के आँसू नही उभर आते, दिल दयार्द्र नही हो जाता, मन के किसी कोने मे तदनुकूल कम्पन पैदा नही हो जाता और सहायता के लिए उसका हाथ नही बढ पाता, किन्तु वह किसी स्वार्थ, लिहाज, नामबरी, प्रतिष्ठा, वाहवाही या अन्य अनुचित लाभ उठाने की दृष्टि से ही देता है या उस पर एहसान का बोझ लादने या अपने अहकार पोषण की दृष्टि से देता है, तो वह दान अनुकम्पादान की कोटि मे नही आएगा। इस प्रकार के दान से उसके हृदय का हौज अनुकम्पा या करुणा के जल से नही भरता। उसके हृदय मे सकुचितता का अँधेरा ही भरा रहता है, उदारता का प्रकाश नही जगमगाता। चूंकि अनुकम्पा या करुणा अथवा दया किसी दु खित या पीडित को देखकर ही आती है, और उस अनुकम्पा आदि को क्रियान्वित करने के लिए उसे उन्ही भावो से ओतप्रोत होकर दान देने की कला सीखी जाती है।

कोई भी व्यक्ति चाहे वह अधिक सम्पन्न हो या कम अपने जीवन मे सद्‌गुणो का विकास करने के लिए उसे अनुकम्पादान को अपनाना आवश्यक है। अन्यथा वह व्यक्ति, परिवार, जाति या समाज सस्कारहीन, गुणो से रिक्त एव पशुमय जीवन से युक्त होगा। किसी भी सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता की आशा या अपेक्षा दीन-हीन, दु खी और पीडित आदि को ही तो होती है, किसी साधन सम्पन्न, सत्ताधारी या धनाढ्य को सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता या दान की अपेक्षा, आशा या आवश्यकता नही होती। बल्कि सम्पन्न को देने से देय वस्तु का दुरुपयोग ही होता है। सम्पन्न को देने से न तो करुणा, दया, अनुकम्पा सहानुभूति, उदारता या आत्मीयता का गुण ही विकसित होगा और न पुण्योपार्जन ही होगा। कहा भी है—

वृथा वृष्टि समुद्रेषु, वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दान समर्थस्य, वृथा दीपो दिवाऽपि च ॥

—"समुद्रो मे पानी लबालब भरा रहता है, वहाँ वृष्टि वृथा है। जिन्होने छककर भोजन कर लिया है, उन्हे और भोजन खिलाना वृथा है। दिन मे सूर्य का प्रकाश होने पर भी दीपक जलाना भी व्यर्थ है। जो स्वस्थ है, उसे औषध देना भी फिजूल है। इसी प्रकार जो धन, साधन आदि सब बातो से समर्थ हैं, उन्हे दान देना भी व्यर्थ है।

भारतीय सस्कृति के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत मे भी यही बात बताई गई है—

"मरुस्थल्या यथावृष्टि क्षुधार्ते भोजन यथा।
दरिद्रे दीयते दना, सफले पाण्डुनन्दन !
दरिद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषध पथ्य निरुजस्य किमौषधम् ॥"

—"जैसे मरुभूमि मे वर्षा सार्थक है, जो भूखा हो, उसे भोजन देना सार्थक है, वैसे ही जो दीन, दु खी, पीडित या दरिद्र हैं, उन्हे दान देना सार्थक होता है। हे

अर्जुन ! दरिद्रो को सहायता देकर उनका पोषण कर, जो समर्थ हैं, सम्पन्न हैं, उन्हें धन न दें। औषध रोगी को ही दी जाती है, जो निरोग है, उसे औषध देने से क्या लाभ है ?

निष्कर्ष यह है कि दान तभी सफल है, जब वह दीन, दु खी, पीडित या अभावग्रस्त को दिया जाता हो। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि भी वही है, जिसका हृदय दीन-दु खी को देखकर अनुकम्पा से भर आता हो, और जिसका हाथ उन्हे दान देकर उनके कष्ट निवारण के लिए तत्पर हो उठता हो।

वास्तव मे अनुकम्पादानी व्यक्ति जात-पात या छूत-अछूत नही देखता, और न ही किसी से प्रान्त या धर्म-सम्प्रदाय पूछता है, वह तो दु ख-पीडित व्यक्ति देखता है और उसका हाथ तुरन्त उसे दान देने के लिए तत्पर हो जाता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कलकत्ता के बडाबाजार से होकर कही जा रहे थे कि अचानक रास्ते मे उन्हे एक १४-१५ साल का लडका मिला। वह फटेहाल था। पैर मे जूते नही थे। चेहरे पर बहुत उदासी थी, मानो उसे चिन्ताओ ने घेर रखा हो। उसने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सामने हाथ पसारते हुए दीनता भरे स्वर मे कहा—'कृपा करके मुझे एक आना दीजिए, मैं दो दिन से भूखा हूँ।' उसकी दयनीय दशा देखकर ईश्वरचन्द्र के मन मे सहानुभूति जागी। उन्होने अनुकम्पा से प्रेरित होकर उस लडके से पूछा—'अच्छा, मैं तुम्हें एक आना दूंगा, पर कल क्या करोगे ?'

लडका—'कल ? कल फिर दूसरे से · · · '

'और चार आने दूं तो क्या करेगा ?' ईश्वरचन्द्र ने लडके से पूछा।

'तो उनमे से एक आने का खाना पेट मे डालूंगा, बाकी के तीन आने के सन्तरे लाकर बेचूंगा।' लडके ने कहा।

ईश्वरचन्द्र—'और एक रुपया दूं तो ?'

'तो फिर व्यवस्थित रूप से फेरी करूंगा।' लडके ने प्रसन्न होकर कहा। विद्यासागर ने उसे एक रुपया दिया।

वह लडका उस रुपये से सौदा लाकर रोजी कमाने लगा। एक दिन वह अपनी दूकान पर बैठा था, तभी उसकी दृष्टि विद्यासागर पर पडी। वह उन्हें दूकान पर बुला लाया और नमस्कार करके कहा—'साहब ! आपने मुझ पर जो उपकार किया, उसे मैं कभी भूल नही सकता। यह लीजिए आपका एक रुपया।'

विद्यासागर ने हँसते हुए कहा—'भाई ! इसमे आभार मानने की कोई जरूरत नही। एक देशवासी के नाते मेरा यह कर्तव्य था। मेरा दान सार्थक हुआ, तुम्हे पाकर। अब तुम्हे यह रुपया लौटाने की आवश्यकता नही। किसी योग्य दु खित और दयनीय पात्र को देकर तुम भी अपने जीवन एव दान को सार्थक करना।' कृतज्ञता से उसकी आँखो मे हर्षाश्रु उमड पडे।

जो भक्ति के योग्य हैं, उनके प्रति अनुकम्पा करके दान देता है तो उसका दान ढ
चार (दोष) से पूर्ण है।

यहाँ फिर एक शका होती है कि आचार्य या कोई भी श्रमण यदि किसी स
मे है, अथवा सघ पर कोई आफ्त या विपत्ति आ पडी है तो ऐसे समय में दाता
कर्तव्य है कि वह उन पर भक्ति भी रखें और अनुकम्पा भी करे। जैसा कि शा
मे आता है—'आयरियऽणुकपाए', गच्छो अणुकपिओ महाभागो' आचार्य किसी स
मे फँस गया हो या कोई भी विपत्ति सघ या सघ के आचार्य आदि पर आ पडी
तो उस समय श्रद्धालु धर्मात्मा भक्त का कर्तव्य है कि उन पर महान् अनुकम्पा क
उन्हे हर तरह से भरसक सहयोग दे, बीमार हो तो उनके लिए औषधोपचार (इला
का समुचित प्रबन्ध भक्तिभावपूर्वक करे। उन पर अनुकम्पा केवल सकट के सम
की जाती है, वैसे वे सदा के लिए अनुकम्पनीय नही होते, वे उपास्य या आदरणी
होते हैं।

कई लोगो का कहना है कि यो अनुकम्पादान को महत्त्व मिलने लगेगा त
दान लेने वालो की भीड लग जाएगी, हजारो अनुकम्पनीय भिखमगो की फौज खड
हो जायगी। वैसे भी भारत मे यह बीमारी बहुत है। कई-कई तो पेशेवर भिखमं
हैं, वे अपनी कम्पनी चलाते हैं और सालभर मे लाखो रुपये कमाते हैं। वे कम्पनिया
किसी के पैर काट देती हैं, किसी को अन्धा, लूला, लँगडा या दयनीय व अपाहिज
बनाकर छोटी-सी हाथ गाडी—जो कि चारो ओर से खुली रहती है और उसके छोटे
छोटे पहिये होते हैं उसमे पडे रहते हैं। अनुकम्पनीय बनना तो उनके लिए बाँए
हाथ का खेल है। वे ऐसे दयार्द्र स्वर मे, दीनता लाकर बोलते हैं कि साधारण आदमी
भी ५-१० पैसे तो दे ही देता है। इस प्रकार दिन भर मे सैकडो रुपये इकट्ठे करना
आसान बात है, उनके लिए। क्या ऐसे लोगो को दिया गया दान भी अनुकम्पादान
मे परिगणित होगा ?

यह विवेक तो दाता को ही करना होगा। उसकी अपनी अन्तरात्मा गवाही
देती हो कि यह बनावटी याचक नही है, यह वास्तव मे दया का पात्र है, इसे दिया
जाना अनिवार्य है अथवा इसे देना सार्थक है, तो उसे देना चाहिए। उसका वह दान
अवश्य ही अनुकम्पा दान की कोटि मे जाएगा।

प्रश्न होता है, क्या श्रावक के लिए सयमी के सिवाय और किसी को अनु-
कम्पा लाकर दान देना निषिद्ध है ? अथवा व्रती के सिवाय और किसी को अनुकम्पा
पूर्वक दान देने से क्या श्रावक को मिथ्यात्व लग जाता है या उसका सम्यक्त्व भग हो
जाता है ? इसके समाधान मे जैन शास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि इस प्रकार से
अनुकम्पा के पात्र व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दान देना कही वर्जित नही है। अगर
ऐसा वर्जित होता तो स्वय तीर्थंकर भगवान एक वर्ष तक लगातार दान देते हैं, वह
क्यो देते ? वे स्वय भी उस कार्य को क्यो करते, जिस कार्य के लिए वे दूसरो को

मना करते हैं ? क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष[1] जो आचरण करता है उसी का अनुसरण उसके अनुगामी करते हैं, यह भगवद्गीता की उक्ति प्रसिद्ध है।

भगवान महावीर ने एक वर्ष तक लगातार दान दिया और उस दान को लेने वाले कई असयती अव्रती भी होगे। क्या सभी श्रावक या साधु ही उस दान के ग्राहक थे ? ऐसा नही हो सकता। अगर ऐसा होता तो भगवान् महावीर दीक्षा लेने के बाद अपने कन्धे पर पडे हुए देवदूष्य वस्त्र को आधा फाडकर दीन-हीन ब्राह्मण को भी न देते। परन्तु तीर्थंकरो ने कभी किसी अनुकम्पनीय के लिए (फिर वह चाहे श्रावक या साधु हो या न हो) अनुकम्पा लाकर दान देने का निषेध नही किया है। इसी आशय को निम्नलिखित गाथा स्पष्ट प्रकट करती है—

सव्वेहि पि जिणेहि दुज्जयतियराग दोसमोहेहि।
अणुकम्पादाण सड्ढयाण न कहि विपडिसिद्ध॥

—'दुर्जय राग-द्वेष मोह की त्रिपुटी के विजेता समस्त जिनेन्द्र भगवन्तो ने श्रद्धालु श्रावको के लिए अनुकम्पादान का कही निषेध नही किया है।

इसी कारण जैन शास्त्रो मे उल्लेख है कि श्रावको के घर के द्वार दान देने के लिए खुले रहते थे। 'अवगुय दुवारे' उनके गृहद्वार सदा अभग—खुल्ले रहते थे, ऐसा कहा है। अगर श्रावको के लिए साधु के सिवाय किसी को दान देना वर्जित होता तो वे घर के दरवाजे क्यो खुल्ले रखते ! बल्कि वे भोजन करते समय भी घर के द्वार बन्द करके नही बैठते थे। यही बात अभिधान राजेन्द्र कोष मे एव प्रवचन सारोद्धार मे स्पष्ट कही है—

'नेवदार पिहावइ, भुजमाणो सुसावओ।
अणुकम्पा जिणदेहि सड्ढाण न निवारिआ।'

—सुश्रावक भोजन करते समय घर का द्वार कभी बन्द नही करता था और न उसे करना ही चाहिए, क्योकि जिनेन्द्र भगवन्तो ने श्रावको—श्रमणोपासको के लिए अनुकम्पा दान कही वर्जित नही किया। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य श्री केशीश्रमण के सामने जब राजा प्रदेशी के हृदय-परिवर्तन हो जाने पर और उनसे व्रतग्रहण करके विदा होते समय उसके द्वारा अपनी राज्यश्री के चार भाग करके एक भाग को दीन, दु खी अनाथो को दान देने के लिए रखने का सकल्प किया तो केशीश्रमण ने प्रदेशी राजा से उसी समय निम्नोक्त उद्गार कहा है, जो राजप्रश्नीय सूत्र मे अंकित हैं—

माण तुम पएसी ! पुव्वि रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि।'

---

१ 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जन ।
स यत् प्रमाण कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ॥' —भगवद्गीता

—'राजन् प्रदेशी ! तुम पहले रमणीय हो जाने के बाद अरमणीय मत हो जाना अगर श्रावकव्रती के लिए किसी दीन-दु खी अपाहिज, अन्धे, अभावग्रस्त आदि अनुकम्पनीय को दान देना वर्जित होता तो केशीश्रमण यो क्यो कहते ? उन्होंने ऐसा कहकर तो प्रदेशीराजा के दान के सकल्प पर अपनी मुहर छाप लगा दी है।

कोई कह सकता है कि यदि अनुकम्पादान का इतना माहात्म्य है तो फिर पात्र, सुपात्र, विशिष्टपात्र, अपात्र और कुपात्र आदि को दान देने से फल मे अन्तर क्यो बताया ? फल मे अन्तर बताया है, इससे मालूम होता है, अनुकम्पादान का इतना महत्त्व या फल नही है, जितना महत्त्व और फल सुपात्रदान का है।

इसका समाधान यह है कि पात्रादि के भेद से दान के फल मे जो अन्तर बताया गया है वह तो व्यवहार दृष्टि से बालजीवो को उच्चकोटि के दान का स्वरूप और महत्त्व समझाने के लिए बताया है, किन्तु अनुकम्पादान आदि का निषेध करने की दृष्टि से नही। यह भेद सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से ही बताया गया है, निश्चयनय की दृष्टि से तो दान के पीछे भावो की विचित्रता ही देखी जाती है, भावो की विविधता के कारण ही फलो की विविधता होती है।

कुछ लोग जनता मे ऐसी भ्रान्ति फैलाया करते हैं कि "अनुकम्पा लाकर किसी दु खी या पीडित कसाई को किसी ने अन्नदान दिया तो वह कसाई उस अन्न को खाकर पुष्ट व सशक्त होकर जीवो की हत्या करेगा, तब उस हिंसा के पाप का भागी उस व्यक्ति को बनना पडेगा, जिसने कसाई को अन्न दिया है। अगर वह अन्नदान न देता तो उसे जीव हिंसा का पाप न लगता।" गहराई से विचार करने पर यह तर्क बिलकुल ही थोथा मालूम होगा। दु खित कसाई पर अनुकम्पा लाकर उसे अन्नदान देने वाले की भावना कसाई का धन्धा कराने की नही, अपितु उसे दु खित समझकर उसका दु ख मिटाने की है। थोडी देर के लिए मानलें कि कसाई द्वारा बाद मे किये जाने वाले दुष्कार्यों के फल का उत्तरदायित्व उसके अन्नदाता पर है, तब तो कसाई का हृदयपरिवर्तन हो जाने पर होने वाले शुभकार्यों के फल का दायित्व भी दाता पर होना चाहिए, किन्तु दाता को दूसरे के शुभाशुभ कर्मों का फल नही मिलता। कसाई के शुभाशुभ कर्मों के लिए यदि अन्नदाता को उत्तरदायी माना जायगा तो एक व्यक्ति के साधु बन जाने के कार्य के फल मे तो दीक्षा सहायक सभी हिस्सेदार हो गए, लेकिन वह साधु भ्रष्ट होकर उन्मार्गगामी बन जाय तो उसका दायित्व भी दीक्षा सहायको पर आना चाहिए न ? फिर तो सारा अपराध उस दीक्षादाता गुरु और दीक्षासहायको के सिर पर मढा जाएगा न ? ऐसे अकाट्य तर्क के बाद उनकी भ्रामक मान्यता की कलई खुल जाती है।

अतः अनुकम्पा दान मे, दाता को आदाता द्वारा बाद मे किये जाने वाले पाप का भागी बनना पडता है, यह मान्यता निर्मूल एव निराधार सिद्ध हो जाती है। किसी भी पूर्वाचार्य या जैनदर्शन ने अनुकम्पादान का निषेध नही किया है।

नही बना था, अपितु इन सबके पीछे गाढ आसक्ति और नामवरी की भावना के कारण बना था, जिसका उल्लेख स्वय शास्त्रकार ने किया है।

इन सबका तात्पर्य यह है कि जो आरम्भजन्य दान के प्रति आसक्ति नामबरी, प्रसिद्धि, यशकीर्ति आदि की दृष्टि से प्रशसा करते हैं, बहुत ज्यादा बखान करते हैं, वे प्रकारान्तर से प्राणिवध की वाञ्छा करते हैं, देखिये वह शास्त्रपाठ—

जे य दाण पसंसति, वहमिच्छति पाणिणो

—किन्तु एक-दूसरे पहलू से नामना-कामना, प्रसिद्धि आदि की आसक्ति से रहित शुभाशय और सर्वहित की दृष्टि से दिये गये दान का निषेध करने वाले के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

'जे एण पडिसेहति वित्तिच्छेय करति ते।'

जो इस प्रकार के दान का निषेध करते हैं, किसी के दान मे अन्तराय डालते हैं, वे वृत्तिच्छेद—आजीविका भग करते हैं। अनेक लोगो को मिलने वाले दान में विघ्न डालते हैं। क्योकि अनुकम्पादान अनेक दीनो, अनाथो, अपगो आदि के निमित्त से ही होता है।

इसलिए सार्वजनिक और सबके लाभ की दृष्टि से खोले गये औषधालय, दानशाला आदि द्वारा दिया जाने वाला दान नामना-कामना, प्रशसा और प्रसिद्धि की लिप्सा से रहित होने पर अनुकम्पादान की ही कोटि मे आता है।

अनुकम्पादान वास्तव मे मनुष्य की जीवित मानवता का सूचक है, उसके हृदय की कोमलता और सम्यकत्व की योग्यता का मापक यत्र है। ☆

8
दान की विविध वृत्तियाँ

सग्रहदान क्या, क्यो और कैसे ?

दान के भेदो मे 'अनुकम्पा दान' पर पिछले प्रवचन मे चिन्तन चला था और विविध दृष्टियो से, तर्क-वितर्क के साथ उस पर विचार किया गया। अब अनुकम्पा-दान के बाद दूसरा सग्रहदान है। सग्रहदान का अर्थ है—सग्रह करने के लिए, लोगो को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अथवा अपने पक्ष मे करने के लिये दान देना सग्रहदान है। सग्रहदान का एक अर्थ टीकाकार ने यह भी किया है—

'सग्रहण सग्रहो, व्यसनादौ सहायकरण तदर्थं दान संग्रहदानम्'

—'सग्रह करना, लोगो को भलीभाँति ग्रहण करना—अपनी पकड मे लेना सग्रह है, अथवा किसी दु ख, कष्ट, विपत्ति आदि के पडने पर स्वय के किसी व्यसन की पूर्ति हेतु सहायता करना सग्रह है, इन तीनो उद्देश्यो से दान देना सग्रहदान कहलाता है।

स्थानाग सूत्र के टीकाकार ने सग्रहदान का लक्षण इस प्रकार किया है—

'अभ्युदये व्यसने वा यत्किंचिद् दीयते सहायार्थम्।
तत्सग्रहतोऽभिमत मुनिभिर्दान न मोक्षाय ॥'

अर्थात्—अभ्युदय मे यानी किसी प्रकार की उन्नति या तरक्की के मौके पर, समृद्धि बढ जाने पर, पदोन्नति या किसी कार्य मे विजय होने पर अथवा किसी के या स्वय के दु ख, कष्ट या आफत आदि मे, सहायता करने के लिये जो कुछ दिया जाता है, उसे सग्रह कहते हैं, सग्रह के लिए जो दान दिया जाता है, उसे मुनीन्द्रो ने सग्रह दान माना है। वह दान मोक्ष—कर्ममुक्ति का कारण नही है।

अब हम क्रमश इन सब लक्षणो पर विश्लेषण कर लें—

सासारिक जीवन मे मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओ, आकाक्षाओ और आशाओ को लेकर चलता है। जब उसकी किसी इच्छा की पूर्ति मे किसी विघ्न या अन्तराय की सम्भावना दिखती है, या कुछ व्यक्तियो को अपने अभीष्ट मनोरथ से विपरीत देखता है, कुछ लोगो को अपने किसी व्यसन के विरोध मे बोलते हुए सुनता है तो उसकी इच्छा होती है, इन सबको अपने अनुकूल बना लूं, अपने वश मे कर लूं या अपनी पकड मे ले लूं जिससे ये विरोध न कर सकें, न विरोध के लिए मुँह खोल

सकें, न मेरे व्यसन के खिलाफ किसी प्रकार की टीका टिप्पणी या आलोचना लोगो मे कर सकें, अथवा चुनावो या पदाधिकारियो के निर्वाचन के समय अधिक मत प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक लोगो को आकर्षित करने हेतु कुछ दान दे देना भी लोकसग्रहार्थं दान है। अथवा किसी कष्ट, विपत्ति या सकट मे पडे हुए व्यक्ति या जन समूह को कुछ सहायता (दान) देकर अपने पक्ष मे कर लेना, उन्हें एहसानमन्द बना देना भी सग्रहदान है।

उदाहरणार्थ—प्राचीनकाल मे अनेक राजा या धनिक हुए हैं, जो किसी न किसी दुर्व्यसन के कारण बदनाम हो रहे थे, अथवा केवल राज्यलिप्सा के लिये अकारण ही किसी देश पर चढाई करने के कारण प्रजा मे ऊहापोह हो रहा था, या वे ऐयाशी मे या व्यभिचार मे पडकर प्रजा की आलोचना के कारण बन रहे थे, तब उन राजाओ या धनिको ने कुछ चारणो, भाटो या चापलूस लोगो को बुलाकर उन्हें वस्त्र, जागीरी, अन्न या धन आदि का दान देकर उनका सत्कार किया, जिससे वे उन राजाओ या धनिको का बढा-चढाकर गुणगान करने लगे। जनता मे से कुछ लोगो को, जो विरोध या बदनाम कर रहे थे, बुलाकर उन्हें पर्याप्त दान दे दिया, बस, वे उस राजा या धनिक के पक्ष मे हो गए, वे गुणगान नही करें तो भी उनका मुह बन्द हो गया, वे आलोचना या बदनामी करते रुक गये। इस प्रकार का दान सग्रहदान कहलाता है। जो विरोधी व्यक्तियो को अपने पक्ष मे करने, वश करने या पकड मे ले लेने हेतु किया जाता है। यह दान इसी प्रकार की किसी आकाक्षा के वशीभूत होकर किया जाता है, इसलिए मोक्ष का कारण नही है। केवल स्वार्थसिद्धि का कारण बनता है।

हाँ, किसी भी, स्वार्थ या आकाक्षा के बिना किसी दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ, सूखा या अन्य प्राकृतिक प्रकोप या रोगादि सकट से किसी व्यक्ति या जनसमूह के घिर जाने पर दान करना पुण्य का कारण हो सकता है।

कई बार कोई धनिक, जो गरीब जनता का बहुत शोषण करता है, ऊँचा या अनुचित ब्याज लेता है, या गिरवी या अमानत रखी हुई वस्तु को हजम कर जाता है, धर्मादा रकम को हडप जाता है, जब लोगो मे उसका ऊहापोह होने लगता है तो उन गरीबो को थोडा-सा दान देकर सहायता करता है, अथवा उन गरीबो के लिए थोडी-सी रकम निकाल कर सहायतार्थ कोष बना देता है, इस प्रकार उनको विपत्ति मे कुछ सहायता देकर उन्हें विरोध करने से रोक देता है। इस प्रकार का दान वास्तव में सग्रहदान कहलाता है। जो प्राय बदनामी से बचने के प्रयोजन से किया जाता है।

एक आदमी वेश्यागामी या जुआरी है, परन्तु धनिक का पुत्र है, कुछ लोगो को दान-सम्मान आदि देकर अपने पक्ष मे कर लेता है, अखबार मे दानवीर, धर्मपरायण, सद्गृहस्थ, उदारचेता आदि विशेषण या पद लगाकर उसके दान का विवरण छप जाता है, लोग उसके दान से आकृष्ट होकर उसकी किसी प्रकार की निन्दा या

आलोचना नही करते। वे चुपचाप उसकी दुर्व्यसन चेष्टाओ को सह लेते हैं। निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार के किसी भी प्रयोजन के लिए, किसी आकाक्षा की पूर्ति के लिए दान देना सग्रहदान कहलाता है।

अथवा कोई व्यक्ति किसी चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि दुर्व्यसन मे फँसा हुआ है, उसे सरकारी अपराध मे पकडे जाने का डर है, अथवा किसी चुगलखोर द्वारा गिरफ्तार कराये जाने का भय है, इस प्रकार के खतरे से बचने के लिए वह उस सरकारी कर्मचारी, अधिकारी या चुगलखोर आदि को बुलाकर चुपके से रुपयो की थैली या नोटो का बण्डल पकडा देता है, ताकि वे अधिकारी या कर्मचारी उसके खिलाफ किसी प्रकार की कार्यवाही न कर सके, उसे गिरफ्तार न करें, बदनाम न करें, अथवा वह चुगलखोर किसी के सामने उसके दुर्व्यसन की चर्चा न करे। इस उद्देश्य से दिया गया दान भी सग्रहदान की कोटि मे आता है।

अथवा एक व्यक्ति किसी राजकीय या संस्थापकीय पद के लिए उम्मीदवार बनकर चुनाव मे खडा है, वह देखता है कि मेरे पक्ष मे अधिक मत तभी आ सकते हैं, जब मैं अधिक से अधिक लोगो को दान, सम्मान या प्रीतिदान दूँ, उनको किसी भी मौके पर सहायता दूँ, अथवा उनकी किसी सस्था मे कुछ रकम दान मे दूँ, या उन व्यक्तियो को कुछ अर्थ सहयोग देकर उनका कोई काम निकाल दूँ। बस, इन और इसी प्रकार के अन्य किन्ही प्रयोजनो से वह मुक्त हस्त से दान देता है, चुनाव मे विजय पाने या पद मिल जाने की दृष्टि से खुलकर सम्बन्धित लोगो को देता है, तो यह दान भी सग्रहदान की कोटि मे ही परिगणित होगा। मुकदमे मे जीतने के लिए कुछ सम्बन्धित लोगो को दे देना भी सग्रहदान है। किसी गलत काम के कर लेने पर गिरफ्तारी से बचने के लिए सम्बन्धित लोगो को घूँस (उत्कोच) दे देना भी सग्रहदान है। आजकल चुनाव वगैरह मे वोट प्राप्त करने के लिए भी उम्मीदवारो की ओर से मतदाताओ को काफी धन दिया जाता है, वह भी सग्रहदान की कोटि मे आता है।

अथवा दूसरे लक्षण के अनुसार सग्रहदान उसे भी कहा जा सकता है, जहाँ किसी प्रकार की पदोन्नति, तरक्की या उच्च आसन पाने के लिए व्यक्ति सम्बन्धित लोगो को कुछ देता है, खिलाता-पिलाता है, सम्मान करता है।

अथवा किसी उत्सव, त्यौहार या खुशी के मौके पर अपने पारिवारिक या जाति के लोगो को या अपने यहाँ कार्य करने वाले नौकरो, मुनीम-गुमाश्तो या कर्म-चारियो को इनाम दिया जाता है, इस लिहाज से कि वे अपने अनुकूल रहे, कार्य अधिक करें, या अच्छी तरह करें। यह दान भी एक प्रकार से लोकसग्रह का कारण होने से सग्रहदान है।

अथवा व्यक्ति स्वय किसी रोग या सकट मे फस जाता है, तब किन्ही देवी-देवो की मनौती करके उनके पुजारियो को दान देता है, अथवा किसी सकट मे मुक्ति के लिए कोई पाठ करवा कर या मन्त्रजाप करवाकर बदले मे कुछ दान-दक्षिणा देता

है, या फिर किसी कष्ट या क्लेश की शान्ति के लिए ब्राह्मणों या कुंवारी कन्याओं को भोजन करवाकर दान-दक्षिणा या भेंट देता है, वह भी एक तरह से सग्रहदान ही है।

निष्कर्ष यह है कि किसी भी प्रकार के सग्रह—लोकसग्रह या लोगो को अनुकूल बनाने, जनता मे अपनी प्रसिद्धि के लिए सम्बन्धित व्यक्तियो को जो दान दिया जाता है, या उन्हे सहायता दी जाती है, वह सब सग्रहदान कहलाता है। सग्रहदान के पीछे किसी न किसी प्रकार की आकांक्षा या स्वार्थ सिद्धि की इच्छा होने से वह मोक्ष फलदायक नही होता, और बहुधा पुण्य फलदायी भी नही होता।

भयदान क्या, क्यो और कैसे ?

सग्रहदान के बाद तीसरा भयदान है। भयदान का अर्थ स्पष्ट है कि अपने से किसी जबर्दस्त व्यक्ति के डर से, दबाव से, आतक से दान देना अन्यथा किसी अपराध मे पकडे जाने के डर से किसी कर्मचारी या अधिकारी को (रिश्वत या घूंस के रूप में) रकम या और कोई चीज देना भी भयदान है। इसका लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार ने यो किया है—

> राजाऽरक्षपुरोहितमधुमुख मावल्ल दण्ड पाशिषु च।
> यद्दीयते भयार्थात् तद् भयदान बुधैर्ज्ञेयम्॥

अर्थात्—राजा, पुलिस, पुरोहित, चुगलखोर, राजकर्मचारी, दण्डाधिकारी आदि के भय से जो दिया जाता है, उसे विद्वान् लोग भयदान मानते हैं।

भयदान अन्त करण प्रेरित या स्वत प्रेरित दान नही होता। अन्त करण मे जब किसी से भय या किसी खतरे की आशका होती है, तभी बरबस होकर उससे सम्बन्धित व्यक्ति को दिया जाता है। इसलिए इसे दान तो कहा जा सकता है, परन्तु यह दान स्वेच्छा से या अन्त प्रेरणा से नही होता। इस दान मे व्यक्ति प्रवृत्त होता है—कायल होकर या दबाव आ पडने पर। जब व्यक्ति को अपने बचाव का कोई अन्य उपाय नजर नही आता या कोई चारा नही रहता, तब जाकर वह अनिच्छा से इस प्रकार का दान करता है। बहुधा व्यक्ति प्राय किसी सेवाभावी, गरीब, दीन-दु खी, अनाथ या पीडित व्यक्ति को सहसा देने मे कतराता है, वह ऐसे अभावग्रस्त लोगों को देने मे सौ बहाने बनाता है, परन्तु अगर कही किसी अपराध मे फँस जाता है या कहीं गिरफ्तार हो जाता है तो उससे छूटने और सही सलामत बचने के लिए वह हजारो रुपये दे देता है, यहाँ तक कि मुँह मागी रकम देकर अपना पिंड छुडाने और अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने की सोचता है। इसलिए भयदान को स्वेच्छा से प्रेरित दान नही कहा जा सकता।

अथवा भयदान का एक अर्थ यह भी हो सकता है—कोई व्यक्ति किसी राजा, सेठ या कारखानेदार के यहाँ नौकर है, कर्मचारी है, सेठ, राजा, कारखानेदार ने उस पर दबाव डाला कि तुम इतने रुपये अमुक व्यक्ति को दे दो, नही दोगे, और हमारी

बात नही मानोगे तो तुम्हे नौकरी से बर्खास्त कर दिया जायगा।' इस पर वह व्यक्ति बेचारा अपनी नौकरी से हाथ धोने के डर से, अमुक के दवाब मे आकर उनके कहे अनुसार तथाकथित व्यक्ति को दे देता है, तो यह दान भी भयदान की कोटि मे है।

इसी प्रकार किसी समय समुद्र मे तूफान आ गया, नौकाए उछलने और डगमगाने लगी, ऐसी स्थिति मे जहाज का कप्तान या नाविक सब यात्रियो से कहता है—सब लोग इतने-इतने पैसे समुद्र देव को दान करें, समुद्र मे डाल दें, अन्यथा नौका डूब जाएगी। अथवा नौका का सचालक कहे कि मुझे इतनी-इतनी रकम धर्मादा मे दान दें, अन्यथा नौका मेरे हाथ मे नही रहेगी।' ऐसी स्थिति मे यात्रियो द्वारा दिया गया दान भी भयदान की कोटि मे ही गिना जायेगा।

अथवा भयदान वहाँ भी हो सकता है, जहाँ कोई चोर, डाकू, अपहरणकर्त्ता या लुटेरा किसी व्यक्ति को पिस्तौल या बन्दूक दिखाकर या छुरा दिखाकर उससे कहता है—"इतना रुपया दे दे, अन्यथा तेरी खैर नही है। अगर प्राण बचाने हो तो इतनी रकम दे दे।" ऐसी हालत मे बेचारा वह व्यक्ति विवश होकर मुँहमाँगी रकम या आभूषण आदि उस तथाकथित चोर आदि के हवाले कर देता है।

साराश यह है कि किसी भी भय, दवाब, खतरे के डर आदि के वश जो दान दिया जाता है, वह भयदान कहलाता है। यह दान भी कर्ममुक्ति का कारण नही है और न ही पुण्यफल का कारण है। जिस भय को लेकर यह दान दिया जाता है, उस भय से मुक्त हो जाने का लाभ तो प्राय मिल ही जाता है। उपनिषद मे एक जगह प्रेरणा दी है—

'भिया देयम्'

—'भय से भी दान करना चाहिए।' परन्तु वहाँ जिस भय का सकेत है, वह प्राय परलोक मे दुर्गति के भय का, या इहलोक मे नाशवान धन के एक दिन नष्ट हो जाने या परिवार वालो या सन्तान द्वारा व्यर्थ ही उडा दिये जाने के डर का है। इसलिए उसे आध्यात्मिक भय कहा जा सकता है, लौकिक भय नही। ऐसे आध्यात्मिक भय से डर कर दान धर्मादि का आचरण करने पर कर्मों का क्षय तो नही होता, किन्तु पुण्यबन्ध हो जाता है। जिसका फल सुगति या शुभ वस्तुओ की प्राप्ति आदि है। इसलिए "परिग्रह मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाला दुर्गति—तिर्यंच या नरकगति मे जाता है। परिग्रह के साथ कई भय लगे हुए हैं। जहाँ धन अधिक इकट्ठा होता है, वहाँ कलह, अशान्ति और बेचैनी बढ जाती है। इन भयो एव खतरो से बचने के लिए मनुष्य को स्वेच्छा से, उत्साहपूर्वक धन पर से ममत्व विसर्जन करके दान कर देना चाहिए।" इस प्रकार की आध्यात्मिक नीति से प्रेरित होकर जो दान करता है, उसे भयदान की कोटि मे नही रखा जा सकता।

कारुण्यदान क्या, क्यो और कैसे ?

भयदान के बाद कारुण्यदान का नम्बर आता है। जैसे अनुकम्पा दान मे अनुकम्पा लाकर दान दिया जाता है, वैसे करुणा लाकर दान देने का नाम कारुण्यदान नही है। कारुण्यदान मे कारुण्य शब्द पारिभाषिक है। इसलिए अभिधाशक्ति से इस शब्द का अर्थ न करके शास्त्रकार लक्षणा एव व्यजना शक्ति से इसका तात्पर्य एव रहस्य समझाते हैं।

—"कारुण्य का अर्थ है—शोक। पुत्र वियोग आदि से होने वाले शोक के कारण उसके स्त्री-पुत्रो आदि द्वारा अगले जन्म मे वह सुखी हो, इस आशय से किसी दूसरे (ब्राह्मण आदि) को दान देना कारुण्य दान है। अथवा करुणाजनक परिस्थिति के निवारण के लिए दान भी कारुण्यजन्य होने से उसे उपचार मे कारुण्यदान कहा गया है।[1]

मनुष्य की वासना केवल इहलोक के सुख तक ही सीमित नही रहती, वह जन्म-जन्मान्तर तक अपने और अपनो को सुखी देखना चाहती है। किन्तु मनुष्य अपने मृत-सम्बन्धी के साथ परलोक मे तो जा नही सकता, तब यहाँ बैठा-बैठा ही वह परलोक मे गये हुए अपने मृत सम्बन्धी के सुख की मगलकामना करता है और अपने मृत-परिजन को सुखी देखने के लिए किसी परलोक के दलाल से बात करता है "कि मेरे अमुक मृत कुटुम्बी को सुख कैसे प्राप्त हो ?" परलोक का तथाकथित दलाल कहता है—अमुक-अमुक वस्तुएँ—गाय, अन्न, वस्त्र तथा धन आदि मुझे यहाँ बढिया खिला-पिलाकर दे दो, वे वस्तुएँ तुम्हारे पितरो को पहुँच जाएँगी। तुम जैसी वस्तु मुझे दोगे, वैसी ही तुम्हारे पितरो को पहुँच जाएगी। इस प्रकार अपने पितर (मृत बुजुर्ग माता-पिता आदि) तथा कुटुम्बीजन के मृत्यु दिन को याद करके श्राद्ध मनाकर उस दिन तथाकथित ब्राह्मणो को, जो भी वस्तु दी जाती है, वह कारुण्य (शोक) जनित दान होने से कारुण्यदान कहलाता है। अथवा किसी पारिवारिक जन का देहान्त हो जाने पर उसके निमित्त से जो कुछ भी वस्त्रादि उसके शव पर होते हैं, वे तारको को दे दिये जाते हैं, तथा अन्य जो कुछ भी धन उसके नाम से तारको (आचार्यों) को दिया जाता है, वह भी कारुण्यदान की कोटि मे आता है। अथवा अपने पिता, पुत्र आदि के शोक मे उनकी स्मृति मे जो कुछ दान दिया जाता है, जिसका उद्देश्य मृतको को सुख-शान्ति पहुँचाना होता है, वह दान भी एक तरह से कारुण्य दान ही है।

वास्तव मे कारुण्य दान अपने पिता आदि पारिवारिक की स्मृति मे दिया

---

१ 'कारुण्य शोकस्तेन पुत्रवियोगादिजनितेन तदीयस्यैव तल्पादे स जन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य वा यद्दान तत्कारुण्यदानम्। कारुण्यजन्यत्वाद् वा दानमपि कारुण्यमुक्तमुपचारात्।' —स्थानाग टीका ६

जाता है, वह न मोक्षदायक होता है, और न पुण्यजनक, और न वह अधर्म या पाप का जनक है। हाँ, वह बहुधा अन्धविश्वास से प्रेरित होता है। जैसे पितरो को अमुक वस्तु पहुँचाने के लिए श्राद्ध करके अमुक व्यक्ति को भोजन कराकर दान-दक्षिणा देने की जो प्रथा है, वह प्राय अन्ध श्रद्धा-मूलक होती है। जैसे विदेश मे पोप लोग रोमन साम्राज्य पर छाये हुए थे। वे धनिको से कहते—हमे इतने रुपये दे दो, परलोक मे हम तुम्हारे अमुक-अमुक सम्बन्धियो को स्वर्ग की सीट रिजर्व करा देंगे। हम यहाँ तुम्हे हुण्डी लिख देते हैं, उससे परलोक मे तुम्हारे मृत परिजनो को स्वर्ग मिल जाएगा। बेचारे भोले-भाले लोग उनके वाग्जाल मे फँसकर भारी अर्थराशि देकर बदले मे स्वर्ग की हुण्डी पोप से लिखाकर ले लेते थे। कई वर्षों तक इस प्रकार की अन्ध श्रद्धा का दौर चला। आखिर इसका भडाफोड हुआ और वहाँ के शासक ने पोप लोगो के द्वारा धर्म के नाम पर होने वाली इस ठगी को मिटाया।

कहने का मतलब यह है कि इस प्रकार से पोपो को दिया गया दान भी वास्तव मे लोभ एव आकाक्षा से प्रेरित होने के कारण कारुण्यदान की कोटि मे परिगणित होगा।

इस सम्बन्ध मे गुरु नानकदेव के जीवन की एक बहुत ही प्रेरणादायक घटना है—सिक्खो के गुरु नानकदेव एक बार गगा मे स्नान करने जा रहे थे। जब वे गगा मे स्नान करने लगे, तब दोनो हाथो अपने गाँव की तरफ पानी भी उलीचने लग गये। जब यह नाटक खेलते-खेलते बहुत देर हो गई तो वहाँ खडे कुछ लोगो ने साहस करके पूछा—'गुरुजी! यह क्या नाटक खेल रहे हैं आप? हमे कुछ समझ मे नही आया।' गुरुजी तपाक् से बोले—'यह नाटक नहीं है, मैं गगा का पानी दोनो हाथो से उलीचकर अपने गाँव के खेतो को दे रहा हूँ।' इस पर लोग खिल-खिलाकर हँस पडे। उन्होंने कहा—'वाह गुरुजी! क्या ऐसा भी कभी हो सकता है कि यहाँ से पानी उलीचने से खेतो तक पहुँच जाए।' गुरु नानक ने मुस्कराकर कहा—ऐसा क्यो नहीं हो सकता? जब यहाँ से तुम लोग पानी उछालकर सूर्य को दे सकते हो, यहाँ ब्राह्मणो और कौओ को भोजन खिलाकर या वस्त्र, गाय आदि देकर अपने परलोकवासी सम्बन्धियो को पहुँचा सकते हो, तब क्या मेरे द्वारा उछाला हुआ पानी गाँव के खेतो तक नही पहुँचेगा? गाँव के खेत तो बहुत ही निकट हैं।"

इस पर उपस्थित लोगो को अपनी भूल तुरन्त समझ मे आ गई। और वे गुरु नानकदेव के सामने नतमस्तक होकर कहने लगे—गुरुदेव! हम अज्ञान और अन्धविश्वास के चक्कर मे फँसकर ऐसा करते थे।"

सचमुच, गुरु नानकदेव के जीवन की यह घटना कारुण्य-दानियो के लिए प्रेरणादायिनी है! व्यक्ति वैसे ही किसी अभावग्रस्त, दीन-दु खी को श्रद्धा से कुछ दान दे दे वह बात और है, वह दान कारुण्यदान नही है, किन्तु जब उपर्युक्त अन्ध-श्रद्धा से प्रेरित होकर वह अपने पितरो को खुश करने या सुखी करने के उद्देश्य किसी व्यक्ति को देता है तो वह कारुण्यदान की ही सीमा मे आ जाता है।

लज्जादान स्वरूप और उद्देश्य

इसके बाद लज्जादान का क्रम आता है। लज्जादान का अर्थ भी स्पष्ट है। जो दान दूसरो के लिहाज या दवाब मे आकर शर्माशर्मी या लज्जावश दिया जाता है, वह लज्जादान कहलाता है।[1]

कई बार किसी धनसम्पन्न व्यक्ति की इच्छा अमुक व्यक्ति को दान देने की नही है, कई बार सेवाभावी लोक सेवक, समाज के अभावग्रस्त, पीडित या रुग्ण व्यक्ति को देखकर उसे कुछ देने की रुचि नही होती, परन्तु किसी सभा मे वह बैठा है, वहाँ अनेक लोग, जो उससे भी कम धन के स्वामी हैं, किसी जरूरतमन्द को उसकी आवश्यकतानुसार बहुत ज्यादा दे देते हैं, तब उस कृपण धनिक को भी लोग कहते हैं—सेठजी! आप भी कुछ दीजिए। तब वह चूकि सभा मे आनाकानी करे तो अच्छा नही लगता, कदाचित् सर्वथा इन्कार करने पर लोग उसे 'कजूसों का सरदार' न कह दें, इस लिहाज से, अथवा अपने से बडे सम्माननीय व्यक्ति दे रहे हैं, तो मैं इस मौके पर नही दूगा तो अच्छा नही रहेगा, इस प्रकार के मुलाहिजे मे आकर वह दान देता है, उसका वह दान स्वेच्छा से प्रेरित न होकर लज्जा से प्रेरित होता है, इसलिए लज्जादान कहलाता है। जैसे कि स्थानाग सूत्र के टीकाकार ने लज्जादान का लक्षण किया है—

> अभ्यर्थित परेण तु यद्दान जनसमूहगत ।
> परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद् भवेद्दानम् ।

—कोई व्यक्ति सम्पन्न है, और वह जनसमूह के बीच मे बैठा है, वही उससे कोई अपनी व्यथा-कथा सुनाकर माग बैठता है। उसकी देने की हार्दिक इच्छा तो नही होती, पर दूसरो का मन रखने के लिए शर्माशर्मी लिहाज या लज्जा से जो दान दिया जाय, वह लज्जादान कहलाता है।

वास्तव मे मनुष्य कई बार स्वय स्पष्ट इन्कार करने की स्थिति मे नही होता। वह दूसरो का मन रखने के लिए न चाहते हुए भी कई बार कुछ दे देता है। हालाकि लज्जा से दान देना भी बुरा नही है, परन्तु उतना ही दान लज्जा से न देकर आन्तरिक भावना से दिया जाय तो उसका मूल्य कई गुना बढ जाता है। इस दृष्टि से लज्जावश दान देना, निम्न कोटि का दान है। लज्जादान का उद्देश्य केवल लज्जा, लिहाज, मुलाहिजा या शर्म अथवा जनसमूह का दवाब होता है।

जनसमूह मे ही क्यो, किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की उपस्थिति मे भी यदि किसी कृपण या दान से विरक्त व्यक्ति के समक्ष मागा जाय तो वह लज्जित हो जाता है। अथवा किसी प्रतिष्ठित सज्जन की उपस्थिति भी न हो, किन्तु यह कहकर मागा

---

१. 'लज्जया ह्रिया यद्दान तद् लज्जादानम्'—लज्जावश जो दान दिया जाय, वह लज्जादान है। —स्थानाग सूत्र टीका

जाए कि अमुक सज्जन ने तुम्हे इतने रुपये अमुक व्यक्ति या सस्था को देने के लिए कहा है, यह लो, उसका पत्र ! इस प्रकार कहने पर पत्र पढते ही मुलाहिजे मे आकर कुछ रुपये तो अभ्यर्थी को दे ही देता है। अथवा किसी महापुरुष के नाम पर अमुक सस्था या अमुक कार्यक्रम या समारोह के लिए किसी सम्पन्न से मागे जाने पर वह चूंकि किसी महापुरुष तीर्थंकर या अपने गुरुदेव या आचार्य आदि के नाम से मागा गया है इसलिए वह देने से इन्कार नही करता, ५ आदमियो के मुलाहिजे मे आकर वह कुछ तो दे ही देता है। उसका वह दान लज्जादान की कोटि मे ही आएगा। उपनिषद् मे लज्जा से दान देने की भी प्रेरणा की गई है—

'ह्रिया देयम्'

—लज्जा से भी दान देना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि वैसे तो कई व्यक्ति स्वेच्छा से दान नही देते, न देने की भावना होती है, इसलिए उन व्यक्तियो से पैसा निकलवाने के लिए उन्हे किसी भी तरह से लज्जित या शर्मिन्दा करके उनसे दान लिया जाता है, लज्जादान इसी प्रकार के दान का द्योतक है।

गौरवदान स्वरूप और उद्देश्य

इसके बाद आता है—गौरवदान का क्रम। गौरवदान वह है—जो अपनी प्रतिष्ठा का सवाल समझ कर दिया जाता है, अथवा गर्व पूर्वक प्रतियोगितावश या होड लगाकर दिया जाता है। जो दान गर्व से दिया जाय, उसे ही गौरवदान कहते हैं।[1] अपना गौरव सुरक्षित रखने, प्रतिष्ठा बरकरार रखने, या अपनी नाक ऊँची रखने के लिए अथवा दूसरे दाता से बढकर बाजी मारने के लिए जो दान दिया जाय, उसे भी गौरवदान कहा जा सकता है। गौरवदान मे भी दाता की आन्तरिक इच्छा या स्वत स्फुरणा से दान नही होता, किन्तु दूसरे के द्वारा प्राय बढा-चढा कर यशोगान करने से भाट, चारण आदि द्वारा विरुदावली गाकर दान के लिए दाता को उत्तेजित करने से, उसकी जाति, कुल धर्म, या देश की प्रतिष्ठा या गौरव का सवाल आ जाने से दाता दान के लिए प्रवृत्त होता है।

अथवा व्यक्ति जब यह देखता है कि मेरे दान करने से मेरी इज्जत बढेगी, मेरी प्रशसा वाहवाही या कीर्ति बढेगी, अखबारो मे मेरा नाम दानवीरो की सूची मे प्रकाशित होगा, मेरी प्रसिद्धि होगी या मेरी नामबरी बढ जाएगी, तब वह सहसा दान मे प्रवृत्त होता है और सचमुच प्रतिष्ठा और यश के नशे मे वह अधिकाधिक दान दे देता है।

परन्तु गौरव के लिए दान देने वाले महानुभाव को जब कभी कोई जबर्दस्त प्रेरक मिल जाता है तो उसका सारा गर्व उतर जाता है।

---

१ गौरवेण=गर्वेण यद् दीयते तद् गौरवदानम्। —स्था० टीका

एक गांव मे एक धनी सेठ ने सोने से तुलादान किया। गरीबो को खूब सोना बांटा गया। उसी गांव मे एक सन्त भी रहते थे। सेठ ने उनको भी बुलाया। वे बार-बार आग्रह करने पर जब आये तो सेठ ने उनसे कहा—'महात्मन्! आज मैंने अपने वजन के बराबर सोना तोलकर दान किया है, आप भी कुछ सोना ले लें तो मेरा कल्याण हो।' सन्त ने कहा—'तुमने बहुत अच्छा काम किया, परन्तु मुझे सोने की आवश्यकता नही है।' धनी ने फिर भी अत्याग्रह किया। सन्त ने समझा इसके मन मे धन दान का अहकार है। अत सन्त ने एक तुलसी के पत्ते पर रामनाम लिखा और कहा—'मैं कभी किसी से धन का दान नही लेता, परन्तु आप इतना आग्रह करते हो तो इस पत्ते के बराबर सोना तौल दो।' सेठ ने इसे व्यग्य समझा। कहा—'आप मेरी मजाक क्यो कर रहे हैं? आपकी कृपा से मेरे घर मे सोने का खजाना भरा है। मैं तो आपको गरीब जानकर ही देना चाहता हूँ।' सन्त ने कहा—'भाई! देना ही हो तो इस तुलसी के पत्ते के बराबर सोना तौल दो।' सेठ ने झुझलाकर तराजू मँगवाया और एक पलडे मे तुलसी का पत्ता रखकर दूसरे पलडे मे सोना रखने लगा। कई मन सोना चढ गया, किन्तु तुलसी के पत्ते वाला पलडा तो नीचा ही रहा। सेठ आश्चर्य मे डूब गया। उसने सन्त के चरण पकड लिए। और कहा—'महात्माजी! मेरे अहकार को नष्ट करके आपने बडी कृपा की। सबसे धनी तो आप ही हैं।' सन्त ने कहा—'इसमे मेरा क्या है? यह तो नाम की महिमा है। प्रभु नाम की तुलना जगत् मे किसी वस्तु से नही हो सकती। भगवान् ने ही दया करके नाम महत्त्व बताकर तुम्हारे दान का अहकार मिटा दिया है। जो कुछ दान करो, वह भगवान की ओर, भगवान के नाम से किया करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

वैसे तो अगर किसी दीन-दुखी या अभावग्रस्त को कुछ दान देने का उससे कहा जाय तो वह आनाकानी करेगा, कई बहाने बनाएगा, किन्तु अपनी प्रसिद्धि होती होगी तो दान देने मे सबसे आगे रहेगा। इसी आशय का गौरव दान का लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार करते हैं—

—'जो दान नटो, नर्तको, मुष्टिको या सम्बन्धियो, बन्धुओ या मित्रो आदि को यश के लिए या गर्वपूर्वक दिया जाता है, वह गौरवदान कहलाता है।'[1] प्राचीन काल मे नटो, नर्तक नर्तकियो का खेल बहुत होता था, अथवा पहलवानो का दगल भी बहुत-सी जगह होता था। खेल या दगल के लिए राजा गाँव का ठाकुर या कोई धनिक सज्जन खेल दिखाने वालो या पहलवानो को अपने गाँव, कस्बे या नगर मे आमन्त्रित करता था, और खेल दिखाने पर वे नट, नर्तक या पहलवान आदि आमत्रणदाता की खूब तारीफ करते थे, बढा-चढाकर उनका यशोगान करते थे, जिससे

---

१ 'नटनर्तमुष्टिकेभ्यो दान सम्बन्धि-बन्धु-मित्रेभ्य।
यद्दीयते यशोऽर्थंगर्वेण तु तद् भवेद् दानम्॥'

वह फूल कर कुप्पा हो जाता था, और खुश होकर उन नटो, पहलवानो आदि को भारी पुरस्कार देता था। इसके बाद वे दर्शको की या गाँव की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा करते थे, जिससे वे भी प्रसन्न होकर उन्हे रुपये देते थे। आज भी कई जगह गाँवो मे स्वाग-तमाशा दिखाने वाले या कलाबाजी दिखाने वाले गाँव के मुखिया, सरपच या प्रधान आदि द्वारा आमन्त्रित होकर आते हैं, और इस प्रकार का सस्ता मनोरजन करके लोगो को खुश कर देते हैं और काफी पैसा बटोर कर ले जाते हैं। इस प्रकार का लोकमनोरजन करने वाले लोग भी गाँव वालो की या प्रधान आदि की प्रशसा एव वाहवाही करके उनसे दान ले लेते हैं। परन्तु इस प्रकार का दान कोई मोक्ष का हेतु या पुण्य का कारण नही होना, वह तात्कालिक मनोरजन तथा गर्ववृद्धि का कारण होता है। इसलिए ऐसे दान को गौरवदान कहा गया है।

गौरवदान का दूसरा पहलू यह भी है कि अपने सम्बन्धियो, मित्रो या बन्धुओ मे अच्छा कहलाने के लिए अथवा जाति एव कुल मे अपनी नाक ऊँची रखने के लिए या नामवरी के लिए सम्बन्धियो, मित्रो या बन्धु-बान्धवो को विवाह, या पुत्रजन्म आदि खुशी के मौको पर खुल कर भेंट कर दी जाती है, तपस्या आदि के उत्सवो पर इसी प्रकार वस्त्र, चाँदी के बर्तन या नकद रुपये आदि की भेंट दी जाती है, विवाह के प्रसग पर सम्बन्धियो, मित्रो या बन्धुओ की ओर से वरवधू को विविध प्रकार की भेंट दी जाती है, अथवा जाति मे अपनी नामबरी के लिए या देखा-देखी अपनी लडकी को बहुत अधिक दहेज दिया जाता है, ये सब गौरवदान के ही अग हैं।

वर्तमान मे दहेजप्रथा समाज के लिए अभिशाप बनी हुई है, इसका कारण भी यही है, दहेज जब दिया जाता है, तब गौरव के नशे मे दिया जाता है। सम्पन्न व्यक्ति तो अपनी कन्या को प्रचुर मात्रा मे धन आदि दे देता है, किन्तु निर्धन व्यक्ति बेचारा कर्जदार बनकर किसी से ऊँचे ब्याज पर रुपये लेकर अपनी कन्या के हाथ पीले करता है, समाज मे अपनी इज्जत रखने के लिए देखादेखी भारी दहेज भी देता है। इस प्रकार के गौरवदान का परिणाम कितना भयकर आता है, जिसकी पाठक स्वय कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार के दान की भयकरता से कई जगह कन्या का पिता जिन्दगी भर कर्जदार बना रहकर दु ख पाता है, कई जगह वह अपनी कन्या को पर्याप्त या माँग के अनुरूप यथेष्ट दहेज नही दे पाता, उसका नतीजा यह होता है कि लडके वाले उस लडकी को बार-बार ताना मारते हैं, कोसते हैं, तग करते हैं, पिता से धन ले आने के लिए विवश करते हैं, उसके प्राणो को खतरे मे डाल देते हैं, कई बार तो वे लडकियाँ तग आकर आत्म-हत्या कर बैठती हैं। कई बार उसके ससुराल वाले ही उसे किसी बहाने से मार डालते है। यह है दहेज दानव का भयकर रूप! जो गौरवदान के वेष मे मानव को छलकर जबरन देने को विवश कर देता है।

गौरवदान का एक तीसरा पहलू और है, वह भी आजकल बहुत अधिक मात्रा मे समाज मे प्रचलित है। वह यह है कि किसी व्यक्ति को अत्यधिक सम्मान

देकर, प्रतिष्ठा बढाकर, सभापति आदि का उच्च आसन या अध्यक्ष आदि का उच्च पद देकर या उसकी अखबारो मे प्रसिद्धि करके अथवा उसकी शानदार शोभायात्रा निकाल कर या उसके नाम का शिलालेख, प्रशस्तिपत्र या साइनबोर्ड लगाकर अथवा उसे सभा मे अभिनन्दन-पत्र देकर उसका येन-केन-प्रकारेण गौरव बढाकर उससे अमुक कार्य या सस्था के लिए अधिकाधिक दान देने को विवश कर देना और दान ले लेना भी गौरवदान है।

इस प्रकार के गौरवदान मे परोपकार की दृष्टि तो अत्यल्प ही होती है, अपितु इस प्रकार के गौरवदान के पीछे वाहवाही, यशोकामना एव कीर्तिपताका फहराने की ही दृष्टि रहती है। भाट-चारण आदि के मुंह से अपने दिल को गुदगुदाने वाली उच्च प्रशस्तिगाथा सुनने के लिहाज से, राजदरबार मे सम्मान, उच्च पद, खिताब या कुर्सी पाने के लिए, समाज मे दानवीर कहलाने के लिए, अपने नाम का शिलालेख लगवाने के लिए या अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करने के लिए देना गौरव-दान मे ही शुमार है। किन्तु इस प्रकार के दान से यश या गौरव तभी तक मिलता है, जब तक उससे बढकर अर्थराशि देने वाला नही मिलता। जब ५० हजार देने वाले के मुकाबिले मे साठ हजार देने वाला आ मिलता है, वह ५० हजार देने वाले के यश को फीका कर देता है।

गौरव प्राप्ति के लिहाज से जो दान देता है, उसे तात्कालिक गौरव तो मिल जाता है, लेकिन बाद मे जब उसे उस सभा, सस्था या धर्मशाला आदि की कार्य-कारिणी से या उसके किसी पद से हटा दिया जाता है, तो उसे बहुत अखरता है, वह मन ही मन बहुत कुढता है, दूसरो को वह कोसता रहता है।

एक बार एक सज्जन ने बातचीत मे महात्मा गांधी जी से कहा—"बापू! यह दुनिया कितनी बेईमान है? मैने ५० हजार रुपये खर्च करके यह धर्मशाला बनवाई, पर लोगो ने आज मुझे इस धर्मशाला की कमेटी मे से निकाल दिया है। मानो इन लोगो की दृष्टि मे मेरा दान या मेरी सेवा की कोई कीमत ही नही है। मै तो अब अत्यन्त निराश हो गया हूँ, इन लोगो से।"

गांधी जी ने कहा—"भाई! तुमने दान का सही अर्थ समझा ही नही है। दान देने वाले को सामने वाले पक्ष से किसी प्रकार की अपेक्षा नही रखनी चाहिए। कोई चीज देकर बदले मे यदि कुछ पाने की इच्छा रखी जाती है, तो वह दान नहीं, व्यापार है। सचमुच, तुमने दान नही दिया है, व्यापार ही किया है व्यापार मे ही तो लाभ-हानि की चिन्ता होती है। वह सज्जन निरुत्तर हो गए और उन्होने अपनी भूल स्वीकार की।"

आजकल समाज मे इसी प्रकार की सौदेबाजी करने वाले गौरवदानियो का ही अधिकतर बोलबाला है। जहाँ देखो वहाँ, धर्मस्थानो मे, मन्दिरो मे, सभा-सोसाइटियो मे, राजनैतिक मच पर, उत्सवो और जलसो मे, गौरवदानी छाये हुए हैं। यदि वे ठडे दिल दिमाग से सोचकर कीर्तिकामना के बदले समाजहित या

स्व-परहित की ओर अपनी दानधारा को मोडें तो उनकी दानशक्ति और अर्थोपार्जन शक्ति सार्थक हो सकती है, उनके उस दान मे चार चाद लग सकते हैं। किन्तु समाज मे अधिकाश धनियो की मनोवृत्ति अपनी कीर्ति की भूख मिटाकर दान देने की बन गई है। गौरव के उद्देश्य से दान देने वाला व्यक्ति जरूरतमन्द या दीनदुखी को देखकर प्राय दान नही देता, वह ढूंढता है, अपनी प्रतिष्ठा की खुराक। जहाँ से भी उसे सम्मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति, उच्चपद, प्रशसा और वाहवाही की खुराक मिल जाती है, वही उसके धन की थैली का मुह खुलता है। अत जहाँ ऐसे व्यक्ति को प्राय खुशामदखोर, चापलूस या उसकी बडाई करने वाले मिल जाते हैं, वही वह औढरदानी बन जाता है, जो उसे प्रशसा और प्रतिष्ठा के फूल नही चढाता, उस पर उसकी त्यौरियाँ चढी रहती हैं, अथवा उसे वह बिलकुल नही देता।

दो वैष्णव साधु थे। दोनो दो तरह के थे। एक भगवान् पर भरोसा रखने वाला था। उसका विचार था—जो कुछ करता है, भगवान् करता है। सुख-दुख'दाता वही है। इसलिए वह भगवान् के नाम की ही सदा रट लगाता था। उसे खाने-पीने की भी कोई चिन्ता नही थी, जो कुछ भी मिल जाता, उसी मे सन्तुष्ट रहता था। वह किसी की भी, यहाँ तक कि राजा की भी परवाह नही करता था। उन दिनो वह गगापुर शहर मे था, जिसका राजा गगाराम था। वह शहर मे चक्कर लगाता और गाता फिरता था—"जिसको देगा राम, उसे क्या देगा गगाराम ?" लेकिन दूसरा साधु ठीक इससे विपरीत स्वभाव का था। वह ईश्वर को कभी नही मानता था। वह चापलूस था। चापलूसी के सिवाय उसने भगवान् का नाम कभी जबान पर नही रखा। वह समझता था कि 'किसी दिन राजा अपनी प्रशसा मेरे मुंह से सुनकर मुझे निहाल कर देगा।' इसलिए वह शहर मे गश्त लगाता हुआ गाया करता—"जिसको देवें गगाराम, उसे क्या देगा राम ?"

एक दिन राजा गगाराम अपने महल की छत पर हवा खा रहा था। तभी सयोगवश ये दोनो साधु राजमहल के पास चक्कर लगाते हुए अपना-अपना गीत गाते हुए जा रहे थे। राजा ने दोनो साधुओ के गीत सुने। वह पहले साधु पर झुंझलाया, पर चापलूस साधु का गीत सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने सन्तरी को बुला कर हाथ के इशारे से कहा—'उस (चापलूस) साधु को दरबार मे तुरन्त बुला लाओ।' चापलूस साधु ने राजा का आदेश सुना तो मन ही मन बडा खुश हुआ और दरबार मे पहुंचा। राजा ने उसे सत्कारपूर्वक विठाया और चुपके से एक तरबूज मगाकर उसमे अशर्फियाँ भरवाईं और उस चापलूस साधु को तरबूज भेंट दे दिया। चापलूस साधु तरबूज लेकर बाहर निकला। मगर उसे राजा गगाराम पर बडा गुस्सा आ रहा था। वह मन ही मन कुढ रहा था कि इतने दिनो से वह गगाराम के नाम की पुकार लगा रहा था, उसका फल सिर्फ एक तरबूज ! उसे बडी निराशा हुई। मन ही मन क्षुब्ध होकर वह उस तरबूज को फेंक देना चाहता था, तभी एक कुंजडिन से उसकी

गगाराम के दरवार मे नही जा सकता ।" यह सुनकर राजा की आँखें खुल गई। उसने सोचा—'भगवान् कितने दयालु हैं कि जिस साधु को मैंने घृणा से देखा, उसी के हाथ मे सारी अशर्फियाँ लगी हैं।'

राजा ने उस चापलूस साधु से कहा—'अब से मेरा नाम कदापि न लेना। वावा ! देने वाला तो ऊपर बैठा है ! मैं किसी को क्या दे सकता हूँ। मैं तुम्हारे द्वारा की हुई प्रशसा से गर्वोन्मत्त होकर तुम्हें मालामाल कर देना चाहता था, लेकिन भगवान् को वह मजूर न था।' उस साधु को भी एक नया सबक मिला। उसी दिन से राजा ने अपना रवैया बदल दिया। अब वह जरूरत मद को अपने हाथो से दान देने लगा, उसे अपनी प्रशसा या प्रसिद्धि की कोई चाह न रही।

सचमुच, राजा गगाराम पहले गौरवदानी था, किन्तु जब से उसे उस नि स्पृह साधु से प्रेरणा मिली, तब से वह वास्तविक दानी बन गया। अत गौरवदान से नि स्पृहतापूर्वक दान करना हजारो गुना बेहतर है।

इस प्रकार दान देने की कुछ मनोवृत्तियो का विवेचन यहाँ किया गया है। मनुष्य विविध प्रकार के सकल्प-विकल्प से प्रेरित होकर देता है, पर सभी दिया हुआ दान, धर्म या पुण्य नही होता, इसकी एक झलक यहाँ दिखाई गई है। ✡

9

अधर्मदान और धर्मदान

अधर्मदान लक्षण और उद्देश्य

'गौरव दान' पर पिछले प्रकरण मे चिन्तन किया गया है। आगम कथित दस दानो मे इसके बाद 'अधर्म दान' का क्रम आता है। आप सुनकर या पढकर चौंको नही कि एक तरफ तो दान की इतनी महिमा कि इसे आकाश मे चढा दिया, और दूसरी तरफ दान को 'अधर्म' विशेषण से भी जोड दिया? हाँ, बात विचारने की है। वास्तव मे जब 'दान' सिर्फ 'देना' क्रियामात्र रह जाता है, तब उसके साथ कोई भी विशेषण जुड सकता है। दान अपनी व्याख्या के अनुरूप तो सदा 'अमृत' ही होता है, किन्तु जब देने की क्रिया को ही दान कहने लगते हैं तो वह दान धर्म भी हो सकता है तो अधर्म भी। यहाँ पर इसी रूप मे विचार किया गया है कि जब दान के द्वारा अधर्म को, अशुभ वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है तो वह दान 'अधर्म दान' हो जाता है—

'अधर्मदान' शब्द ही यह अभिव्यक्त करता है कि जो मनुष्य अधर्म कार्यों मे दान देता है, उसका वह दान अधर्मदान कहलाता है।[1] अथवा अधर्मी (चोर, जुआरी हत्यारे, वेश्या, कसाई आदि) को उस निमित्त से दान देना भी अधर्म दान कहलाता है। अधर्मदान अत्यन्त निकृष्ट दान है। इस दान से न तो कर्मक्षय होता है, और नही पुण्य प्राप्ति ही। इससे अधिकतर सम्भावना अधर्म वृद्धि की ही रहती है। इसीलिए अधर्मदान का लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार ने किया है—

जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि मे उद्यत हो, परस्त्रीगमन एव परिग्रह मे आसक्त हो, उस दौरान उसे जो कुछ दिया जाता है, उसे अधर्मदान समझना चाहिए।[2]

---

१ अधर्मकरणश्चासौ दान च, अधर्मपोषक वा दानमधर्मदानम्॥ —स्था० वृत्ति
—जो दान अधर्म का कारण हो, अथवा अधर्म का पोषक हो, वह अधर्मदान कहलाता है।

२ "हिंसाऽनृत चौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्य।
यद्दीयते हि तेषा तज्जानीयादधर्माय॥" —स्थानाग वृत्ति

अधर्मदान का उद्देश्य मुख्यतया किसी अधर्म को बढाना होता है। जैसे एक लोभी व्यापारी है। वह चोर को गुप्त रूप से बुला कर एक हजार रुपये भेंट दे देता है, और कहता है—तुम हमारे पास माल चुराकर लाओ और चुपके से दे जाओ। उसका दाम तुम्हें ऊपर-ऊपर से दिया-जायगा। उसका कोई जमा खर्च नही होगा। ये तो तुम्हे भेंट रूप मे दिये हैं।" चोर ने व्यापारी की बात स्वीकार कर ली और प्रसन्न होकर चला गया। वह उत्साहपूर्वक चोरी जैसे निन्द्यकर्म मे प्रवृत्त हो गया।

व्यापारी द्वारा चोर को दिया गया दान अधर्म की ही तो वृद्धि करेगा। इसी प्रकार एक वेश्या थी। वह बडे-बडे धनिको को अपने जाल मे फँसा कर कसब कमाती थी। एक सेठ भी उससे लगा हुआ था। उसने वेश्या को अपना धन्धा बढाने और नई-नई लडकियों को वेश्या बना कर रखने के लिए पाच हजार रुपये इनाम के तौर पर दे दिये। वेश्या की खूब बन आई। पहले ही वह वेश्या कर्म तो करती ही थी, अब और अधिक वेश्या कर्म बढाएगी। यह तो प्रत्यक्ष अधर्मदान है।

इसी प्रकार किसी कसाई को उसके किसी कार्य से खुश होकर किसी ने दो हजार रुपये भेंट दे दिये। वह जानता है कि यह कसाई पशुवध करता है, इस दान से उसके धन्धे को प्रोत्साहन मिलेगा, किन्तु अपने किसी स्वार्थ से वशीभूत होकर यह दान देता है। अत ऐसा दान अधर्मदान की कोटि मे हो जाएगा।

एक डाकू है। वह डाका डालता है। परन्तु एक धनिक की उससे दोस्ती है। वह उसकी लूट का माल सस्ते मे खरीदता है। धनिक उस डाकू को डाका डालने के बाद छिपने के लिए एक ऐसी गुफा बनवा देता है, ताकि वहाँ छिपने पर किसी को पता न चल सके। उस डाकू को अपने यहाँ भोजन भी कराता है, उसके परिवार का भी पालन-पोषण करता है। इस प्रकार के दान का परिणाम यह होता है कि वह डाकू नि शक होकर डाका डालता है और उस धनिक को ला लाकर सस्ते मे बेच देता है। वह उस प्राप्त धन को शराब, मासाहार, वेश्यागमन एव सिनेमा आदि देखने मे फूंक देता है। जब वह बिलकुल निर्धन हो जाता है, तब फिर वह धनिक उसे हजार-दो हजार रुपये भेंट देकर डकैती के लिए भेजता है। इस प्रकार का दान भी अधर्म-वृद्धि का कारण होने से अधर्मदान है।

इसी प्रकार एक धनिक किसी तस्कर कार्य मे प्रवीण व्यक्ति को तस्करी का माल लाने के लिए काफी इनाम देता है। तस्कर कार्य मे निपुण व्यक्ति तस्करी से बहुत-सा माल ला लाकर उस धनिक को देता है, उसे वह सस्ते मे ले लेता है, और खूब पैसा कमाता है। यह भी अधर्मदान का ही प्रकार है।

एक हत्यारा है। उसे किसी व्यक्ति ने इशारा किया कि 'अमुक व्यक्ति को मार डालना। तुम्हे मैं बहुत बडा इनाम दूंगा।' वह लोभ मे आकर उस व्यक्ति की

हत्या कर डालता है। वह वचनबद्ध व्यक्ति उस हत्यारे को मुह मागा इनाम देता है। यह दान भी अधर्मदान है।

अधर्मदान का एक और पहलू भी है। कई व्यापारी, जो व्याज का धन्धा करते हैं, चोर, कसाई आदि को अपना धन्धा चलाने के लिए रुपये व्याज पर देते हैं, हालाकि वे दान मे नही दिये जाते, किन्तु उन्हे जो छूट दी जाती है, वह अधर्मवृद्धि का कारण होने से अधर्मदान की कोटि मे आता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी सस्था को मदिरालय, वेश्यालय, जुए का अड्डा या कत्लखाना खोलने के लिए अपनी ओर से दान देता है। वह भी स्पष्टत अधर्मदान है।

कोई गुण्डा है, व्यभिचारी है, अथवा परिग्रह मे अत्यासक्त है, उसके किसी कार्य से प्रसन्न होकर उसे सम्मानपत्र देना, उसे थैली भेंट करना या उसकी उक्त प्रकार की सस्था को दान देना भी अधर्मदान है।

इस प्रकार अधर्मदान के अनेक प्रकार हो सकते हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वह यह है कि अधर्मी कहलाने वाले डाकू, चोर, वेश्या आदि भी घायल हो, मरने जा रहे हो, असहाय अवस्था मे बेहोश पडे हो, या बीमार हो और कोई उनकी सेवा करने वाला न हो, उस समय उनको दवा, पथ्य आदि के लिए सहायता देना अधर्मदान मे परिगणित नही होगा, वह अनुकम्पा दान मे परिगणित होगा, क्योकि उस हालत मे दान देने वाला उन्हें अधर्म की वृद्धि के लिए नही देता, वह तो उस समय उन्हे अनुकम्पा के पात्र समझ कर देता है। यह भी सम्भव है, उस अनुकम्पनीय-दयनीय हालत मे उन्हें सहायता देने पर वे कृतज्ञतावश दाता की बात मानकर अधर्मपथ को छोड भी दें। विश्व के इतिहास मे ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं। ईसामसीह, कबीर सत एकनाथ प० बनारसीदास, मुनि गर्दभिल्ल भगवान महावीर और बुद्ध आदि के उदाहरण प्रसिद्ध हैं, जिन्होने प्रेम और सहानुभूति देकर कई अधर्म पथिको को सुधारा है।

अत इन तथाकथित पतितो को दयनीय अवस्था मे दान के तौर पर दवा, अन्न, वस्त्र आदि के रूप मे सहायता करना अधर्म दान नही है, बल्कि अनुकम्पादान है। जो इस प्रकार के अनुकम्पादान का भी निषेध करता है वह शास्त्रीय भाषा मे कहे तो वृत्तिच्छेद[1] करता है। जितने भी राग-द्वेष-मोह विजेता तीर्थंकर या वीतराग हुए हैं, उनमे से किसी ने भी प्राणियो के प्रति अनुकम्पा लाकर दान देने का कहीं भी निषेध नही किया है।[2]

---

१ जे एण पडिसेहृति वित्तिच्छेय करेंति ते। —सूत्रकृताग

२ सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जय जियराग-दोस-मोहेहिं।
सत्ताणुकपट्ठा दाण न कहि वि पडिसिद्ध ॥

कई लोग कहते हैं, इस प्रकार के पतितो या अधर्मियो को दान देने से सम्यक्त्व मे दोष आता हैं, परन्तु यह बात यथार्थ नही है। श्रावक के सम्यक्त्व मे दोष तो तब लगता है, जब वह पतितो अथवा अधार्मिको को, धर्मबुद्धि से या गुरुबुद्धि से दे वह तो सिर्फ उनकी दयनीय दशा देखकर अनुकम्पा प्रवण होकर सिर्फ उस दशा में दान देता है, इसलिए उसका वह दान सम्यक्त्व को दूषित नही करता।

धर्मदान स्वरूप और विश्लेषण

अधर्मदान के बाद इससे बिलकुल विपरीत धमदान का क्रम आता है। जो मनुष्य प्राणिहित से प्रेरित होकर अहिंसा, सत्य आदि धम के पोषण, वृद्धि एव सरक्षण के लिए दान देता है, उसका वह दान धर्मदान कहलाता है। अथवा किसी धर्म से पतित होते हुए व्यक्ति को धर्ममार्ग पर लाने के लिए दान दिया जाता है, उसे भी धर्मदान कहते हैं। किसी धार्मिक व्यक्ति को सकट मे पडे देखकर उसे दान के रूप मे जो सहायता की जाती है, उसे भी धर्मदान कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जो दान धर्म का कारण बने, जिस दान से धर्म निष्पन्न हो, अथवा जो दान धर्मकार्य मे दिया जाए, उसे धर्मदान कहते हैं।[1]

धर्मदान सच्चे माने मे दान है, इस दान मे कोई स्वार्थ, आकाक्षा, पदलिप्सा, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की कामना, नामबरी की इच्छा आदि हो तो वह धर्मदान नही रहता। वह प्राय गौरवदान मे परिगणित हो जाता। धमदान की तराजू मे स्वार्थ, आकाक्षा आदि के बाँट रख देने पर स्वार्थादि का पलडा भारी हो जाएगा और शुद्ध दान का पलडा हलका। इसलिए सच्चे माने मे धमदान वह है, जो दाता के कर्म-बन्धन को काट सके, मोक्षफल प्रदायक हो। जो दान पुण्यफल के उद्देश्य से किया जाता है, लज्जा, गौरव, भय, कृत या करिष्यति के रूप मे जो दान दिया जाता है, वह भी धर्मदान की कोटि मे नही आएगा। जो दान निर्जरा और सवर का कारण है, वही दान धर्मदान की सीमा मे आता है। इस दृष्टिकोण को लेकर स्थानागसूत्र के टीकाकार ने धर्मदान का लक्षण इस प्रकार किया है—

'तिनके और मणि-मोतियो पर जिनकी दृष्टि सम है, उन सुपात्रो को जो दान दिया जाता है, वह अक्षय, अतुल और अनन्त दान धर्म के लिए होता है, वही वास्तव मे उच्च कोटि का धर्मदान है।'[2]

इसमे तो कोई सन्देह नही है कि नि स्पृही, त्यागी और धर्म-धुरन्धर उत्कृष्ट सुपात्रो को दान देना धर्मदान हे। क्योंकि ऐसे नि स्पृह त्यागी श्रमण या मुनिवर आहार-पानी वस्त्र-पात्र औषध या धर्मोपकरण के रूप मे जो कुछ भी लेंगे, उससे

---

१ 'धर्म-कारण दान, धर्म एव वा दानम् धर्मदानम्। —स्था० वृत्ति

२ समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दान दीयते सुपात्रेभ्य ।
अक्षयमतुलमनन्त तद् दान भवति धर्माय ॥"

उनके शरीर का पोषण होगा और वे शरीर को स्वस्थ और चित्त को प्र
सयम की साधना करेंगे, शुद्ध धर्म की आराधना करेंगे और शरीर को उ
देकर उसे जीवदया का कार्य करेंगे। अपने ज्ञान-दर्शन चारित्र की वृद्धि
धर्मपालन करेंगे, दूसरो, धर्मोपदेश या धर्मप्रेरणा देकर धर्ममार्ग पर लग
दृष्टि से ऐसे नि स्पृही सयमी सन्तो को जो कुछ भी उनके लिए कल्पनी
पदार्थ दिया जाएगा वह धर्म मे ही लगेगा। उससे धर्म की वृद्धि होगी, अध
का कार्य होगा।

किन्तु धर्मदान का दायरा इस लक्षण मे जितना सकीर्ण बताया गया
सकीर्ण नही है। वह काफी विस्तृत है। धर्मदान इस लक्षण से पहले के ल
वहाँ-वहाँ सर्वत्र धर्मदान हो सकता है, जहाँ-जहाँ धर्म वृद्धि, धर्म सुरक्षा औ
विचलित या पतित की पुन स्थिरता हो, बशर्ते कि ऐसे धर्म के उद्देश्य से
दान के पीछे किसी प्रकार की लौकिक आकाक्षा, स्वार्थ, पद-प्रतिष्ठा-लिप्सा,
की लालसा आदि विकार न हो।

इस दृष्टि से धर्म कार्य के लिए भी नि स्वार्थ एव निष्काम भाव
जाने वाला दान भी धर्म दान की कोटि मे आ सकता है।

जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज के जीवन की एक घटना है—

सवत् १९७१ मे आप आगरा से मालवा की ओर पधार रहे थे, तब
पास मार्ग मे एक खटीक को सोए हुए देखा। उसके पास दो बकरे बधे
इससे उन्होने अनुमान लगाया कि यह वधिक होगा। जैन दिवाकरजी मह
उसे उपदेश दिया—"भाई! यह पाप तुम किस लिए करते हो, इसे छोडो।
कर्म का बुरा फल भी तुम्हे ही भोगना पडेगा। जैसी तुम्हे पीडा होती है, वै
इन प्राणियो को होती है। हिंसक व्यक्ति कभी सुखी नही हो सकता। अत
धधे को छोडकर दूसरा कोई सात्त्विक धधा कर सकते हो।'

दिवाकर जी महाराज के इस उपदेश का उस खटीक पर जादू-सा
हुआ। उसने कहा—'गुरु महाराज! आपका कहना बिलकुल सच है। मैं अ
परमात्मा को सर्वव्यापी मान कर सूर्य-चन्द्र की साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता
जब तक जीऊँगा, तब तक कभी इस धधे को नही करूगा। परन्तु आपके सा
भक्त हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि मेरे पास इस समय घर पर ३२ बकरे हैं,
खरीद कर मुझे रुपये दे दें तो मैं दूसरा सात्त्विक धधा अपना लू।" महारा
की सेवा मे जो श्रावक थे, उन्होने तुरन्त वे बकरे खरीद लिए और कुछ रुपये ऊ
उसे भेंट के रूप मे दे दिये। इस प्रकार एक पतित व्यक्ति को धर्म की राह पर
हेतु श्रावक के द्वारा जो दान दिया गया, वह धर्मदान की कोटि मे ही परि
होगा।

इसी प्रकार जैन शास्त्रो मे सम्यक्त्व के ८ अगो में से एक अंग बताया है—'स्थिरीकरण' स्थिरीकरण का अर्थ है—कोई व्यक्ति धर्म से डिगता हो, धर्म से विचलित होता हो, उसे पुन धर्म मे स्थिर करना। यद्यपि धर्म मे स्थिर करने का सामान्यतया मार्ग तो उपदेश, प्रेरणा या आश्वासन का है। परन्तु कभी-कभी उपदेश या प्रेरणा आदि का कोई असर नही होता, जब कोई धार्मिक व्यक्ति अर्थ सकट मे हो और विवश होकर अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए धर्मान्तर का रास्ता अपनाने को तैयार होता है, अथवा धर्म मार्ग को छोडकर चोरी, डकैती या अन्य अनैतिक पेशा अपनाने को तैयार हो जाता है, ऐसे समय मे उसे धर्म मे, शुद्ध धर्म मे स्थिर करने के लिए जो दान के रूप मे अर्थ आदि का सहयोग दिया जाता है, उसे धर्मदान न मानने से कौन इन्कार कर सकता है ?

मारवाड जालौर का एक नवयुवक ऊदा मेहता गुजरात की एक नगरी मे पहुँच गया। मारवाड मे भयकर दुष्काल के कारण वह किसी आजीविका की तलाश मे आया था। अग-अग मे तरुणाई थी, पर गरीबी और फटेहाल दशा ने उसे धु धली कर दी थी। उसकी आस्था जैन धर्म मे थी, इसलिए वह पाटन के जैन उपाश्रय के बाहर द्वार पर बैठ गया। पर्यु षण पर्व के दिन थे, इसलिए वह इस आशा से बैठा था कि कोई जैन भाई या बहन मुझे कुछ सहायता कर दे तो मैं अपना काम चला लूं। एक के बाद एक कई भाई, कई बहनें, युवक आए-गए, पर किसी ने उससे नही पूछा कि "तू कौन है ? कहाँ से आया है ? क्या चाहता है ?" तीन घटे हो गए, बैठे-बैठे, उसे निराशा हो गई थी। उसके मन मे रह-रहकर विचार आ रहे थे, कि अगर कोई मुझे कुछ मदद नही करेगा तो मैं इस धर्म को रखकर क्या करू गा ? नीति या अनीति किसी भी प्रकार से पेट तो भरना ही होगा।' इसी बीच एक बहन, जिसका नाम लच्छी (लक्ष्मी बहन) था, उधर से निकली। उसने इसे खिन्न देखकर पूछा—"भाई ! तुम कौन हो ? यहाँ उदास से क्यो बैठे हो ?" भाई शब्द सुनते ही ऊदा मेहता की आँखो मे आसू उमड आए। उसने कहा—"बहन ! तुम्ही एक बहन ऐसी निकली, जिसने 'भाई' कहकर मुझसे अपनी हालात पूछी। मैं मारवाड का जैन हूँ। वहाँ भयकर दुष्काल के कारण गुजरात आया हूँ—किसी धधे की तलाश मे। परन्तु यहाँ आने पर मैं निराश हो गया। दो दिन से भूखा हूँ। सोचा था—उपाश्रय पर कोई न कोई मुझे पूछेगा, इसीलिए यहाँ आ कर बैठा था। मैं तो निराश हो कर लौट रहा था, अब ! लेकिन इसी बीच तुमने मुझे पूछ लिया।' लक्ष्मी बहन ने उसे आश्वासन दिया "घबराओ मत, भाई ! घर चलो, बहन के घर पर भाई भूखा रह जाय, यह तो बहन का अपमान है।" लक्ष्मी-बहन ने ऊदा मेहता को भोजन कराया, पहनने के लिए वस्त्र दिये। व्यापार के लिए अर्थराशि दी, रहने के लिए मकान दिया। इस प्रकार ऊदामेहता को धर्म मे स्थिर किया। यही ऊदामेहता आगे चलकर अपनी प्रतिभा से गुजरात के चौलुक्य सम्राट के शासनकाल मे महामन्त्री बना।

क्या लक्ष्मी बहन का ऊदामेहता को धर्म मे स्थिर करने के लिए दिया गया

अर्थसहयोग (दान) धर्मदान मे शुमार नही होगा ? अवश्य ही इसे धर्मदान कहा जाएगा।

इसी प्रकार धर्मकार्य के लिए जो भी दान किसी सस्था या व्यक्ति को दिया जाता है, या किसी महान् पुरुष की प्रेरणा से दान किया जाता है, उसे भी हम धर्मदान कह सकते हैं।

सम्प्रति राजा ने आचार्य सुहस्तिगिरि की प्रेरणा से धर्म की सेवा करने मे यानी आन्ध्र आदि अनार्य देशो मे जनता को धर्म सम्मुख और जैन साधुओ के प्रति श्रद्धाशील बनाने के लिए अपने सुभटो को भेजा। उसमे लाखो रुपये खर्च हो गए। यह सब रुपया धर्म प्रचार के लिए सम्प्रति राजा द्वारा दिया गया था। इसे भी धर्मदान कहा जा सकता है।

इस प्रकार के और भी अनेको उदाहरण हैं, जिनसे यह जाना जा सकता है, धर्मवृद्धि के कार्य मे जो भी व्यक्ति निष्काक्ष भाव से दान देता है, उसका वह दान धर्मदान की कोटि मे गिना जा सकता है।

धर्मदान का एक और प्रकार है, वह यह है कि अपने प्राणो की बाजी लगा कर अर्थराशि का उपयोग शरीर रक्षा मे लगाने की अपेक्षा धर्मरक्षा के लिए करना अर्थात् धर्म रक्षा के लिए अर्थराशि दे देना भी धर्मदान है।

तिब्बत के वृद्ध राजा जोशीहोड् की वर्षों से यह हार्दिक इच्छा थी कि "मैं मगध देश से बौद्धधर्म के आचार्य दीपकर को तिब्बत मे लाकर बौद्ध धर्म का पुनरुद्धार करूँ। बौद्ध धर्म मे जो विकृतियाँ आ गई हैं, उन्हें दूर कराकर शुद्ध धर्म का बोध जगत् को कराऊँ।" परन्तु आचार्य दीपकर को भारत से तिब्बत लाने के लिए बहुत अधिक धन की जरूरत थी, पर्याप्त मात्रा मे सोना चाहिए था। अत राजा जोशीहोड् स्वय सोने की खोज मे निकल पडे, क्योकि सरकारी खजाने मे जितना सोना था, उससे अधिक सोना आचार्य दीपकर को लाने, उनके द्वारा धर्म-सशोधन एव धर्म-प्रचार कराने मे खर्च होने का अनुमान था। उधर राजा जोशीहोड् ने भारत से आचार्य दीपकर को बुला लाने के लिए विद्वानो का एक दल भारत भेजा। उन्ही दिनो नेपाल के समीप राजा गारलग के राज्य मे सोने की खान निकली। जोशीहोड् राजा को पता चला तो वे उधर ही चल पडे और जाकर खान पर अपने आदमी पहरेदार बिठा दिए। उधर नेपाल नरेश उस सोने की खान पर अपना अधिकार जमाने आए। खान एक मालिक बनने जा रहे थे—दो। इस तरह नेपाल नरेश और तिब्बत नरेश के बीच युद्ध छिड गया। युद्ध मे न्याय-अन्याय नही देखा जाता। 'जिसकी लाठी उसकी भैस' वाली कहावत ही यहाँ चरितार्थ होती है। अत विजय का पलडा नेपाल की ओर झुका। वृद्ध तिब्बत नरेश जवाँमर्द की तरह लडने पर भी हार गए। वे कैद कर लिये गए। नेपाल नरेश से उन्होने समाधान करने की बात चलाई। पर पहले तो उन्होंने समाधान से कतई इन्कार कर दिया। बाद मे नेपाल

नरेश, जो बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था, बोला—अब तो समाधान इसी शर्त पर हो सकता है, और तिब्बत नरेश को भी तभी बन्धनमुक्त किया जा सकता है, अगर वे बौद्धधर्म को छोडकर हमारे धर्म को स्वीकार करें।" परन्तु तिब्बत नरेश ने कहा—"देह परिवर्तन भले ही हो जाए, धर्म-परिवर्तन मैं हर्गिज नही कर सकता।"

तिब्बत का यह राजा बुद्धिमान्, लोकप्रिय और धर्मपरायण था। इसलिए प्रजा ने मन्त्रिमण्डल से कहा—"चाहे जिस मूल्य पर राजा को छुडा लाओ।" अत तिब्बत नरेश के भतीजे के नेतृत्व मे एक शिष्टमण्डल नेपाल पहुँचा। उसने नेपाल नरेश से तिब्बत नरेश को बन्धनमुक्त कर देने की प्रार्थना की। नेपाल नरेश ने बहुत कुछ आनाकानी करने के बाद कहा—"या तो तिब्बत नरेश धर्म परिवर्तन करें या उनके वजन के बराबर तौल कर सोना हमे दें। दोनो मे से किसी एक उपाय से उनका छुटकारा हो सकता है।" धर्म परिवर्तन तो तिब्बत नरेश के लिए देह परिवर्तन से भी कठिन था। प्रजा ने उत्साहपूर्वक सोना इकट्ठा करने का सोचा। तिब्बत गरीब देश था, वहाँ अन्न, फल, भूमि और जल तो था, पर सोना न था। राजा के भतीजे ने काफी परिश्रम उठा कर पर्याप्त सोना एकत्रित किया। उधर तिब्बत नरेश ने उपवास करना शुरू किया, उन्हे पता था कि उसके भण्डार मे सोने की कितनी तगी है? निरन्न उपवास से वजन काफी कम हो गया। निश्चित तिथि पर तिब्बत के मन्त्री तथा राजा का भतीजा सोना लेकर नेपाल दरबार मे हाजिर हुए। तराजू रखी गई। एक पलडे मे वृद्ध राजा को बिठाया गया और दूसरे मे सोना डाला गया। तिब्बतभर का सारा सोना डालने पर भी राजा का पलडा भारी रहा। राजकुमार और मन्त्रियो ने अपने अग पर पहने हुए गहने उतार कर रखे, फिर भी दोनो पलडे बराबर न हुए। अत नेपाल नरेश को वह सोना वापिस नेपाल नरेश के भतीजे को सौंप दिया और राजा को पुन कारागार मे डाल दिया। अब तो छुटकारा पाने का एक ही मार्ग रह गया था—धर्म-परिवर्तन का, जो तिब्बत नरेश के स्वभाव के विरुद्ध था। तिब्बत का मन्त्रीमण्डल और नरेश का भतीजा राजा से मिले। उन्होने खूब शान्ति से कहा—'तुम किसी प्रकार का सन्ताप न करो। मेरा देश पैसे से भले ही गरीब हो, पर मन का गरीब नही है, इस अनुभव से मुझे सन्तोष है। मेरा धर्म 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' जीने मे है। मेरी माँग यह है कि मुझे छुडाने का प्रयत्न छोड दो। देश के इतने सोने का अपव्यय कराकर, देश को गरीब बनाकर छूटने की मेरी इच्छा नही है। मैं अब बूढा हो गया हूँ। अगर तुम मुझे छुडा भी लोगे, तो भी मैं लम्बे समय जीने से रहा। मैं तो मौत के निकट हूँ। मुझे धन देकर छुडाने से तुम्हे या देश को कोई लाभ नही। मुझे भी सन्तोष नही होगा।

'क्या आपके लिए हम इतनी कुर्बानी भी नही कर सकते? धन आपसे बढकर थोडे ही है। आपके पधारने से तिब्बत पुन समृद्ध हो जायगा। आखिर हम क्या करेगे इस धन का? कुछ समझ मे नही आता।' राजा ने कहा—'देखो, वास्तविकता से सोचो। मैं धर्म सुधार के लिए बहुत समय से उत्सुक हूँ। हमारा धर्म पुराना

और विकृतियो से परिपूर्ण हो गया है। मैं अपने धर्म को शुद्ध और सर्वजन ग्राह्य बनाना चाहता था। इसके लिए मैं भारत से आचार्य दीपकर को बुलाना चाहता था, पर कर्म दोष के कारण मैं यह कार्य शायद अपने जीतेजी न देख सकूं। तुम यह सोना अपने साथ ले जाओ और भारत जाकर आचार्य दीपकर को ले आओ, उनके प्रवास-व्यय के अलावा धर्म-सुधार एव धर्म-प्रचार मे जो भी खर्च हो, उसके लिए यह सोना सुरक्षित रखो।'

राजकुमार बोला—'आप क्या कह रहे हैं ? जिसकी हमारे मन में कीमत नही है, उसे लेते जाएं, जिसकी हमारे मन मे कीमत है, उसे छोडते जाएं, यह हमसे कैसे होगा ?' राजा ने कहा—'देखो ! कर्तव्य के सामने व्यक्तिगत स्नेह की कीमत नही। विश्व कल्याण के सामने व्यक्तिगत हित की लालसा पाप है। मेरे प्राण तो यहाँ भी छूटने वाले हैं, पाहुने सरीखे हैं। धर्मकार्य करो। जो सोना मैं तुम्हें ले जाने को कहता हूँ, उसे धर्म-सुधार मे धर्म-ज्ञान के उद्धार मे खर्च करना। इस स्वर्ण के कण-कण मे एक धर्मप्रेमी राजा के प्राण का अश भरा है। तुम लोग आचार्य दीप कर से यही कहना—आपको तिब्बत मे देखने के लिए राजा ने प्राण दिये हैं।' आखिर मन्त्री और राजकुमार वह सोना लेकर अश्रुपूरित नेत्रो से विदा हुए। भारत आये। विक्रमशीला विद्यापीठ मे आठ हजार भिक्षुओ का सम्मेलन होने जा रहा है, उसमे आचार्य दीपकर सर्वश्रेष्ठ थे। उनके गुरु रत्नाकर भी वहाँ उपस्थित थे। पहले तो तिब्बती राजपुरुषो को देखते ही उन्होने कहा—'तुम्हारा यत्न व्यर्थ है। आचार्य दीपकर भारत छोड नही सकते। किन्तु जब वे आचार्य दीपकर से मिले, उन्हें सारी परिस्थिति समझाई। तिब्बत नरेश के त्याग का वर्णन किया और सोना उनके चरणों मे समर्पित किया। आचार्य श्री को तिब्बत नरेश के त्याग ने एकदम द्रवित कर दिया। वे बोले वास्तव मे तुम धर्मात्मा हो। मेरा मन उस धर्मनिष्ठ राजा की इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए लालायित है। पर अगर गुरुजी कहेगे तो मैं वृद्ध होते हुए भी तिब्बत जाऊँगा।' गुरुजी ने तीन वर्ष के लिए अनुमति दे दी। आचार्य दीपकर ने तिब्बत की ओर कदम बढाए। इधर कारागार मे बद्ध राजा के प्राणपखेरू उड गए आचार्य दीपकर ने तीन के बदले १३ वर्ष तिब्बत मे बिताये। वे फिर भारत मे नही आये।

निष्कर्ष यह है कि बौद्धधर्मी तिब्बत नरेश जोशीहोड् ने प्रचुर मात्रा मे नेपाल नरेश को सोना देकर अपने प्राण बचाने की अपेक्षा धर्म प्रचार एव धर्म सुधार के लिए वह सारा सोना दे दिया। धर्म के लिए यह दान कितना महत्त्वपूर्ण था !

धर्मदान का एक पहलू और है। पहले धर्मदान के जो लक्षण दिये गए हैं उनमे से एक है—धर्म (धर्मपरायण पुरुष) को सकट मे पडे देखकर उसे सकट मुक्त करने के लिए दान देना धर्म-दान है। यद्यपि यह दान बहुत ही दुष्कर तथा महँगा पडता है, तथापि जो व्यक्ति धर्म मे दृढ होता है, वह धन, सोना, यहाँ तक कि राज्य

तक दान देने के लिए तैयार हो जाता है। वह ऐसे (धर्म) दान के लिए बिलकुल नही हिचकिचाता।

धर्मादा और धर्मदान

बहुत-से व्यापारी लोग अपना माल बेचने के साथ धर्मादा रकम काटते हैं, और वे उस रकम को धर्मादा खाते जमा करते जाते हैं, जब वह रकम इकट्ठी हो जाती है, तब साल भर मे एकत्रित उस अर्थराशि को किसी पुण्य कार्य या धर्मकार्य मे लगा देते हैं। सवाल होता है, क्या यह एकत्रित धर्मादा राशि का व्यय भी धर्म दान की कोटि मे आ सकता है ?

इसमे तीन प्रश्न गर्भित हैं—

१—क्या यह अर्थराशि केवल धर्मवृद्धि के कार्य मे दी जा रही है ?

२—क्या यह अर्थराशि दीन-दु खियो को सहायता के लिए या बाढ, भूकम्प सूखा आदि से पीडितो की सहायता के लिए दी जा रही है। या किसी सेवाभावी सस्था, चिकित्सालय, गो सेवा आदि को दान दी जा रही है।

३—अथवा परम्परागत रूढिवश अपने तथाकथित यजमान, पुरोहित, ब्राह्मण या और अपने किसी सगे-सम्बन्धी को निर्वाह के लिए या बहन-बेटियो को रिवाज के तौर पर वह रकम दी जा रही है ?

अगर प्रथम विकल्प है और वह राशि निखालिस धर्म कार्य के लिए दी जा रही है तो वह धर्मदान की कोटि मे आ सकती है।

इस धर्मादा अर्थराशि के दान को हम धर्मदान कह सकते हैं। परन्तु वह अर्थराशि धर्मकार्य की ओर ध्यान न देकर सिर्फ किसी सकट या दु ख से पीडित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर उसे या उस प्रकार के व्यक्तियो को दी जाती है, तो यह अनुकम्पादान की कोटि मे चला जाएगा।

लेकिन वह धर्मादा रकम अपने आश्रितो या पोष्यवर्ग के पोषण मे खर्च की जाती है, तो वह कृतदान या करिष्यतिदान की कोटि मे जाएगी। अथवा लज्जादान की कोटि मे भी जा सकती है। सामाजिक रूढि के तौर पर किसी पुरोहित यजमान आदि को उस धर्मादा रकम मे से दिया जाने पर वह दान लज्जादान या भयदान की कोटि मे परिणत हो जाएगा।

कई बार ऐसी धर्मादा रकम अपनी बहन-बेटियो के लेनदेन मे दी जाती है, अथवा किसी तीर्थ की यात्रा मे या सैर-सपाटे करने मे खर्च की जाती है, यह न तो अनुकम्पादान है, न पुण्य है और न ही धर्मदान है। बल्कि धर्मादा अर्थराशि का दुरुपयोग है। धर्मादा रकम को या तो धर्मकार्य मे ही लगाना उचित है, या उसे पीडित व्यक्तियो की सेवा मे लगाना चाहिए। रूढि के तौर पर किसी को दे देना या अपने सैर-सपाटे मे उपयोग करना उचित नही है।

करिष्यतिदान क्या, क्यो और कैसे ?

धर्मदान के बाद 'करिष्यतिदान' का क्रम आता है।' करिष्यतिदान किसी प्रतिदान की आशा से किया जाता है। किसी व्यक्ति ने एक दीन-हीन, अनाथ बालक को पढाया-लिखाया और उसका भरण-पोषण किया, उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि पर जो भी व्यय हुआ, उसने यही सोचकर किया कि भविष्य मे जब यह बडा हो जाएगा, तब इससे सारी रकम ले ली जाएगी। वह जितना भी खर्च होता, उसके नाम से लिखता जाता। इस प्रकार होते-होते जब वह पढ-लिखकर स्वय कमाने लगा, तब एक दिन उस व्यक्ति ने उस अनाथ लडके को उसके खाते मे जितनी रकम लगी थी, वह बताई। अनाथ लडका अच्छी कमाई करने लगा, कृतज्ञता के भार से दबा हुआ था ही। अत वह भी धीरे-धीरे अर्थराशि जमा करने लगा। और एक दिन ब्याज सहित सारी रकम चुका कर वह ऋणमुक्त हो गया। यह भी एक प्रकार का करिष्यति दान है। परन्तु है यह निकृष्ट कोटि का। क्योकि अगर बाद मे प्रतिदान न मिलता तो इस प्रकार के दानी के मन मे सक्लेश होता और वह आदाता को भला बुरा कहता। इसलिए इस प्रकार की प्रतिदान की वृत्ति कभी-कभी मनुष्य के मन को निम्नतम दुर्भावो मे बहा ले जाती है।

करिष्यतिदान का लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार ने इस प्रकार बताया है—

'करिष्यति कञ्चनोपकारं ममाऽयमिति बुद्ध्या।
यद्दान तत्करिष्यतीति दानमुच्यते ॥'

अर्थात्—'यह मेरा कुछ उपकार करेगा', इस बुद्धि से जो दान दिया जाता है, वह 'करिष्यति' दान कहलाता है।

मनुष्य भविष्य की कई आशाएँ संजोकर रखता है। वह सोचता है, कि अमुक व्यक्ति इस समय सकट मे है, मैं इसको कुछ अर्थसहायता दूँगा तो भविष्य मे मुझ पर सकट आने पर यह भी मुझे सहायता देगा, इस आशा से किसी को दान देना करिष्यतिदान की कोटि मे आता है।

देवशकर का छोटा भाई दामोदर जब पाँच साल का था, तभी उसकी माँ चल बसी। दामोदर के पालन-पोषण की जिम्मेवारी देवशकर पर आ पडी। उसकी पत्नी दयाबहन उसे अपने पुत्र की तरह पालन-पोषण करने लगी। दामोदर बडा हुआ। जब वह मैट्रिक पास हो गया तो देवशकर ने अपनी पत्नी से कहा—'अब इसे आगे पढाने की हमारी शक्ति नही है।' लेकिन दयाबहन ने कहा—'नही, इसे आगे पढाना चाहिए। पढ-लिखकर होशियार हो जाएगा तो हमारे ही काम आएगा। मैं अपने गहने बेचकर उस धन से इसकी पढाई कराऊँगी।' इस प्रकार दयाबहन ने अपने गहने दामोदर की शिक्षा के लिए दिये। दामोदर इजीनियर बन गया। उसकी शादी एक बी० ए० पास लडकी उर्वशी से हो गई। उर्वशी ने इस घर मे आते ही, अलग हो जाने की हठ ठान ली। फलत दामोदर को भी उसकी ओर झुकना पड़ा। इससे

दयाबहन को दु ख तो हुआ, लेकिन उसने मन को समझाया कि किया हुआ उपकार कभी व्यर्थ नही जाता। अलग हो जाने पर देवशकर और दामोदर दोनो भाइयो मे अन्तर बढता गया। यहाँ तक कि एक बार देवशकर भाई बीमार पडे तो भी दामोदर और उसकी पत्नी कुशल पूछने तक न आए। देवशकर भाई ने अपने पुत्र डॉ० दिनेश को अन्तिम समय मे कहा कि तेरा चाचा दामोदर कभी बीमार पडे तो विष का इजेक्शन दे देना।' परन्तु देवशकर भाई के मरने के बाद दामोदर और उर्वशी पश्चात्ताप प्रगट करने आए। दयाबहन ने उन्हे आश्वासन दिया। डॉ० दिनेश अपना दवाखाना गाँव मे ही ले आया। एक बार दामोदर बीमार पडा। डॉ० दिनेश से वह इलाज कराने आया। उस समय दिनेश ने कुशलतापूर्वक उसका इलाज किया। एक महीने तक इलाज के बाद दामोदर बिलकुल स्वस्थ हो गया। दामोदर ने इस खुशी मे एक पार्टी दी, और अपने बडे भाई देवशकर के नाम पर २५ हजार रु० का चैक डॉ० दिनेश को देते हुए कहा—'यह चैक मैं तुम्हे अपने दवाखाने के लिए दे रहा हूँ। इससे तुम गरीबो का मुफ्त इलाज करना।'

अब दोनो भाइयो के घर मे स्नेहगगा उमड पडी, शत्रुता का नाम भी न रहा। हृदय का मैल दूर हो गया।

दयाबहन के द्वारा अपने देवर दामोदर के प्रति किया हुआ उपकार (आभूषण-दान) सफल हो गया। वास्तव मे यह करिष्यतिदान का उदाहरण है।

कई बार व्यक्ति त्यागी श्रमणो को आहारादि देकर बदले मे प्रत्युपकार की इच्छा रखता है। वह यह सोचता है कि ये महात्मा हैं, तपस्वी हैं, कोई ऐसा मत्र बता देंगे या यत्र दे देंगे, अथवा इनके मुख से ऐसा वचन निकल जाएगा, जिससे मेरा कार्य सिद्ध हो जायगा, लक्ष्मी के वारे-न्यारे हो जाएंगे। परन्तु इस प्रकार की अपेक्षा रख कर दान देना करिष्यतिदान तो है, परन्तु वह निम्नकोटि का है, उच्च कोटि का नही। करिष्यतिदान भी यदि प्रत्युपकार की भावना से निरपेक्ष होकर दिया जाता है तो वह सफल होता है, जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे स्पष्ट कहा है—

'एव जो जाणित्ता विहलियलोयाण धम्मजुत्ताण।
णिरवेक्खो त देदि हु तस्स हवे जीविय सहलं ॥' २०॥

अर्थात्—इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियो को देता है और उसके बदले मे उससे प्रत्युपकार की वाञ्छा नही करता, उसी का जीवन सफल है।

करिष्यतिदान अपने आप मे न तो पुण्य है, और न ही धर्म। वह लौकिक व्यवहार के नाते नैतिक आदान-प्रदान और कर्तव्य है। किन्तु जब इस प्रकार का दानदाता मोह या आसक्ति के वशीभूत होकर आदाता से प्रत्युपकार की आशा लगाए रहता है और वह आशा भग हो जाती है, तब दाता के मन मे आदाता के प्रति बुरी

भावनाएँ उठती हैं, वह उसे कोसता है, वह मन ही मन व्यथित होता है, आर्त्तध्यान एव रौद्रध्यान करता है। ऐसी दशा मे करिष्यतिदान पाप का कारण बन जाता है। वह दाता के जीवन के लिए अभिशाप बन जाता है और आदाता के जीवन का भी वह अहित करता है। चूंकि करिष्यतिदान मे जो प्रतिदान की भावना होती है, वह एक प्रकार की आकाक्षा और आसक्ति को जन्म देती है। इसलिए करिष्यतिदान धर्म या पुण्य का कारण नही बनता। कई बार ऐसा दान सौदेबाजी या व्यापार बन जाता है, तब दान के पीछे आदाता के प्रति प्रारम्भ से ही कोमल भावनाओ के बदले क्रूर भावनाओ का प्रादुर्भाव होने लगता है।

कृतदान स्वरूप और उद्देश्य

करिष्यतिदान के बाद 'कृतदान' का क्रम आता है, जो इस प्रकार के दानो मे अन्तिम दान है। कृतदान एक प्रकार से दानी के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने का दान है। यह प्रतिदान का रूप है। इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ इस प्रकार किया गया है—

'कृत दानमनेन तत्प्रयोजनमिति प्रत्युपकारार्थं यद्दान तत् कृतदान मित्युच्यते।'

—इसने मुझे दान दिया था, इस प्रयोजन से प्रत्युपकार की दृष्टि से जो दान दिया जाता है, वह कृतदान कहलाता है।

कृतदान सच्चे माने मे सार्थक तभी होता है, जब आदाता की दाता के प्रति प्रारम्भ से ही सद्भावना, कृतज्ञता की भावना और सहृदयता रहे। अगर आदाता प्रारम्भ से ही दाता के प्रति कुटिल और कठोर भावना लेकर चलता है तो कृतदान सार्थक नही होता। इसीलिए कृतदान का लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार ने इस प्रकार किया है—

शतश कृतोपकारो दत्त च सहस्रशो ममाऽनेन।
अहमपि ददामि किञ्चित् प्रत्युपकाराय तद्दानम्॥

—अर्थात् इसने मेरे पर सैकडो उपकार किये हैं, हजारो रुपये मुझे दिये हैं, मैं भी प्रत्युपकार के रूप मे इसे किञ्चित् दूँ, इस प्रकार की भावना से जो दिया जाता है, वह कृतदान कहलाता है। कृतदान दाता की भावना को प्रोत्साहित और उत्तेजित करने के लिए बहुत ही प्रभावशाली होता है। दाता के मन मे कृतदान से सक्लेश समाप्त हो जाता है, सद्भावना की वृद्धि होती है। कई-कई बार तो दाता द्वारा दिये गए थोडे-से दान के बदले कृतदानी सैकडो गुना बढकर प्रतिदान करता है, उपकृत भाव से देता है। वे जीवन के अनूठे क्षण होते हैं, जो कृतदान की भावना को प्रेरित करते रहते हैं।

वर्षों पहले का प्रसग है। एक मारवाडी युवक जीवन-निर्वाह के लिए किसी काम-धन्धे की तलाश मे बम्बई पहुँचा। उसके पास पहनने के कपडे और एक लोटे

हम लोगो ने आपको मानपत्र देने का निश्चय किया है और आपको भी भाषण देना पड़ेगा। आप अपना भाषण लिख दें तो उसे पहले से छपवा लिया जाय। हम आपके भाषण को रेकार्ड मे भी भर लेना चाहते हैं।"

सेठ ने कहा—"इतनी छोटी-सी रकम के लिए इतना सब करने की जरूरत नही है। मैंने तो कुछ किया ही नही है। अब आप स्वय आए हैं तो मैं आपको ये एक लाख रुपये और देता हूँ। इन्हे आप अपनी इच्छानुसार दान मे लगाइए।"

सेठ ने तुरन्त ही तिजोरी मे से एक लाख के नोट वृद्ध के हाथो पर रखते हुए कहा—"इसमे कोई ज्यादा नही है। यह तो मैंने अपना हिसाब चुकता किया है।" "तो आप क्या कहना चाहते हैं?" वृद्ध ने पूछा।

"मै यह कहना चाहता हूँ कि वर्षों पहले जब मै इस शहर मे आया था, तब आप, जिस सस्था की बात कर रहे हैं, उसमे मैंने एक दिन नौकरी की थी और उसके मेहनताने के आठ आने आपने मुझे दिये थे। मुझे लिखना-पढना नही आता था, इसलिए आपने मुझें नही रखा। उन आठ आने के बदले मैंने इस सस्था को एक लाख रुपये दिये हैं। नौकरी से अलग करने के बाद आपके हृदय मे मेरे प्रति दया भाव का सचार हुआ और आपने मुझें वापस बुलाकर अपनी जेब से आठ आने दान-स्वरूप दिये थे। उसके बदले मै आपको ये एक लाख और दे रहा हूँ। सस्था को सस्था के दिये और आपको आपके।"

वृद्ध पुरुष की आँखें छलछला आई। उन्होने कहा—"सेठ! आपने बहुत बडा बदला दिया।" "यहाँ भी आप भूलते हैं। पैसे की कीमत कितनी है, यह मनुष्य की स्थिति और मन पर निर्भर रहती है। किसी एक गरीब के लिए आठ आने उसकी सर्वस्व पूँजी बन जाती है। और एक बडे धनी के लिए लाख रुपये आठ आने के बराबर होते हैं। आपकी एव ईश्वर की कृपा से मुझे धन मिला है, इसलिए ये दो लाख रुपये देकर मैंने सिर्फ हिसाब ही चुकता किया है। आप भाषण देने की बात कहते हैं, सो मैं भाषण देना नही जानता। मैंने कामचलाऊ लिखना-पढना सीख लिया है। वैसे मुझे कुछ नही आता।" सेठ ने कहा।

वृद्ध पुरुष ने कहा—"अच्छा, तो आपके नाम की तख्ती लगा दी जाए?" "नही! ऐसा करने की जरूरत नही है। इससे मैं स्वय मुश्किल मे पड जाऊँगा।" "कैसे?" "इन्कम टैक्स के अधिकारी मुझे परेशान कर डालेंगे। मैं ब्रिटिश सरकार को टैक्स न देकर देश के काम मे धन खर्चता रहता हूँ।'

'आप मानियेगा? इतनी बडी रकम की सेठ ने रसीद भी नही लिखवाई। इस व्यापारी सेठ का नाम था—श्री गोविन्दराम सेक्सरिया। बम्बई शहर मे यह नाम बहुत प्रसिद्ध है—खास करके सट्टा बाजार और उद्योग क्षेत्र मे।'

यह है कृतदान का ज्वलन्त उदाहरण। गोविन्दराम सेक्सरिया ने सर्वप्रथम नौकरी रखने वाले सेठ के सिर्फ एक रुपये के उपकार के बदले दो लाख रुपये का प्रति दान देकर सचमुच कृतदान सार्थक कर लिया।

कृतदान भविष्यकाल के द्वारा भूतकाल को प्रतिदान है। भूतकाल से मनुष्य बहुत कुछ लेता है, उसका बदला उसे भविष्यकाल मे चुकाना चाहिए।

एक ७५ वर्ष का वृद्ध रास्ते के एक ओर वृक्ष लगा रहा था। वहाँ से दो युवक गुजरे। उन्होंने इस बूढे को वृक्षारोपण करते देखा तो हँस पडे। बोले—'बाबा! तुम्हे यह क्या माया लगी है। आज बो रहे हो, वह वृक्ष कब उगेगा? और कब तुम इसके फल खाओगे?' वृद्ध ने नम्रतापूर्वक मुस्कराते हुए उत्तर दिया—'भाई! मार्ग के दोनो ओर खडे हुए पेड अपने पूर्वजो ने बोए हैं। उनके फलो और छाया का लाभ हमे मिला। अब आज हम बोएँगे तो उसका लाभ भविष्य की सतति को मिलेगा। हमने भूतकाल से कुछ लिया है, तो भविष्यकाल को कुछ न कुछ देना चाहिए। यह माया नही, कृतज्ञता है। समाज का हम पर बहुत बडा उपकार है, उसका बदला हमे किसी न किसी प्रकार से चुकाना ही चाहिए।' युवक सन्तुष्ट होकर आगे बढ गये।

वास्तव मे कृतदान और करिष्यतिदान—ये दोनो विनिमय के प्रकार हैं। परन्तु दोनो मे से करिष्यतिदान मे दाता की और कृतदान मे आदाता की सद्भावना ही मुख्य होती है। वैसे तो दोनो मे प्रतिदान की भावना का मूल आधार आदाता है। आदाता पर ही निर्भर है कि वह लिये हुए दान के बदले मे प्रतिदान देता है या नही?

महाराणा प्रताप हल्दीघाटी के युद्ध त्याग करने पर मेवाड के पुनरुद्धार की आकाक्षा से वीरान जगलो मे भटक रहे थे। बच्चे भोजन के लिए तरसते रहते थे। उस समय राणा पेचीदा उलझन मे थे और जब वे मेवाड छोडने को उद्यत हुए, तब राणा के निर्वासन के समाचार सुनकर भामाशाह रो पडे।

भामाशाह ने राणा प्रताप से इतने वर्षो मे जो पूंजी प्राप्त की थी। भामाशाह उस पर चिन्तन करने लगे—'यह देह भी महाराणा के अन्न से बना है और यह अर्थ-राशि भी उन्ही से प्राप्त हुई है, अत ऐसे सकट के समय मे मुझे मेवाड को स्वतन्त्र कराने के लिए महाराणा को यह सम्पत्ति दे देने मे कोई सकोच नही होना चाहिए।' यह सोचकर दानवीर भामाशाह ने २५ लाख रुपये और २० हजार अशर्फियाँ राणा प्रताप को भेंट करदीं। वह धन इतना था कि उससे २५ हजार सैनिको का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था।

यह था उपकार के बदले मे कृतज्ञतापूर्वक प्रत्युपकार, जिसे हम कृतदान की कोटि मे परिगणित कर सकते हैं।

कृतदान मे पूर्व दाता को कोई कल्पना भी नही होती कि आदाता मुझे प्रति-दान देगा, वह तो नि स्वार्थभाव से उसकी परिस्थिति देखकर उस समय सहायता

करता है, जबकि करिष्यतिदान मे दान देने से पहले ही दाता एक आकाक्षा या कल्पना मनमे सजोकर चलता है। इसलिए यह नि सदेह कहा जा सकता है कि करिष्यतिदान की अपेक्षा कृतदान बहुत ही उच्चकोटि का दान है। कई दफा आदाता अपने साधारण से उपकार के बदले कई गुना धन बदले मे ऐसे समय मे स्वय की अन्त स्फुरणा से देता है, जबकि दाता सकट मे होता है।

वणथली (सौराष्ट्र) के सोमचद भाई ने अहमदाबाद के सबचद भाई झवेरी पर अपनी रकम जमा न होते हुए भी एक लाख रुपये की हुण्डी लिख दी, जिसे सबचद भाई ने सोमचद भाई पर सकट का अनुमान करके हुण्डी सिकार दी थी, लेकिन जब सोमचद भाई की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई तो वह ब्याज सहित सारी रकम सबचद भाई को वापिस देने अहमदाबाद गया। उस समय सबचद भाई की आर्थिक स्थिति बिगडी हुई थी, फिर भी उन्होने वह रकम यह कहकर नही ली, कि हमारे यहाँ आपके नाम से कोई रकम नही है। बहीखाते टटोलने पर पता लगा कि वह रकम खर्च खाते लिखी गई थी। आखिर वह रकम दोनो की ओर से धर्मकार्य मे लगाई गई। यह भी कृतदान का नमूना है। कृतदान जीवन मे कर्तव्य की भावना जागृत होने पर ही चरितार्थ होता है।

दस प्रकार के दान मे तारतम्य

अनुकम्पा दान से लेकर कृतदान तक पूर्वोक्त दान के दस प्रकार मानव की भावना और उद्देश्य के परिचायक है। विभिन्न उद्देश्यो और भावनाओ को लेकर ही ये नामकरण किये गये हैं। अनुकम्पा दान अनुकम्पा के उद्देश्य से दिया जाता है। सग्रहदान लोकसग्रह की दृष्टि से दिया जाता है। भयदान भय से, कारुण्यदान शोक से, लज्जादान लज्जा से और गौरवदान गौरव की दृष्टि से दिया जाता है। अधर्मदान अधर्मकार्य के पोषण के लिए दिया जाता है। इसके विपरीत धर्मदान धर्मकार्य का पोषक होता है, करिष्यति दान आकाक्षा और प्रतिफल की दृष्टि से दिया जाता है, जबकि कृतदान कृतज्ञता प्रगट करने के उद्देश्य से दिया जाता है।[१]

इन दस प्रकार के दानो मे धर्मदान सर्वश्रेष्ठ है, इसके बाद अनुकम्पादान, कृतदान, करिष्यतिदान, सग्रहदान, गौरवदान, भयदान, लज्जादान, कारुण्यदान और अधर्मदान ये उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं।

स्थानागसूत्र के दशमस्थान मे इनका उल्लेख आता है। स्थानागसूत्र की तरह बौद्ध साहित्य 'अगुत्तरनिकाय' (८।३१) मे भी दान के इसी तरह के आठ प्रकार बताए हैं। ☆

---

१ देखो दानो का तारतम्य पाराशर स्मृति मे—

धर्मार्थं ब्राह्मणे दान, यशोऽर्थं नटनर्त्तके।
भृत्येषु भरणार्थं, वैभवार्थं च राजसु॥

10

दान के चार भेद : विविध दृष्टि से

पिछले प्रकरण मे दान के दस भेदो पर विचार किया गया है। वास्तव मे जैन आचार्यों व विद्वानो ने जिस विषय पर भी चिन्तन किया है उसकी गहराई तक गये हैं और उसके विविध अगो को, अनेक पहलुओ को बडी सूक्ष्मदृष्टि से देखा-परखा है। जीवन के लिए उसकी उपयोगिता पर विचार किया है।

उक्त दस भेदो के अलावा भी अन्य प्रकार से अन्य भेदो पर भी विचार किया गया है। यहाँ पर हम इस विषय मे कुछ और चिन्तन करेंगे।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण मे विविध दृष्टियो से दान के चार भेद बताए हैं—

(१) दयादत्ति, (२) पात्रदत्ति, (३) समदत्ति और (४) अन्वयदत्ति[१]।

हम इनका क्रमश लक्षण देकर विश्लेषण करते हैं—

सर्वप्रथम दयादत्ति को लीजिए। दयादत्ति का अर्थ है—किसी भयभीत प्राणी को दयापूर्वक दान या अभयदान देना। भयभीत प्राणी दया की आकाक्षा रखता है, अगर उसे दया मिल जाती है तो सब कुछ मिल जाता है। भयभीत अवस्था मे भोजन, जल, औषध आदि कुछ भी लेना अच्छा नही लगता। उस समय तो प्राणी एकमात्र भयनिवृत्ति चाहता है। दयादत्ति के द्वारा प्राणी की भय से मुक्ति हो जाती है, उसे अभय मिल जाता है। महापुराणकार यही लक्षण करते हैं—

—'अनुग्रह करने योग्य प्राणी समूह पर दयापूर्वक मन-वचन-काया की शुद्धि के साथ उनके भय को दूर करके अभयदान देने को पण्डित लोग दयादत्ति कहते हैं।[२] इसी से मिलता-जुलता लक्षण चारित्रसार मे मिलता है।[3] निष्कर्ष यह है कि दयादत्ति अभयदान का ही एक प्रकार है। दया-दान मानव हृदय की कोमलता से होता है।

---

१ आदिपुराण पर्व ३८, श्लोक ३५।

२ सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा।
त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधै ॥—३८।३६

३ दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्य प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम्। —४३

जिस हृदय मे कठोरता होती है, जहाँ स्वार्थीपन होता है, जहाँ व्यक्ति अपने और अपनो के सिवाय दूसरे किसी से दु ख और पीडा के विषय मे नही सोचता, वह दया-दान नही होता। जहाँ व्यक्ति सकट आने पर अपने प्राणो की परवाह न करके दूसरे के प्राणो की रक्षा करने का विचार और प्रयत्न करता है, वही दयादत्ति है।

इग्लैंड मे नार्थ वरलैंड के पास समुद्र मे डूबे हुए अनेको पहाड हैं। उन पहाडो से टकराकर जहाज टूट न जांय, इसकी चेतावनी देने के लिए बीच मे रोशनी का एक कैंडिल बाध दिया गया था। वहाँ बस्ती नही थी। सिर्फ डार्लिंग नाम का एक नौकर दीपक जलाने के लिए वहाँ परिवार सहित रहता था। सन् १८८३ के सितम्बर मास मे समुद्र मे भारी तूफान आया और उस लालटेन से आध मील दूर एक टेकरी से टकरा कर एक जहाज टूट गया। सुबह दूरबीन से डार्लिंग ने देखा कि उस टूटे हुए जहाज का एक हिस्सा टेकरी पर पडा है। और बाकी हिस्सा चूर-चूर हो गया है। जो भाग बच गया था, उसमे १०-१२ मुसाफिर थे। डार्लिंग की कन्या ग्रेस ने जब यह करुणाजनक दृश्य देखा तो अपने पिता से पूछा—"पिताजी! क्या हम इन लोगो की रक्षा का कोई उपाय नही कर सकते? इतने मनुष्य सहायता के बिना मर जायें और हम बैठे-बैठे देखते रहे, यह मानवता के लिए उचित नही है।" पिता ने कहा—"बेटी! छोटी-सी किश्ती लेकर हमारा इन्हे बचाने जाना मृत्यु का साक्षात्कार करना है। टेकरी चारो ओर जल मे डूबी हुई है। और हवा जोरदार है। पिता की बात से पुत्री को सन्तोष नही हुआ। उसने हठ पकड लिया कि 'किसी भी तरह इन लोगो को बचाया जाय।' अन्त मे पुत्री के अत्यन्त आग्रह से दोनो ने अपनी नौका तूफानी समुद्र मे डाली। लडकी की उम्र २२ साल की थी, शरीर भी कुछ बलवान न था, और न ही ऐसे तूफानी समुद्र मे नौका चलाने का उसका अभ्यास था। ऐसे तूफान मे पहले वह कभी किश्ती मे बैठी नही थी। पर आज तो परमात्मा का नाम लेकर करुणामयी ग्रेस अपने पिता के साथ नाव पर बैठकर तूफान के सामने गई थोडी ही देर मे साक्षात् मृत्यु से टक्कर लेती वह टेकरी के पास पहुँच गई। और जो मुसाफिर विपत्ति मे पडे थे, उन्हे बचा लिया बचे हुए लोगो ने ये समाचार कृतज्ञता के साथ चारो ओर फैलाया। नतीजा यह हुआ कि यूरोप के अनेक देशो से प्रशसापत्र, चाँदी और रुपयो की थैलियाँ ग्रेस और डार्लिंग के पास इनाम के तौर पर आने लगी। परन्तु करुणामयी ग्रेस को धन्य है, जिसके दिल मे विपद्ग्रस्त लोगो को बचाने के लिए दया पैदा हुई और अपने वृद्ध पिता को लेकर अकाल मृत्यु का सामना करते हुए उसने तूफानी समुद्र मे छोटी-सी नैया डालने का साहस किया।

यह दयादत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

दयादत्ति के भी अनेक पहलू हो सकते हैं। एक पहलू यह भी है कि किसी कुरुढि या कुप्रथा को, जिसमे मूक प्राणियो या मनुष्यो का निर्मम सहार होता हो, उसे बद कराने और उन भयभीत प्राणियो की रक्षा के लिए दयाभाव से प्रेरित होकर अपने प्राणो की बाजी लगाकर उस कुप्रथा को बद करा देना।

दूसरा भेद है—पात्रदत्ति। जिसका अर्थ है—पात्र के लिए योग्य आहार आदि देना। जैसा कि महापुराण मे लक्षण किया है—

—'महातपस्वी मुनिवरो को सत्कारपूर्वक पडगाह कर जो आहार आदि दिया जाता है, उसे पात्र दत्ति कहते हैं।[1]

यह अर्थ बहुत ही सीमित परिधि मे है। वास्तव मे इस दान का अर्थ सभी प्रकार के जघन्य, मध्यम और उत्तम सुपात्र या पात्र को सत्कारपूर्वक आहार आदि का दान देना भी पात्रदत्ति के अन्तर्गत है। जैसा कि वसुनन्दी श्रावकाचार मे विधान है—

"अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीन प्रकार के पात्र को देना चाहिए।[2]

तीसरा भेद है—समानदत्ति। अपने से समान कोटि या समान स्थिति वाले गृहस्थो को दान देना समानदत्ति कहलाती है। समानदत्ति का लक्षण महापुराण मे इस प्रकार किया गया है—

समानायाऽत्मनान्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभि।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥३८॥
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतायिते।
समानप्रतिपत्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयान्विता ॥३९॥

अर्थात्—जो क्रिया, मन्त्र, व्रत आदि से अपने समान हैं, साधर्मी हैं, अथवा जो ससार समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है, उसको कन्या, हाथी, घोडा, रत्न, पृथ्वी, स्वर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र को समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ दान देना समानदत्ति कहलाता है। वास्तव मे समानदत्ति गृहस्थ को ही गृहस्थ देता है। परन्तु गृहस्थ देखता है कि अपना अमुक साधर्मी भाई दु खित, पीडित है या आर्थिक सकट मे है, तब उसके बिना कहे ही वह उसकी स्थिति देखकर यथोचित वस्तु दे देता है। अथवा कोई उत्तम गृहस्थ है, व्रतधारी श्रावक है, विद्वान् है, अनेक लोगो को मुक्तिमार्ग का भव्य उपदेश देता है। ऐसे उत्तम गृहस्थ को सत्कारपूर्वक देना भी समानदत्ति है। यद्यपि समानदत्ति पात्रदत्ति या दयादत्ति के समान उच्चकोटि का दान नहीं है, तथाऽपि लौकिक व्यवहार मे कृतज्ञता, कर्तव्यभावना और सार्धमिक सहायता की दृष्टि से वह हेय भी नही है, न अत्यन्त निकृष्ट दान है।

सौराष्ट्र के दानपरायण शामलशाह सेठ के यहाँ पुत्रवधू का सीमन्तोत्सव हो

---

१ महातपोधनाचार्या प्रतिग्रहपुर सरम्।
प्रदानमशनादीना पात्रदान तदिष्यते ॥—३८।३७

२ असण पाण खाइम साइय मिदिचउविहोवराहारो।
पुव्वुत्त णवविहाणेंहि तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥"

रहा था। इस उपलक्ष मे नगर के सभी जाति भाइयो एव सार्धर्मी भाइयो के यहाँ परोसा भेजा जा रहा था, जिसमे बढिया लड्डू प्रत्येक के यहाँ भेजे जा रहे थे। सेठ का पुत्र सूची के अनुसार लड्डू बधवा कर भिजवाने की तैयारी कर रहा था। तभी शामलशाह सेठ आए और कहने लगे—'बेटा ! आज उन विधवा बहनो, गरीब और अनाथ भाइयो को नही भूलना है। उनको परोसा अवश्य देना है। अच्छा, उनकी सूची मुझे दे तो, मैं देखकर तदनुसार लड्डू बधवाता हूँ। सेठ ने गरीबो, अनाथो या विधवाओ आदि के परोसे मे जो लड्डू रखे जा रहे थे, उनमे प्रत्येक लड्डू मे स्वर्ण मुद्राएँ रख दी। वे जानते थे कि सार्धर्मी या समान श्रेणी के जाति भाई हाथ पसार कर कभी किसी के सामने माँगेंगे नही। अत मेरा कर्त्तव्य है कि मैं स्वय ऐसी व्यवस्था कर दूं, जिससे उन्हे माँगना न पडे।

यह समानदत्ति का एक उदाहरण है।

इसी प्रकार सार्धमि भाइयो को आहार दान देना भी समानदत्ति है।

धर्मप्रेमी मन्त्री वस्तुपाल सार्धर्मी भाइयो को प्रतिवर्ष भोजन, वस्त्र, धन और औषध दिया करता था। वह इसको सघ-भक्ति मानता था। एक बार उसके यहाँ १८०० सार्धर्मी भाई आए। उनके आते ही वस्तुपाल क्रमश उनके पैर धोने लगे। उन्होने भोजन बनाने का आदेश रसोइयो को दे दिया था। कुछ ही देर मे उनके भाई तेजपाल आए और बडे भाई को इस प्रकार पैर धोते देख उनका हाथ पकडकर बोले—"भैयाजी, बस, अब मुझे धोने दो।" वस्तुपाल ने कहा—"नही भाई ! इसमे भाग नही होता। पुण्य स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार बडी भक्तिभावना से सार्धर्मी बन्धुओ को दोनो भाइयो ने भोजन कराया।

सत्कारपूर्वक उत्तम गृहस्थ को देश-सेवा, समाज सेवा आदि कार्य के उपलक्ष मे स्वर्ण मैडल आदि भी दिया जाता है, उसे भी समानदत्ति कहते हैं।

समानदत्ति अपने गरीब और अभावग्रस्त भाई-बहनो को समान करने के लिए भी होता है। समानदत्ति के बाद दान का चौथा भेद है—अन्वयदत्ति। इसे 'सकलदत्ति' भी कहते हैं। अन्वयदत्ति का सम्बन्ध मुख्यतया अपने परिवार या जाति से है। अन्वयदत्ति का लक्षण महापुराण मे इस प्रकार किया गया है—

"अपने वश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ अपना परिवार सौंपना अन्वयदत्ति या सकलदत्ति कहलाता है।"[1]

अन्वयदत्ति मे खासकर यह देखा जाता था कि मेरा यह पुत्र, मेरी सम्पत्ति, एव जमीन जायदाद के साथ, मेरे कुल के रीति-रिवाजो, सुप्रथाओ एव कर्त्तव्यो का

---

१ आत्माऽन्वय प्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषत ।
सम समयवित्ताभ्या स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥—३८।४०
" सैषा सकलदत्ति ॥ —३८।४१ ॥

पालन ठीक तरह से करेगा या नही ? साथ ही पिता यह भी देखता है कि जिस पुत्र को मैं धन आदि का उत्तराधिकार सौप रहा हूँ, वह मेरे समस्त परिवार अपनी माता, अपने छोटे भाइयो, वहनो तथा चाचा-चाची आदि को ठीक तरह से सम्भाल सकेगा या नही ? वह इस गुरुतर दायित्व का भली-भाँति वहन कर सकेगा या नही ?

उपासकदशाग सूत्र मे आनन्द श्रमणोपासक के जीवन की झाँकी दी गई। उसमे यह उल्लेख है कि जब आनन्द श्रमणोपासक की इच्छा सामान्य श्रावक व्रतो से ऊपर उठकर प्रतिमाधारी श्रावकधर्म के पालन करने की हुई, तव उन्होंने अपने समस्त कुटुम्बीजनो, अपने कुल एव जाति के बन्धु-बान्धवो, मित्रो, सम्बन्धियो आदि सबको ससम्मान आमन्त्रित किया। सबको प्रीतिभोज दिया और फिर बडे समारोह के साथ उन सबके सामने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपनी सम्पत्ति, जमीन-जायदाद सौंपी, एवं तत्पश्चात् अपने कुल के समस्त दायित्वो को सौंपा तथा अपने परिवार को ठीक तरह से सम्भालने का भार भी सुपुर्द किया।

इस प्रकार वैदिक धर्म ग्रन्थो में भी यह उल्लेख आता है कि पिता जब सन्यास या वानप्रस्थ आश्रम का स्वीकार करता था तव अपनी कुल सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, कुलपद्धति एव परिवार के आश्रितजनो का समस्त भार अपने बडे लडके को सौंप देता था।

इस प्रकार के समर्पण या उत्तराधिकारदान को अन्वयदत्ति कहा जाता है। सामान्य गृहस्थ की तरह राजा या मत्री भी जब वश-परम्परागत होता था, तब राजा या मत्री भी अपने-अपने पुत्र को धन के साथ सारा उत्तराधिकार सौंप देते थे। परन्तु यह दान प्रायः वश या कुल तक ही सीमित रहता था। यद्यपि यह एक प्रकार से दायित्व कर्त्तव्य के भार से हलके होने के लिए ही पिता वृद्ध होने पर करता था, परन्तु इसमे कई वार सन्तान मे धन या जमीन जायदाद के लिए बडे झगडे होते थे। राजा या धनिक जब अपने मनचाहे पुत्र को उत्तराधिकार सौंप देता था, और जब वह अवारागर्द होकर फिरता या भोग-विलास, आमोद-प्रमोद या दुर्व्यसनो मे सारी पूंजी फूंक देता तो पिता को वडा दु ख होता। इसलिए पिता पर बहुत बडी जिम्मेवारी होती थी कि वह ठोक-बजाकर परीक्षा करने के वाद जिस पुत्र को योग्य समझे, उसे ही उत्तराधिकार सौंपे। इसीलिए लायक-नालायक की परीक्षा करने के बाद भी पिता अपने सारे कुटुम्बिजनो के समक्ष अपने योग्यतम पुत्र को अपनी धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद या उत्तराधिकार का दायित्व सौंपता था।

तात्पर्य यह है कि यह दान सीमित दायरे मे होने के कारण न तो पुण्य का कारण है और न विशिष्ट धर्म का ही। हाँ, लौकिक-धर्म या कर्तव्य-धर्म के अन्तर्गत इसे समझा जा सकता है। किन्तु यह तो निश्चित है कि ऐसा अन्वयदान पाप नही है और न ही अधर्म है। पाप तो तब होता है, जब पिता लूटकर, अपहरण करके या

अन्य अनैतिक प्रकार से पाप कर्म करके धन बटोरकर अपने पुत्र को सौंपता हो। किसी से जमीन जबर्दस्ती छीनकर अथवा अपने कब्जे मे करके उसे पुत्र को सौंपता हो, ऐसे पापकर्मजनित दान को क्या पापयुक्त दान नही कहा जाएगा ? भले ही वह अन्वयदत्ति की कोटि मे हो, परन्तु पापकर्म जनित दान का बोझ क्या उसके उत्तराधिकारी को प्रपीडित नही करेगा ?

इसलिए फल की दृष्टि से अन्वयदत्ति इतनी उच्चकोटि या मध्यम कोटि का दान नही है, जो दयादत्ति, पात्रदत्ति या समानदत्ति की तुलना कर सके। फिर भी अन्वयदत्ति को हम सहसा अधर्मदान की कोटि मे नही रख सकते। क्योकि यह दान, जो अपने उत्तराधिकारी को सौंपा जाता है, वह प्राय सोच-विचार कर ही सौंपा जाता है, जो पुत्र धर्मवृद्धि कर सके, पिता के धन की रक्षा के साथ-साथ धर्म रक्षा भी कर सके, ऐसे धर्मपालक को ही प्राय उत्तराधिकारी चुना जाता है। जो अधर्मी या पापी होते हैं, चोर, डाकू होते हैं, वे अपने पुत्र को प्राय अन्वयदत्ति देते ही नहीं वे अपनी सम्पत्ति देते भी हैं तो यो ही सौंप देते हैं। उसमे न किसी प्रकार का विचार होता है, न सज्जनो का साक्षित्व ! उसे अन्वयदत्ति ही कैसे कहा जा सकता है ?

दान के उक्त चार प्रकारो का विशेष विवेचन दिगम्बर जैन साहित्य मे प्राप्त होता है, श्वेताम्बर आचार्यों ने अन्य रूप मे अर्थात् दस भेदो के रूप मे उस पर विचार किया है और दिगम्बर आचार्यों ने चार दत्ति के रूप मे। वास्तव मे तो प्रत्येक कसौटी पर दानधर्म को कसना उसके उद्देश्य और प्रकार पर विचार करना यही अभीष्ट रहा है और इसीलिए हमने यहाँ यह चिन्तन किया है। ☆

11

आहारदान का स्वरूप

जैनधर्म मे दान को अतीव महत्त्व दिया गया है। और साधु को दान लेने का अधिकारी बतलाकर वहाँ दान देने का माहात्म्य बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है। परन्तु गृहस्थ के जीवन मे शुद्ध (निश्चय) धर्म को बहुत कम अवकाश होने से गृहस्थ-धर्म मे दान की प्रधानता है। यद्यपि साधु भी दान देता है, पर वह ज्ञान, धर्म-आदि का ही दान दे सकता है, खाद्य पदार्थों आदि का नही, क्योंकि वह स्वय खाद्यपदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि के विषय मे गृहस्थ पर निर्भर है। इस दृष्टि से दान को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—अलौकिक और लौकिक। अलौकिक दान चार प्रकार का है—आहारदान, औषधदान, ज्ञान (शास्त्र) दान और अभयदान। ये ही चार प्रकार लौकिक दान के हैं। अन्तर इतना ही है, आहारादि चार प्रकार का अलौकिक दान प्राय साधुओ को दिया जाता है, तो वह उत्कृष्ट फलदायक होता है और जब उन्ही आहारादि का लौकिक दान समान, अनुकम्पनीय, साधर्मी या करुणापात्र, गृहस्थ को दिया जाता है, तब वह इतना उच्च फलदायक नही होता। परन्तु इसका मतलब यह नही है कि अलौकिक पात्र न मिले तो अवसर आने पर लौकिक पात्र को भी न देना। अर्थात् अलौकिक दान का अवसर न मिलने पर लौकिक दान की अपेक्षा करना कथमपि उचित नही है। दान तो किसी भी हालत मे निष्फल नही जाता। इसीलिए कहा है—

'मात्रके कीर्तिपुष्टाय, स्नेहपुष्टाय बान्धवे।
सुपात्रे धर्मपुष्टाय, न दानं क्वापि निष्फलम् ॥"

—'मात्रक (दीन-दु खी करुणा पात्र) को दान देने से कीर्ति की पुष्टि (वृद्धि) होती है, भाई-बन्धुओ को दान देने से स्नेह की पुष्टि होती है और सुपात्र को दान देने से धर्म की पुष्टि होती है। दान कदापि निष्फल नही जाता।

लौकिक और अलौकिक दृष्टि से दान के चार भेद

जैनधर्म के विविध शास्त्रो और धर्मग्रन्थो मे दान के कही चार प्रकार, कही तीन प्रकार भिन्न-भिन्न रूप मे वर्णित हैं। पहले हम उन सबके नाममात्र का क्रमश उल्लेख करते हैं, उसके बाद उन पर पूर्वोक्त दोनो दृष्टियो से विश्लेषण करेंगे।

वास्तव मे दान का सारा दारोमदार भावना पर निर्भर है और भावना की विविध तरगें हैं। इसलिए दान भी विविध प्रकार का हो जाता है। परन्तु यहाँ मुख्य-मुख्य भावनाओ व वस्तुओ की अपेक्षा से दान के भेदो का उल्लेख किया है।

आचार्य कार्तिकेय[1], आचार्य जिनसेन,[2] आचार्य सोमदेव,[3] आचार्य देवसेन, एव आचार्य गुणभद्र ने दान के निम्नोक्त चार भेद बताए हैं—

(१) आहारदान, (२) औषधदान, (३) शास्त्र (ज्ञान) दान और (४) अभयदान।

आचार्य वसुनन्दी[4] ने भी निम्न चार भेद बताए हैं—

(१) करुणादान (२) भैषज्यदान (३) शास्त्रदान और (४) अभयदान।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार[5] मे आचार्य समन्तभद्र ने दान के ४ भेद बताए हैं—

(१) आहारदान, (२) औषधदान (३) उपकरणदान और (४) आवासदान।

तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका मे आचार्य पूज्यपाद दान के तीन भेद करते हैं। वह इस प्रकार है—

त्यागो दानम्। तत् त्रिविधम्—आहारदानमभयदान ज्ञानदान चेति

अर्थात्—दान त्याग को कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। ये ही तीन भेद त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र मे एव धर्मरत्न मे बताये गये हैं।[6] आहार की जगह वहाँ धर्मोपकरण हैं। अब इन सबका क्रमश विश्लेषण करते हैं—

आहारदान : स्वरूप और दृष्टि

सर्वप्रथम आहारदान को ही लें। आहारदान को प्राय सभी आचार्यों ने माना है। आचार्य वसुनन्दी ने आहारदान के बदले वहाँ 'करुणादान' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका भाव आहारदान से ही है। आहार जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। वस्त्र के बिना तो चल भी सकता है। दिगम्बर मुनि निर्वस्त्र रहते हैं। परन्तु आहार के बिना उनका भी काम नही चलता। यहाँ तक कि तीर्थंकर जैसे

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे,
२ महापुराण मे,
३ नीतिवाक्यामृत मे,
४ वसुनन्दी—श्रावकाचार मे
५ आहारौषधयोरप्युकरणावासयोश्चदानेन ।
वैयावृत्य ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥११७॥
६ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्म ।—परमात्म प्रकाश टीका

उच्चतम साधक को भी अन्तत आहार लिए बिना कोई चारा नही है। मुनियो, महाव्रती श्रमणो एव त्यागियो का आहार गृहस्थ पर ही निर्भर है। इसलिए गृहस्थ के लिए आहारदान आदि को ही परम धर्म माना गया है। आहारदान का महत्त्व समझाते हुए पद्मनन्दि पचविंशतिका मे बताया है—

'समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख स्पष्टत मोक्ष मे ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शन आदि रूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय निर्ग्रन्थ साधु के होता है। उस साधु की स्थिति शरीर के निमित्त (टिकने) से होती है, शरीर भोजन से टिकता है और वह भोजन श्रावको के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेश युक्त काल मे भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्राय उन सद्गृहस्थ श्रावको (आहारदानियो) के निमित्त से होती है।[1]

नि स्पृह साधु अपने सयमपालन एव धर्माराधन के लिए जीता है। और धर्मपालन या सयमसाधना का मुख्य आधार शरीर है। शरीर जब तक सशक्त और धर्म-पुरुषार्थ करने योग्य रहता है, तब तक उससे सयमी पुरुष धर्मपालन एव सयम-साधना करता है। परन्तु जब शरीर एकदम अशक्त, , दुर्बल, उठने-बैठने मे परतन्त्र एव निढाल हो जाता है, तब सल्लेखना-सथारा करके साधक उसे छोड देता है। उसे आहारादि द्वारा पोषण भी तभी तक वह देता है, जब तक शरीर से धर्मपालन होता हो। इसलिए शरीर को आहार आदि देकर साधक धर्म-पुरुषार्थ के योग्य कार्यक्षम रखता है। परन्तु वह आहार, जिससे साधक का शरीर टिकता है, और धर्मपालन मे तत्पर रहता है, आहारदाता सद्गृहस्थ से ही मिलता है। इसलिए साधु को आहार देने वाला एक तरह से धर्म, त्याग, नियम आदि का बल देता है इस बात को आचार्य कार्तिकेय अपने ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे स्पष्ट करते हैं—

—"भोजनदान (आहारदान) देने पर समझ लो, पूर्वोक्त तीनो (औषधदान, शास्त्रदान एव अभयदान) दान दे दिये। क्योकि प्राणियो को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, और भोजन दान देने पर प्राणो की भी रक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि साधु को भोजन दान क्या दे दिया, सद्गृहस्थ ने वास्तव मे उसे ज्ञान, ध्यान, तप, सयम, धर्म, नियम आदि मे पुरुषार्थ करने का बल दे दिया।[2]

---

१ सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटम्।
दृष्ट्यादित्रय एव सिद्ध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्॥
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तद्दीयते श्रावकै।
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥७।८॥

२ भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे-दिणे होंति देहीण॥३६३॥

यही कारण है कि आहारदान का बहुत बडा माहात्म्य बताया गया है, क्योंकि साधु-जीवन का सारा दारोमदार सयम-साधना मे पुरुषार्थ पर है और वह पुरुषार्थ आहार किये बिना हो नही सकता। साधु स्वय अनाज बोता नही, स्थूल खेती करता नही और न ही वह स्वय अन्न पीसकर, रोटी पकाता है। इसलिए वह गृहस्थों के घर मे उसके परिवार के लिए सहज स्वाभाविक रूप से बने हुए भोजन मे से भ्रमर की तरह थोडा-थोडा लेकर अपना शरीर-निर्वाह कर लेता है। इससे न तो गृहस्थो को ही तकलीफ होती है और न ही साधुओ को हिंसादि आरम्भजन्य दोष लगता है। परन्तु साधु को ऐसा प्रासुक, ऐषणीय और कल्पनीय आहार गृहस्थ के घर मे बना हुआ और रखा हुआ होने पर भी देना तो उसके आधीन है, उसकी मर्जी पर निर्भर है। यदि वह अपने घर मे बनाए हुए आहार मे से श्रद्धा भक्तिपूर्वक सयम-निर्वाहार्थ साधु को देता है तो बहुत बडा उपकार करता है वह सयमी साधु के शरीर का रक्षण और सवर्द्धन करके उसके धर्म का, मुक्ति की साधना का रक्षण और सवर्द्धन करने मे निमित्त बनता है। आचार्य अमितगति भी अपने श्रावकाचार मे इसी बात को प्रतिध्वनित करते हैं—

—"केवल ज्ञान से बढकर उत्तम कोई ज्ञान नही है, निर्वाण सुख से श्रेष्ठ कोई सुख नही है, उसी प्रकार आहारदान से बढकर उत्तम अन्य कोई दान नही है। इसलिए अन्नदानकर्ता पुरुष ससार की सर्वसुन्दर वस्तुएँ उस दान के फलस्वरूप प्राप्त करता है। अधिक क्या कहे, सर्वज्ञ महापुरुष के बिना अन्य कोई व्यक्ति आहारदान के फल का कथन नही कर सकता।[1]

शरीर की तमाम वेदनाओ मे सबसे बढकर वेदना[2] क्षुधा है। भूखा व्यक्ति धर्म-कर्म सब कुछ भूल जाता है। उसे कुछ नही सुहाता।[3] उस समय वह अधर्म का आचरण करने पर उतारू हो जाता है, लज्जा और मर्यादा को भी ताक मे रख देता है। इसीलिए नीतिकार ने कहा है—

'बुभुक्षित किं न करोति पापम् ?'

कौन-सा ऐसा पाप है, जिसे भूख से व्याकुल आदमी नही कर बैठता ?

भोयणबलेण साहू सत्थ सेवेदि रत्तिदिवस पि।
भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६४॥

१ केवलज्ञानतो ज्ञान, निर्वाणसुखत सुखम्।
आहारदानतो दान नोत्तम विद्यते परम् ॥२५॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन बिना सकलवेदिना।
फल नाहारदानस्य पर शक्नोति भाषितुम् ॥—अमित० श्राव० ३१॥

२ 'खुहासमा णत्थि सरीरवेयणा।'

३ 'बुभुक्षित न प्रतिभाति किंचित्।

इसलिए आहारदान या अन्नदान का बहुत बडा महत्त्व बताया है। वेदो मे इसीलिए कहा है—'अन्न वै प्राणा' अन्न ही वास्तव मे प्राण हैं। अन्न दान देना एक अर्थ मे प्राण दान देना है। इसीलिए महाभारत मे अन्न दान की महिमा बताते हुए वर्णन किया है—

"सभी दानो मे अन्नदान श्रेष्ठ बताया है। इसलिए अनायास ही धर्मपालन करने के इच्छुक को सर्वप्रथम अन्नदान करना चाहिए।[1] अन्नदान का महत्त्व तो वस्तुत तब प्रतीत होता है, जब चारो ओर दुष्काल की काली छाया उस प्रदेश पर पडी हो। अन्यथा, जिसके पास अन्न का भण्डार है, वह अन्नदान का महत्त्व सहसा नही जान सकता।

जैन इतिहास का एक दुर्भाग्यपूर्ण पृष्ठ बताता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद भारतवर्ष मे बारहवर्षीय दुष्काल पडा था। मनुष्य अन्न के दाने-दाने के लिए तरसते थे। सद्गृहस्थ श्रमणोपासको की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय बनी हुई थी। ऐसे समय मे सेरभर मोती के बदले सेरभर जुआर मिलना भी कठिन हो गया था। तब वे अपने श्रद्धेय निर्ग्रन्थ श्रमणो को कैसे और कहाँ से भिक्षा दे देते ? और निर्दोष, ऐषणीय भिक्षा भी प्राप्त होनी कठिन थी। इसलिए कुछ साधु उत्तर-भारत से विहार करके दक्षिण भारत मे चले गये थे। कहते हैं ७४८ साधुओ ने ऐसे समय निर्दोष आहार मिलने की सम्भावना क्षीण देखकर अनशन (सथारा) करके समाधि-पूर्वक देह-त्याग कर दिया था। जो बचे थे, उन्हे भी ऐसे दीर्घकालीन दुर्भिक्ष के समय आहार मिलना दुर्लभ हो गया था। फिर भी जो कुछ प्राप्त होता, उसमे से कई दफा तो रास्ते मे ही क्षुधापीडित लोग लूट लेते थे। आहार पर्याप्त न मिलने से उनकी स्मृति कुण्ठित होने लगी। वे शास्त्रपाठो को विस्मृत होने लगे। ऐसी स्थिति मे आप अनुमान लगा सकते हैं कि आहारदान का कितना महत्त्व था। ऐसे समय मे भी श्रद्धालु सद्गृहस्थ स्वय भूखे रहकर अपने गुरुओ को आहार देते थे, वे एक प्रकार से प्राणदान और प्रकारान्तर से ज्ञानदान, सयमदान एव धर्मदान देते थे।

आचार्य वज्रस्वामी (दशपूर्वधर) ने जब अनशन किया, तब अपने शिष्यो से कहा था—बारह वर्ष का भयकर दुष्काल पडेगा। किन्तु जिस दिन किसी गृहस्थ के यहाँ एक लाख रुपये का अन्न एक हाडी मे पके, समझ लेना, उसके दूसरे ही दिन सुकाल हो जाएगा।

सचमुच १२ वर्ष का भयकर दुष्काल पडा। लोग अन्न के दाने-दाने के लिए तरस रहे थे। यातायात के साधन उस समय इतने सुलभ नही थे कि बाहर से कही से अन्न मगाया जा सके। महगाई होने के कारण सामान्य आदमी तो अन्न खरीद भी

---

१ सर्वेषामेव दानानामन्न श्रेष्ठमुदाहृतम्।
पूर्वमन्न प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता ॥—महाभारत

नही सकता था। अन्न के अभाव मे मनुष्य और पशु अकाल मे ही मरणशरण हो रहे थे। वज्रस्वामी के शिष्य विहार करते-करते सोपारक (जिसे आज 'सोफाला' कहते हैं) पहुँचे। वहाँ एक व्रतधारी श्रावक परिवार अन्न न मिलने से दुःखी हो रहा था। सोच रहा था—"अन्न के अभाव मे हम बारहवें व्रत का कैसे पालन करें, कैसे अपने गुरुओ को दें?" बडी मुश्किल से घर का मुखिया कही से एक लाख मुद्रा देकर एक हाडी भर पक सके उतना अनाज लाया। परिवार के सब लोगो ने सोचा—रोज-रोज एक लाख मुद्रा कहाँ से खर्च करेंगे? और फिर एक लाख मुद्रा देने पर भी अन्न कोई देना नही चाहता। अतः क्यो नही, आज ही इस हडियाँ मे विष घोलकर सदा के लिए सो जाएँ।" इस विचार से वह लाख रुपयो के मूल्य के अनाज वाली हडिया चूल्हे पर चढाई गई। जब अनाज सीझ गया तो वह हडिया नीचे उतार ली। सयोगवश उसी समय इसी श्रावक के यहाँ वज्रस्वामी के शिष्य मुनिवर भिक्षा के लिए पहुँच गए। उन्हे देखते ही सबने कहा—"भगवन्! हमारे अहोभाग्य हैं, आप अच्छे समय पर पधार गये।" साधुओ को शका हुई कि कही हमारे आने से इनके भोजन मे अडचन तो नही पडी है। पूछताछ करने पर श्रावक परिवार ने शका का निवारण किया और सारी आपबीती सुनाई। फिर श्रद्धापूर्वक कहा—"गुरुदेव! आप इस आहार को ग्रहण करें। आपके प्राण बचेंगे तो आपसे ज्ञान-ध्यान, तप-सयम का पालन होगा। हमने अभी तक इस लक्षमुद्रापाकी अन्न मे विष नही मिलाया है।" यह सुनते ही साधुओ को आचार्य वज्रस्वामी की कही हुई बात याद आ गई। उन्होने श्रावक परिवार को आश्वासन देते हुए कहा—"आपने तो सारा आहार हमारे पात्र मे डाल दिया। परन्तु आपको अब केवल आज ही उपवास करना है, विष न खाएँ। आचार्य वज्रस्वामी की भविष्यवाणी के अनुसार हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि कल से ही सुकाल हो जायगा।" सबने यह सुनकर एकमत से निर्णय किया कि 'इतने दिन दुर्भिक्ष मे काटे तो एक दिन और सही।' सचमुच दूसरे दिन प्रातःकाल ही विदेश से अनाज से भरे जहाज आ पहुँचे। अतः सारे परिवार ने जीवनदान पाया, इसके कारण भागवती दीक्षा अगीकार करली। यही कारण है कि सद्गृहस्थ द्वारा अलौकिक आहारदान का बहुत उत्तम फल एव महत्त्व 'रयणसार' मे बताया गया है—

> जो मुणिभुत्तवसेस भुजइसो भुजए जिणवद्दिट्ठ।
> ससार-सारसोक्ख कमसो णिव्वाणवरसोक्ख ॥२१॥

—अर्थात् जो भव्यजीव मुनिवरो को आहार देने के पश्चात् अवशेष, भोजन को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह ससार के सारभूत उत्तम सुखो को पाता है और क्रमशः मोक्ष के श्रेष्ठ सुखो को प्राप्त करता है।

इतना ही नही तिर्यंचो के लिए भी अलौकिक आहारदान का बहुत बडा महत्त्व बताया गया है। यद्यपि तिर्यंचो के लिए प्रत्यक्ष दान देना कम सम्भव है।

षट्खण्डागम धवला टीका मे इसी प्रकार का एक प्रश्न किया गया है कि तिर्यंचो द्वारा दान देना कैसे सम्भव हो सकता है ? उत्तर मे कहा गया है—नही, क्योकि तिर्यंच सयतासयत जीव सचित्तभजन के प्रत्याख्यान (व्रत) को ग्रहण कर लेते हैं, उन तिर्यंचो द्वारा सल्लकी के पत्तो आदि का दान देना मान लेने मे कोई विरोध नही आता। कई तिर्यंच पूर्वजन्म-स्मरण करके अलौकिक आहारदान मुनिवर को दिलाने की दलाली करके भावनावश अलौकिक आहारदान देने का फल प्राप्त कर लेते हैं।[1]

जैनग्रन्थो मे बलभद्र मुनि का वर्णन आता है। वे इतने सुन्दर एव सुकुमार थे कि पनघट पर खडी पनिहारिनें उनके रूप पर मुग्ध होकर भान भूल जाती। एक बार तुंगियानगरी मे एक पनिहारिन उनके सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध हो गई कि हाथ मे लिए हुए घडें के गले मे रस्सा डालने के बदले भान भूलकर अपने बच्चे के गले मे रस्सा डाल दिया। मुनि ने ज्यो ही यह दृश्य देखा कि वे तेज कदमो से वहाँ पहुँचे और उस महिला को सावधान किया। तभी से उन्होने अपना नगर-निवास अनर्थंकर जानकर छोड दिया। और तुंगियापर्वत पर वन मे एकान्तवास स्वीकार करने और वन मे जो कुछ साधु नियमानुसार आहार मिले, उसी मे सतुष्ट रहने का सकल्प किया। मुनिवर जगल मे पहुँचे तो वहाँ भी सर्वत्र जीवसृष्टि ऐसे विश्वप्रेमी मुनि को अव्यक्तरूप से मदद करने हेतु खडी थी। नगर मे मानव थे तो वन मे वन्य पशु थे। मानव साधना मे जितनी खलल पहुँचाते थे, उतनी ये वन्यजीव नही। मुनि के पीछे सारा वन मुग्ध हो गया। जब मुनि ध्यानमग्न हो जाते तो निर्दोष हिरनो के झुंड के झुंड आकर मुनि के सान्निध्य मे निर्भयता से चरते थे। यो होते-होते एक मृग को मुनि के सत्संग का रग लग गया। वह मुनि का इतना घनिष्ठ साथी बन गया कि जब मुनि ध्यान मे बैठते तो वह भी चलना-फिरना बन्द करके एक जगह बैठ जाता और मुनि जब ध्यान खोलते तो वह भी उठकर मुनि के पास दौडने, खेलने और प्रेम करने लगता। उसने सज्ञाज्ञान से जान लिया कि मुनि को इस जगल मे आहार का योग किसी दिन ही लग पाता है। अत ऐसे आहार के योग की तलाश करूँ। मृग की भावना जगी। उसने मन ही मन विचार किया कि इन मुनिजी को ऐसा योग लगा दूँ कि इन्हे प्रतिदिन आहार मिला करे।" वह इस प्रकार के आहार के योग की तलाश करता और मुनि को आहार दिला देता। एक दिन मृग इसी भावना से काफी दूर—लगभग एकाध कोस दूर निकल गया। वहाँ उसने एक बढई को लकडियाँ चीरते हुए देखा। एक ओर वह एक पेड की शाखा चीर रहा था, दूसरी ओर रसोई तैयार हो रही थी। यह

---

१ कध तिरिक्खेसु दाणस्स सभवो ? ण, तिरिक्ख सजदासजदाणा सचित्तभजणे गहिदपच्चक्खाण सल्लइपल्लवादि देततिरिक्खाण तद्विरोधादो।

—२,२१६/१२३/४

देखकर मृग वापस आया और इशारे से मुनि को अपने पीछे-पीछे खींचकर उपर्युक्त स्थल पर ले गया। तपस्वी मुनि को ७-८ दिनो से कही भी आहार का योग नही मिला था। ऐसे जगल मे मुनि के पवित्र दर्शन ! बढई तो मुनि को देखते ही हर्षमग्न हो गया। वह फूला नही समाया। उसने पेड की आधी डाली चीरी थी। भोजन का समय हो रहा था, इसलिए काम बन्द करके वह पेड से उतरा। दूसरे आदमी भी पेड से उतरे। मृग के हर्ष का पार न था। बढई की भावना भी पराकाष्ठा पर थी। सत-हृदय भी उनकी भावना देखकर उल्लसित हो रहा था। परन्तु सयोगवश ज्यो ही बढई बलभद्र मुनि के भिक्षापात्र मे आहार देने जा रहा था, मुनिजी अपने पात्र आहार के लिए रख रहे थे और भावना मे ओतप्रोत मृग खडा वहाँ था, त्यो ही एकाएक जोरदार अधड आने से आधी चीरी हुई पेड की डाली ठीक इन तीनों पर पडी। पडते ही शुभ भावना मे डूबे हुए तीनो (मुनि, मृग और बढई) वहीं के वही मरणशरण हो गये। तीनो की भावना समान थी, इसलिए तीनो मर कर वहाँ से स्वर्ग मे गये।

यह था, एक मृग के द्वारा अलौकिक आहार दान की दलाली करके दिलाने का परिणाम ! यह तो हुई अलौकिक आहार-दान की करामात ! लौकिक आहार दान का महत्त्व भी कम नही है।[1] परन्तु मुनि तो अपने नियमानुसार कल्पनीय एव ऐषणीय आहार ही लेते हैं। सब जगह मुनियो का योग नही मिलता। तब का क्या उपाय है—आहारदान से सुफल प्राप्त करने का ? यह जैन इतिहास के एक ज्वलन्त उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद भ ऋषभदेव अष्टापद पर्वत पर पधारे। भरत चक्रवर्ती को ज्ञात होने पर वे भगवान् के दर्शनार्थ तैयार हुए। मुनियो को आहारदान देने की भावना से प्रेरित होकर भरत पकापकाया भोजन गाडियो मे भरकर अपने साथ ले चले। भगवान् के दर्शनानन्तर भरत चक्री ने उनसे भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु भ ऋषभदेव ने राजपिंड मुनियो के लिए अकल्पनीय है, कहकर वह भोजन लेना अस्वीकृत कर दिया। इस पर भरत को बहुत ही खिन्नता हुई। निराश भरत को इन्द्र ने आकर समझाया, आश्वस्त किया और कहा—'इस नैमित्तिक भोजन का उपयोग स्वधर्मी गृहस्थो को खिला कर करेंगे। इन्द्र के कथनानुसार भरत

---

१ अन्नदान का महत्त्व—

तुरगशतसहस्र गोगणाना च लक्ष, कनकरजतपात्र मेदिनी सागरान्तम्।
विमलकुलवधूना कोटिकन्याश्च दद्यात् नहि नहि सममेतत् भक्तदानै प्रधाने ॥

अर्थात्—यदि कोई दानी किसी व्यक्ति को लाख घोडे दे दे, लाखो गायें भी दे दे, सोने-चाँदी के बर्तन दे दे अथवा समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का दान करदे या पवित्र कुल की करोड कन्याएँ कुलवधू के रूप मे दे दे, तब भी ये सब दान सबसे प्रधान अन्नदान (आहारदान) के तुल्य नही होते।

चक्रवर्ती ने उस आहार का उपयोग स्वधर्मी गृहस्थो को भोजन कराने मे किया। भरत चक्रवर्ती ने वहाँ एक भोजनशाला का निर्माण करवाया, जिसमे कई धर्मनिष्ठ सद्गृहस्थ भोजन करते थे। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने भ ऋषभदेव के द्वारा आहार लेने से इन्कार करने पर आहारदान का महत्व समझ कर धर्मनिष्ठ श्रावको माहणो और सद्गृहस्थो के प्रतिदिन भोजन कराने के लिए ही वहाँ भोजनशाला खोली थी।

सचमुच आहारदान देना सर्वदानो मे श्रेष्ठ है। दक्षिण भारत के श्रेष्ठतम धर्म ग्रन्थ कुरल मे बताया है—

इदं हि धर्म सर्वस्व शास्तृणा वचने द्वयम्।
क्षुधार्तेन समं भुक्ति, प्राणिनां चैव रक्षणम् ॥३३।२

—क्षुधापीडितो के साथ अपना भोजन बाटकर खाना और प्राणियो की रक्षा करना यह धर्मों का सर्वस्व है और धर्मोपदेष्टाओ के समस्त उपदेशो मे श्रेष्ठतम उपदेश है। आचार्य वसुनन्दी ने भी वसुनन्दी श्रावकाचार ने अलौकिक और लौकिक दोनो दृष्टियो से आहारदान को श्रेष्ठ बताया है—

—'अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारो प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीनो प्रकार के पात्रो को देना चाहिए।[1]

इसमे अलौकिक और लौकिक दोनो दृष्टियो से आहार दान का महत्त्व बताया गया है। लौकिक दृष्टि से आहारदान का महत्त्व बताने के लिए ही उन्होंने तीनो को देने का उल्लेख किया है। लौकिक दृष्टि से आहारदान देने को आचार्य वसुनन्दी ने एक तरह से करुणादान कहा है—

—'अत्यन्त वृद्ध, बालक, मूक, अन्धा, बहरा, परदेशी, रोगी और दरिद्र मनुष्यो को 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा समझ कर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए।[2]

अकसर जो गृहस्थ धन अर्जन कर सकता है, अपनी आजीविका स्वय चला सकता है, सशक्त है, स्वस्थ है, आपद्ग्रस्त नही है उसे दान लेने का अधिकार नही है। इसलिए ऐसा सद्गृहस्थ आहार आदि का दान लेने से सकोच ही करता है। परन्तु जब किसी प्रदेश मे दुष्काल पड गया हो, वह प्रदेश सूखा, बाढ या भूकम्प आदि से प्रभावित हो गया हो, या किसी महामारी या बीमारी के उपद्रव से पीडित हो, विधवा अनाथ या अपाहिज हो, कमाने के अयोग्य हो, अत्यन्त वृद्ध हो, अत्यन्त निर्धन हो, ऐसे व्यक्ति को करुणा की दृष्टि रखकर आहारादि दान देना लौकिक दृष्टि से भी उत्तम है।

---

१ असण पाण खाइम साइममिदि चउविहोवराहारो।
पुव्वुत्तणवविहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥२३४॥

२ अइवुड्ढ-बाल-मूयंध बहिर-देसंतरीय-रोडाण।
जह जोग्ग दायव्व करुणा दाणत्ति भणिऊण ॥२३५॥

समानदत्ति की दृष्टि से भी आहारादि का दान उचित ही है। वैसे तो जब तक बस चलता है, कोई भी व्यक्ति किसी से मागना या किसी के आगे हाथ पसारना अथवा किसी से दान लेना नही चाहता। विवशता की परिस्थिति मे ही गृहस्थ किसी दूसरे से याचना करता है या दान लेना चाहता है। इसलिए मानवीय कर्तव्य के नाते भी ऐसे समय मे आहारादि दान देना साधन-सम्पन्न मानव का कर्तव्य हो जाता है।

जैनाचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज एक बार जूनागढ पधारे, उन्होंने देखा कि एक जगह दो बडे-बडे कडाह भट्टी पर चढाए हुए हैं।' लोगो से पूछा—'यहाँ ये क्यो चढाए गए हैं?' किसी ने कहा—"महाराज श्री! यहाँ प्रजावत्सल दीवानजी (श्रीबावदीन भाई) की तरफ से हिन्दू या मुसलमान जो भी आता है, सबको मुफ्त में भोजन कराया जाता है। पूज्य महाराज दीवान जी से मिले। बातचीत के सिलसिले मे उनसे पूछा—"आपने यह (भोजनदान का) काम कैसे शुरू किया? उन्होंने कहा—"महाराज श्री! मैं बहुत ही गरीब था। लकडियो का गट्ठड सिर पर रखकर शहर मे लाता, बेचता और गुजारा चलाता था। एक बार यहाँ के नवाब साहब की शुभ नजर मेरे पर हो गई। खुदा की मेहरबानी से मुझे यहाँ का दीवान पद मिल गया। इस साल (वि० स० १६५६) दुष्काल पड गया। लोग अनाज के बिना तडफने लगे। मैंने सोचा—'मैं साथ मे क्या लेकर आया था? सब कुछ इन लोगो की मदद से मुझे मिला है। अत इस दौलत का उपयोग क्यो न कर लिया जाय? मुझसे इनका यह दु ख देखा न गया। मैंने अन्न खरीदवाना शुरू किया और एक हिन्दू और एक मुसलमान दो रसोइये रखकर दो कडाह चढवा दिये और ऐलान करवा दिया कि जो भी आए, भोजन करके जाए। पैसा देने की कोई जरूरत नही।' पूज्य महाराज श्री ने इस नि स्वार्थ भोजनदान को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। साथ ही दीवानजी की प्रजावत्सलता, नम्रता और सादगी देखकर उन्हे साधुवाद दिया।

वास्तव मे प्रजावत्सल दीवानजी का यह समयोचित आहारदान का कार्य कितना महत्त्वपूर्ण था। तथागत बुद्ध के शब्दो मे कहे तो—"जो मनुष्य भोजन देता है, वह लेनेवाले को ४ चीजें देता है—वर्ण, सुख, बल और आयु। साथ ही देने वाले को उसका सुफल उसी रूप मे मिलता है—दिव्यवर्ण, दिव्य सुख, दिव्य बल और देवायु।"[1]

वास्तव मे अन्नदानी दयार्द्र होता है। उसके कण-कण मे क्षुधापीडितो के प्रति करुणा होती है, उसका अनुकम्पाशील हृदय भूखो के दु ख को अपना दु ख समझता है। राजस्थान मे किशनगढ एक छोटी रियासत मानी जाती थी। उसके तत्कालीन शासक थे—महाराजा मदनसिंह जी। उनको गद्दी पर बैठे पूरा वर्ष भी

---

१ अगुत्तरनिकाय ४।५८

नही हुआ था कि किशनगढ रियासत मे भीषण दुष्काल पडा। वैसे, राजस्थान का बहुत-सा प्रदेश अकाल की चपेट मे आ गया था। उनके सिंहासनारूढ होने को प्रजा अमांगलिक न समझे, इससे महाराज मदनसिंहजी ने प्रजा के लिए अन्न जुटाने के बहुत प्रयत्न किये। आसपास की रियासतो मे भी वही समस्या होने से उनको इसमे विशेष सफलता नही मिली। तब उन्होंने सेना के लिए सुरक्षित अनाज के कोठे प्रजा को सस्ते दामो मे देने के लिए निकाले। कुछ राहत हुई। फिर भी अधिकाश प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। उन्होने निजी अन्न भण्डार भी बहुत कुछ खाली करा दिये, किन्तु समस्या न सुलझी। महाराजा चिन्तित से महल मे बैठे थे कि उनके पास एक सन्देशा आया कि सेठ बलवन्तरार्ज मेहता ५०० ऊँटो पर अनाज लादे आगरा से अजमेर के व्यापारियो को बेचने के लिए आ रहे हैं। महाराजा ने अपने खास मुसाहिब को सेठ बलवन्तराज मेहता को लाने के लिए तुरन्त भेजा।

सेठ बलवन्तराज मेहता आए। महाराजा ने सेठ के सामने राज्य की अन्न समस्या रखी और मेहताजी से कहा कि वे अनाज भरे ऊँट उन्हे बेच दें। वे दुगुने दाम देने को तैयार हैं। सेठ उत्तर सोच ही रहे थे कि महाराजा बेचैनी से बोल उठे—"अच्छा तिगुने दाम, चौगुने दाम ले लो, सेठ ! पर अनाज हमे ही बेचो।"

मेहताजी नम्रता से बोले—"महाराज ! मैंने यहाँ आकर जो देखा और समझा है, उससे इस नतीजे पर पहुँचा हूं कि मैं यहाँ अनाज बेच नही सकूंगा।" यह सुनकर महाराजा का हृदय निराशा से भर गया। उन्हे लगा कि डूबते को जो सहारा सा दिखाई दिया, वह भी पास आकर छूट गया। गहरा विषाद उनके मुख पर छा गया और उनकी आँखें छलछला आई।

यह देख सेठ बोले—"महाराजा साहब ! मैंने प्रजा की हालत देखी है। मेरा हृदय दयार्द्र हो उठा है। मैं दयाधर्म—अहिंसा का अनुयायी हूं। अत मेरा निवेदन है कि दु खी प्रजाजनो की सेवा करने का अवसर मुझे दें। मैं अपने ५०० अनाज भरे ऊँट प्रजाहितार्थ आपको निर्मूल्य भेंट करता हूं। और दो माह बाद पुन ५०० ऊँट अनाज-भरे आगरा से ला दूंगा, जिससे वर्षा आने तक राज्य मे अनाज की कमी नही रहेगी।' इस अप्रत्याशित सुसन्देश को सुनकर महाराजा ने दौड कर मेहताजी को गले लगा लिया और कहने की इच्छा होने पर भी उनका रुंधा गला कुछ कह न सका, पर उनकी भीगी आँखें सब कुछ कह गईं। मेहताजी का भी हृदय महाराजा के स्नेहालिंगन से भर आया और आँखो तक उभर आया। उन्होंने झुक कर महाराजा को प्रणाम किया और कहा—'मैं उपकृत हूं कि श्रीमान् ने मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार करली।' महाराजा ने मेहताजी का बहुत सत्कार किया और जागीर तथा पदवी भी उन्हें देनी चाही, किन्तु उन्होने सविनय इन्कार कर दिया कि "वह दयाधर्म के साथ सौदा हो जाएगा। वे पुण्य बेचना नही चाहेंगे।"

सचमुच, बलवतराजजी मेहता के द्वारा नि स्वार्थ भाव से किया गया यह अन्न-दान आचार्य वसुनन्दी की भाषा मे करुणादान है ।

मानव जब भूख से व्याकुल हो, तब उसे लम्बे-चौडे उपदेश नही सुहाते, और न ही उस समय उसका मन लम्बी-चौडी धर्म-क्रियाओ, या साधना मे लगता है। उस समय उसे उदरपूर्ति की बात ही सूझती है ।

एक बौद्ध भिक्षु एक भूखे व्यक्ति को दयाधर्म का उपदेश दे रहा था । पर वह व्यक्ति उसकी एक भी बात ध्यानपूर्वक नही सुन रहा था। उसकी इस उपेक्षा से क्षुब्ध होकर वह भिक्षु उसे तथागत बुद्ध के पास लेकर पहुँचा । उस भिक्षु की बात सुन कर बुद्ध मुस्कराए और कहने लगे—'इसे मैं स्वय उपदेश दूंगा ।' म० बुद्ध ने उस भिक्षु से कहा—'इसे ले जाकर पहले पेट भर भोजन कराओ ।' उस बुभुक्षित व्यक्ति के पेट मे अन्न पहुँचते ही वह जिज्ञासु बनकर बुद्ध के पास बैठ गया। परन्तु भिक्षु को उपदेश की उतावल थी । उसने म० बुद्ध से कहा—'भते ! आपने इसे उपदेश कहाँ दिया ?' बुद्ध—"उपदेश तभी दिया जाता है, जब पेट मे अन्न पडा हो ।" म० बुद्ध ने आगन्तुक को उपदेश दिया, जिसे बडी उत्सुकता से उसने सुना और गद्‌गद् होकर चला गया ।

अत उपदेश दान भी वस्तुत अन्नदान के बाद ही सफल होता है । मनुष्य भूख से व्याकुल हो, उस समय उपदेश देना भी मजाक-सा है ।

म० बुद्ध के जीवन का ही एक प्रसग है । एक बार वे जेतवन विहारे मे ठहरे थे । धनजन से परिपूर्ण श्रावस्ती नगरवासी दस साल से घोर दुर्भिक्षग्रस्त थे। अन्न के लाले पडे हुए थे । खेतो मे अनाज का नाम ही नही था । सामान्य जनता रोगो की शिकार हो रही थी । निर्धनो, अनाथो एव दुर्भिक्ष पीडितो का करुण-क्रन्दन सुनाई दे रहा था, परन्तु श्रावस्ती के धनिको के हृदय मे जरा भी सहानुभूति पैदा नही हुई। श्रावस्ती मे धनकुबेरो की कमी न थी, पर दुर्भिक्ष पीडितो की मदद करना तो दूर रहा, कृपणता दिखाते थे, और चिन्तित रहते थे कि कही हमारे घरो मे घुसकर हमारी सम्पत्ति न लूट लें । इस डर के मारे उनका सारा समय गहनो-कपडो की सुरक्षा मे ही बीतता था एक दिन विहार के सामने एक निराश्रित बालक मूर्च्छितावस्था मे पडा हुआ मिला । बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द ने उसे देखा तो बडा दु ख हुआ । उसकी जीवन रक्षा की चिन्ता हुई । आनन्द ने म० बुद्ध से पूछा—"भते ! अन्न के लिए तडफते हुए मृत प्राय मनुष्यो की रक्षा के लिए भिक्षु सघ को क्या करना चाहिए ?" बुद्ध क्षणभर विचार मे पडे । फिर धीरे से कहा—"इस समय तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? यह तुम्ही सोच लो ।" आनन्द अधिक पूछना ठीक न समझ कर वहाँ से अश्रु-पूर्ण नेत्रो से चल पडे । शाम को बुद्ध ने 'प्राणियो के दु ख एव कारण' पर उपदेश दिया । बातचीत के सिलसिले मे श्रावस्ती के दुर्भिक्ष का विस्तृत वर्णन करके सबको

सकट निवारण करने के लिए साग्रह निवेदन किया। उन्होने भक्तो को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुममे से अनेक धनकुबेर सम सम्पत्तिशाली हैं, चाहे तो एक आदमी भी इसे मिटा सकता है।"

यदि ऐसा न हो सके तो सभी मिल कर तो अवश्य ही इस सकट को मिटा सकते हैं। धनकुबेर रत्नाकर बोले—"श्रावस्ती विशाल नगर है। इतने सब आदमियो की अन्न व्यवस्था करना मेरे बूते की बात नही।' सामन्तराज जयसेन ने कहा—'मेरे तो अपने ही घर मे अन्न की कमी है, तब देशभर की अन्न की कमी मैं कैसे पूरा कर सकूँगा ?' इसके बाद धर्मपाल से कहा तो उसने कहा—'मेरे पास खेत तो बहुत हैं, लेकिन अनाज नही हुआ। मेरे लिए राज्य कर देना भी भारी हो रहा है।' 'तब क्या कोई ऐसा नही, जो इस भयकर दुर्भिक्ष से देशबन्धुओ की रक्षा कर सके।' तथागत-बुद्ध ने उपस्थित भक्त मडली से कहा। उनकी आँखें अनाथपिण्ड को खोज रही थी। इतने मे एक कोने से कोमल आवाज आई—'भते ! मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने को तैयार हूँ।' एक १३ वर्षीय बालिका ने कहा। उपस्थित जन कुछ स्तब्ध थे, कुछ हँस पडे। बुद्ध ने शान्तिपूर्वक कहा—'बेटी ! तू अभी छोटी है। तेरे प्रयत्न से इतने विशाल नगर के अन्न की पूर्ति कैसे होगी ?' 'होगी, अवश्य होगी, भते !" तेजोगर्वित स्वर मे कोट्याधिपति अनाथपिण्ड की लालित-पालित पुत्री सुप्रिया ने कहा। 'आप ही कहे, अन्न सकट निवारण के लिए जब धनिको की ओर से कोई प्रयत्न न हो तो क्या इसी वजह से देश का कष्ट कभी दूर न होगा ?' इसके बाद उसने हाथ मे भिक्षापात्र लेकर कहा—'आपकी कृपा हुई तो मेरा यह भिक्षापात्र सदा भरा रहेगा। जो धनिक आपके आज्ञा-पालन से विमुख हो रहे हैं, वे मेरा भिक्षापात्र भरने मे कृपणता नही बता सकते। अनेक घरो से भिक्षा लाकर गरीबो को खिलाऊँगी। इस प्रकार दुर्भिक्ष पीडित जनता के अन्नाभाव की पूर्ति होगी।" बुद्ध ने उसे आशीर्वाद दिया। कहना न होगा, सुप्रिया यद्यपि बालिका थी, लेकिन दुष्काल पीडितो को अन्नदान देने मे उसने रात-दिन एक कर दिया। लोगो ने जब करोडपति सेठ की लडकी को भिक्षा माँगते देखा, तो सभी के कठोर हृदय पिघल गए। बौद्ध नारियो के इतिहास मे यह 'दयावती' नाम से प्रसिद्ध हुई।

वास्तव मे, दुष्काल के विकट समय मे इस छोटी-सी बालिका ने अन्नदान देकर महान् पुण्योपार्जन किया।

यद्यपि अलौकिक आहारदान मे यह अवश्य देखा जाता है कि—देय वस्तु न्यायोपार्जित एव कल्पनीय, ऐषणीय हो। तत्वार्थसूत्र भाष्य मे स्पष्ट कहा है—

"न्यायागताना कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणा……दानम्।'

परन्तु लौकिक आहारदान मे भी यह विवेक तो अवश्य करना होगा कि वह अन्न न्यायनीति से प्राप्त हो किन्तु यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि दुष्काल आदि

सकट के समय मे अगर आवश्यकतानुसार अन्नदान न हो तो उस प्रदेश मे लूट, चोरी, अनीति आदि अराजकता फैलने की आशका रहती है। बडे-बडे दीर्घकालीन दुष्कालो के समय ऐसा हुआ भी है। भूखा आदमी न्याय, नीति, कानून, धर्ममर्यादा, नियम आदि सबको ताक मे रख देता है। इसीलिए समाज से धर्मपालन कराने एव समाज को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक बताया गया है। इस दृष्टि से अन्न सत्र या सदाव्रत खोलने वाले भी भूखे व्यक्तियो के अन्तर का आशीर्वाद लेकर। महान् पुण्य का उपार्जन करते हैं।

12

औषध-दान : एक पर्यवेक्षण

चार प्रकार के दानो मे 'आहारदान' का प्रथम नम्बर है, जीवन धारण की दृष्टि से भी वह सर्वप्रथम आवश्यकता है, उसकी महत्ता, उपयोगिता और देयता पर पिछले प्रकरण मे चिन्तन किया गया है अब—

(आहारदान के बाद औपधदान का क्रम आता है। इसमे भी अलौकिक और लौकिक दोनो दृष्टियाँ हैं। यदि मनुष्य बीमार है, किसी रोग से पीडित है तो उसे आहार की रुचि भी नही होगी, उस समय उसे आहार देना बेकार होगा। उस समय उसे एकमात्र चिकित्सा की आवश्यकता है, जो उसे स्वस्थ एवं रोगमुक्त कर सके। इसलिए औपधदान भी अतीव महत्त्वपूर्ण है।)

आचार्य वसुनन्दी ने औषधदान का सुन्दर लक्षण बताते हुए कहा है—

—"उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीडित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औपधदान भी देना चाहिए।[1]

किसी श्रमण या श्रमणी अथवा मुनि एव आर्यिका आदि त्यागी के शरीर मे पूर्व के अशुभकर्मोदय से कोई व्याधि, रोग, पीडा या असाता पैदा हो जाय उस समय दयालु एव श्रद्धाशील श्रावक-श्राविका (सद्गृहस्थ) का कर्तव्य है कि वे उनका यथा-योग्य उपचार करावें। उन्हे यथोचित पथ्य के अनुरूप आहार देना, उनका योग्य इलाज कराना, औपध देना या दिलाना, उन्हे चिकित्सक को बताकर योग्य उपचार कराना आदि सब रोग निवारण के उपाय अलौकिक औषधदान के अन्तर्गत आते हैं।

कोई कह सकता है कि साधु-साध्वी तो इतने सयमी, तपस्वी, सयम नियम से रहने वाले होते हैं, फिर भी उनके रोग या बीमारी होने का क्या कारण है ? या उनका शरीर अस्वस्थ होने का क्या कारण है ? इस विषय मे साधु वर्ग की जीवन चर्या की दीर्घकालीन परिस्थिति पर विचार करने के बाद यही कहा जा सकता है कि मूल कारण तो पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उदय है। किन्तु वर्तमान मे साधु-साध्वियो के

---

१ उववास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणंपि दायव्वं ॥२३६॥

—वसुनन्दि श्रावकाचार

रुग्ण रहने का एक मूलभूत कारण यह भी है कि उनका आहार पराधीन है, गृहस्थ वर्ग के अधीन ही उनका खानपान है, इसलिए साधुवर्ग कितना भी नियमित रहे, सयम से रहे, फिर भी वह स्वेच्छा से अपने आहार की व्यवस्था नही कर पाता। गृहस्थ वर्ग जैसा और जिस प्रकार का भोजन करते हैं, वैसा और उसी प्रकार का भोजन प्राय उसे लेना होता है। वह छोड सकता है,' परन्तु इस प्रकार अपथ्य आहार को छोड देने पर उसका निर्वाह होना कठिन होता है। श्रावको को अपने लिए खासतौर से पथ्योचित आहार बनाने के लिए कहना, उसके नियम के विरुद्ध है। उसे चाहिए फल आदि हलका और सुपाच्य भोजन, परन्तु गृहस्थ वर्ग भक्तिवश अत्यन्त आग्रहपूर्वक देता है—मिठाइयाँ, तली हुई वस्तुएँ, गरिष्ठ भोजन आदि। कभी-कभी अत्याग्रह के वश होकर वह भी भोजन पर सयम नही कर पाता। रसनेन्द्रिय वश मे न होने पर, कुपथ्य कर लेने पर या वातावरण या परिस्थिति प्रतिकूल होने पर या अत्यन्त श्रम, अत्यन्त मानसिक सन्ताप, अत्यन्त परिपीडन आदि के सयोगो मे साधुवर्ग का स्वास्थ्य भी बिगडता हैं, केवल शारीरिक ही नही, मानसिक स्वास्थ्य भी बिगडता है। ऐसी दशा मे कोई विचारवान् विवेकी दयालु सद्गृहस्थ उस रुग्ण एव अस्वस्थ साधु या साध्वी का उचित उपचार कराता है या स्वय औषध आदि या पथ्यादि देकर चिकित्सा करता है तो वह उस अलौकिक औषध दान के द्वारा महान् फल को प्राप्त करता है। साधुवर्ग की रुग्णता का उपर्युक्त कारण पद्मनदि-पचविंशतिका मे स्पष्ट बताया है—

—'शरीर इच्छानुसार भोजन, चर्या और रहन-सहन से नीरोग रहता है। परन्तु इस प्रकार की इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओ के लिए सम्भव नही है। इसलिए उनका शरीर प्राय अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी दशा मे सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह उस रुग्ण शरीर औषध, पथ्य-भोजन और जल के द्वारा चारित्र (धर्म) पालन के योग्य बनाए। इसी कारण यहाँ उन सयमी साधुओ का धर्म उत्तम सद्गृहस्थो (श्रावको) के निमित्त से चलता है।[१]

तात्पर्य यह है कि रुग्ण, अस्वस्थ एव पीडित साधु-साध्वियो का आहार-विहार, औषध-भैषज, पथ्य-परहेज का दारोमदार प्राय सद्गृहस्थो के अधीन है। इसलिए ऐसा सेवाभावी सद्गृहस्थ या वैद्य-डॉक्टर अथवा हकीम सेवाभाव से रुग्ण साधु-साध्वियो का इलाज करता है, उनकी भली-भाँति चिकित्सा द्वारा सेवा करता है, उनके यथोचित पथ्य आदि का प्रबन्ध करता है, वह प्राय कर्मों की निर्जरा करता है,

---

१ स्वेच्छाहारविहार जल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते,
साधूना तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिद चारित्रभारक्षम,
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिना धर्मो गृहस्थोत्तमात्॥ ७/९

अथवा महान् पुण्य का उपार्जन करता है। उसका प्रत्यक्ष फल भी सागारधर्मामृत मे बताया है—

("आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयम्।"

—औषधदान से दाता को आरोग्य मिलता है।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार मे औषधदान का फल बताते हुए कहा है—

—'जिस प्रकार सिद्ध-परमात्मा सब प्रकार की व्याधि से मुक्त होते हैं, उनके (अनन्त) सुख का तो कहना ही क्या? उसी प्रकार औषधदान देने वाले महान् आत्मा को भी जिन्दगीभर किसी प्रकार की शरीर पीडाकारी व्याधि नही होती, उसे भी सिद्ध के समान सुख प्राप्त होता है। जो औषधदान देता है, वह कान्ति का भण्डार बनता है, यशकीर्तियो का कुलमन्दिर होता है और लावण्यो (सौन्दर्यो) का समुद्र होता है।[१])

औषधदान के महाफल के सम्बन्ध मे भगवान् ऋषभदेव के पूर्वजन्म की एक घटना सुनिए—

सम्यक्त्व-प्राप्ति होने के बाद के ग्यारहवें भव मे ऋषभदेव वज्रनाभ चक्रवर्ती के रूप मे हुए थे। इनके पिता वज्रसेन राजा राजपाट छोडकर मुनि बने और केवल-ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर बने थे। उन्ही वज्रसेन राजा के पाँच पुत्र थे—बाहु, सुबाहु, पीठ, महापीठ और वज्रनाभ तथा इनके सारथी का नाम सुयशा था। ये छहो परस्पर गाढ मित्र थे। तेरहवें भव मे वज्रनाभ का जीव वैद्य हुआ और बाकी के चारो मित्र बने। एक दिन ये चारो मित्र कही जा रहे थे कि रास्ते मे एक साधु को भिक्षा के लिए जाते देखा, जिनके शरीर मे प्रबल रोग था। उसी रोग के कारण वे लडखडाते हुए चल रहे थे। चारो ही मित्रो ने इन रोगग्रस्त मुनि की चिकित्सा कराने का निश्चय किया और उसी वैद्य के यहाँ पहुँचे। उन्होने वैद्य से कहा—'यहाँ से अभी-अभी एक साधु गुजरे हैं, आपने देखा नही, उनके शरीर मे कितना भयकर रोग था। आपने उनका इलाज क्यो नही किया?'

वैद्य बोला—'मैंने उन्हे देखते ही उनके रोग का तो निदान कर लिया था, परन्तु उस रोग के उपचार के लिए मेरे पास और औषध तो हैं, किन्तु बावनाचन्दन और रत्नकबल मेरे पास नही हैं। इस रोग के निवारण के लिए ये दोनो वस्तुएँ

---

१ (आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापक।
कि सुख कथ्यते तस्य सिद्धस्यैव महात्मन॥
विधानमेष कान्तीना, कीर्त्तीना कुलमन्दिरम्।
लावण्याना नदीनाथो, भैषज्य येन दीयते॥)

अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप लोग ये दोनो चीजें मुझे ला दे तो मैं उन मुनि की चिकित्सा करके बिलकुल स्वस्थ कर दूंगा।'

उसी नगर के एक पसारी के यहाँ ये दोनो चीजें मिलती थी। अत चारो ही मित्र उस पसारी के यहाँ पहुँचे। पसारी से उन्होने कहा—"आपके यहाँ रत्नकबल और बावनाचन्दन हो तो हमे दे दीजिए। इन दोनो की जो भी कीमत हो, हमसे ले लीजिए।" इन युवको के मुँह से इतनी बहुमूल्य चीजो के खरीदने की बात सुनकर पसारी को कुछ शक हुआ। उसने पूछा—"क्यो भैय्या! आपको ये दोनो चीजें किसलिए चाहिए?"

चारो ने उत्तर दिया—'एक मुनिराज के शरीर मे भयकर रोग है, उसके निवारण करने और मुनि को स्वस्थ करने के लिए हमे ये दोनो चीजें चाहिए। उनके शरीर मे कीडे पड गए है, जिससे उन्हे भयकर असाता उत्पन्न हो गई है।'

पसारी ने सोचा—'मैं इतना बडा धनाढ्य हूँ। मेरा व्यापार काफी अच्छा चलता है। फिर भी मैं एक मुनिराज की चिकित्सा के लिए कीमत लेकर इन चीजो को दूं, यह मेरे सरीखे सम्पन्न व्यक्ति के लिए उचित नही है। जब ये चारो लडके इस छोटी-सी उम्र मे मुनिराज की सेवा करने की इतनी भावना रखते हैं और मुझसे ये बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदना चाहते हैं तो मैं ही औषधदान के रूप मे इस सेवा का लाभ क्यो न लूं?' पसारी ने अपने दिल की बात प्रगट करते हुए कहा—'भाइयो! मेरी एक नम्र प्रार्थना है, आप लोगो से!'

'हाँ, हाँ कहिये, साहब!' युवको ने कहा।

'भाइयो! आप लोग मुझे इस औषधदान (सेवा) का अवसर नहीं देंगे? मेरे मन मे यह भावना हुई है कि मैं इस सेवा का लाभ लूं।' पसारी ने नम्रभाव से कहा।

युवको ने पूछा—'सो कैसे होगा, साहब?'

'मेरी इच्छा है कि यह रत्नकम्बल और बावनाचन्दन मेरी ओर से काम मे लाया जाए।' पसारी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा।

युवक सविनय बोले—'साहब! हमारी इच्छा तो नही होती कि आपसे बिना कीमत चुकाए ये वस्तुएं लें। फिर भी आपकी पवित्र भावना को ठुकराकर आपको औषधदान के इस पवित्र लाभ से वञ्चित करना भी हमारा धर्म नही है। अत हम आपको इस लाभ के लिए सहर्ष अनुमति देते हैं।' उक्त पसारी ने अपनी दूकान से रत्नकम्बल और बावनाचन्दन लिया और उन चारो युवक मित्रो के साथ वह वैद्य के पास पहुँचा। वैद्य ने अपने औषधालय से लक्षपाक तेल लिया और इस प्रकार ये छहो व्यक्ति रुग्ण मुनि के पास पहुँचे।

वैद्य ने मुनि के शरीर पर लक्षपाक तेल लगाया और वह रत्नकम्बल उन्हे ओढा दिया, जिससे थोडी ही देर मे तेल की गर्मी पाकर कीडे बाहर निकलने लगे और पास ही रत्नकम्बल (जो ठडी थी) मे आकर जमा होने लगे। इस प्रकार तीन बार लक्षपाक तेल लगाया और रत्नकम्बल ओढाया गया। इससे सारे के सारे कीडे उस कम्बल मे एकत्रित हो गए। उसके बाद बावनाचन्दन घिसकर उसका लेप मुनि के शरीर पर कर दिया। फलस्वरूप मुनि का शरीर पूर्णत स्वस्थ हो गया। उन्हे पूरी तरह से साता हो गई। मुनि के शरीर से निकले हुए कीडें वैद्य ने निकट ही मरी हुई एक गाय के कलेवर मे डाल दिये। अन्त मे छहो व्यक्तियो ने मुनिवर से क्षमायाचना की—'भते ! आपके ज्ञानध्यान मे हमने विघ्न डाला, इसके लिए क्षमा चाहते हैं।'

इसके बाद पसारी वैद्य और ये चारो युवक परस्पर मित्र बन गये। मुनिराज को औषधदान देने के फलस्वरूप ये छहो ही आयुष्य पूर्ण करके देवलोक मे गए। वहाँ से च्यव कर वैद्य का जीव पुण्डरीकिणी नगरी मे वज्रनाभ चक्रवर्ती बना और शेष चारो मित्र बने वज्रनाभ के चारो भाई। तथा पसारी सेठ का जीव वज्रनाभ चक्रवर्ती का सारथी सुयशा बना। छहो आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

एक बार वज्रसेन तीर्थंकर पुण्डरीकिणी नगरी मे पधारे। छहो ने उनका उपदेश सुना और विरक्त होकर उनसे मुनिदीक्षा लेली। वज्रनाभ ने बीस स्थानक की सम्यक् आराधना के फलस्वरूप तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। बाहुमुनि ने ५०० साधुओ को प्रतिदिन आहार-पानी लाकर देने की प्रतिज्ञा की, सुबाहुमुनि उन ५०० साधुओ की सेवा-शुश्रूषा करने लगा। पीठ-महापीठ मुनि अपने ज्ञान-ध्यान और तप मे लीन रहते थे। फलत वज्रनाभ मुनि तीर्थंकर ऋषभदेव बने, बाहु-सुबाहु उनके पुत्र भरत-बाहुबली बने। और पीठ-महापीठ उनकी पुत्री के रूप मे ब्राह्मी और सुन्दरी बनी।

इस प्रकार अलौकिक औषधदान का उत्तम फल प्राप्त हुआ। वास्तव मे उत्तम सुपात्रो को औषधि देना, दिलाना, उनकी चिकित्सा करना, कराना, उनके पथ्य-परहेज की व्यवस्था करना, स्वय वैद्य हो तो उनके रोग का निदान करके इलाज करना अथवा वैद्य, हकीम, चिकित्सक आदि से इलाज करवाना, कोई पीडा हो तो उसकी भी चिकित्सा कराना आदि सब औषधदान के अन्तर्गत आ जाते हैं। औषध-दान भी तभी दिया जाता है, जब रुग्ण व्यक्ति के प्रति दाता के मन मे महाकरुणा हो उत्तम पात्र हो तो, उनके प्रतिश्रद्धाभाव हो, उन्हे साता पहुँचाने की भावना हो।

श्रमण भगवान महावीर पर एक बार गोशालक (क्षपणक) ने द्वेषवश तेजो-लेश्या फेंकी, परन्तु उस तेजोलेश्या का उनके आयुष्यबल पर तो कोई प्रभाव नही पडा, किन्तु उनके शरीर पर अवश्य ही प्रभाव पडा। उन्हे रक्तातिसार हो गया। यह देखकर उनके शिष्य बहुत चिन्तित हो उठे और उन्हे औषध सेवन का अनुरोध करने

लगे। भगवान महावीर ने अपने शिष्यो के मनस्तोष के लिए कहा—'तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम रेवती नाम की सद्गृहस्थ श्राविका के यहाँ जाओ और उसके यहाँ जो कुष्माण्डपाक बनाया हुआ है, उसमे से दो फाँकें ले आओ। वह औषधि मेरे इस रोग के निवारण के लिए बहुत ही अनुकूल होगी।' मुनि बहुत ही श्रद्धापूर्वक रेवती श्राविका के यहाँ पहुँचे। रेवती ने मुनियो को अपने यहाँ आते देख बहुत ही श्रद्धापूर्वक स्वागत किया और उनसे भगवान महावीर की अस्वस्थता के समाचार जानकर अपने यहाँ जो अनेक मूल्यवान औषधियाँ डालकर कुष्माण्डपाक बनाया हुआ था, उसमे से बहुत-सा देने लगी, परन्तु मुनियो ने कहा—'हमे सिर्फ इसके दो ही टुकडे चाहिए, अधिक नही, क्योकि शायद प्रभु के लिए फिर इसी दवा को लेने के लिए कई दिनो तक आना पडे।" रेवती श्राविका ने मुनियो के कथनानुसार उस औषधि के दो टुकडे दिये। उनके सेवन करते ही प्रभु महावीर के शरीर मे शान्ति होने लगी। कुछ ही दिनो मे तो वे एकदम स्वस्थ हो गए।

रेवती श्राविका द्वारा दिये गये इस औषधदान का सुफल उसे अवश्य मिला। तात्कालिक फल तो यह मिला कि वह सारे जैन जगत् मे प्रसिद्ध हो गई। भगवती-सूत्र के पन्नो पर उसका नाम अंकित हो गया। भगवान महावीर को सुखसाता पहुँचा-कर उसने उनके द्वारा जगत् के जीवो को महालाभ दिलाया।

यह तो हुआ अलौकिक औषधदान का सुफल एव महत्त्व। लौकिक औषध-दान का भी महत्त्व कम नहीं है। बेचारे दीन-हीन किसी रोग, व्याधि या पीडा से पीडित व्यक्ति किसी वैद्य या चिकित्सक के इलाज से स्वस्थ और रोगमुक्त हो जाते हैं तो हजार-हजार मूक आशीषें बरसाते हैं। ऐसा औषधदानी महान् पुण्य का उपार्जन तो करता ही है, उत्कृष्ट भावरसायन आ जाने पर निर्जरा (कर्मक्षय) भी कर लेता है। औषधदानी लौकिक औषधदान धर्मार्थ औषधालय खोलकर, किसी रोग के फैलने पर दवाइयो का वितरण करके अथवा स्वय के व्यय से औषध, अनुपान, पथ्य आदि तक देकर चिकित्सा करके करता है। औषधदान करने वाले व्यक्ति के मन में करुणा का झरना बहता रहता है। कई लोग आँख के डॉक्टरो को अपनी ओर से सारा खर्च देकर नेत्र रोगियो का ऑपरेशन करवाते हैं। यह भी एक प्रकार का औषधदान का पुण्यकार्य है।

स्वीडन के सम्राट् की बहन राजकुमारी युजिनी अत्यन्त दयालु थी। रोगियो को देखकर उसका हृदय विह्वल हो उठता था। पवित्र करुणा भावना से प्रेरित होकर राजकुमारी ने अपने हीरे-मोतियो के गहने बेचकर एक बहुत बडा हॉस्पिटल बनवाया जिसमे रोगियो के इलाज के लिए सभी अद्यतन साधन उपलब्ध थे। राजकुमारी को इतने से ही सन्तोष नही होता था। वह हॉस्पिटल मे जाकर स्वय अपने हाथो से रोगियो की परिचर्या करती थी। नर्सें कहती—'आप तो राजकुमारी हैं, रोगी-परिचर्या का काम हमारा है, आपका नही।' इस पर राजकुमारी कहती—'मुझे रोगियो की सेवा से कितना आनन्द आता है, यह मैं स्वयं अनुभव करती हूँ।'

एक बार हॉस्पिटल मे एक कुष्ट रोगी आया। सभी उससे दूर रहना चाहते थे। राजकुमारी को जब इस बात का पता चला तो वह स्वय उसके पास पहुँची। उससे पूछा—'भाई! कितने दिनो से इस रोग से पीडित हो?' पीडा से कराहते हुए वह बोला—'माताजी! मुझे ६ साल हो गये इस बीमारी से पीडित हूँ।' प्रत्येक अग मे पीडा होती है। रक्त और मवाद बहता है। कोई भी मेरे पास आना नही चाहता।' राजकुमारी की आँखो मे आँसू छलछला आए, उसकी बात सुन कर। वह बोली—'घबराओ मत। मैं इस पवित्र कार्य को करूँगी।' राजकुमारी ने पानी गर्म किया। अपने हाथो से कुष्ट रोगी के घाव धोए, दवा मँगाई, नई पट्टी बाँधी, नौकर के द्वारा थोडे से फल मँगाकर रोगी को खिलाए। सात महीने तक प्रतिदिन यही कार्यक्रम चलता रहा। राजकुमारी आती, रोगी को स्नान कराती, घाव धोकर मरहम पट्टी कर जाती। एक दिन ऐसा आया कि औषधदान के रूप मे राजकुमारी की नि स्वार्थ करुणायुक्त सेवा फलित हुई। रोगी रोगमुक्त होकर स्वस्थ हुआ। डॉक्टर ने उसे घर जाने की इजाजत दी, और वह घर जाने को तैयार हुआ उस दिन गद्गद् होकर कहा—'माँ! आप मेरी दूसरी माता हैं। अपनी माँ भी बालक की इतनी सेवा नही कर सकती, जितनी आपने राजकुमारी होकर की है। आपके द्वारा औषध-दान, सेवा और प्रेम ने ही मेरा भयकर रोग मिटाया है। मेरी आत्मा अन्तिम दिनो तक इस सेवा को भूल नही सकती।' यो कहकर राजकुमारी के चरणो मे पडकर अश्रुओ से पैर धोने लगा।' बडे-बडे आँसू देखकर राजकुमारी ने कहा—'भाई! इस हॉस्पिटल के बनाने के लिए ही मैंने हीरे-मोती के गहने दिये थे। आज वे मोती उग निकले हैं। तुम्हारे नेत्रो के मोती पाकर मैं धन्य हो गई हूँ।'

क्या राजकुमारी युजिनी को औषधदान के बदले मे इस कुष्ट रोगी की तरह हजारो रोगियो के हार्दिक एव कीमती आशीर्वाद नही मिले होगे? क्या यह प्रत्यक्ष-फल भी कम आनन्दजनक था?'

जॉर्ज ईस्टमेन अमरीकन फोटोग्राफ फिल्म और कोडक केमरा के आविष्कारक थे। उन्होने अपने जीवन मे लगभग ८० करोड रुपये शिक्षा और लगभग ४० करोड रुपये रोगियो की चिकित्सा के लिए दान दिये।

कई-कई डॉक्टर भी बडे दयालु होते हैं, वे गरीब रोगी को देखते ही करुणा से द्रवित हो उठते हैं। डॉ० नागेन्द्र महाशय स्वामी रामकृष्ण परमहस के शिष्य बगाली डॉक्टर थे। उनके हृदय मे अपार करुणा थी। उनकी सदा यही दृष्टि रहती कि बीमार कैसे स्वस्थ हो। वर्तमान डॉक्टरो की तरह वे लोभी नही थे। इस कारण उनका पारिवारिक खर्च भी बडी मुश्किल से चलता था। फिर भी वे सदा सन्तुष्ट रहते थे। एक बार एक व्यक्ति के यहाँ विवाह मे आप उपाध्याय के रूप मे आमन्त्रित थे। अत वे घर से रवाना हुए। पिछले दो दिन से स्वय ने भोजन नही किया था। जेब मे सिर्फ रेल किराये जितने ही पैसे थे। किन्तु रास्ते मे ही उन्हे एक दु खित

बीमार मिला। अपनी स्वाभाविक आदत के अनुसार व वही उस रोगी की चिकित्सा के लिए रुक गए। बीमार को दवा बताई। पर उसके पास खाने को भी पैसे नही थे, अत अपने पास जितने पैसे थे, वे सब उसे दे दिये। बीमार को ठड लग रही थी, इसलिए अपनी शाल भी उसे ओढा दी। फिर भी किसी बात की चिन्ता नही थी। नि स्वार्थ औषधदान की मस्ती थी, उनके चेहरे पर !

कई वैद्य तो औषधदान के साथ-साथ पथ्यकारी भोजन, फल तथा अनुपान की चीजें भी रोगी को मुफ्त मे देते है। सचमुच, भारतवर्ष मे ऐसे कई व्यक्ति हुए हैं, जो ऐसे औषधदान के लिए प्रसिद्ध हैं। गुजरात (सौराष्ट्र) मे झडु भट्ट हुए हैं, जो जाम-साहब के राजवैद्य थे। उन्हे लोगो की व्याधि और पीडा को दूर करने की ही फिक्र रहती थी। वे कितने ही रोगियो को अपने खर्चे से घर पर रखकर उनकी चिकित्सा करते थे। उन्हें दवा के अतिरिक्त पथ्य आहार, फल, दूध आदि भी अपनी ओर से देते थे। एक बार भट्टजी के यहाँ एक मेमन महिला अपने दस साल के लडके को लेकर इलाज कराने आई। भट्टजी ने रोगी की जाच-पडताल की, सारी बातें पूछी। महिला ने कहा—'दादा ! बच्चे को दो महीने से पेशाब मे मवाद एव खून गिरता है। कई वैद्य-डॉक्टरो का इलाज कराया, परन्तु रोग मिटा नही। मेरे एक ही लडका है। इसके पिताजी गुजर गये हैं। मैं आपके भरोसे पर आई हूँ।" भट्टजी ने दुबारा रोग की जाच की। फिर बोले—'माई ! तुम्हारे लडके को प्रमेह-सा रोग है। इसे हम यही औषधालय मे रखेंगे। खानपान जो भी उचित एव पथ्यकर होगा, यही से दिया जायेगा। २-४ महीने रहेगा, अच्छा हो जायेगा। खर्च के लिये तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करना। वह बीमार बालक अब्दुलगनी तीन महीने तक भट्टजी के यहाँ इलाज कराकर स्वस्थ होकर अपनी मा के साथ चला गया। जाते-जाते उसकी माता अन्तर से दुआ देकर गई।

इस प्रकार का औषधदान को सिर्फ औषधदान ही नही, एक प्रकार से जीवन-दान समझना चाहिए। फलौदी मे भी एक गोलेछा सेठ थे, वे भी अपने यहाँ बीमार को रखकर अपनी देखरेख मे उसका इलाज कराते थे। अपनी ओर से दवा, भोजन, पथ्योचित वस्तु, दूध आदि फ्री देते थे। उन्होने भी हजारो व्यक्तियो की आशीषें ली होगी। बीकानेर, बम्बई आदि मे ऐसे सैकडो धर्मार्थ औषधालय विभिन्न दाताओ की ओर से चल रहे हैं।

अगदान एव रक्तदान

औषधदान का एक और नया पहलू है, जिसे शायद अब तक छुआ नही है, शास्त्र रचयिताओ ने। वह है—रोगी के प्राण बचाने के लिए रक्त, मास या किसी अग का—नेत्र आदि का—दान। सचमुच रोगी के लिए औषधदान से भी बढकर ये चीजें प्राणदायिनी होती हैं। इसलिए इन्हें भी औषधदान के अन्तर्गत समझा जाना चाहिए।

मेरठ के स्थानीय सरकारी हॉस्पिटल में एक महिला ऑपरेशन टेबल पर थी। जिस समय महिला का ऑपरेशन चल रहा था, तभी ऑपरेशन करने वाले सर्जन को उसे रक्त चढाने की जरूरत महसूस हुई। लेकिन जिस श्रेणी का रक्त चाहिए था, वह वहाँ उपलब्ध नही था। तभी स्थानीय मेडिकल कॉलेज के डॉ० पुरुषोत्तम गर्ग वहाँ आए। उन्होंने देखा कि अगर इस महिला को रक्त नही दिया जाएगा तो उसके प्राण बचेंगे नही। अत डॉ० गर्ग ने अपना खून देकर महिला (जो एक कसोलिडेशन ऑफीसर की पत्नी थी) को नया जीवन दिया।

इसी प्रकार गोरखपुर रेल्वे के सेन्ट्रल हॉस्पिटल के सर्जन डॉ० सुधीरगोपाल झिगरन ने रोगी की जान बचाने के लिए अपना रक्त देकर प्राणो की आहुति दे दी। बात यो हुई कि इस रोगी का ऑपरेशन किया गया था। रोगी पहले ही दुर्बल था, उसमे रक्त की कमी थी। उसके रक्त मे अनेक व्यक्तियो का रक्त मिलाया गया, लेकिन किसी से मेल ही नहीं खाता था। सयोगवश डॉ० सुधीर गोपाल ने अपने रक्त का परीक्षण करवाया तो रोगी से मिल गया। डॉक्टर साहब ने भौतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर सोचा और उक्त रोगी को रक्तदान के लिये तैयार हो गये। एक शीशी रक्त के बाद, दूसरी शीशी रक्त की और जरूरत पड गई। डॉक्टर साहब रक्त निकलवा रहे थे, उस समय ऐसी प्रतिक्रिया होगई कि अनेक उपचार होने के बावजूद भी वे बच न सके। वह दैवी ज्योति बुझ गई। क्या यह औषधदान से भी बढकर प्राणदायी रक्तदान नही था ?

इससे भी बढकर आश्चर्य में डालने वाली औषधदान की घटना और सुनिये—

नारायण नायर त्रावणकोर राज्य के तोरूर गाँव के एक महाजन के हाथी के महावत थे। एक दिन हाथी पागल हो गया। उसने महावत को उठाकर जमीन पर पटका और उसकी पीठ मे दात मे चोट की। सयोगवश हाथी को दूसरे लोगो ने वश मे कर लिया। घायल नारायण मूर्च्छित अवस्था में अस्पताल पहुँचाया गया। हाथी-दात भीतर तक घुस गया था, इसलिए घाव गहरा हो गया था। डॉक्टर ने कहा—'किसी जीवित मनुष्य का डेढ पौण्ड ताजा मास मिले तो उसे घाव मे भरकर टाका लगाया जाए तो रोगी बच सकता है, अन्यथा बचना मुश्किल है। उसके परिवार, परिचितों तथा मित्रों में से कोई भी अपना मास देने को तैयार न हुआ। लेकिन समाचार मिलते ही एक सम्पन्न युवक दौडा हुआ आया। उसने डॉक्टर से कहा—मेरा मास लेकर रोगी के प्राण बचाइए। बिना किसी स्वार्थ व सम्बन्ध के अपना मास देने वाले, ये महाशय थे—कन्नड कृष्ण नायर। उनकी जाघ से मास लेकर डॉक्टर ने रोगी का घाव भरा। नारायण नायर के प्राण बच गये। कन्नड कृष्ण नायर को भी जाँघ मे घाव भरने तक अस्पताल मे रहना पडा।

औषधदान का एक और पहलू है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और लाभदायक है—सारी मानव-जाति के लिए। वह है—महामारी आदि रोगो का निदान करके

उनके इलाज का विचार करना। सन् १७२० मे फ्रास के मार्सेल्स शहर मे एकाएक महामारी फैली। आदमी मक्खियो की तरह टपाटप मरने लगे। श्मशान मे लाशों का ढेर लग गया। इतने आदमी मरते कि कोई उन्हे जलाने या दफनाने वाला भी नही मिलता था। सारा प्रान्त मृत्यु के महाभय से काप उठा। डॉक्टरो के सभी बाह्य उपचार निष्फल हो गये। कई बार तो डॉक्टर स्वय रोग का शिकार बन जाता था। मृत्यु का नगारा बज उठा था। इस भयकर रोग के निदान के लिये प्रसिद्ध डाक्टरो की एक सभा जुडी, जिसमे इस रोग पर काफी विचार विनिमय हुआ। सभी एक निर्णय पर आये कि यह रोग सामान्य उपचारो से मिटने वाला नही है। महामारी के रोग से मरे हुए मनुष्य की लाश चीरकर देखे बिना इसका निदान होना असम्भव है। पर प्लेग से मृत व्यक्ति के शव को चीरे कौन ? यह तो यमराज को चलाकर न्योता देना है। सारी सभा विसर्जित होने वाली थी, तभी एक जवान खडा हुआ, उसकी आंखो मे करुणा और ओठो पर निर्णय था। रूप और यौवन तो था ही। सभी डॉक्टरो का ध्यान उस युवक डॉ० हेनरी गायन की ओर खिच गया। उसने जरा आगे बढकर विनम्रतापूर्वक कहा—'आप जानते ही हैं कि अपनी जिन्दगी का मोह छोडे बिना दूसरो को जीवनदान नही दिया जा सकता। मेरे शरीर के दान से हजारो-लाखो भाई-बहनो और माताओ के आँसू रुकते हो तो मैं अपना तन अर्पण करने को तैयार हूँ। लो, यह मेरा वसीयतनामा। मेरे आगे-पीछे कोई नही है। मेरी यह सम्पत्ति महामारी के रोगियो के लिये खर्च करना। जीवन का इससे बढकर अच्छा उपयोग और क्या हो सकता है ?' वृद्ध डॉक्टर देखते ही रह गये, वे अपने शरीर का मोह-ममत्व न छोड सके, जो इस युवक ने बात की बात मे छोड दिया। इसके बाद हेनरी गायन तुरन्त ऑपरेशन खण्ड मे प्रविष्ट हुआ। महामारी से मरे हुए मनुष्य की लाश को चीरने लगा। भयकर बदबू के मारे नाक फटा जा रहा था। फिर भी वह लाश को चीरता गया। रोग का निदान करता गया। उसने जन्तुओ के आक्रमण के स्थान और कारणो की एक नोंध तैयार की। यह नोंध उसने रासायनिक द्रव्यो मे रखी, ताकि इसे छूने वाले को यह चेपी रोग न लगे। हेनरी ने अपना काम पूरा किया। उसका शरीर तो कभी का बुखार से तप चुका था। वह खडा होने लगा, लेकिन प्लेग के कीटाणु कभी का उसके शरीर को अपना घरौंदा बना चुके थे। वह धडाम से नीचे गिर पडा। पर उसके मुंह पर अपनी शोध पूरी करने का सन्तोष था। हेनरी गायन गया, पर अपने पीछे वह महामारी पर किया गया अनुसन्धान छोड गया, जिससे लाखो मानवो और रोगियो को जीवनदान मिला। क्या हेनरी गायन का आत्म-बलिदान महामारी के हजारो-लाखो रोगियो के लिए औषधिदान से बढकर नही है ?

जापान की जनता के हृदय-सम्राट् 'टोयोहिको कागावा की झोंपडी भी दीन-दुखियो, रोगियो, गरीबो और दलितो का आश्रय स्थान था, जहाँ 'कागावा' स्वय रोगियो की सेवा करता, उन्हे दवा देता। रोगियो की सेवा-शुश्रूषा के कारण वह भी

भयंकर रोगों के शिकार हो गया। क्या सन्त कागावा के द्वारा अपने स्वार्थ की परवाह न करके रोगियो की सब प्रकार की सेवा में अपना जीवन देना औषधदान से भी बढ़कर परमौषधदान नही है।

इस प्रकार का अलौकिक क्या लौकिक सभी तरह का औषधदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण, पुण्योपार्जन का कारण एव परम्परा से मुक्ति का कारण है।

बहुत-से आचार्य, जिन्होंने दान के तीन ही भेद किये हैं, वे औषधदान को आहारदान मे ही गतार्थ कर लेते हैं। उनकी दृष्टि से औषधदान एक प्रकार का आहारदान ही है। अथवा कई आचार्यों ने औषधदान को अभयदान मे समाविष्ट कर लिया है। ☆

13
ज्ञानदान बनाम चक्षुदान

ज्ञानदान स्वरूप और विश्लेषण

औषधदान का वर्णन पिछले प्रकरण मे किया जा चुका है। मनुष्य के भौतिक शरीर की रक्षा के लिए औषधि का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक महत्त्व है चेतन शरीर की रक्षा, सपुष्टि और उन्नयन के लिए ज्ञान की। ज्ञान भी एक प्रकार की आध्यात्मिक औषध है, बिना उसके चेतन शरीर की रक्षा सम्भव नही है अत दान के क्रम मे औषधदान के साथ अब 'ज्ञानदान' पर भी विचार करना है।

ज्ञानदान को कई आचार्य शास्त्रदान भी कहते हैं। शास्त्रदान की अपेक्षा 'ज्ञान-दान' व्यापक शब्द है। क्योंकि शास्त्रदान का भी लक्षणा से कई जगह यही अर्थ करना पडता है—शास्त्र मे अकित उपदेश या ज्ञान देना।

वास्तव मे ज्ञानदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। एक व्यक्ति किसी को एक समय के लिए भोजन खिला देता है, कोई किसी व्यक्ति को एकाध कपडा दे देता है, इससे थोडी देर के लिए उसे राहत मिल जाती है, लेकिन कोई उदारचेता महानुभाव भोजन और कपडा प्राप्त करने का ज्ञान दे देता है, वह उसके लिए जिन्दगीभर की राहत है। हालाकि यह ज्ञान लौकिक होता है, परन्तु वह भी सामान्य गृहस्थ के लिए बहुत उपकारक होता है। जैनशास्त्रो मे यत्र-तत्र ज्ञान का बहुत बडा महत्त्व बताया है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाय, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाय

—'समस्त वस्तुओ के यथार्थ प्रकाश' (वस्तुस्वरूप के ज्ञान) के लिए और अज्ञान एव मोह को मिटाने के लिए ज्ञान से बढकर कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु ससार मे नही है।

भगवद्गीता मे भी ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।
सर्वकर्माऽखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते॥
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन!'
'ज्ञानवान्मा प्रपद्यते।'

जनित कर्म, क्लेश, वासनाएँ, राग-द्वेष, मोह आदि भस्म हो जाते हैं। इसीलिए एक अँग्रेज विद्वान् ने कहा—'Knowledge is Power' ज्ञान एक शक्ति है। आत्मा का महान् बल ज्ञान के द्वारा ही प्रगट होता है। इस ज्ञानबल के द्वारा ही व्यक्ति बडे से बडे भय को मिटाकर कर्मों से, दुर्व्यसनो और दुर्गुणो से जूझ पडता है, निर्भय होकर हर खतरे को उठाने के लिए तैयार हो जाता है।

क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर सभी उन्नतियो का मूल ज्ञान है। 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धि'—समस्त पुरुषार्थों मे सिद्धि या सफलता पहले सम्यग्ज्ञान होने पर ही मिलती है। सम्यग्ज्ञान होने पर व्यक्ति शरीर पर मोह-ममत्व न करके शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान अनायास ही कर लेता है। आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान द्वारा ब्रह्माण्ड की जर्रे-जर्रे की बात आँखो से देखे या कानो से सुने बिना ही, एक जगह बैठे-बैठे जान लेना ज्ञान की शक्ति का ही तो चमत्कार है।

हाँ, तो इस प्रकार के शुद्ध ज्ञान का दान, जो जन्म-जन्मान्तरो के दुष्कर्मों को क्षणभर मे नष्ट करने की शक्ति प्राप्त करा देता है, कितना उपकारक है, कितना महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ज्ञान दान तो तीन दिन के भूखे को भोजन मिलने या वर्षों से अन्धे को आँखें मिल जाने के समान है।

ज्ञानदान देने वाला व्यक्ति आदाता के कोटि-कोटि जन्मो के पाप-तापो को दूर करने मे सहायक बनता है, वह एक जन्म के ही नही, अनेकानेक जन्म के दु खो के निवारण मे सहायता करता है। क्योकि जैनागमो के अनुसार प्राप्त किया हुआ ज्ञान केवल इस जन्म तक ही नही, अगले अनेकानेक जन्मो तक साथ रहता है। एक व्यक्ति को दिया गया अन्नदान, औषधदान या अभयदान तो केवल एक जन्म के एक शरीर की ही रक्षा करता है, लेकिन ज्ञानदान तो अनेक जन्मो के शरीर और खासकर आत्मा की रक्षा करता है। इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि ज्ञान-दान प्रत्येक प्राणी के लिए कितना अधिक उपयोगी, अनिवार्य एव कष्ट निवारक है। अन्नदान, औषधदान आदि तो व्यक्ति को किसी-किसी अवसर पर ही अपेक्षित होते हैं, लेकिन ज्ञानदान तो प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक अवसर और हर क्रिया मे उपयोगी, अनिवार्य एव सुखवर्द्धक होने से प्रतिक्षण अपेक्षित होता है। अलौकिक ज्ञानदान तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही है, लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

अलौकिक ज्ञानदान-दाता प्राय साधु-साध्वी, श्रमण-श्रमणी होते हैं। उनके निमित्त से अनेक भव्यजीवो को प्रतिबोध मिलता है। क्योकि वे ही अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरो को प्रतिबोध देते हैं। सामान्य गृहस्थ इतना उच्चकोटि का ज्ञानवान् विरला ही मिलता है। हत्यारे एव पापी बने हुए अर्जुनमालाकार को जब भगवान् महावीर ने आत्मज्ञान दिया तो उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठी। और वह मुनि बनकर तप-त्याग और सयम की साधना मे अपने आपको झोंक देता है। कितनी पीडा होती है, जब वह राजगृह नगर मे आहार के लिए जाता है, और

परन्तु प्रश्न यह होता है कि ऐसे महात्माओ, श्रमणो, श्रमणियो या आचार्यों को भी ज्ञानदान देने वाले कोई हुए हैं या नही ? अवश्य ही हुए हैं। ससार के इतिहास मे चाहे उनका उल्लेख हुआ हो या न हुआ हो, वे चाहे अज्ञात रहे हो, परन्तु ऐसे ज्ञानदाता सद्गृहस्थ भाई-बहन हुए हैं, जिन्होने सामान्य साधुओ को ही नही, आचार्यों तक को ज्ञानदान दिया है। 'मैं ज्ञानदान दे रहा हूँ' इस दृष्टि से या अभिमानपूर्वक चाहे उन्होने ज्ञानदान न दिया हो, या शास्त्रो का अध्ययन न कराया हो अथवा दिलाया हो, परन्तु उनका नाम ज्ञानदानियो की सूची मे से निकाला नही जा सकता।

यहाँ कुछेक ज्वलन्त उदाहरण दिये जा रहे हैं—

जैन जगत् के ज्योतिर्धर आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर को अपनी विद्वत्ता का गर्व था। उनके पाण्डित्य पर मुग्ध होकर उज्जैन के राजा ने उनके सम्मान के लिए पालकी और उसके उठाने वाले कहार अपनी ओर से दिये। सिद्धसेन आचार्य ने सोचा—'क्या बुरा है, राजा सहजभाव से देता है तो ! उन्होने साधु जीवन की मर्यादा का कोई विचार नही किया।' अब वे पालकी मे बैठकर ही भ्रमण करते लगे। ऐसे समर्थ आचार्यों को कौन रोकता ? उनके गुरुदेव आचार्य श्रीवृद्धवादी को जब यह पता लगा कि सिद्धसेन पालकी मे बैठकर भ्रमण करता है तो उन्हे बडा दु ख हुआ। कैसे समझाया जाय, विद्वान् शिष्य को ? एक दिन पालकी उठाने वाला एक कहार अनुपस्थित था, यह देखकर वृद्धवादी सामान्य मजदूर के वेष मे उन कहारो से जा मिले और कहा—'आज मुझे भी पालकी उठाने देना !' उन्होने स्वीकार कर लिया। पालकी के चार पायो मे से अगले दाहिने पाये के नीचे उन्होने अपना कन्धा लगा दिया। कुछ ही दूर चले होगे कि आचार्य सिद्धसेन ने इन्हे वृद्ध देखकर विश्राम देने के लिहाज से कहा—'स्कन्धस्ते यदि बाधति !' (अगर तुम्हारा कन्धा दुखता हो तो) वृद्धवादी आचार्य तुरन्त बोले—

स्कन्धो मे नहि बाधते, किन्तु बाधति तव बाधते'

अर्थात्—'मेरा कन्धा नही दु खता, किन्तु तुम्हारा 'बाधति' प्रयोग अशुद्ध होने से वह पीडा दे रहा है।' यह सुनते ही सिद्धसेन विचार मे पडे, कि ऐसी गलती निकालने वाले गुरुदेव के सिवाय और कौन हो सकते हैं ? उन्होंने नीचे झुककर वृद्धवादी के चेहरे की ओर देखा तो तुरन्त पहिचान गये और पालकी रुकवा कर नीचे उतरे और गुरुचरणो मे गिरे। बोले—'गुरुदेव ! क्षमा करें, मैंने आपको इतनी तकलीफ दी।' 'वत्स ! मुझे तो कोई बात नही, पर इन बेचारे कहारो को कितनी पीडा होती होगी, जिनके कन्धो पर बैठकर तू रोज चलता है ? चाहे ये कहते न हो, परन्तु अहिंसक साधु का यह कर्तव्य नही है।' सिद्धसेन को तुरन्त प्रतिबोध लग गया और उन्होने उसी समय पालकी सदा के लिए छोड दी और कहारो को छुट्टी दे दी। गुरुदेव के द्वारा दिये हुए ज्ञानदान के लिए सिद्धसेन ने अत्यन्त आभार माना।

दूसरा उदाहरण है—उपाध्याय यशोविजय जी का। काशी मे बारह वर्षों तक रहकर उन्होने न्याय और दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। काशी के विद्वानो की परिषद् मे उन्होने न्यायशास्त्र के शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त की, जिससे उन्हे 'न्याय-विशारद' की उपाधि मिली। विजयोन्मत्त होकर उपाध्यायजी काशी से जब स्वदेश (गुजरात) की ओर लौटने लगे, तब अपने आगे-पीछे कपडे की विजयपताकाएँ लगाई। जनता ने जगह-जगह उनका अत्यन्त स्वागत किया, सम्मान दिया। जब वे मेडता पहुँचे तो वहाँ भी उनका बहुत सम्मान किया गया। परन्तु विजयपताकाएँ रखने के कारण उनका ज्ञानगर्व बहुत बढ चुका था। मेडता मे उस समय अध्यात्म-योगी आनन्दघनजी विराज रहे थे, वे यशोविजय जी से बडे थे। अत उनके दर्शनार्थ यशोविजयजी पहुँचे। प्रासंगिक वार्त्तालाप के पश्चात् आनन्दघनजी ने यशोविजय जी से पूछा—'आप तो बहुत ज्ञानी हैं। यह बतावें कि आपको कितने ज्ञान हैं?'

यशोविजयजी—'मुझमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दो ही ज्ञान हैं।'

'और केवलज्ञानी मे कितने ज्ञान होते हैं?' आनन्दघनजी ने पूछा।

'केवलज्ञानी मे पाँचो ज्ञान होते हैं, वे ज्ञान के सागर होते हैं। उनके ज्ञान का कोई पार नही होता।'—उपाध्याय जी बोले।'

'तब, यह बताइए कि केवलज्ञानी अपने साथ कितनी विजयपताकाएँ रखते थे? क्योकि उनमे तो आपसे अधिक ज्ञान है न?'

उपाध्याय यशोविजयजी मन ही मन आनन्दघनजी के कहने का आशय समझ गए, वे शीघ्र ही पट्टे से उठे और सब पताकाएँ हटवा दी। कहने लगे—गुरुदेव! मैं आपका आशय समझ गया। मुझमे अपने तुच्छ ज्ञान का गर्व आ गया, इससे मैं ये सब पताकाएँ ले बैठा। अब मुझे ये नही चाहिए। मुझे आपने ज्ञानदान देकर महान् उपकार किया है। क्षमा करें, मैंने अपने को केवलज्ञानी से भी बढकर समझा और उनकी आशातना की।'

इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि को भी एक वृद्ध आर्या ने ज्ञान देकर १४४४ बौद्धो को कडाह मे होमने के हिंसामय सकल्प का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रेरित किया।

इसी प्रकार गुजरात के एक रियासत के दीवान श्री शान्तु मेहता बहुत ही गुणज्ञ पुरुष थे। एक बार वे गुजरात के एक गाँव मे पहुँचे। लोगो से पूछा—'यहाँ कोई जैनमुनि हैं?' लोगो ने उपहास करते हुए बताया कि अमुक उपाश्रय मे एक जैनमुनि हैं। वे अकेले सीधे ही उस उपाश्रय मे पहुँचे। वहाँ जाकर देखा तो जैनमुनि एक तख्त पर बैठे थे, उनके बगल मे ही एक युवती खडी थी, जिसके कधे पर मुनिजी का हाथ था। शान्तु मेहता को देखते ही वे सकपका गए और झट से अपना हाथ युवती के कधे पर से हटा लिया, युवती भी लज्जित होकर एक कोने मे जाकर खडी हो गई। शान्तु मेहता ने यह सब प्रत्यक्ष देखा कि यह जैन श्रमण के आचार के

विरुद्ध है। यदि मैं इस समय उपालम्भ दूंगा तो यह सुधरने के स्थान पर अधिक ढीठ हो जायेगा अत उन्होने एक शब्द भी अपने मुंह से नही कहा। विधिवत् वन्दना की, सुखसाता पूछी और मगलपाठ सुनकर चल दिये। किन्तु उक्त मुनिजी के हृदय मे उथल-पुथल मच गई। वे पश्चात्ताप के सागर मे गहरे गोते लगाने लगे। उन्होंने उसी समय स्वय आलोचना करके प्रायश्चित्त लिया और शुद्ध होकर उसीदिन वहाँ से विहार करके अन्यत्र चल पडे। उस दिन से उक्त मुनिजी अपनी साधुत्व की मर्यादा और साधना के प्रति जागरूक रहने लगे।

एक बार वे पालीताणा गए। वहाँ अकस्मात् ही जब वे पहाड से उतर रहे थे, तब सामने से आते हुए शान्तु मेहता मिल गये। मुनिजी उन्हें देखकर पहिचान गये। शान्तु मेहता ने उनका नाम पूछा। फिर पूछा—'महाराज श्री! आपके गुरु कौन हैं?' मुनिजी ने कहा—'मेरे गुरु हैं—शान्तु मेहता।'

शान्तु मेहता—'महाराज! आप त्यागी हैं। गृहस्थ आपका गुरु कैसे हो सकता है? आप अपने दीक्षागुरु का नाम बताइये।'

मुनिजी—'मेरे दीक्षागुरु तो हेमचन्द्राचार्य हैं, लेकिन मुझे सच्चा ज्ञान देने वाले गुरु तो आप ही हैं। यद्यपि आपने उस दिन मेरी कुत्सितवृत्ति को देखकर कुछ भी नही कहा, किन्तु अपने आचरण से आपने मुझे सब कुछ बोध दे दिया कि तू इन्द्रो का पूज्य, त्यागी, वन्दनीय निर्ग्रन्थ श्रमणसिंह होकर ऐसी कुतिया से क्यो आसक्ति रखता है?'

'बस, उसी क्षण से आपके मूक ज्ञानदान से प्रेरित होकर मैंने अपनी जीवन-चर्या ही बदल दी, इसलिए मैंने आपको अपना गुरु माना है।'

गोस्वामी तुलसीदास जी को उनकी पत्नी रत्नावली ने ऐसा अद्भुत ज्ञानदान दिया कि उनका स्त्रीशरीर पर मोह बिलकुल शान्त हो गया, वे उस बोध से प्रेरित होकर सन्त बन गये और जगत् को 'रामचरितमानस' जैसा अनुपम भक्ति प्रधान ग्रन्थ दे गये।

बिल्वमगल एक सद्गृहस्थ की पत्नी के रूप पर मुग्ध हो गए। उसका पति और वह दोनो उनके भक्त थे, वे सन्त बिल्वमगल को भगवान् का रूप मानते थे। एक दिन वे कही जा रहे थे, और वह महिला पानी का घडा लेकर घर जा रही थी। बिल्वमगल उसके पीछे-पीछे चल दिये। महिला ने घडा रखा और सन्त को अपने घर की ओर आते देख स्वागतार्थ गई। इतने मे ही उसका पति आ गया। महिला ने सन्त को बिठाया और पूछा—'फरमाइए, महाराज! क्या चाहिए आपको?' बिल्वमगल बोले—'तुम्हारे पति को मेरे पास भेज दे, मैं उससे कह दूंगा।' महिला ने अपने पति से कहा। वह भी श्रद्धावश बिल्वमगल के पास पहुँचा। बोला—'स्वामी जी! कहिए क्या सेवा है, मेरे लायक!' बिल्वमगल—'बोलो, भक्त! मैं कहूँगा, वह सेवा करेगा?' 'जरूर करूँगा, महाराज! आप बताइए।' गृहस्थ ने

कहा। विल्वमगल—'तेरी स्त्री को कुछ देर के लिए मेरे पास भेज दे।' यह विचित्र माग सुनकर गृहस्थ भडका नहीं। उसे अपनी स्त्री पर विश्वास था। अत उसने विल्वमगल को विश्वास दिया और अपनी पत्नी से स्वामी जी की सेवा करने का कहा। वह समझ गई कि विल्वमगल काम-विकारवश मेरे रूप पर मुग्ध हैं। अत उसने बढिया रेशमी कपडे पहने, उन पर मिट्टी और गोबर लपेटा और उनके पास पहुँची। विल्वमगल ने पूछा—'तुमने इतने बढिया कपडे मिट्टी और गोबर से गन्दे क्यो कर लिए?' 'स्वामी जी! जब मेरी आत्मा गन्दी होने जा रही है, मेरा शरीर गन्दा हो रहा है, तब इन कपडो के गन्दे होने की मैं क्या चिन्ता करूँ?' बस, ये ही ज्ञान के बोल विल्वमगल के हृदय मे अकित हो गए। वे मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे। बहुत देर तक शून्यमनस्क होकर बैठे रहे। तब उक्त महिला ने कहा—'बताइए क्या आज्ञा है? मेरे पतिदेव ने आपकी सेवा मे मुझे भेजा है।' 'बस, और कुछ नही चाहिए, सिर्फ लोह की दो सलाइयाँ गर्म करके ले आओ।' महिला स्वामी जी के आशय को नही समझी। दो सलाइयाँ गर्म करके लाई। विल्वमगल ने तुरन्त वे दोनो गर्मागर्म सलाइयाँ अपनी दोनो आँखो मे भोक ली। अब क्या था, खून की धारा बह चली। आँखें जाती रही। महिला ने कहा—'महाराज! यह क्या किया आपने? मेरे सिर पर यह पाप क्यो चढाया?' 'बहन! यह तो इन आँखो ने अपराध किया था, उसका दड दिया है, तुम्हारे द्वारा तो मुझे ज्ञान मिला है, तुम्हारा तो महान् उपकार है कि तुमने मुझे ज्ञानदान दिया। यही विल्वमगल तब से सूरदास हो गए। जगत् मे भक्त कवि सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

इसके अलावा अलौकिक ज्ञानदान का एक पहलू यह भी है कि प्राचीन काल मे जब हस्तलिखित पत्राकार ग्रन्थ या तो ताडपत्र या भोजपत्र पर लिखे जाते थे, इस कारण शास्त्र—जो सम्यग्ज्ञान के अनुपम साधन थे, सर्वत्र उपलब्ध नही थे। उन्हे प्राप्त करने के लिए साधु-साध्वी दूर-सुदूर भ्रमण किया करते थे। लिखने वाले भी बहुत कम थे, और श्रद्धालु सम्पन्न श्रावक ही उन्हे लिखाते थे और श्रमण-श्रमणियो या मुनि-आर्यिकाओ को अत्यन्त श्रद्धा से देते थे। इसीलिए शास्त्रदान के रूप मे ज्ञानदान का लक्षण आचार्य वसुनन्दी ने किया है—

—"जो आगम, शास्त्र आदि लेहियो (लिपिकारो) से लिखवा कर यथायोग्य पात्रो को दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए। तथा जिनवाणी का अध्ययन कराना—पढाना भी शास्त्रदान है।[1] शास्त्रदान ज्ञानदान का ही एक महत्त्वपूर्ण अग है। जिस युग मे ताडपत्र या भोजपत्र पर लिखित शास्त्र या आगम बहुत ही कम उपलब्ध होते थे, तब कोई भी श्रद्धालु श्रावक अपने श्रद्धेय गुरुजनो को लेखको मे

१ "आगम सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ॥२३७॥"

—वसुनन्दी श्रावकाचार

लिखाए हुए शास्त्र इसलिये देते थे कि हमारे गुरुवर इस शास्त्र का अध्ययन, मनन, चिन्तन करके तत्वो का यथार्थ स्वरूप जानेंगे, दूसरो को व्याख्यान, उपदेश आदि द्वारा वस्तु का यथार्थस्वरूप समझायेंगे। इसलिए शास्त्रदान देने वाला बहुत ही पुण्योपार्जन तथा कर्म निर्जरा कर लेता था। जैसा कि ज्ञानदान का महत्त्व पिछले पृष्ठो मे बताया गया है, तदनुसार साधु को ज्ञानरूपी नेत्र मिल जाते थे। ज्ञान और खासकर शास्त्र-ज्ञान के बिना साधु का जीवन अंधेरे मे रहता है, वह स्वय सशय और मोह मे पडा रहता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे बताया है—'आगमचक्खू साहू' साधु का नेत्र आगम होता है। शास्त्रज्ञान पाकर ही वह तत्व निर्णय कर पाता है। इसलिए शास्त्रदान ज्ञानदान का एक विशेष रूप है। क्योकि शास्त्र भी ज्ञान को प्रादुर्भूत करने का एक विशिष्ट साधन है। यद्यपि कई साधुओ या गृहस्थो को वृक्ष से, ठूंठ से, बादलो से, बैल से या स्त्री आदि से ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हुआ है, वे स्वयबुद्ध या प्रत्येकबुद्ध बहुत ही कम हुए हैं, अधिकाश साधु-साध्वी तो गुरु, शास्त्र आदि के निमित्त से ही तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं।

जब तक कागजो का आविष्कार नही हुआ था, तब तक हस्तलिखित शास्त्र बहुत ही दुर्लभ थे। उसके बाद जब कागजो का आविष्कार हो गया, तब मोटे काश्मीरी कागजो को घोटकर लेहियो (लिपिकारो) से कई श्रद्धालु गृहस्थ लिखाते थे और योग्य साधु-साध्वियो को दान देते थे। बीकानेर मे धर्मवीर अगरचन्द भैरोदान सेठिया ऐसे ही एक श्रद्धालु गृहस्थ थे, वे अनेक साधु-साध्वियो को अपने यहाँ हाथ से लिखाये हुए शास्त्र देते थे। भीनासर मे सेठ कानीरामजी, जो स्वय शास्त्रज्ञ थे, वे भी अपने यहाँ लहियो से शास्त्र लिखवाकर रखते थे। स्वय भी शास्त्रवाचन करते थे और अन्य योग्य साधु साध्वियो को देते भी थे।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आद्य प्रतिष्ठापक धर्मप्राण लोकाशाह स्वय शास्त्रज्ञ और शास्त्र लेखक थे। शास्त्र लिखते-लिखते उन्हे बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तथा साधुओ के आचार-विचार का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करके उन्होने शास्त्रानु-रूप आचार-विचार तथा ससार का वस्तुस्वरूप समझाकर कई महान् त्यागी, तपस्वी, आचार धुरधर गृहस्थो को ससार विरक्त किया और जिससे उन्होने लोकाशाह के उस ज्ञानदान के फलस्वरूप भागवती दीक्षा अगीकार की।

भीनासर निवासी सेठ कानीरामजी बाठिया तो कई साधु-साध्वियो को शास्त्र वाचना भी देते थे। इसी प्रकार बीकानेर, रामपुरा, उदयपुर, रतलाम आदि मे कई श्रावक ऐसे भी थे, जो साधुओ का शास्त्र की गूढ गुत्थियाँ समझाते थे। कई श्रावक शास्त्रीय थोकडो (तत्त्वज्ञान के सग्रह) के जानकार थे, जो साधु साध्वियो को सिखाया करते थे। इसी प्रकार बीकानेर, ब्यावर, सिरोही, महेसाणा, अहमदाबाद, पालीताणा आदि मे कई शास्त्रज्ञ पडित भी थे, जो साधु-साध्वियो को भी धर्मशास्त्र तथा धर्म-ग्रन्थो (कर्मग्रन्थ, तत्त्वार्थ सूत्र आदि) का अध्ययन कराते थे, तथा गृहस्थो के तत्वज्ञान के लिये भी धार्मिक पाठशाला चलाते थे। आज भी ब्यावर, बाडिया, आदि कई जगह

सिद्धान्तशालाएँ भी चल रही हैं, कई ज्ञानदान मे रुचि रखने वाले श्रद्धालु गृहस्थो द्वारा, उनमे भी शास्त्रीय एव धार्मिक अध्ययन कराया जाता है सचमुच ये सब ज्ञानदान की प्याऊ हैं, जहाँ अनेक ज्ञान-पिपासु साधु-साध्वी आकर अपनी ज्ञानपिपासा मिटाते हैं।

यही कारण है कि ऐसे शास्त्रदानी-ज्ञानदानी द्वारा प्रदत्त शास्त्रदान का आचार्य अमितगति ने महान् फल बताया है—

—"शास्त्रदानदाता को ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर चराचर विश्व को जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है, उसकी तुलना मे दूसरे ज्ञान प्राप्त होने का तो कहना ही क्या ? शास्त्रदान देने वाला सज्जनो या सन्तो मे पूजनीय आदरणीय होता है, मनीषी उसकी सेवा करते हैं। वह वादियो को जीतने वाला, सभा का रजनकर्ता, वक्ता, नवीन ग्रन्थ रचयिता कवि और माननीय होता है। उसकी शिक्षाएँ (उपदेश) विख्यात हो जाती हैं।[1]

यह है शास्त्रदानी या ज्ञानदानी का माहात्म्य ! इसी बात को पद्मनदि-पच-विंशतिका मे स्पष्ट किया है—

—"उन्नत बुद्धि के धनी भव्य जीवो को पढने के लिये भक्ति से जो पुस्तक दान दिया जाता है, अथवा उन्ही के लिये तत्व का व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वान लोग श्रुताश्रित दान (शास्त्रदान या ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध (परिपक्व) होने पर कुछ ही भवो (जन्मो) मे मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है, तथा जिसके प्रकट होने पर तीनो लोको के प्राणी उत्सव की शोभा मनाते हैं।[2]

केवलज्ञान तो दूर की बात है, श्रुत-दान=शास्त्रज्ञान देने पर श्रुतकेवली तो साक्षात् हो जाता है। जैसा कि सागारधर्मामृत मे कहा है—'श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली।' शास्त्रदान (ज्ञानदान) देने से दाता श्रुतकेवली हो जाता है।

यह है अलौकिक ज्ञानदान का लेखा-जोखा जो साधु-साध्वियो द्वारा साधु-साध्वियो को अथवा सद्गृहस्थ विद्वानो, शास्त्रज्ञो या श्रद्धाशील शास्त्रदानियो द्वारा दिया जाता है और जो महाफलदायी हैं। ☆

---

१ लभ्यते केवलज्ञान यतो विश्वावभासकम्।
अपरज्ञानलाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥
शास्त्रदायी सता पूज्य सेवनीयो मनीषिणाम्।
वादी वाग्मी कविर्मान्य ख्यातशिक्ष प्रजायते ॥५०॥ —अमितगति श्रावकाचार

२ व्याख्याता पुस्तकदानमुन्नतधिया पाठाय भव्यात्मना।
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिद दान तदाहुर्बुधा ॥
सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिपु त्रैलोक्यलोकोत्सव—
श्री कारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजोजना ॥७।१०॥

14

ज्ञानदान : एक लौकिक पहलू

ज्ञानदान के एक मुख्य पहलू अलौकिकज्ञान—अर्थात् आत्मज्ञान-दान, (आध्यात्मिक ज्ञानदान) पर पिछले प्रकरण मे विचार किया गया है, वास्तव मे ज्ञान स्वय ही एक अलौकिक वस्तु है, किन्तु पात्र एव विषयभेद के कारण उसके दो पहलू हो गये हैं। जिस ज्ञान द्वारा सीधा आत्म-दर्शन अथवा आत्मदृष्टि प्राप्त होती है वह अलौकिक ज्ञान है, और जिस ज्ञान द्वारा व्यवहारिक बुद्धि का विकास एव विस्तार होता है। और फिर हिताहित का भान होता हो वह लौकिक ज्ञान है। यहाँ हम ज्ञान-दान के दूसरे पक्ष—लौकिक ज्ञानदान पर विचार करेंगे। यद्यपि इसका क्षेत्र भी काफी व्यापक है और जीवन मे लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। लौकिक ज्ञान-दान के भी अलौकिक ज्ञानदान की तरह तीन मुख्य पहलू हैं—

१ किसी विद्वान् या तत्वज्ञ द्वारा कोई ऐसी मार्मिक बात कह देना, जिससे उस व्यक्ति को एकदम प्रेरणा मिल जाय और वह एकदम बदल जाय।

२ शास्त्र, जिनवचन या धर्मग्रन्थ का वाचन करके ज्ञानदान देना अथवा बोल, थोकडे या धार्मिक ज्ञान सिखाना-पढाना।

३ व्यावहारिक ज्ञान मे दक्ष बनाना, या पाठशाला, विद्यालय, छात्रालय, या उच्चतम विद्यालय खोलना-खुलवाना, विद्यादान देना-दिलाना, जिससे व्यक्ति धार्मिक ज्ञान भी साथ मे ले सके।

ये तीनो ज्ञानदान के पहलू हैं, जिनसे एक या दूसरे प्रकार से ज्ञान प्राप्त होता है। पहले पहलू मे व्यक्ति सीधा ही किसी को ज्ञान देने नही बैठता, न कोई उद्देश्य ही होता है, परन्तु तात्कालिक प्रसग पर कोई ऐसी चुभती बात कह डालता है, जिससे सुनने वाले को सहसा ज्ञानदान मिल जाता है, अथवा वह वाक्य उसकी आत्मा को झकझोर कर जगा देता है। ऐसे दान की महिमा सभी दानो से बढकर बताई है—

—'जल, अन्न, गाय, पृथ्वी, निवास, तिल, सोना और घी इन सबके दान की अपेक्षा ज्ञानदान विशिष्ट (बढकर) है।[1]

---

१ सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदान विशिष्यते।
वार्यन्न-गो-मही-वासस्तिलकाचन-सर्पिषाम् ॥—मनुस्मृति ४।२३३

ऐसे समय मे जब मनुष्य किसी उलझन या पशोपेश मे, सशयग्रस्त हो, भ्रान्त हो अथवा विपरीत मार्ग पर चला जा रहा हो, कोई भी अच्छी सलाह, परामर्श, सुझाव या उचित मार्गदर्शन ज्ञानदान का काम करता है।

ज्ञानदान का पहला पहलू सीधा जीवनस्पर्शी है। जैनशास्त्र मे कई ऐसे उदाहरण दिये गये हैं, जिनमे खासकर यह बताया गया है कि महापुरुष के एकवचन से उक्त श्रोता को ससार से विरक्ति हो गई, अथवा उसने अपने गृहस्थ जीवन मे भी परिवर्तन कर लिया। सुबाहुकुमार, आनन्द श्रमणोपासक, कामदेव श्रमणोपासक आदि के उदाहरण मौजूद हैं, इसकी साक्षी के रूप मे। राजा प्रदेशी को तो केशी श्रमण मुनि के वचन सुनते ही हृदय मे जागृति आ गई। राजा प्रदेशी, जो एक दिन क्रूर, अधार्मिक और खूंख्वार बना हुआ था, मुनि के उपदेश सुनते ही एकदम बदल गया, वह शान्त, दयालु, धार्मिक और दानी बन गया। केशीश्रमण का ज्ञानदान सफल हुआ।

यही तो ज्ञानदान है, जिससे व्यक्ति के जीवन मे हिताहित का भान हो, जीव-अजीव आदि तत्त्वो का बोध हो और पाप या अधर्म कार्य से व्यक्ति विरत हो। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञानदान का यही लक्षण किया है—

—'वास्तव मे ज्ञानदान प्राप्त होते ही मनुष्य को अपने हिताहित का बोध हो जाता है और वह अहित, या अकर्तव्य से दूर हट जाता है।[1]

मारवाड का एक राजा शिकारी के वेष मे शिकार खेलने जा रहा था। एक चारण जो फल तोडने के लिए एक पेड पर चढा हुआ था, उसने राजा को किसी हिरन के पीछे घोडा दौडाते हुए देखा तो उसका हृदय व्यथित हो गया। वह चाहता था कि राजा को वह उपदेश दे, किन्तु ऐसे समय मे राजा उपदेश सुनने के मूड मे नही था। जगल का रास्ता जनशून्य होने के कारण आगे जाकर एक पगडडी के रूप मे परिणत हो गया, कुछ दूर और चलने पर तो वह पगडडी भी बन्द हो गई। राजा पशोपेश मे पडकर इधर-उधर देखने लगा। ऊपर देखा तो एक व्यक्ति फलदार पेड पर चढा हुआ दिखाई दिया। राजा ने उससे पूछा—'फला गाँव की बाट (रास्ता) कौन-सी है?' चारण ने अच्छा अवसर देखकर निम्नोक्त दोहे मे उत्तर दिया—

जीव मारता नरक है जीव बचाता सग्ग।
हू जाणूं दोई बाटडी, जिण भावे तिण लग्ग॥

अर्थ स्पष्ट है। राजा सुनते ही चौंक पडा। चिन्तन-मन्थन होने लगा हृदय मे। चारण की बात उसके हृदय मे सीधी उतर गई। उसी दिन से उसने शिकार खेलना छोड दिया। दयालु बन गया।

---

१ ज्ञानदानेन जानाति जन्तु स्वस्य हिताहितम्।
वेत्ति जीवादि तत्त्वानि, विरतिं च समश्नुते॥ —त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित

इसी प्रकार जैन इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है—महाकवि धनपाल जैन श्रावक थे। वे बडे ही दयालु और शान्त थे। महाराजा भोज के दरबार में नवरत्नो मे से वे भी एक थे। एक दिन राजा भोज बडे आग्रह के साथ शिकार खेलने के लिए धनपाल कवि को साथ ले गया। राजा ने एक भागते हुए हिरन को बाण से बींध डाला और वह भूमि पर गिरकर प्राणान्त वेदना से छटपटाने लगा। इस प्रसग पर साथ के दूसरे कवियो ने राजा की प्रशसा मे कविताएँ पढी। महाकवि धनपाल चुप-चाप खडे रहे। आखिर राजा ने स्वय ही प्रसगोचित वर्णन के लिए धनपाल कवि से कहा—महाकवि ने राजा को बोध देने की दृष्टि से तत्कालीन प्रसग का निर्भयता-पूर्वक उपयोग करते हुए कहा—

"रसातल यातु तवत्र पौरुष,
कुनीतिरेषा शरणोत्थदोषान् ।
निहन्यते यद् बलिनाऽतिदुर्बलो,
हहा महाकष्टमराजक जगत् ॥"

'ऐसा पौरुष (वीरत्व) पाताल मे जाय। निर्दोष प्राणियो को मारना कुनीति है। ससार मे यह अराजकता छाई हुई है कि एक बलवान अत्यन्त दुर्बल को मार डालता है। हाय! इसे देखकर बडा कष्ट होता है।'

राजा भोज ने जब अपनी भर्त्सना सुनी तो वे तिलमिला उठे। उन्होने नम्रता के स्वर मे कहा—'कविराज! यह क्या कहते हो? तुमने तो उलटा ही राग छेड दिया।' धनपाल कवि ने दृढता के स्वर मे कहा—

"वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते प्राणान्ते तृणभक्षणात् ।
तृणाहारा सर्वदैते हन्यते पशव कथम् ॥"

—'देहान्त के समय अगर शत्रु भी मुह मे तिनका दबाकर शरण मे आ जाते हैं, तो वे भी छोड दिये जाते हैं, किन्तु ये प्राणी तो बेचारे सदैव मुंह मे तिनका दबाए रहते हैं, तृणाहारी हैं, इन पशुओ को क्यो मारा जाता है?'

राजा भोज के हृदय पर ठीक समय पर इस सत्योपदेश की करारी चोट पडी। राजा के मन मे दयाभाव जागृत हुआ, और उन्होने शिकार खेलने का त्याग कर दिया।

यह था ज्ञानदान का प्रभाव, जिसने राजा का जीवन ही बदल दिया। कई बार ज्ञानदान देने के लिए कुछ महादाताओ को अपना बलिदान भी देना पडा है। देशभक्त महाराणा प्रताप और उनके भाई शक्तिसिंह मे एक बार वन मे एक शिकार के लिए झगडा हो गया। इस विवाद ने इतना उग्ररूप धारण कर लिया कि दोनो ने तलवारें खीच ली। उस समय वहाँ राजपुरोहित भी उपस्थित था उसने दोनो भाइयो को बहुत समझाया, धर्मशास्त्रो के अनेक शिक्षा वाक्य सुनाए, मगर दोनो भाई टस

से मस न हुए। पुरोहित ने देखा कि दोनो भाई आवेश मे आकर मर जाएँगे, मेवाड का सूर्य अस्त हो जाएगा। इस समय मेरा मौखिक उपदेश काम नही आएगा। इस समय दोनो का हृदय बदलने वाले असाधारण त्याग की आवश्यकता है। अत पहले तो राजपुरोहित ने दोनो भाइयो को अपने पर तलवार चलाने को कहा। इस पर भी वे न माने तो पुरोहित ने छुरा निकालकर दोनो के देखते ही देखते स्वय अपने पेट मे भोक लिया। पुरोहित के इस बलिदान ने दोनो भाइयो पर ज्ञानदान का काम किया। जो पहले बिलकुल न मानते थे, वे दोनो इस बलिदान से कांप उठे, दोनो की तलवारें म्यान मे बन्द हो गईं। दोनो भाइयो का सदा के लिए कलह मिट गया।

अब लौकिक ज्ञानदान के दूसरे पहलू पर विचार कर लें—

कई विद्वान् या धर्मश्रद्धालु श्रावक पर्युषणपर्व या किसी विशिष्ट अवसर पर शास्त्रवाचन किया करते हैं, अथवा साधु-साध्वियो का पदार्पण नही होता या अत्यन्त कठिनता से होता है, वहाँ ऐसे विद्वान् श्रावक पहुँचकर शास्त्रवाचन करते हैं, अथवा स्थानीय श्रावको मे से कोई विशिष्ट श्रावक या श्राविका शास्त्रवाचन करती हैं। अथवा कोई स्थानीय श्रावक या श्राविका भी कई जगह व्याख्यान करती हैं। इस प्रकार के ज्ञानदान से भी बहुत-सा बोध प्राप्त हो जाता है। दिगम्बर जैनो मे मुनिवरो की सख्या अल्प होने से दशलक्षणीपर्व या विशिष्ट अवसरो पर पण्डित या ब्रह्मचारी व्याख्यान देते हैं। श्वेताम्बरो मे यति लोग अथवा स्वाध्यायी श्रावक कई जगह कल्पसूत्र आदि वाचन के लिए जाते हैं। कई जगह धर्माध्यापक भाई या धर्माध्यापिका बहन धार्मिक पाठशाला मे विद्यार्थी वर्ग को धार्मिक अध्ययन कराते हैं, जैनागमो के बोल, थोकडे वगैरह सिखाते हैं, कई लोग उदारतापूर्वक धार्मिक पाठशाला अपनी ओर से चलाते हैं। ये और इसी प्रकार के सभी बोधदाता कार्य लौकिक ज्ञानदान मे समाविष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानदान को लौकिक तो पात्र की उपेक्षा से कहा जाता है, इसमे जो ज्ञान होता है, वह सब लोकोत्तर पुरुषो की वाणी का ही निष्कर्ष होता है। इस धर्मज्ञान को पाकर भी मनुष्य अपनी आत्मा को तथा आत्मा से भिन्न पदार्थों को भली-भाँति समझ कर अपने आत्म-कल्याण मे प्रवृत्त होता है। सचमुच ऐसा धर्मज्ञान पाकर भी कई गृहस्थ आत्म-कल्याण के पथ पर चढ जाते हैं, कई विरक्त हो जाते हैं। इसलिए यह लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

महात्मा गांधीजी एक बार ईसाई पादरियो तथा गृहस्थो के सम्पर्क मे आकर तथा उनके द्वारा प्रत्यक्ष रुग्णसेवा आदि देखकर ईसाई धर्म से प्रभावित हो गए थे। वे ईसाई धर्म स्वीकार करने को आतुर थे, तभी उनके मन मे एक स्फुरणा आई कि ईसाई बनने से पहले क्यो न, एक बार अपनी शकाओ का समाधान गुजरात के विद्वान् विचारक श्री रायचन्द भाई कवि से कर लिया जाय।' फलत महात्मा गांधीजी ने उन्हें २७ प्रश्न लिख भेजे, जिनका समुचित समाधान पाकर गांधीजी का ईसाई बनने

का विचार बदल गया। क्या श्रीमद् रायचन्द भाई द्वारा दिया गया यह ज्ञानदान कम महत्त्वपूर्ण था ? इस ज्ञानदान ने महात्मा गाँधीजी का जीवन ही बदल दिया।

कई बार कई व्यक्ति शास्त्र के उपदेश से या सामान्य व्याख्यान से नही मानते, उनका परिवर्तन युक्तियो से हो सकता है। ऐसी युक्ति से सन्त ही ज्ञानदान देकर कुरूढिग्रस्त या किसी कुप्रथा के गुलाम बने हुए व्यक्ति को बदल सकते हैं।

गुजरात के सिंहासन पर कुमारपाल सम्राट् आरूढ थे। आचार्य हेमचन्द्र के वे परम भक्त बने हुए थे। कुमारपाल राजा को अहिंसा की प्रेरणा आचार्य हेमचन्द्र के निमित्त से मिली थी। परन्तु कुमारपाल राजा के सामने एक समस्या आ खडी हुई। गुजरात के चौलुक्यवशीय क्षत्रियो की कुलदेवी कण्टेश्वरी के सामने प्रतिवर्ष नवरात्रि के दिनो मे सप्तमी, अष्टमी और नवमी को सैकडो पशुओ की बलि दी जाती थी। यह हिंसक कुप्रथा वर्षों से चली आ रही थी। चौलुक्य क्षत्रिय माताजी की प्रसन्नता से जितने निर्भय थे, उतने ही उसके कोप से वे भयभीत थे। उनकी दृढ मान्यता थी कि माता कुपित होगी तो चौलुक्यवश नष्ट हो जाएगा, पाटण पर-चक्र के आक्रमण से ध्वस्त हो जाएगा। ज्यो-ज्यो उत्सव के दिन निकट आते गये, त्यो-त्यो क्षत्रियो के दिलो पर भय की घटा छाने लगी। अहिंसक कुमारपाल के सामने धर्मसकट था कि "यह बकरो और पाडो की हिंसा कैसे बन्द हो, और बन्द हो तो कही देवी का कोप न उतर पडे।"

राजा कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र के मार्गदर्शन पर पूर्ण विश्वास था। आचार्य हेमचन्द्र को आसोज सुदी ६ के दिन होने वाली सामन्तो की सभा मे मार्ग-दर्शन के लिए आमन्त्रित किया गया। ठीक समय पर सभा जुडी। आचार्य हेमचन्द्र पधारे। सभी ने खडे होकर उनका सम्मान किया। सभी पूर्वोक्त समस्या को हल करने के लिए उत्सुक थे, और आचार्य के मुखमण्डल पर दृष्टि गडाये हुए थे। तभी आचार्यश्री की पवित्र वाणी स्फुरित हुई—'सज्जनो ! माताजी को भोग देना ही होगा। बलि दिये बिना कैसे काम चलेगा ? पशुओ के साथ-साथ इस वर्ष माताजी को मिठाई भी अधिक चढानी होगी। कुलदेवी को प्रसन्न रखना है। माताजी का कोप कैसे सहन होगा। अतः बलि अवश्य दें।' मासभक्षी पुजारियो के हृदय प्रसन्नता मे भर आये। अहिंसोपासक आचार्य की हिंसा के काम मे सम्मति ! परन्तु आचार्यश्री के मार्गदर्शन पर सबको विश्वास था। उन्होने आगे कहा—'बलि दो, पर हाथ रक्त से रगकर नही। जिन जीवो को चढाना हो, उन्हे जीते जी माताजी के चरणो मे चढा दो। मन्दिर के द्वार बन्द कर दो। माताजी को अपनी इच्छानुसार भोग लेने दो। आज तक तुमने मुर्दों का भोग चढाया है, अब जीवितो का भोग चढाओ। पशुओ के अक्षत देह को माता के चरणो मे चढाओगे तो वह विशेष प्रसन्न होगी।' बात उचित थी, प्रयोग सुन्दर था। इसी दिन रात को माताजी के मन्दिर मे जीवित पशुओ को भर दिये गये। सभी दरवाजे बन्द कर दिये गये। मन्दिर के बाहर-सभी भक्तजन

समाज सम्बन्धी आती हैं। साधुओ के लिए भी ऐसा विधान मिलता है कि वह देश-परदेश की अनेक भाषाओ का ज्ञाता बने, देश-विदेश के रहन-सहन, सामाजिक प्रथाओ, सस्कारो, व्यवहारो आदि से परिचित हो। तभी वह किसी देश, जाति, समाज को धर्म का योग्य मार्गदर्शन—ज्ञानदान दे सकता है। यही कारण है कि साधु-साध्वियो को भी हिन्दी, अँग्रेजी, सस्कृत, प्राकृत, दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, समाज-विज्ञान आदि का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्षों तक व्यावहारिक ज्ञान का अध्ययन करना पडता है, और उसके लिए विशिष्ट विद्वानो तथा अध्ययन व्यय की व्यवस्था करने ज्ञानप्रेमी श्रावको की अपेक्षा रखनी पडती है। आखिरकार साधु-साध्वियो को अपने उपदेश, व्याख्यान, लेख, वक्तव्य तथा ग्रन्थलेखन आदि के लिए विविध भाषाओ का तथा विविध सस्कृति, इतिहास, भूगोल, समाजविज्ञान आदि का व्यवस्थित अध्ययन जरूरी होता है। उसके बिना युगानुलक्षी मार्गदर्शन, प्रेरणा या उपदेश दे भी नही सकते। देश-विदेश मे विचरण करने के लिए भी उन्हें विविध विद्याओ का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इसलिए व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता को झुठलाया नही जा सकता और न ही उसका मूल्य कम आँका जा सकता है।

व्यावहारिक ज्ञान के साधनो मे विद्यालय, विद्यालय की सारी व्यवस्था, स्वय पढना, दूसरो से अध्ययन कराना, छात्रवृत्ति देना, विद्यार्थियो मे चरित्रनिर्माण तथा धर्मश्रद्धावृद्धि का ध्यान रखना आदि सब व्यवस्थाएँ अपेक्षित होती हैं। इन सबका दान भी ज्ञानदान के अन्तर्गत आ जाता है। गृहस्थ भी इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञानदान पाकर धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान की ओर मुडता है। यदि उसे व्यावहारिक ज्ञान नही होता और अन्धश्रद्धावश बिना ज्ञान के कोई भी धर्मक्रिया करता है तो उसका फल वह सम्यक् नही प्राप्त कर सकता। इसीलिए कहा है—

'पढम नाण तओ दया'

—पहले ज्ञान हो, तब दया शोभा देती है। और वह दया विवेकपूर्वक होती है। जब अन्तर मे जागृति आ जाती है तो मनुष्य ज्ञान के सिवाय और कुछ नही माँगता।

इसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञानदान के साथ चरित्र निर्माण का ध्यान रखने पर भी वह व्यावहारिक ज्ञानदान सुन्दर प्रतिफल लाता है। सेठिया जैन विद्यालय एव छात्रालय, जैन गुरुकुल, ब्यावर, जैनेन्द्र गुरुकुल पचकूला, राणावास के जैन विद्यालय, ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर आदि अनेक छात्रावासो ने विद्यार्थियो को व्यावहारिक ज्ञानदान देकर उनमे उत्तम सस्कारो का बीजारोपण भी किया है। भारतवर्ष मे जैन समाज आदि के द्वारा स्थापित इस प्रकार के अनेक गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम एव छात्रावास आदि हैं, जिनमे कई दाताओ ने अपना अर्थ सहयोग देकर ज्ञानदान का पुण्योपार्जन किया है।

रामकृष्ण मिशन ने जब सबसे पहले जिला मुर्शिदाबाद मे सकट-निवारण का कार्य प्रारम्भ किया, तब स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी श्रद्धानन्दजी को एक पत्र मे

लिखा—'सिर्फ कुछ गरीबो को चावल दे देने से काम नही चलेगा। चिरकाल से हमारे यहाँ दान दिया जाता है, तो भी सहायता मागने वालो की भारत मे कमी नही। आप सहायता के साथ कुछ शिक्षा भी देते हैं या नही ? जब तक कमाने की शक्ति आने से पहले लोगो का विवाह होता रहेगा, तब तक इन भुखमरो के नगे बच्चो की शिक्षा नही होगी। इसके सिवा लुच्चे-लफगे भी अपने को गरीब बताकर ले जाते हैं। इसलिए खासतौर पर सावधानी रखकर सहायता देनी चाहिए।'

अब आप समझ गये होंगे कि विद्यादान ही हमारा पहला मुख्य कार्य है। सच है, अन्नदान से तो सिर्फ एक दिन का सकट दूर होता है, पर विद्यादान से जिन्दगी भर का दु ख टलता है।'[1]

यही कारण है कि विद्यादान मे यावज्जीवन सलग्न महामना प० मदनमोहन मालवीय जी ने विद्या के लिए दान की एक सुन्दर योजना जनता को अन्न-त्याग करने की सलाह देकर बनाई थी।

आज से लगभग ४० वर्ष पहले की बात है। तब महामना प० मदनमोहन मालवीय हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उसी दौरान बहुत-से योजनादक्ष लोगो ने एक योजना बनाई थी कि देश मे इस समय २८ करोड हिन्दू हैं। उनसे प्रार्थना की जाय कि वे प्रत्येक एकादशी का व्रत रखें और उस दिन के भोजन का जितना अन्न बचे, उसे विद्या के निमित्त दान कर दें। उन दिनो चार आने मे दोनो टाइम का भोजन चल जाता था। इसलिए योजनाकारो ने बताया—'महीने मे दो एकादशी पडती हैं। दो दिन उपवास करना धर्म और स्वास्थ्य की दृष्टि मे भी बहुत उपयोगी व लाभप्रद है। प्रति व्यक्ति प्रतिमास ८ आने दें तो १४ करोड रुपये मासिक आय हो सकती है। इतनी अर्थराशि से तो कितने ही विश्वविद्यालय चल सकते हैं। देखने मे यह योजना सुन्दर है, आसान भी है, महीने मे आठ आना अधिक भी नही। और इससे विद्यादान का पुण्य भी अर्जित हो सकता है।" इस योजना पर विचार किया जाय तो अन्नदान की अपेक्षा विद्यादान का महत्व अधिक प्रतीत होता है।

इसलिए जो निर्धन, असहाय, अनाथ एव पराश्रित बालको को विद्यादान देता है या दिलाता है, वह वास्तव मे उस बालक को भविष्य की रोटी-रोजी का साधन देता है। इतना ही नही, प्रकारान्तर से वह उस बालक के जीवन मे सुसस्कारो तथा चरित्र निर्माण का दान करता है। इसीलिए एक भिखारी की अन्तिम इच्छा अपने-जैसे भूखे-नगे लोगो को अन्न वस्त्र प्रदान करने की अपेक्षा विद्यादान की हुई।

---

१ अन्नदानात्पर नास्ति, विद्यादान ततोऽधिकम।
एकेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीव तु विद्यया॥

कानपुर की बात है। गगा तट पर स्थित घाट पर भिखारियो की बस्ती है। एक भिखारी वहाँ वर्षों से रहता था। वह बीमार हुआ। सरकारी होस्पिटल मे भर्ती कराया गया। वहाँ उसका ऑपरेशन अच्छी तरह हो गया लेकिन कमजोरी दिन-प्रतिदिन बढती ही गई। उसने अपना अन्तिम समय निकट जानकर डॉक्टर से कहा—'डॉक्टर साहब ! यह मेरी पोटली खोलिए।' डॉक्टर ने पोटली खोली। उसने गिन कर देखे तो पूरे ७०००) रुपये थे। वह बोला—'डॉक्टर साहब, मैंने पैसा-पैसा माग कर ये रुपये इकट्ठे किये हैं। मेरी आखिरी इच्छा यह है कि इन रुपयो का उपयोग गरीब विद्यार्थियो की पढाई मे हो। क्योकि मेरे माता-पिता ने मुझे पढने के लिए बहुत कहा था, मगर मैं पढा नही, जिससे मुझे जिन्दगी मे भीख मागनी पडी। अत अगर आप इन रुपयो को गरीब बच्चो की पढाई मे खर्च करेंगे तो मेरी आत्मा को सन्तोष होगा।' डॉक्टर ने पूछा—'तुम्हारे क्रियाकर्म के लिए इनमे से कुछ भी खर्च न किया जाय ?' भिखारी—'डॉक्टर साहब ! नही, इनमे से एक भी पैसा नही। मैं तो गगा-माई के किनारे ही रहा हूँ। अब मोत आ रही है तो मुझे गगामाई की गोद मे ही बहा दें। माँ की गोद से बढकर कौन-सी अच्छी जगह होगी ?' ६ घण्टे के बाद ही उस भिखारी की मृत्यु हो गई। लेकिन यह बात भिखारियो मे फैल चुकी थी। भिखारियो ने भी थोडा-थोडा करके तीन हजार रुपये इकट्ठे किए और यो कुल मिला कर दस हजार रुपये उन्होने गरीब विद्यार्थियो को विद्यादान और साथ ही सुसस्कार-दान के लिए डॉक्टर को सौंपे। डॉक्टर ने इन रुपयो से गरीब विद्यार्थियो को शिक्षा-दीक्षा एव सस्कार देने का निर्णय किया। सचमुच, उस भिखारी का रुपया विद्यादान-ज्ञानदान मे सार्थक हो गया।

भगवद्गीता मे कहा है—'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' जो ज्ञानवान् है, वही प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान के लिए विद्यादान उत्तम उपाय है। यही कारण है कि एक अनपढ, किन्तु धर्मात्मा विधवा देवी ने अपना सर्वस्व ज्ञानदान मे दे दिया।

खडवा की एक पोरवाड जैन महिला ने कन्या पाठशाला के लिए १० हजार रुपयो की कीमत की अपनी सम्पूर्ण जायदाद दे दी। उसका मानना था कि लडकियाँ विद्या प्राप्त करके धर्मज्ञान प्राप्त करेंगी तो वे भावी पीढी को धर्म-सस्कारी बना सकेंगी।

एक दृष्टि से देखा जाय तो विद्यालय-निर्माण के लिए अर्थसहयोग देना समाज के ऋण से उऋण होने का एक प्रकार है। समाज ने उन्हे पढा-लिखाकर सुसस्कारी बनाया है, अत उनका कर्तव्य हो जाता है कि समाज के बच्चो को ज्ञान-दान मे सहयोग दें।

कई बार ज्ञानदान प्राप्त व्यक्ति कृतज्ञतावश दूसरो को ज्ञानदान (विद्या-प्राप्ति के लिए दान) करके अपने उस ऋण से उऋण होता है, अपने दायित्व का निर्वाह करता है। भावनगर के सर प्रभाशकर पट्टणी गरीब विद्यार्थियो को विद्या पढने के

लिये सहायता दिया करते थे। उन्होने एक गरीव लडके को पढाई के लिये लगभग ४ हजार रुपये की मदद की। वह लडका जव वी ए एल. एल वी पास करके मजिस्ट्रेट पद पर पहुँचा तो एक दिन सुवह ही सुवह चार हजार रुपये का चैक लेकर सर प्रभाशकर पट्टणी के भावनगर स्थित नीले बगले पर पहुँचा। उसने अन्दर प्रवेश की अनुमति मागी तो पट्टणी साहव ने दे दी। आगन्तुक युवक ने आते ही पट्टणी साहव के हाथ मे वह ४ हजार रुपये का चैक थमा दिया। पट्टणी साहव ने पूछा—'ये रुपये किस वात के है?' वह वाला—'आपने मुझे गरीब स्थिति मे मदद देकर पढाया। आज मैं वी ए एल एल वी पास होकर मजिस्ट्रेट पद पर आपकी कृपा से पहुँचा हूँ। मैंने आपके द्वारा समय समय पर दी हुई रकम लिख रखी थी। कुल रकम ४ हजार की होती है, अत यह चैक लीजिये और मुझे ऋण से मुक्त कीजिए।' पट्टणी जी ने उक्त युवक को पहिचान लिया। वे कहने लगे—'देखो, इन चार हजार रुपयो के वापस देने मात्र मे तुम ऋणमुक्त नही हो सकते। यह चैक वापिस ले जाओ और जिस तरह मैंने तुम्हे पढाया, उसी तरह तुम भी इस रकम से दूसरो को पढाओगे तो ऋणमुक्त हो सकोगे।' युवक ने वैसा ही करना स्वीकार करते हुए नमस्कार करके विदा ली।

सचमुच, विद्यादान पाये हुए व्यक्ति के द्वारा विद्यादान मे व्यय करना एक तरह से प्रतिदान है। ऋणमुक्ति का प्रकार है।

कई महानुभाव अपने निर्वाहव्यय मात्र लेकर बाकी का धन विद्यादान के लिए दे देते हैं। यह भी ज्ञानवृद्धि मे योगदान देना है। आचार्य नरेन्द्रदेव लखनऊ विश्वविद्यालय और काशी विश्वविद्यालय दोनो के ५-६ वर्ष तक उपकुलपति रहे थे। इस पद के अनुरूप उन्हें जो वेतन मिलता था, उसे लेते हुए उन्हे भारी टीस का अनुभव होता था। इसलिए वे उस वेतन मे से आधा तो निर्धन छात्रो को पढाई के लिए दे डालते थे। बाकी का आधा भी वे वडे सकोच से ग्रहण करते, कभी-कभी तो उसमे से भी वहुत-सा अश छात्रो के लिए विद्यादान मे ही खर्च कर डालते थे। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय के लिए वे अपना समय, शारीरिक शक्ति और बुद्धि का अजस्र दान तो करते ही रहते थे। जब से उन्होने सोचना प्रारम्भ किया, तब से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक इस करुणाप्रेरित ज्ञानदान का सत्र चलता ही रहा।

स्वीडन के इन्जीनियर डॉ० एल्फ्रेड नोबेल की मृत्यु के पश्चात् अब भी उनके द्वारा छोडी हुई समर्पित सम्पत्ति से प्रतिवर्ष विश्व के महान् कलाकारो, लेखको और आविष्कारको को इनाम मिलता रहता है, और मिलता रहेगा। यह भी विद्यादान का एक महत्त्वपूर्ण अग है। इसी प्रकार अमेरीका के विश्वविख्यात तेल व्यवसायी जॉन डी रॉकफेलर नामक सर्वश्रेष्ठ धनी ने दो अरब रुपयो से अधिक शिक्षा प्रचार, चिकित्सा आदि मे दान दिये। केलीफोर्निया की एक युवती ने अपनी सम्पत्ति मे से १८ करोड रुपये विद्यादान मे दिए।

कई कई विद्या मन्दिरो मे गडवडियाँ चलती हैं, अध्यापक अनियमितता वरतते हैं, विद्यार्थियो के चरित्र-निर्माण पर ध्यान नही देते, न वे विद्यार्थियो को जी लगा कर पढाते हैं, अथवा न पूरा समय देते हैं, इस कारण विद्यालयो के प्रति जनता को वहुत ही निराशा वढ चुकी है। इनके सुधार के लिए अर्थसहयोग देना भी एक तरह से विद्या प्रसार के काम मे योगदान है, प्रकारान्तर से विद्यादान है। सन् १९७० मे चिंगुलीपुट (तामिलनाडु) मे एक स्कूल सुधार सम्मेलन हुआ था। उसमे एक वृद्धा ने अपनी लगभग दो लाख रु० की सम्पत्ति स्कूल मे सुधार के लिए दान दे दी। उस सम्मेलन मे स्कूल सुधार के लिए लगभग ८८ लाख रुपये दान के रूप मे प्राप्त हुए थे।

इसी तरह कई अध्यापक वडे सहृदय होते हैं। वे गरीबी मे ही अपना जीवन विताते हुए जो कुछ वेतन उन्हे मिलता है, उसमे से वचाकर निर्धन विद्यार्थियो को पुस्तकें, पढाई की फीस तथा अन्य सामान के लिए सहायता देते रहते हैं। ऐसे निःस्पृह अध्यापक कई बार इनाम मे मिली हुई वडी से वडी रकम छात्रो की पढाई के लिए देते हुए सकोच नही करते। उनका मानना है—"हमारी विद्यादान मे दी हुई रकम निष्फल नही होगी। यह तो सोने की खेती है। एक वीज के हजार-हजार दाने मिलेंगे।"

सौराष्ट्र के एक छोटे-से गाँव मे मास्टर कृपाशकर ने अपनी सारी जिन्दगी ज्ञानदान मे खर्च कर दी। वे ज्ञानदान के वदले एक भी पैसा नही चाहते थे। यहाँ तक कि ट्यूशन भी मुफ्त पढाते थे। जो कुछ नौकरी से मिल जाता, उसी मे अपना निर्वाह करते थे। एक वार मास्टरजी को अपनी कन्या के विवाह के लिए ५ हजार रुपयो की जरूरत थी। उन्होंने अपने एक भूतपूर्व छात्र जीवनलाल से माँगे। उसने और उसके एक मित्र झीलू ने ५ हजार रुपये मास्टर जी को दे दिये। किन्तु लडकी की शादी के वाद वे मास्टर जी से तकाजे पर तकाजा करने लगे। मास्टर जी ने अपना एक प्लॉट उन्हे दे दिया। उन्होने प्लाट बेचकर ८० हजार रुपये कमाए। जीवनलाल लालची था, जबकि उसका मित्र झीलू उदार था। उसने कहा—'मास्टर जी ने हमे पढाया-लिखाया है, सस्कार दिये हैं। ये रुपये उन्हे ही दे दें, हम न लें तो अच्छा है।" दोनो ८० हजार की थैली लेकर मास्टर जी के पास पहुँचे। मास्टर जी से जब ८० हजार रुपये लेने का अनुरोध किया तो उन्होने साफ इन्कार कर दिया। दोनो मित्रो ने कहा—"अच्छा, ५ हजार हमारी असली रकम रख कर वाकी ७५ हजार रु० आपके हैं, उन्हे रख लीजिए।" उन्होने रखने से साफ इन्कार कर दिया। तब दोनो मित्रो ने मास्टर कृपाशकर की सलाह से वह सारी रकम (८० हजार रुपये) गुप्तदान के रूप मे विद्यादान मे एक शिक्षा सस्था को दे दी।

इस प्रकार देश-विदेश मे हजारो व्यक्ति ऐसे हैं, जो विद्या जैसे पवित्र कार्य मे लाखो रुपये दान मे देते हैं। दानवीर एण्ड्रयूज कार्नेगी स्वय निर्धन अवस्था में

मे कई पुस्तकालयो से पुस्तकें ला-लाकर पढते थे। किन्तु जब वे पढ-लिखकर विद्वान हुए और अपने पुरुषार्थ के बल पर करोडो रुपयो की सम्पत्ति के मालिक बने तो उन्होने अपनी सम्पत्ति का अधिकाश भाग जगह-जगह पुस्तकालयो के निर्माण मे विद्यादान के रूप मे व्यय किया। यह भी विद्यादान का एक महत्त्वपूर्ण अग है।

सचमुच लौकिक ज्ञानदान का भी अद्‌भुत महत्व है और फल है, जिसे पाठक पिछले पृष्ठो को पढकर भली-भाँति समझ सकते हैं। लौकिक ज्ञानदान भी परम्परा से मुक्ति का कारण बन जाता है, यह रहस्य भी पिछले पृष्ठो मे खोल चुके हैं।

15
अभयदान : महिमा एवं विश्लेषण

दान का चौथा भेद अभयदान है। अभयदान शब्द कानो मे पड़ते ही लोग चौंक पड़ते हैं कि क्या यह भी कोई दान हो सकता है? दार्शनिक चर्चा के दलदल मे पड़े हुए लोग झटपट कह देते हैं—'कौन किसको अभय दे सकता है या प्राणदान दे सकता है? क्योकि इस जगत् मे सभी जीव स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का कुछ बना या बिगाड नही सकता।' परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि आत्मा अकेला ही ससार मे नही बसा है। साथ मे उसका शरीर भी है, श्वासोच्छ्वास भी है, मन-वचन भी है, और आयुष्य भी है। इन दसो प्राणो के विमुक्त होने, इजा (क्षति) पहुँचने, या ह्रास होने का डर प्राणियो के साथ लगा हुआ है। उक्त भयो से प्राणी को मुक्त करना और आश्वस्त करना भी जब सम्भव है, तब अभयदान या प्राणदान भी सम्भव है ही।

वर्तमान युग मे अभयदान अनिवार्य

वैसे तो हर युग मे अभयदान की आवश्यकता रहती है। ससार का इतिहास बताता है कि प्रत्येक युग मे निर्बलो पर सबलो द्वारा अत्याचार होते रहे हैं, उनके प्राणो को अपने अहकार पोषण या अपने मनोरजन अथवा ईर्ष्या-द्वेषवश लूटा गया है, उनकी जिन्दगी के साथ खिलवाड की गई है। अपनी किसी कुप्रथा के पालन या स्वार्थसाधना या निहितस्वार्थ को पूर्ण करने के लिए निर्दोष निर्बल प्राणियो का वध किया गया है, अपने से विरोधी विचारधारा वाले व्यक्तियो को अधिकार के बल पर कुचला गया है। परन्तु वर्तमान युग मे तो निरकुश राजनैतिक दमनचक्र के कारण अभयदान की सबसे अधिक आवश्यकता है। आज विज्ञान धर्म के अकुश मे न होकर राजनीतिज्ञो की कठपुतली बना हुआ है, एक से एक बढकर अणुबम, परमाणुबम, हाइड्रोजनबम जैसे विनाशकारी नरसहारक शस्त्र-अस्त्र तैयार हो रहे हैं, उनका प्रयोग भी यदा-कदा सम्भव है, क्योकि नि शस्त्रीकरण प्रक्रिया अभी सब देशो ने मान्य नही की है। यह देखकर सभी राष्ट्र—चाहे वे शस्त्रास्त्र सम्पन्न हो या शस्त्रास्त्र-रहित, भयाक्रान्त हैं, शकित हैं और त्रस्त हैं। कब, कहाँ युद्ध छिड जाएगा और मानवहत्या का खतरा पैदा हो जाएगा, कहा नही जा सकता। ऐसी दशा मे समस्त मनुष्यो को ही नही, सारे प्राणियो को भी अभयदान की जरूरत है। हिरोशिमा और नागाशाकी पर गिराए हुए अणुबमो ने जो तबाही मचाई है, उससे तो छोटे-बडे सभी देशो को

अभयदान की आवश्यकता महसूस होने लगी है। क्योंकि सभी राष्ट्रो को भय है कि अणुयुद्ध छिड जाने पर लाखो मनुष्य एव पशु जान से मारे जाएँगे और जो बाकी वचेंगे, वे भी अगविकल और मरणासन्न होकर जीएंगे।

अभयदान का महत्त्व

आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान की अपेक्षा अभयदान का मूल्य अधिक है। आहारदान (अन्नदान) से मनुष्य की क्षणिक तृप्ति हो सकती है, औषधदान से एक वार रोग मिट सकता है और ज्ञानदान से व्यक्ति का जीवन अच्छा वन सकता है, किन्तु ये सव दे देने पर भी मनुष्य के साम्ने प्राणो का सकट आ पड़ा हो तो उस समय वह इन्हें छोडकर प्राणो को चाहेगा, वह चाहेगा कि ये चाहे न मिलें, परन्तु प्राण मिल जाँय, वे वच जाय। इसीलिए महाभारत मे कहा है—

—'भूमिदान, स्वर्णदान, गोदान या अन्नदान आदि उतने महत्त्वपूर्ण नही हैं, जितना अभयदान को समस्त दानो मे महत्वपूर्ण दान कहा जाता है।[1]

—'सचमुच इस दुनिया मे जमीन, सोना, अन्न और गायो का दान देने वाले तो आसानी से मिल सकते हैं, लेकिन भयभीत प्राणियो की प्राणरक्षा करके उन्हे अभयदान देने वाले व्यक्ति विरले ही मिलते हैं।'[2]

—'दूसरे दानो से मनुष्य या प्राणी अस्थायी सन्तोष पा जाता है, या कुछ देर के लिए उसका लाभ उठा सकता है, परन्तु अभयदान तो जिंदगी का दान है।[3]

वडे-वडे दानो का फल समय वीतने पर क्षीण हो जाता है, लेकिन भयभीत प्राणियों को अभयदान का फल कभी क्षीण नही होता। वह तो सारी जिंदगी भर चलता है। और सव दानो को मनुष्य या प्राणी भूल जाते हैं, लेकिन अभयदान को नही भूलते। अन्न, भूमि, स्वर्ण, गाय, या विद्या आदि दान तो सिर्फ मनुष्य के ही काम आते हैं, मगर अभयदान तो मनुष्य ही नही, ससार के सभी प्राणियो के काम आता है। हीरा, मोती, भूमि या सोना अगर सिंह, सर्प आदि प्राणी को दें तो उसके वे किस काम के? ये सव चीजें, यहाँ तक कि अन्न भी और कीमती दवाइयाँ भी उसके लिए वेकार हैं। सिंह आदि क्रूर प्राणियो के प्राण सकट मे हो, उन्हें प्राणो का भय हो, उस समय प्राणरक्षा करके अभयदान को वे समझते हैं, वे उसे भूलते नही हैं

१ न भूप्रदान, न सुवर्णदान, न गोप्रदान, न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदान सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्॥

२ मार्कण्डेयपुराण मे स्पष्ट कहा है—
हेमधेनु धरादीना दातार सुलभा भुवि।
दुर्लभ पुरुषो लोके य प्राणिष्वभयप्रद॥

३. महतामपि दानाना कालेन क्षीयते फलम्।
भीताभय-प्रदानस्य क्षय एव न विद्यते॥— धर्मरत्न ५३

इस चोर का मृत्युदण्ड स्थगित रखकर मुझे सौंपा जाय, ताकि मृत्यु से पूर्व इसकी भक्ति कर लूं और इसे मनचाहा खिला-पिलाकर प्रसन्न कर दूं।

राजा ने पटरानी के अत्यन्त आग्रह को मान लिया और एक दिन के लिए उस चोर का मृत्युदण्ड स्थगित करके उसे पटरानी को सौंप दिया। पटरानी ने उसे अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन कराया, बढ़िया से बढ़िया कपड़े पहनाए और नर्तक-नर्तकियो से नृत्य, गीत और उत्सव करवा कर उसका मनोरजन कराया। एक दिन पूरा होते ही दूसरे दिन राजा की दूसरी रानी ने और तीसरे दिन तीसरी रानी ने इसी प्रकार के आग्रहपूर्वक चोर को मागा। राजा ने उन्हे भी एक-एक दिन के लिए चोर को मुक्त करने का अवसर दिया। दोनो रानियो ने भी चोर को क्रमश एक-एक दिन अपने महल मे रखा और पटरानी से भी बढ-चढ कर उस चोर को सुविधाएँ दी। उसे मनचाहे भोजन कराए, मनचाही वस्तु दी और उसके मन बहलाने के लिए नृत्य, सगीत आदि का आयोजन कराया। यानी उस चोर का मनोरजन करने मे दोनो रानियो ने कोई कोरकसर नही रखी।

राजा की चौथी रानी धर्मपरायणा थी। वह इन सबसे बढकर धर्माराधना करती थी। किन्तु राजा उससे सदा अप्रसन्न रहा करता था। कभी-कभी तो अपनी मानीती रानियो के बहकावे मे आकर उसका अपमान भी कर बैठता था। यह रानी सोचा करती थी—'यह मेरे ही किन्ही पूर्वकर्मों का फल है। पूर्वजन्मो मे शायद मैंने किसी का वियोग कराया होगा। हो न हो, यह उसी का फल, मालूम होता है। अब जब मुझे ऐसी परिस्थिति अनायास ही मिली है तो इससे लाभ उठाकर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि धर्म के अगो का पालन क्यो न कर लूं।" यह सोच कर वह रानी दान, शील, तप और पवित्र उच्चभावो मे लीन रहा करती थी, और धर्मकार्य के किसी भी मौके को हाथ से नही जाने देती थी। जब उसने यह जाना कि मेरी सौतो ने इस मृत्युदण्ड योग्य चोर को एक-एक दिन अपने पास रखकर अपने मनोभाव के अनुसार इसकी शुश्रुषा की है तो राजा से प्रार्थना करने पर शायद मुझे भी इसकी शुश्रूषा करने का अवसर मिल जाए। अगर मुझे भी यह एक दिन के लिए सौंप दिया जाय तो मै इसके साथ सहानुभूति रख कर इसे मृत्युभय से मुक्त कराने का प्रयत्न करू और इसे निर्भय बनाकर दूसरो के लिए अभयदाता और अहिंसक बना दूं।"

ऐसा सोचकर वह रानी भी राजा के पास प्रार्थना करने पहुँची। राजा ने इस अमानीती रानी को अपने सामने खडी देखकर सोचा—"शायद यह भी तीनो रानियो की तरह इस चोर की शुश्रुषा करने के लिए मुझसे प्रार्थना करने आई हो।" अत राजा ने उससे पूछा—"क्या चाहती हो ?" रानी बोली—"हृदयेश्वर ! यदि आपकी कृपा हो तो मै इस चोर को सदा के लिए मुक्त कराना चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि इसे मृत्युदण्ड माफ कर दिया जाय।" राजा वचनबद्ध थे। अत उन्होने रानी की बात

स्वीकार कर ली और उसे वह चोर सौंप दिया गया। रानी उसे लेकर अपने महल मे आई। सादा खाना खिला-पिलाकर आश्वस्त हो जाने के बाद रानी ने उससे पूछा—"भाई! अव तुम क्या चाहते हो! मैंने तुम्हारा मृत्युदण्ड माफ करवा दिया है।"

चोर हाथ जोडकर विनयपूर्वक बोला—"माँ! मुझे आपने जीवनदान दिलाया है। अब मैं और कुछ नही चाहता। केवल यही चाहता हूँ कि आज से आप मेरी धर्ममाता रहे और मुझे अपना धर्मपुत्र मान लें।"

रानी बोली—"मुझे स्वीकार है, बेटा! मगर यह तो बताओ कि जब तुम्हे मृत्यु का इतना भय है, तो तुम कडी मेहनत से कमाई हुई और प्राणो से भी अधिक सहेज कर रखी हुई दूसरो की सम्पत्ति को क्यो चुराते हो? दूसरे के प्राणो का घात क्यो करते हो? जैसे तुम्हे अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही उन्हे भी अपने प्राण व धन प्रिय हैं। अव जब तुमने मुझे धर्ममाता माना है और मैं तुम्हे अपना धर्मपुत्र मानती हूँ, तो मेरे पुत्र बनने के नाते माता की बात मानना तुम्हारा भी कर्तव्य है। इस दृष्टि से तुम आज से यह प्रतिज्ञा करो कि मैं किसी की हत्या नही करूंगा और न चोरी या लूटपाट ही करूंगा।" उक्त चोर ने रानी के चरण छूकर इन दोनो बातो की प्रतिज्ञा ले ली।

अगले दिन राजा ने उस चोर को बुलाकर पूछा—"यह बताओ कि चारो रानियो मे से किसने तुम्हारी सबसे अधिक सेवा की है?" चोर बोला—"महाराज! यद्यपि तीनो रानियो ने नाटक-नृत्य-सगीत आदि के आयोजन द्वारा मेरा मनोरजन करने, मुझे मनचाहे स्वादिष्ट भोजन खिलाने और सुन्दर कपडे पहनाने मे कोई कसर नही रखी। परन्तु कहना होगा कि मुझे उनसे रत्तीभर भी आनन्द का अनुभव नही हुआ, क्योंकि मेरे सिर पर तो मौत का वारण्ट जारी था। मौत की तलवार जिसके सिर पर लटक रही हो, उसे इस राग-रग या खान-पान मे कैसे आनन्द आता? यही कारण है कि जब से चौथी रानीमाता की कृपा से मेरी मृत्यु का खतरा टला और सदा के लिए मुझे अभयदान मिला, तब से मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई है।[१] यद्यपि इस रानीमाता के यहाँ रागरग, भडकीली पोशाक या स्वादिष्ट पकवान नही थे। परन्तु मुझे इस माता के द्वारा खिलाये हुए भोजन मे अमृत-का-सा स्वाद आया। मेरी जन्मदात्री माता ने तो इस शरीर को जन्म दिया, लेकिन मेरी इस धर्ममाता ने तो जन्म-जन्मान्तर के पापमल को धो डालने वाले शुद्ध धर्माचरण का पान करा कर मुझे कृतकृत्य कर दिया। मैं इस रानीमाता की सेवा से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। अधिक क्या कहूँ, मैं इस माता के उपकार का वदला नही चुका सकता।"

---

१ दीयते म्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा।
धनकोटिं न गृण्हीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति॥

रानी द्वारा चोर के हृदय-परिवर्तन की बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने सब दानो से बढकर अभयदान की महिमा समझी। अपने राज-दरबार मे भी उसने सबको अभयदान की महिमा समझाई। इसीलिए आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार मे अभयदान को सब दानो मे उत्तम बताया है—

—"मरणभय से भयभीत समस्त जीवो को जो अभयदान दिया जाता है, वही सब दानो मे उत्तम है और समस्त आचरणो मे वही दान मूल आचरण है।[1]

यद्यपि आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है, परन्तु ये तीनो दान हो और अभयदान न हो तो ये तीनो दान बेकार हैं। इसी बात को पद्मनन्दी ने पचविंशतिका मे स्पष्ट बताया है—

—"करुणाशील पुरुषो के द्वारा जो सब प्राणियो को अभयदान दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है। उससे रहित पूर्वोक्त तीन प्रकार का दान व्यर्थ होता है। चूंकि आहार, औषध और शास्त्र के दान की विधि से क्रमश क्षुधा, रोग और अज्ञानता का भय नष्ट होता है। इसलिए अभयदान ही एकमात्र श्रेष्ठ है।[2]

तात्पर्य यह है कि अभयदान का अर्थ जब प्राणियो के सब प्रकार के भय दूर करना है, तब आहारादि दान भी अभयदान के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

अभयदान का लक्षण

अभयदान का सरल अर्थ होता है—सब प्रकार के भयो से मुक्त करना। जैसा कि गच्छाचार पइन्ना मे उद्धृत एक गाथा मे बताया है—

—'स्वभाव से ही सुख के अभिलाषी एव दु खो से भयभीत प्राणियो को जो अभय दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है।[3]

इस लक्षण के अनुसार अभयदान के लिए सर्वप्रथम सात भयो से प्राणी को मुक्त करना आवश्यक है।

---

१ मरणभीरुआण अभय जो देदि सव्वजीवाण।
दाणाणवि त दाण, पुण जोगेसु मूलजोग्ग पि ॥९३९॥

२ सर्वेषामभय प्रबुद्धकरुणैयद् दीयते प्राणिनाम्।
दान स्यादभयादि, तेन रहित दानत्रय निष्फलम्॥
आहारौषधशास्त्रदानविधिभि क्षुद्रोगजाड्याद् भय।
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दान तदेक परम् ॥७११॥

३ य स्वभावात्सुखैषिभ्यो भूतेभ्योदीयते सदा।
अभय दु खभीतेभ्योऽभयदान तदुच्यते ॥गच्छ० २ अधिकार

जैनशास्त्र मे वे सात भय स्थान (कारण) इम प्रकार बताये हैं—

(१) इहलोकभय—इस लोक मे अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, अर्थात्—मनुष्य का मनुष्य से, नारकी का नारकी से, देव का देव से और तिर्यंच का तिर्यंच से डरना, आशकित और त्रस्त रहना इहलोकभय है।

(२) परलोकभय—दूसरी जाति वाले से डरना, यानी मनुष्य का देव या तिर्यंच से, तिर्यंच का मनुष्य या देव से, देव का तिर्यंच या मनुष्य से भयभीत होना परलोकभय है।

(३) आदान (अत्राण) भय— धन, शरीर आदि की सुरक्षा को अपहरण का या चोर का खतरा जानकर डरना।

(४) अकस्मात्भय—विना किसी बाह्य कारण के अकस्मात् (दुर्घटना) की शका से डरना। वेदनाभय भी इसका नाम है। जिसका अर्थ है—किसी पीडा से डरना।

(५) आजीविकाभय—अपनी आजीविका छूट जाने से डरना।

(६) अपयशभय—अपनी अपकीर्ति (बदनामी) हो जाने की शका से डरना।

(७) मरणभय—मृत्यु का या किसी के द्वारा पिटाई या मारपीट की आशका से डरना।

वर्तमान मे मानव समाज या समस्त प्राणियो को सात भयो से मुक्त करना कराना अभयदान है।

अत अभयदान की सीधी-सादी व्याख्या है। 'सब प्रकार के सकटो से प्राणी को मुक्त करना, खतरो के, सकटो एव विपदाओ के निवारण मे सहायक बनना, आश्वासन देना, प्राणदान या जीवनदान देकर प्राण जाने के खतरे से बचाना, सुरक्षा के लिए शरण मे आए हुए प्राणी की रक्षा करना, जिससे प्राणी को खतरा पैदा हो, उस कुप्रथा को बन्द करने-कराने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना अभयदान है। वसुनन्दी श्रावकाचार मे अभयदान का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

'ज कीरइ परिरक्खा णिच्च मरणभय भीरुजीवाण।
तं जाण अभयदाण सिहामणिं सव्वदाणाण॥'

अर्थात्—मरण से भयभीत जीवो का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, उसे सब दानो का शिखामणिरूप अभयदान समझना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षण मे मरण के भय को मुख्यता दी गई है, किन्तु अभयदान का दायरा बहुत ही विस्तृत है। वैसे मरणभय सब भयो मे मुख्य है, इसलिए इस भय से मुक्त करने को अभयदान का चिह्न समझ लेना चाहिए।

किन्तु 'गच्छाचारपइन्ना' मे उक्त अभयदान के लक्षणानुसार अग्रलिखित बातें अभयदान के अन्तर्गत आ जाती हैं—

१—सब प्रकार के भयो और दु खो से आक्रान्त प्राणियो को भय से मुक्त करना।

२—आफत के समय निर्भयता का सचार करना।

३—मृत्यु से भयभीत प्राणी की रक्षा करना।

४—कष्टो, दु खो, रोगो या सकटो आदि मे पडे हुए मानवो या प्राणियो को उस अवस्था से मुक्त कराकर उन्हे सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त कराना।

५—भयभीत या अपराध के कारण या श्राप आदि के भय से डरे हुए प्राणी को क्षमादान करना।

६—शरणागत प्राणी की प्राण देकर भी रक्षा करना।

७—ऐसा प्राणसहारक, बलिदान आदि कुप्रथा या कुरूढि को दयापूर्वक दूर कर या कराकर प्राणियो मे शान्ति एव सुरक्षा की भावना पैदा करना।

८—राष्ट्र, समाज या विश्व की दृष्टि से अनेको की रक्षा के लिए अपना प्राणदान देना।

९—विपत्ति के निवारण के लिए योगदान देना।

ये और इस प्रकार के अन्य जो भी पहलू हैं, वे सब अभयदान के दायरे मे आ जाते हैं।

अब हम क्रमश इन सब पहलुओ पर विचार कर लें—

जैन इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है—मगध सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार का। मेघकुमार के रूप मे जन्म लेने का मुख्य कारण तो उसके पूर्वजन्म मे हाथी के रूप मे किये हुए अभयदान के कार्य का परिणाम था। बात यह थी कि वे पूर्वजन्म मे एक बुद्धिमान् हाथी थे, यूथपति थे। एक गहन जगल मे विचरण करते और गजसमूह के साथ जीवनयापन करते थे। एक बार इस जगल मे भयकर आग लगी। आग की लपटें लपलपाती हुई दूर-दूर तक फैलती जा रही थी। जहाँ पेड-पौधे और वनस्पति थी, वहाँ तो इस आग से बचने का कोई उपाय न था। वन्य जीव अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर बेहताशा भागने लगे। वे सकटग्रस्त एव भयभीत प्राणी कही न कही निरापद एव सुरक्षित स्थान मे आश्रय चाहते थे। इस यूथपति हाथी को एक बात सूझी कि क्यो न मैं अपने सब हाथियो की मदद से पेड-पौधो से मुक्त और खुली जमीन का बडा-सा मडल बना दूं, जिसमे आकर बेचारे भयभीत एव सकटग्रस्त जीव आश्रय ले लेंगे और अपने प्राणो की रक्षा कर लेंगे। उसने प्राणी-करुणा से प्रेरित होकर सब हाथियो के सहयोग से शीघ्र ही कार्य शुरू किया। आग अभी बहुत दूर थी, तब तक तो उस हाथी ने एक विशाल घेरे मे पेड-पौधे, घास आदि उखाडकर साफ कर दिये और वहाँ समतल भूमि बना दी। आग से बचने और प्राण रक्षा करने के लिए निरापद स्थान की खोज मे भागते-भागते जगल

बाजी लगा दी। यह उस बालक के द्वारा वर्मी जनता को अभयदान देने का उज्ज्वल उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त अभयदान का एक पहलू है—अनेको को प्राण-सकट से मुक्त कराकर अभय का सचार करना। वास्तव मे ऐसे अभयदाता बहुत ही कम मिलते हैं। फिर भी यह बहुरत्ना वसुन्धरा है, इसमे ऐसे लोग भी हैं जो प्राणमोह का त्याग करके अनेको को प्राण-सकट के भय से मुक्त कर देते हैं।

अभयदान का तीसरा पहलू है—मृत्यु से भयभीत प्राणी की रक्षा करना। यह तो स्पष्ट है कि मृत्यु कोई भी प्राणी नहीं चाहता, सभी प्राणी जीना चाहते हैं। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है—

'सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ।'

अर्थात्—सभी जीव (सुख से) जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता। आचाराग सूत्र मे तो अन्तरात्मा की एकता के आधार पर इस बात को साफ-साफ बताया है, 'तू जिसको मारना चाहता है, वह और कोई नही, तू ही है। तू ही वह है, जिसे तू सताना चाहता है, तू ही वह है, जिसे गुलाम बनाकर बधन मे जकडना चाहता है, तू वही है, जिसे तू भयभीत करना चाहता है।' ये सब अभयदान के प्रेरणामन्त्र हैं। अभयदानी दूसरे प्राणी की पीडा को अपनी पीडा जानता है, दूसरे के दुःख और भय को अपना दुःख और भय समझता है।

राजगृह मे महाराज बिम्बसार[1] के महल के विशाल मैदान मे यज्ञवेदी लगी हुई थी, जिसके चारो ओर ब्राह्मण जोर-जोर से वेद-मन्त्रो का उच्चारण कर रहे थे। पास मे ही ऋत्विज् चमकती हुई छुरी हाथ मे लिये खडा था। निर्दोष मेढा थर थर काप रहा था। महाराज बिम्बसार दोनो हाथ जोडे खडे थे और आहुती की घडी की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्योही ऋत्विज् का छुरा पकडा हुआ दाहिना हाथ ऊँचा उठता है त्योही मेढे के मुँह से चीख निकलती है। इतने मे ही तथागत बुद्ध दौडकर आते हैं और अपनी चादर मे मेढे को छिपाते हुए कहते है—पुरोहित ! ठहर पुरोहित !' सुडौल कान्तिमान शरीर वाले कुमार को देखते ही सब आश्चर्यमग्न होकर स्तब्ध हो जाते हैं। ऋत्विज् के हाथ से छुरा छूट कर नीचे गिर जाता है। कुछ देर बाद राजा बिम्बसार ने रोष भरे स्वर से कहा—'परम्परा से प्रचलित मगधराजकुल की प्रथा के विरुद्ध उगली उठाने वाले मानव ! बता तू कौन है ? मगधेश्वर की उपस्थिति मे साहस करने वाले नादान से मैं उत्तर चाहता हूँ। कितने प्रयत्नो से निकाले हुए शुभ मुहूर्त मे दी जाने वाली आहुती की शुभ घडी को टालकर तूने कितना गम्भीर अपराध किया है ? इसका कुछ भान है तुझे ? इस अपराध की

---

१ ऐसे यज्ञ करके पशुओ की बलि देते थे, तब तक महाराजा बिम्बसार जैन धर्मावलम्बी नही थे।

सजा क्या हो सकती है, यह तो तू जानता है न ?' बुद्ध—'जानता हूँ राजन् ! इसका लेखा-जोखा मैंने पहले से कर लिया है। हजारो निर्दोष प्राणियो का उद्धार करने की मेरी हार्दिक पुकार के वदले मे आप मेरा मस्तक मागते हैं न ? अभी उतार देता हूँ, राजन् ! इन वेचारे मूक प्राणियो के अन्तर का आर्त्तनाद सुनकर तो आकाश मे वैठे हुए देवो ने भी मुँह फिरा लिया है। मै तो एक सामान्य मानव हूँ। इन बेचारे निर्दोप प्राणियो की अपेक्षा मेरा यह छोटा-सा मस्तक कोई कीमती नही है।' विम्वसार—'(उच्च स्वर से) क्या कहा तूने ? क्या इस यज्ञ को देखकर देवो ने भी मुँह फिरा लिया ? जिन्हें प्रसन्न करने के लिए मैंने यह यज्ञ रचा, क्या वे देव भी मेरे इस धर्मकार्य से सन्तुष्ट नहीं हुए ?'

बुद्ध—'नही, राजन् ! जरा सोचिये तो सही। इन सब पशुओ का करुण आर्त्तनाद सुनकर मेरे जैसे साधारण मनुष्य भी कॉप उठते हैं तो दयासागर देव कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ?'

विम्वसार—'तो क्या यह धर्मकार्य नही है। अनेक वर्पो पुरानी यह प्रथा क्या निष्फल है ?'

बुद्ध—'आपकी यह प्रथा अत्यन्त निष्फल, निकम्मी और हानिकारक भी सिद्ध हुई है।'

विम्वसार—'कैसे ?'

बुद्ध—'राजन् ! इतना तो आप जानते हैं न ? जैसी आत्मा आपके अन्दर विराजमान है, वैसी ही मेरे अन्दर है, और वैसी ही आत्मा इस मेमने मे है। मानव-मात्र मे ही नही, दूर-सुदूर धरती पर वसने वाले सभी प्राणियो मे वह आत्मा व्याप्त है। इस निर्दोप मेमने को मारने से आपकी आत्मा का भी तो हनन होगा। जो वात मैं कह रहा हूँ, उसे निर्दोष मेमने भी पुकारता है। जिह्वा से नहीं, नेत्रो से उठती हुई इसकी पुकार आपने कभी सुनी है, राजन् !'

विम्वसार—(खडे होकर कुमार को नमन करते हुए) 'इतनी छोटी-सी उम्र मे प्राणिमात्र मे विराजमान आत्मा के नवदर्शन कराने वाले आप जैसे सन्त के चरणो मे अपना मस्तक झुकाता हूँ और आपको गुरुपद पर स्थापित करता हूँ, देव ! आज से मैं अपनी ऋद्धिसिद्धि आपके चरणो मे अर्पित करता हूँ। आज से आप मगध के राज-कुल के गुरु वने हैं। आज आपने जैसे मेरा जीवनपथ आलोकित किया है, वैसे मगध की प्रजा को भी आपके उपदेश का लाभ देने की कृपा कीजिए।'

बुद्ध—'अभी तो मैं सत्य की खोज मे निकला हुआ एक सामान्य पथिक हूँ। यदि राजकुल मे मुझे पडे रहना होता तो मैं कपिलवस्तु की राजगद्दी क्यो छोडता ?'

विम्वसार—(आश्चर्य मे) हैं ! तो क्या आप स्वय कपिलवस्तु के राज्य के उत्तराधिकारी थे ? क्या शाक्यकुल के भावी राजकुमार आप स्वय ही हैं ?'

बुद्ध—'था" एक दिन। पर आज तो परपीडा को मिटाते हुए मैं अपने अन्तर की पीडा का निवारण करने हेतु किसी सत्य की खोज में निकला हुआ एक सामान्य मनुष्य हूँ। ऐसी कोई शक्ति प्राप्त करके सत्य के दर्शन पाऊँगा, तब एक दिन अवश्य मैं आपके यहाँ आऊँगा। सभी मे बसी हुई इस विराट् आत्मा के दर्शन पाऊँगा तो मैं सबको कराऊँगा। आज तो मैं जा रहा हूँ, राजन्! अहिंसा धर्म को भूलना मत।'

बिम्बसार—'अच्छा तो देव! जायेंगे। यह लीजिए आज से ही आपके सामने यह घोर हिंसक यज्ञ बन्द करता हूँ। मेरे जीवन का परिवर्तन करके आपने मेरा उद्धार किया। आपके पुनीत चरणो से मगध की धरती धन्य हो उठी। आपके द्वारा प्रतिबोधित अहिंसा धर्म को मैं कभी नही भूलूँगा।'

बुद्ध—'आपका यह निर्णय कल्याणकारी हो। आपके शुभ प्रयत्न श्रेयस्कर हो। आपको इन विराट् मूक आत्माओ का आशीर्वाद मिले।'

'यो कहकर बुद्ध वहाँ से प्रस्थान कर देते हैं।'

यह वह अभयदान है, जिसमे मृत्यु से भयभीत हजारो-लाखो प्राणियो की रक्षा का स्वर है। इस प्रकार के अनेक अभयदान प्राचीन आचार्यों ने, विशिष्ट प्रभावशाली सन्तो ने राजाओ, महाराजाओ, ठाकुरो, सामन्तो, रावतो एव राजपूतो को उपदेश, प्रेरणा, प्रवचन आदि द्वारा करवाया है। मरते हुए या मारे जाने वाले पशु-पक्षियो को उनके पजे से छुडवा कर महान् पुण्य उपार्जन किया है। जैनाचार्य पूज्य अमरसिंह जी महाराज, ज्योतिर्धर आचार्य जीतमल जी महाराज, जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज, पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज आदि ने कई हिंसक लोगो को हिंसा छुडवाई है, उन्हे अहिंसा के उज्ज्वल-पथ पर मोडा है।

प्राचीन काल मे आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल राजा को हीरविजयसूरि जी ने अकबर बादशाह को प्रतिबोध देकर कई बार 'अमारिपटह' की उद्घोषणा करवाई थी। कई जगह अमुक पर्व, तिथि या दिन को अगते पलाए जाते थे। यानी उन दिनो मे कोई भी व्यक्ति किसी जीव की कत्ल नही कर सकता था, और न शिकार कर सकता था। उन दिनो मे माँस की दूकानें भी बन्द रखी जाती थी।

आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी की प्रेरणा से अकबर बादशाह ने पर्युषणपर्व के दिनो में १२ दिन तक अमारिघोषणा के गुजरात देश मालव देश, अजमेर दिल्ली फतेहपुर सीकरी और लाहोर देश इन पाँचो राज्यो सम्बन्धी तथा एक सर्व-साधारण यो ६ फरमान जारी किए थे।

एक बार आचार्य श्री का उपदेश सुनकर अकबर बादशाह को अपने आप पर बहुत पश्चात्ताप हुआ, उसने ससार सागर से तरने का उपाय पूछा तो आचार्य श्री ने तीन उपाय बताये—(१) सब जीवो पर दया करना, (२) सब जीवो पर क्षमा रखना। (३) सबकी सेवा करना।" फिर बादशाह ने जब पापो से छुटकारे का उपाय पूछा तो

उन्होंने कहा—"(१) किसी भी जीव को वेडी मे डालने आदि का वन्धन न करना। (२) नदी, सरोवर आदि मे जाल डलवाकर मछलियो वगैरह को न पकडवाना। (३) चिडियो की जीभ न खाना, आदि। वादशाह ने ये वातें मजूर की।

इस प्रकार मरते हुए या मारे जाने वाले प्राणियो की रक्षा करके अनेक जैन-मुनियो, आचार्यो आदि ने अभयदान का महान् कार्य किया।

अभयदान का चौथा पहलू है—सकट, दुख, रोग या आफत मे पडे हुए प्राणी को उस अवस्था से मुक्त करा कर उन्हे सुरक्षा का आश्वासन देना-दिलाना। वास्तव मे अभयदान के इस लक्षण पर जब हम विचार करते हैं तो ऐसा अभयदाता अपने प्राणो की भी परवाह नही करता, और न ही किसी प्रकार के सुखो की चिन्ता करता है।

इससे आगे अभयदान का पहलू है—अपराध या श्राप आदि किसी कारण से शकित, भयभीत प्राणी को क्षमादान करना। क्षमादान भी अभयदान का एक प्रकार है, जो प्राणि जीवन के लिए बहुत अनिवार्य है। किसी जवर्दस्त और प्रभाव-शाली व्यक्ति से भयभीत व्यक्ति (चाहे वह श्राप दे देने, मार डालने या उसकी सम्पत्ति लूट लेने के डर से भयभीत हुआ हो) को क्षमा-दान देना भी जीवनदान देने के समान है।

जिन दिनो खलीफा ऊमर की ईरान के वादशाह के साथ लडाई हो रही थी, ईरानी फौज का एक सामन्त कैद करके खलीफा के सामने लाया गया। खलीफा ने उसे कत्ल किये जाने का हुक्म दे दिया। सामन्त ने अर्ज की—"ऐ खलीफा! मैं बहुत प्यासा हूँ। थोडा-सा पानी मगवा दीजिए।" पानी लाया गया। लेकिन सामन्त इतना भयातुर हो रहा था कि पानी उसके कण्ठ से नीचे न जा सका। खलीफा ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"घबराओ मत। पानी पी लो। जब तक पानी पी चुकोगे, तुम्हारी गर्दन नही उतारी जाएगी।" सामन्त ने प्याला जमीन पर पटक दिया और वोला—अपने कौल का ख्याल रखिएगा।" खलीफा सन्नाटे मे आ गए। लेकिन वचन दे चुके थे। उसका पालन करना आवश्यक था। अत उस सामन्त को अभयदान किया गया। इसी प्रकार का जैन श्रावक राजिया-वजिया सेठ का उदा-हरण प्रसिद्ध है कि उन्होने समुद्री लुटेरो के सरदार चोलखोजगी को घवराई हुई हालत मे क्षमा मांगते देखकर क्षमादान दिया। ऐसे अनेक उदाहरण विश्व के इतिहास मे प्रसिद्ध हैं।

इसके अनुसार अभयदान का एक पहलू, जो सर्वसम्मत है, वह है—शरणागत की रक्षा प्राणप्रण से करना।

जैन इतिहास मे मेघरथ राजा का और वैदिक इतिहास मे शिवि, और मेघ वाहन राजा का शरण मे आये हुए वाज को कवूतर के बराबर अपने अग का मास,

यहाँ तक कि जब कबूतर का वजन बढ गया तो अपने सारे अग—देने को उद्यत होने का उदाहरण प्रसिद्ध है ।

शरणागत रक्षा के लिये मर-मिटने वाले एक बालक का उदाहरण तो आश्चर्य मे डालने वाला है । एक बार इग्लैंड के राजा जेम्स द्वितीय के पुत्र चार्ल्स प्रथम जार्ज के सेनापति से परास्त होकर प्राण बचाने हेतु स्कॉटलैंड की पहाडियो मे जा छिपे चार्ल्स का सिर काटकर लाने वाले को ४ लाख रुपये इनाम देने की घोषणा की गई । चारो ओर खोज शुरू हुई । कुछ समय बाद चार्ल्स को ढूंढने वाले एक कैप्टिन ने एक बालक से पूछा—'क्या तुमने प्रिंस चार्ल्स को देखा है ?' बालक बोला—'हाँ, जाते हुए तो देखा है, लेकिन यह नही बताऊँगा कि कब और किस रास्ते से जाते हुए देखा है ।' केप्टिन ने तलवार निकाली और बालक को डराया । इस पर भी जब वह भेद बताने को तैयार न हुआ तो उस पर तलवार का प्रहार भी किया गया । बालक का करुण क्रन्दन हुआ, लेकिन बालक ने कहा—'मैं मैक फरसन का पुत्र हूँ, इसलिए तलवार से डरने वाला नही । मुझे आप कितना ही कष्ट दीजिए मैं सकट के समय शरण मे आये हुए राजा को शत्रु के हाथो मे फँसाने मे सहायक नहीं बनूंगा । मैं अपने प्रण से विचलित नही होऊँगा ।' केप्टिन उस वीर बालक की वीरता, साहस एव दृढता से प्रभावित हुआ और प्रसन्न होकर चाँदी का क्रॉस भेंट दिया ।

सचमुच शरणागत की रक्षा करके उसे अभयदान देने वाला अपने प्राणो को भी सकट मे डाल देता है ।

इसके पश्चात् अभयदान के एक विशिष्ट पहलू की ओर हम पाठको का ध्यान खीचना चाहते हैं । वह है—'किसी प्राणघातक बलिदान मास भोज आदि कुप्रथा का निवारण कराकर प्राणियो मे शान्ति एव सुरक्षा की भावना पैदा करना ।' कई जगह जनरजन के निमित्त पशुबलि या नरबलि की अथवा विवाह आदि प्रसगो पर समाज मे या जाति मे प्राणियो के मास का भोज देने की कुप्रथा है । इस कुप्रथा को जब तक समाप्त नही कर दिया जाता, तब तक बेचारे वध्य पशु-पक्षियो या मानवो के हृदय मे भीति और आतक फैला रहता है । जो दयालु नरवीर अपने प्राणो की बाजी लगाकर उस कुप्रथा को समूल मिटाता है या मिटाने का सफल प्रयत्न करता है, उसका वह कार्य भी अभयदान की कोटि मे ही आता है । गुजरात मे कटेश्वरी देवी के आगे नवरात्रि मे दी जाने वाली पशुबलि की प्रथा को आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल राजा एव प्रजा को युक्ति से समझाकर बन्द करवाई । यह उदाहरण पहले दिया जा चुका है । भगवान महावीर एव तथागत बुद्ध के युग मे यज्ञो मे होने वाली पशुबलि प्रथा का निवारण दोनो महापुरुषो ने तथा उनके श्रमणो ने बन्द करवाने का प्रयत्न किया है । पशु बलि प्रथा बन्द कराने मे उन्हे अनेक सकटो का परिचय देना पड़ा है ।

भगवान अरिष्टनेमि के युग मे यादवो मे वैवाहिक प्रीतिभोज के अवसर पर

वरातियो को मास खिलाने की भयकर कुप्रथा थी। लेकिन करुणासागर भगवान अरिष्टनेमि ने दुल्हा वनकर रथारूढ होकर विवाह के लिए जाते समय एक बाडे मे वन्द पशु-पक्षियो को देखा, उनका आर्तनाद सुनकर नेमिकुमार का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। सारथी से पूछने पर उन्हे पता लगा कि ये पशु-पक्षी उनके साथ आये हुए वरातियो को भोजन कराने के लिए वन्द किए गए हैं। तव तो वे और भी अधिक दु खित होकर सारथी से कहने लगे—'खोल दो बेचारे इन पशु-पक्षियो को। मेरे निमित्त से यह सहार श्रेयस्कर नही है।' और समस्त प्राणियो को अभयदान दिलवाकर वे तोरण पर पहुँचे बिना ही वापस लौटने लगे। वरातियो मे खलवली मच गई कारण पूछने पर सारथी ने पूर्वोक्त वृत्तान्त सुनाया। यादव लोग नेमिनाथ से सुनने को उत्सुक थे। उन्होने उपयुक्त अवसर जानकर यादवो को इस कुप्रथा का परित्याग करने का कहा। तव से यादव जाति मे मासाहार वन्द हो गया। सौराष्ट्र के जितने भी मारवाड या अहीर हैं, वे प्राय सव के सव पूरे शाकाहारी हैं। अभयदान का कितना ज्वलन्त उदाहरण है यह !

इसी प्रकार रोम मे होने वाली नरवलि प्रथा को वहाँ के एक सन्त टैलीमैक्स ने अपना वलिदान देकर बन्द करा दी। बगाल मे भयकर रूप से प्रचलित सतीप्रथा मे पति के मरने के वाद उसके पीछे उसकी पत्नी को जीते जी उसकी चिता के साथ जवरन जल मरना पडता था। अथवा यो कहिए कि समाज के क्रूर लोगो द्वारा जवरन उसे जला दिया जाता था। राजा राममोहन राय ने इस भयकर कुप्रथा के विरुद्ध जेहाद छेडा और ब्रिटिश सरकार की सहायता से कानून वनवाकर इस कुप्रथा को वन्द कराया। इसी प्रकार काली देवी के आगे गर्भवती सुन्दरियो की जीते जी वलि दी जाने की भयकर कुप्रथा थी, जिसका अन्त 'वारेन हेस्टिंग्ज' ने अपने शासनकाल मे करा दिया।

इसी प्रकार की अनेक कुप्रथाओ का अन्त विभिन्न दयालु अभयदानियो ने अपना आत्मयोग देकर कराया है। यह भी उत्तम कोटि का अभयदान है।

इससे आगे अभयदान की एक कोटि है—समाज, राष्ट्र या विश्व की दृष्टि से अनेक प्राणियो की रक्षा के लिए अपना वलिदान कर देना, विशिष्ट त्याग करना अथवा समर्पण कर देना। इस प्रकार के अभयदान मे व्यक्ति को वहुत कुछ त्याग करना होता है। वास्तव मे अभयदान मे जो कुछ तप या त्याग करना होता है, उसकी तुलना मे वाह्य तप या त्याग का इतना महत्त्व नही है। ज्ञानसार मे इसी वात को स्पष्ट वताया है—

> किं न तप्त तपस्तेन, किं न दत्त महात्मना।
> वितीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥८।५४

—जिस महापुरुष ने जीवो को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया, उस महान् आत्मा ने कौन-सा तप नही किया और कौन-सा दान नही दिया ?

अर्थात्—उस महात्मा ने समस्त तप एव दान दिया है, क्योंकि अभयदान मे सभी तप और दान समाविष्ट हो जाते हैं।

कभी-कभी व्यक्ति राष्ट्रहित की दृष्टि से राष्ट्रीय जनता के प्राणो पर सकट आने पर अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण भी अर्पण करके राष्ट्रजनो को अभयदान दे देता है।

चीन राष्ट्र के अधीन फार्मोसा द्वीप की बात है चीन के शहशाह ने वहाँ का राज्य चलाने के लिए 'युफेंग' 'नामक युवक को चुना था। युफेंग ने आदिवासियो के कल्याण उनके प्रति शुभनिष्ठा और हितदृष्टि से फार्मोसा के समस्त आदिवासियो का हृदय जीत लिया था। उसने वहाँ की प्रजा को सन्मार्ग और सस्कृति के पथ पर चलाने का प्रयत्न किया। आदिवासियो मे एक कुप्रथा थी—जीवित मनुष्यो का शिकार करके उनके सिर देवता को चढाने की। युफैग ने आदिवासियो को खुश करके इस कुप्रथा को बन्द करने के लिए बहुत समझाया, लेकिन वह इसे बन्द कराने मे सफल न हो सका। एक बार उन आदिवासियो ने एक साथ ४० जीवित मनुष्यो का शिकार कर डाला। युफेंग का हृदय कांप उठा। उसने तुरन्त आदिवासियो को बुलाकर नम्र स्वर मे कहा—'यदि तुम इनमे से प्रतिवर्ष एक-एक सिर देवता के चढाओगे तो तुम्हारे लिए ये ४० वर्ष तक चलेंगे। इसलिए तुम लोग एक सकल्प कर लो कि वहाँ तक किसी नये मानव का शिकार नही करेंगे।' आदिवासियो ने युफेंग के प्रति प्रेम और आदर से प्रेरित होकर उनकी माँग कबूल करली। युफेंग ने सोचा ४० साल के लम्बे समय के बाद ये आदिवासी लोग इस कुप्रथा को भूल जायेंगे, पर बात उलटी हुई। ४० वर्ष बीत जाने के बाद आदिवासी नया मस्तक चढाने के लिए युफेंग से कहने आए। युफेंग ने उन्हे वैसा न करने के लिए बहुत समझाया, पर व्यर्थ। बहुत कुछ मन्थन के बाद युफेंग को एक रास्ता सूझा। तदनुसार उसने आदिवासियो से कहा—तुम्हे एक ही आदमी का सिर काटना है न। तो देखो कल कचहरी के चौक मे लाल कपडों से सुसज्जित जिस मनुष्य को देखो, उसी का शिकार करना, इसके सिवाय किसी दूसरे का शिकार मत करना।' आदिवासियो ने बात मान ली। दूसरे दिन लाल वस्त्रो से सजधज कर युफेंग स्वय ही कचहरी के चौक मे खडा रहा। आदिवासी नशे मे मस्त होकर आये और युफेंग को न पहिचान कर उन्होंने उसी का सिर उडा दिया। जब वे उसका कटा हुआ मस्तक लेकर अपने सरदार के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा—तुम यह किसका सिर काट लाए? अर् र! यह तो गजब हो गया। हमने अपने परम उपकारी का सिर काट डाला। हाय! हम लुट गये। हमने उनकी बात न मानी, इसीलिए उन्होने अपना बलिदान देने की सोची होगी। बस, आज से हम मानव के शिकार की प्रथा को बन्द करते हैं।'

युफेंग ने मानव हत्या को रोककर उन हजारो मानवो को अभयदान दिलाने

हेतु आदिवासियो के सामने स्वय बलिदान दे दिया। सचमुच ऐसा अभयदान उत्तम-कोटि का दान है।

इसी प्रकार जाति, समाज, राष्ट्र और विश्व के किसी भी मानव या प्राणिवर्ग पर आफत आने पर उससे उन्हे मुक्त करने के लिए अनेक नरवीरो ने अपने प्राणार्पण दिये, अपना सर्वस्व होमा है। वास्तव मे ऐसे अभयदान के लिए अभयदाता को कुछ न कुछ कीमत अवश्य चुकानी पडी है।

इसीलिए अभयदान का अन्तिम पहलू है, किसी भी भावी विपत्ति या आफत या सकट से जनता को बचाने के लिए अपने धन, माल, मकान, या प्राण तक का उत्सर्ग करना भी अभयदान है।

इसी प्रकार देश राष्ट्र एव समाज की रक्षा के लिए अपने प्राणो को खतरे मे डालना, अपने जीवन की बाजी लगा कर भी जनता की सुरक्षा करना, एव जनता को अभयदान दिलाना बहुत ही कठिन तो है, परन्तु है वह उत्कृष्ट दान। एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिए—

कपिल वस्तु के महानाम के रोम-रोम मे परोपकार एवं करुणा की भावना रमी हुई थी। जब उन्हे यह खबर मिली कि श्रावस्ती के राजा विडुडभ ने कपिल वस्तु पर चढाई कर दी है तो उसका हृदय रो उठा। सोचा—'इन सत्ता मदान्धो को क्या सूझा है। आज यहाँ, तो कल वहाँ चढाई। निर्दोष प्रजाजनो पर इस प्रकार अत्याचार करने से क्या लाभ ? यह विचार चल ही रहा था कि खबर मिली कि कपिलवस्तु का अग्रणी (शासक) डर कर भाग गया है।" महानाम बोला—'धिक्कार है, तेरे पौरुष को ! ऐसे कायर भी कही शासन कर सकते हैं।' विजयी विडुडभ ने किला तोडकर नगर मे प्रवेश किया और आज्ञा दी—'सैनिको ! आज मुझे विश्वास घात और अपमान का बदला लेना है। लूट लो, जितनी सम्पत्ति लूट सको।" सैनिक लोग यह खुल्ली छूट मिलते ही लूटपाट, हत्या, अपहरण और अग्निकाण्ड मे प्रवृत्त हो गए। चारो ओर हाहाकार मच गया। दीन-हीन प्रजा भयभीत होकर चारो ओर भागने लगी। महानाम को पौरजनो की लूटपाट, हत्याकाण्ड आदि देखकर बहुत आघात लगा। वेदना से व्यथित महानाम को एक बात याद आई। वह तुरत विजयोन्मत्त विडुडभ राजा के पास पहुँचा। 'राजन् मुझे पहिचानते हैं ?" राजा के अनुचरो द्वारा दिये गए आसन पर बैठते हुए महानाम ने पूछा—'आपको कौन नही पहिचानता ? आप ज्ञान, शील, सस्कार और सभ्यता से नागरिको मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है, इसी से पौरजन आपको महानाम कहते हैं।' राजा विडुडभ ने महानाम को श्रद्धा-पूर्वक कहा।

महानाम—"यो नही, मैं इस तरह परिचय निकाल कर किसी स्वार्थलाभ की आशा से नही आया हूँ। मैं तो यह पूछता हूँ कि आपका और मेरा कोई सम्बन्ध है या नही ?' 'सम्बन्ध' शब्द पर जोर देते हुए अभय महानाम ने प्रश्न किया।

भरावदार चेहरा, दुग्धधवल दाढी, सलिल पूर्ण सरोवर की तरह करुणापूर्ण आँखें, सयम से सशक्त देह महानाम की प्रतिमा मे वृद्धि कर रहे थे।

इस प्रतिभासम्पन्न विभूति के शब्दो पर विचार करता हुआ राजा भूतकाल के सोपानो को पार करता हुआ ठेठ बाल्यकाल के किनारे तक पहुँचा—'श्रावस्ती के राजा प्रसेनदिन ने कन्या मागी थी, परन्तु अभिमानी नागरिको ने इन्कार कर दिया। इससे वातावरण युद्ध मे परिणत हो जाता, पर इस महानाम ने अपनी दासी पुत्री को देकर प्रसेनदिन को शान्त किया। इसी दासीपुत्री का पुत्र विडुडभ था। पर इस षड्यन्त्र ने खुद के कलक लगाया, उसका बदला वह लेना चाहता था। महानाम इसके नाना लगते थे, फिर बचपन मे वह ननिहाल आया था, तब इसी नाना के पास एक वर्ष तक विद्याध्ययन किया था। इस दृष्टि से यह विद्यागुरु भी थे। विडुडभ ने शान्त होकर बरबस उद्गार निकाले—"नाना और गुरुदेव !"

महानाम—"राजन् ! मैं तुम्हे एक बात की याद दिलाने आया हूँ। विद्याध्ययन के बाद जब तुम गुरु दक्षिणा का आग्रह कर रहे थे, तब मैंने तुमसे उसे अमानत रखने का कहा था।"

विडुडभ—"हाँ, मैं समझ गया ! आप न मागे तो भी मैं आपको दक्षिणा देना अपना धर्म समझता हूँ। आपका कोई बाल भी बाका नही करेगा। आप सर्वथा निर्भय हैं।" राजा ने शीघ्र ही सेनापति को आदेश दिया—"शीघ्र जाओ। सैनिक कही महानाम के घर लूट के लिए न पहुँच जाय, उन्हे रोको। इनका घर सुरक्षित रहना चाहिए। बाकी के कपिलवस्तु से मेरा पुराना वैर है। इसके अभिमान को चूर किये बिना मैं हटूंगा नही।"

करुणापूर्ण हाथ ऊँचे करते हुए महानाम ने कहा—ठहरो ! मैं ऐसा स्वार्थी नही कि अपनी रक्षा चाहूँ। मैं तो सारी नगरी की रक्षा चाहता हूँ।" विडुडभ (भूकम्प की तरह गर्जते हुए) "गुरुदेव ! ऐसा आग्रह न करिये, मैं जिस आग मे जल रहा हूँ, वह हजारो उपदेश वृष्टियो से शान्त होने वाली नही। यह तो सर्वस्व भस्म करके ही दम लेगी।"

महानाम—"मेरे लिए मान जा ! यह कत्ले आम मेरे से सही नही जाती। क्षमाकर भाई ! इस आग को अब बद कर।"

विडुडभ—"आज तो अगली-पिछली तमाम बातो का भुगतान एक साथ कर लेना चाहता हूँ। हाँ, बाल्यकाल की देखी हुई आपकी जलक्रीडा मुझे याद आ रही है। इसलिए इस तालाब मे आप जितनी देर तक डुबकी मारे रहेगे, उतनी देर के लिए मैं कत्लेआम बद करा देता हूँ।" जो भागना चाहते हो, उन्हे उतनी देर तक भागने दूंगा।"

महानाम—"अच्छा ! इतना तो कर ! रक्तपात जितना कम हो, उतना

अच्छा ! महानाम की वृद्ध आँखो मे चमक आई। उन्होंने कुछ सोचा और तुरन्त तालाब के पास आए।

विडुडभ ने सोचा—यह बूढा आखिर कितनी देर तक सास रोके रहेगा। इतनी देर मे कितने आदमी बचेंगे ? पर जो हो, इससे गुरुवचन का भी पालन होगा, मेरी वैरपिपासा भी शान्त होगी।" इधर पौरजन भयग्रस्त थे। फिर भी यह खुशखबर सुनकर वे इस दृश्य को देखने के लिए सरोवर तट पर श्रद्धापूर्वक आ पहुँचे। नगर मे घोषणा हो रही थी कि जब तक महानाम सरोवर मे डुबकी लगाए रहेंगे, तब तक के लिए सबको अभय है।' तब तक महानाम डुबकी मार चुके थे। तालाब के बीचोबीच जो कीर्तिस्तम्भ था, उससे अपने शरीर को उत्तरीय से बाँध कर जल समाधि ले रहे थे। महानाम के हृदय मे वात्सल्य था, करुणा और सर्वकल्याण भावना थी। वे प्राणार्पण भावना से सदा के लिए जल मे अपने को लीन कर चुके थे। क्षण, दो क्षण, घटा, दो घटे हुए, अभी तक महानाम पानी की सतह पर न आए, सो न आए। विजयी विडुडभ और लूट की कामना वालें सैनिक प्रतीक्षा करते-करते थक गए, पर वे ऊपर न आए। विडुडभ चतुर था। वह इस घटना का मर्म समझ गया। उसे वज्रपात-सा आघात लगा। वैराग्नि शान्त हो गई। 'क्या नाना ने पौरजनो की रक्षा के लिए प्राण समर्पण कर दिये।' यह बात सुनकर कपिलवस्तु के युवक-युवती दौडकर आए। कीर्तिस्तम्भ के साथ बँधे हुए उनके पुण्य शरीर को बाहर निकाला। पौरजनो ने अश्रुपूरित नेत्रो से श्रद्धाजलि दी। नगरी ने एक महामानव खोया, जिसने कपिलवस्तु के प्रजाजनो को जीवितदान दिया।

वास्तव मे परमकारुणिक महानाम ने अपने प्राणो को खोकर भी कपिलवस्तु के भयत्रस्त नागरिको को सकटमुक्त एव भयमुक्त किया। हजारो के प्राण बचाए, धन-जन की रक्षा की।

अभयदान की दो कोटियाँ

अभयदान के उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है, कि अभयदान सब दानो मे श्रेष्ठ दान है। अभयदान देने वाला दूसरे पदार्थों के दाताओ की अपेक्षा अधिक त्याग करता है, उत्सर्ग करता है और अपने जीवन को दया और करुणा की भावना से ओतप्रोत करके कार्य करता है। परन्तु सभी अभयदानी एक सरीखे नही होते। कई अभयदानी अपने जीवन मे एक या दो प्रसगो पर ही अभयदान दे पाते हैं, ऐसे लोग जो प्राय गृहस्थी के चक्र मे हैं, वे सभी इतनी उच्चकोटि का त्याग या उत्सर्ग कर नही सकते। हाँ, कई धनाढ्य गृहस्थ जीवो को अभयदान प्रत्यक्ष नही दे सकते, परन्तु परोक्षरूप मे दूसरो को पैसा देकर अभयदान दिला सकते हैं। हालाकि उन्हे भी अभयदानी कहा जा सकता है, परन्तु वे इतनी उच्चकोटि के अभयदानी नही माने जा सकते। इसलिए हम अभयदान को दो कोटियो मे विभाजित कर देते हैं—

(१) पूर्ण अभयदान।

(२) प्रासगिक अभयदान।

पूर्ण अभयदान वह है, जिसमे अभयदाता वही हो सकता है, जो आजीवन अभयदाता बनकर किसी भी जीव को न तो स्वय पीडा पहुचाता है और न दूसरो से पीडा दिलाता है और न ही पीडा देने वालो का समर्थन करता है। साथ ही वह जिंदगी भर के लिए ऐसे अभयदान के प्रसगो के लिए उत्तरदायी रहता है। पूर्ण अभयदानी बनने के लिए स्वय निर्भय होना और दूसरो को भयमुक्त करना अत्यावश्यक है। स्वय निर्भय होने के लिए व्यक्ति मे अहिंसा, सत्य, आत्मबल और आत्मविश्वास पर्याप्त मात्रा मे होना आवश्यक है। साथ ही परमात्मा मे उसकी पूर्ण आस्था होनी चाहिए। दूसरो को भयमुक्त बनाने के लिए व्यक्ति को शस्त्रास्त्र, अन्याय, अत्याचार, शोषण, निर्दयता, ज्यादती आदि भयवर्द्धक बातो का त्याग करना आवश्यक है। पूर्ण अभयदानी को छोटे से छोटे जन्तु के प्रति भी आत्मीयता होनी चाहिए। भगवद्गीता मे अभयदानी भक्त का लक्षण बताते हुए यही बात कही है—

"यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च य।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य स च मे प्रिय॥"

—"जिससे जगत् भय न पाता हो, साथ ही जो स्वय जगत् से भय न खाता हो, तथा जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगो से मुक्त हो, वही भक्त मुझे प्रिय है।"

जो व्यक्ति ऐसे प्रसगो पर अपने आपको सतुलित रख सकता हो, परिणामो मे किसी प्रकार की चचलता न लाता हो, वही पूर्ण अभयदानी बन सकता है। सत तुकाराम के जीवन का एक प्रसग है—

एक बार वे विठोबा की यात्रा को जा रहे थे। रास्ते मे एक चौक मे कबूतरो का बडा दल बिखेरे हुए जुआर के दाने चुग रहे थे। ज्यो ही तुकाराम वहाँ से गुजरे तो सभी कबूतर एक साथ उड गए। तुकाराम के मन मे विचार हुआ कि मेरे से इन्हे भय लगा इससे ये उड गए। मेरे अन्दर भय लगने जैसा कुछ है, इसीलिए ये कबूतर घबराते हैं, डरते हैं। सचमुच मै अभी पूरा भक्त नही। गीता मे 'यस्मान्नोद्विजते लोको ' कहा है, पर मेरे से भय पाते हैं। यद्यपि दिखने मे मै मनुष्य हूँ। अपने को भक्त मानता हूँ, पर मेरे मे भय उत्पन्न करने वाली पाशवी वृत्ति—पापवृत्ति अभी तक भरी हुई है, जिससे इन कबूतरो को मुझ पर प्रतीति न हुई। ये मुझ से डर गए। मेरे रोम मे अभी तक जहर भरा है। इस विचार से सत तुकाराम की आत्मा तिलमिलाने लगी। उन्होने सकल्प किया—"कबूतरो को मुझ पर विश्वास आए और वे नि शक होकर मेरे कन्धे पर बैठें, तभी मुझे यहाँ से आगे कदम बढाना है। और तब तक खाना भी हराम है।" बस, ऐसा सकल्प करके तुकाराम खडे हो गए। उन्होने अन्तर का मैल दूर करने का प्रयास शुरू किया। उनके हृदय से प्रेम और करुणा के —रने बहने लगे। अन्धकार के आवरण दूर होने लगे, प्रकाश चारो ओर फैलने लगा।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की अखण्ड धुन चलने लगी एकपहर, दोपहर, एक रात, दो रात, यो करते-करते तीन रातें बीत गईं। तीन दिन तक वे प्राय खडे रहे। उनके पैर स्तम्भ की तरह जडवत् हो गए थे। तीसरे दिन कबूतर आकर तुकाराम के कधे पर बैठने लगें। यहाँ तक कि तुकाराम उन्हे उडाते, पकडते, फिर भी उन्हे कबूतरो को उनसे कोई भय नही होता था। सत तुकाराम ने कबूतरो का विश्वास जीत लिया। अहिंसा और अभयदान की शक्ति गजब की होती है।

हाँ तो इस प्रकार से अभयदानी जब सभी प्राणियो का विश्वास जीत लेता है, प्राणी उससे कोई खतरा नही मानते हो, तभी वह पूर्ण अभयदानी बनता है। वीतराग प्ररूपित मार्ग पर चलने वाले समस्त साधु-साध्वी निर्ग्रंथ और नि शस्त्र होकर दूसरो को किसी प्रकार का भय न देते हुए इस भूमण्डल पर विचरण करते हैं। शक्रस्तव मे तीर्थंकर प्रभु की स्तुति करते हुए उन वीतराग महापुरुष के लिए एक विशेषण प्रयुक्त किया गया है—अभयदयाणं उसका अर्थ होता है—जगत् के समस्त प्राणियो को अभयदान देने वाले।

ससारी प्राणी, जो किसी न किसी भय से ग्रस्त हैं, उन्हे अपने व्यवहार से पूर्ण निर्भय, नि शक बनाना, उनके किसी भयोत्पादक व्यवहार से स्वय न डरना और सकट आदि के अवसर पर उनमे निर्भयता के सचार का प्रयत्न करना पूर्ण अभयदानी का लक्षण है। ऐसा अभयदाता भयभ्रान्त प्राणी के हृदय से भय निकाल देता है। भय की भ्रान्ति भी वह अपने सद्व्यवहार व आत्मीयतापूर्ण व्यवहार के द्वारा निकाल देता है। अभयदाता मे जो निर्भयता कूट-कूट कर भरी होती है, उसमे से वह भयभीत प्राणियो को निर्भयता प्रदान कर देता है, जिससे वे भी अभय हो जाते हैं। महात्मा गाँधीजी ने तो व्रतबद्ध लोक-सेवको (रचनात्मक कार्यकर्ताओ) के लिए 'अभय' नामक एक व्रत ही रखा है, जिसमे इसी प्रकार की प्रेरणा निहित है।

अमितगति श्रावकाचार मे आचार्य अमित गति ने पूर्ण अभयदान का माहात्म्य बताते हुए, उसे उत्तम फल से युक्त बताया है—

> 'शरीर ध्रियते येन, समतेव महाव्रतम्।'
> कस्तस्याऽभयदानस्य फल शक्नोति भाषितुम्॥'

—जैसे समभाव महाव्रत का धारण-पोषण करता है, वैसे ही अभयदान से जीवो के शरीर का पोषण होता है, उस अभयदान के फल को कौन कह सकता है। अर्थात् उस (पूर्ण) अभयदान का फल अनिर्वचनीय है।

पूर्णरूप से अभयदान मे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो से अभयदान होता है। परमात्म प्रकाश मे इस विषय को अधिक स्पष्ट कर दिया है—

> 'निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प-स्वसवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानम् स्वकीय जीवस्य, व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदान परजीवानाम्।'

अर्थात्—निश्चयनय से वीतराग, निर्विकल्प, स्वसवेदन-परिणामरूप जो निज

आत्मभावो का अभयदान है, वह अपनी आत्मा की रक्षारूप है, जबकि
से पर-प्राणियो के प्राणो की रक्षारूप अभयदान है, इस प्रकार अभय,
परदयास्वरूप होता है।

फिर पूर्ण अभयदान मन-वचन काया तीनो की शुद्धिपूर्वक ही हो
मन मे चचलता, विकलता, घबराहट, भय हो तो उससे अभयदान नही
वचन मे अशुद्ध, भयोत्पादक या बेचैनी के वचन हो तो भी अभयदान
हो सकता, इसी तरह काया की चेष्टाएँ भयभीत जैसी हो, या अगोप
दिखाता हो, वहाँ भी अभयदान नही हो सकता। अभयदान मे मन, व
तीनो की सशुद्धि आवश्यक है। चारित्रसार मे स्पष्ट कहा है—

'दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्य प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम्।'

अर्थात्—'जिन पर अनुकम्पापूर्वक अनुग्रह करना है, उन प्राणियो
वचन-काया की शुद्धता से अभयदान देना दयादत्ति है।' यही कारण है कि '
मे पारगत पुरुष के पास प्राणी निर्भयतापूर्वक विचरण करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे सयतीराजर्षि के जीवन की घटना इस सम्बन्ध
प्रकाश डालती है—

राजा सयती अपनी मडली को लेकर वन मे निर्दोष वन्य पशुओ का
करने गया। उसने एक हिरन को निर्दयतापूर्वक खीचकर तीर मारा। हिरन
होकर गिर पडा। अभी उस पर मौत का खतरा सवार था। अत वह
भयभीत होकर अपने प्राण बचाने के लिए भागा, और ध्यानस्थ गर्दभिल्ल
पास जाकर बैठ गया। मुनियो की गोद तो सबको शरण देने और निर्भय
वाली होती है, यह वन्य पशु भी समझते थे।

सयती राजा ने दूर से ही जब अपने शिकार—मृग को एक शान्त
मुनि के पास बैठे देखा तो वह जरा सहम गया। तेजस्वी और प्रभावशाली
के सामने हिंसक, क्रूर और पापी व्यक्ति भी लज्जावश झुक जाता है और
दुष्कृत्य को उस समय तो बन्द कर देता है। सयती राजा भी शिकार बन्द
अपने साथियो सहित गर्दभिल्ल मुनि के पास पहुँचा, जहाँ हिरन बैठा था। रा
मे भयभीत भी हो रहा था कि शायद यह मृग मुनि का होगा। मैने मुनि
मृग को सताया और मारने का सोचा, इसलिए ये कही कोई श्राप न दे बैठें।
समभावी मुनि के लिए सभी प्राणी अपने ही होते हैं। उनका वात्सल्यभाव
होता है। वे निरपराध प्राणी को सताने वाले के प्रति भी वात्सल्य बरसा कर
बुरी या हिंसक वृत्ति को छुडा देते हैं।

सयती राजा हाथ जोडकर मुनि से अभय और क्षमा की याचना
लगा। मुनि ध्यान खोलते ही सारी परिस्थिति समझ गए। उन्होने सयती रा
समझाते हुए कहा—

16

दान के विविध पहलू

दान के सम्बन्ध मे विचार चिन्तन किया जा रहा है। वह काफी व्यापक और विस्तृत हो गया है। दान के प्रत्येक पहलू को अनेक दृष्टिकोण से सोचने और समझने का प्रयत्न हम कर चुके हैं। सच तो यह है कि प्राचीन जैन मनीषियो ने दान के सम्बन्ध मे बडा ही सूक्ष्म और सार्वदेशिक चिन्तन किया है। अनेकातवाद के अनुगामी होने के कारण यह सहज ही है कि वे अन्य वस्तुओ की भाँति दान जैसे जीवन से सम्बन्धित विषय पर भी अनेक दृष्टिबिन्दुओ से अनेक पक्ष-विपक्ष के पहलुओ पर चिन्तन करें।

इसी शृ खला मे दान के कुछ अन्य पहलुओ पर भी हम चिन्तन करेंगे।

दान के अन्य भेद

दान के पूर्वोक्त चार भेद (या तीन भेदो मे समाविष्ट चार भेद) अलौकिक और लौकिक दोनो दृष्टियो से होते हैं। परन्तु कुछ आचार्यों ने दान के ऐसे भेद भी बताये हैं, जो सिर्फ उत्तम पात्रो के लिए ही विहित हैं, अन्य के लिए नही, जैसे उपदेश माला और दानप्रदीप मे दान के ८ भेद इस प्रकार किये हैं—(१) वसतिदान, (२) शयनदान, (३) आसनदान, (४) भक्त (भोजन) दान, (५) पानीयदान, (६) भैषज-दान, (७) वस्त्रदान, (८) पात्रदान।

वसतिदान से मतलब है—ऐसा स्थान या मकान साधु-साध्वियो या महाव्रतियो को निवास के लिए देना, जो उनके लिए कल्पनीय, उनके लिए न बनाया गया हो, सादा हो, साधु के लिए रात्रि मे जहाँ स्त्री-पशु-नपु सक का निवास न हो, साध्वी के लिए पुरुष, पशु नपु सक के निवास से रहित हो। जिस मकान के पास मे अब्रह्मचर्यवर्द्धक वातावरण न हो, वेश्याओ या दुश्चारिणी स्त्रियो व पुरुषो का पडौस न हो, जो सयमपोषक हो, इस प्रकार का स्थान देना वसतिदान है।

शयनदान से तात्पर्य है—सोने, बैठने के लिए तख्त, पट्टा, फलक आदि तथा चटाई आदि साधु-साध्वियो या उत्तम पात्रो को देना। ये भी कल्पनीय, निर्दोष तथा जीव-जन्तु से रहित हो, सयम साधना-पोषक हो, उन्हे देना ही शयनदान है।

आसनदान का अर्थ है—बैठने के लिए चौकी, छोटा स्टूल, छोटी मेज या अन्य लकड़ी आदि की प्रासुक वस्तु का देना बैठने के लिए जो भी चौकी आदि हो, वह लचीली, स्प्रिंगदार या गुदगुदी न हो, उसमे जीवो का डेरा न हो, या दीमक आदि लगी हुई न हो।

भक्तदान से मतलब है—साधु-साध्वियो को न्यायागत, कल्पनीय, शुद्ध, ऐष-णीय ४२ दोषो से रहित अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चारो प्रकार का आहार देना। जिस वस्तु से धर्मवृद्धि हो, सयम साधना निराबाध हो सके, वैसी खाद्य-वस्तुएँ देना ही भक्तदान है।

पानीयदान का अर्थ है—साधु साध्वियो को प्रासुक, ऐषणीय, कल्पनीय, भिक्षा के दोषो से रहित निर्दोष जल देना।

भैषज्यदान का अर्थ है—साधु-साध्वियो को किसी प्रकार रोग या शरीर मे असाता पैदा होने पर किसी प्रकार पीडा, व्यथा या व्याधि होने पर औषध भैषज्य (दवा, पथ्यपरहेज) आदि देना-दिलाना। औषधादि ऐसी न हो, जिनमे अण्डें आदि का रस पडा हो, चर्बी हो, रक्त हो, मांस हो, शराब हो, अथवा कोई मछली का तेल आदि दूषित पदार्थ उसमे पडा हो, इस प्रकार की औषधि नही देना चाहिए।

वस्त्रदान का अर्थ है—शुद्ध, ऐषणीय, कल्पनीय वस्त्र साधु-साध्वियो को उनकी आवश्यकतानुसार देना-दिलाना।

पात्रदान का अर्थ है—महाव्रतियो या साधु-साध्वियो को उनके लिए कल्पनीय और आहार-पानी आदि के लिए आवश्यक काष्ठ, तुम्बा या मिट्टी आदि के पात्र आव-श्यकतानुसार देना।

आवश्यक चूर्णि मे दान के १० भेद बताए गए हैं, वे भी उत्तम पात्र के लिए दान से सम्बन्धित हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) यथाप्रवृत्तदान, (२) अन्नदान, (३) पात्रदान, (४) वस्त्रदान, (५) औषधदान, (६) भैषज्यदान, (७) पीठदान, (८) फलकदान, (९) शय्यादान और (१०) सस्तारक दान।

यथा प्रवृत्तदान से तात्पर्य है कि साधुसाध्वी या सयमी पुरुष जिस शुभ कार्य मे प्रवृत्त हो, उसके लिए जो भी आवश्यक साधन हो, उनका देना अथवा उस शुभ कार्य मे योगदान देना। और दानो का अर्थ प्राय स्पष्ट है। औषधदान और भैषज्य-दान दोनो मे थोडा-सा अन्तर है। औषधदान कहते हैं, वह पदार्थ, जो साधुसाध्वियो के लिए काष्ठादिदवा के रूप मे सेवन करने के काम मे आते हो, ऐसे पदार्थों का दान करना जबकि भैषज्य दान का मतलब ऊपरी उपचार लेप, गर्म पानी का सेक, निदान, तथा पथ्य-परहेज। औषध और भैषज्य मे दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि औषध मे एक ही वस्तु होती है जबकि भैषज्य मे अनेक औषधियो का सम्मि-

श्रण होता है, अनुपान आदि के लिए जो पदार्थ आवश्यक हो, उन्हे देना। पीठदान और फलक दान मे भी जरा-सा अन्तर है। पीठदान का मतलब है, चौकी, बाजोट, पटडा, या स्टूल या समतल कुर्सी आदि बैठने योग्य वस्तु देना। जबकि फलकदान से, तात्पर्य है—पट्टा, तख्त आदि वस्तुएँ, जो व्याख्यान आदि के समय बैठने के काम आती हो, उन्हे देना। इसी प्रकार शय्यादान और सस्तारक दान मे भी थोडा अन्तर है। शय्यादान से मतलब है—शयन करने के लिए तख्त पट्टा आदि देना, तथा सस्तारकदान से मतलब है—तख्त पर बिछाने के लिए ऊन या सूत का वस्त्र, नारियल की जटा, घास, चटाई आदि बिछाने के लिए पदार्थ देना।

इसके अतिरिक्त आवश्यक सूत्र, उपासकदशागसूत्र,[1] सूत्रकृताग[2] सूत्र एव भगवती सूत्र[3] आदि मे दान के उत्तम पात्रो को देने की दृष्टि से १४ भेद बताये है—(१) अशन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कम्बल, (८) पादप्रोछन, (९) पीठ, (१०) फलक, (११) शय्या, (१२) सस्तारक, (१३) औषध और (१४) भैषज्य। ये १४ प्रकार की धर्मपालन के लिए आवश्यक कल्पनीय, उचित निर्दोष ऐषणीय वस्तु साधु-साध्वियो को देना दान है। आहार के यहाँ ४ भेद कर दिये है—अशन—भूख मिटाने के लिए जो चीज खाई जाए, पान— जो वस्तु पीने के उपयोग मे आती हो, खादिम-दलिया, खिचडी, थूली आदि जो पदार्थ सीझे हुए हो, तथा स्वादिम खाने के पश्चात् मुखवास के रूप मे जो वस्तु सेवन की जाती हो। इन चारो प्रकार के आहार साधु-साध्वियो को प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय हो तो देना अशनादिदान है। बाकी सबके अर्थ स्पष्ट है।

मतलब यह है कि ये १४ प्रकार की वस्तुएँ प्रासुक, ऐषणीय, कल्पनीय निर्दोष, (भिक्षा दोषो से रहित) हो तो साधुसाध्वी या सयमी सुपात्र को देना-दिलाना तथा प्रकार के १४ दान है।

विविध प्रकीर्णक दान

इन सब पूर्वोक्त दानो के अतिरिक्त कुछ दान और है, जिनका उल्लेख विविध धर्मग्रन्थो मे मिलता है,'उनके विषय मे भी लगे हाथो थोडा-सा विचार करलें।

उचितदान

किसी आचार्य ने दान के ५ भेद बताए है। वे इस प्रकार है—(१) अभयदान, (२) सुपात्रदान, (३) अनुकम्पादान, (४) कीर्तिदान और (५) उचितदान। इन पाच प्रकार के दानो मे से अभयदान, अनुकम्पादान और कीर्तिदान के विषय मे पिछले पृष्ठो मे हम विस्तृत रूप से विवेचन कर आए है। सुपात्रदान के विषय मे

---

१ उपासक० १।५८
२ सूत्रकृताग २।२।३९
३ भगवती २।५

दान की विशिष्ट मर्यादाओ मे विस्तार से चर्चा करेंगे। अब रहा उचितदान। उसके विषय मे यहाँ विचार कर लेते हैं।

उचितदान वैसे तो पूर्वोक्त १० प्रकार के दानो मे समानदान या अन्वयदत्ति मे समाविष्ट हो जाता है। किन्तु अगर इसका पृथक् रूप से विश्लेषण करे तो अर्थ यह निकलता है कि अपने कुटुम्बीजनो, सगे-सम्बन्धियो, जाति भाइयो, नौकर-चाकरो, मुनीम-गुमाश्तो, बहन-बेटियो, पुत्रो, दामादो आदि को या सस्था, समाज, प्रान्त, नगर या राष्ट्र के किसी सेवक को किसी अच्छे कार्य, वफादारी, खुशी, त्यौहार, पुत्रजन्म या अन्य किसी उत्सव के उपलक्ष मे इनाम के रूप मे, कर्तव्य के नाते धन या साधन आदि देना उचितदान है। उचितदान मे एक प्रकार से गुणो को प्रोत्साहन गुणज्ञ का सम्मान तथा कर्तव्य पालन की भावना छिपी रहती है और कर्तव्य मे तो परस्पर विनिमय (ले-दे) की भावना निहित है। सामाजिक, जातीय या कौटुम्बिक व्यवहार के नाते सगे सम्बन्धियो या जाति-भाइयो को दिया जाता है, उस समय कई दफा प्रत्युपकार की भावना भी होती है, जिसे कृतदान के अन्तर्गत समाया जा सकता है।

प्रत्युपकार की भावना के समय देने वाला सोचता है—'इसने अमुक अवसर पर दिया है तो मुझे भी देना चाहिए। और मैं दूंगा तो इसके फला अवसर पर यह मुझे देगा ही, इस प्रकार की प्रतिदान की या प्रतिफल की भावनाए भी उचितदान होता है।

इसी प्रकार नौकर-चाकरो, कर्मचारियो या मुनीम-गुमाश्तो को अमुक खुशी के अवसर पर या उनकी विशिष्ट सेवाओ से प्रसन्न होकर जो दिया जाता है, वह भी अपने घर या व्यवसाय सम्बन्धी कामो मे प्रोत्साहन देने के ख्याल से दिया जाता है। प्रान्त, नगर या राष्ट्र के किसी वफादार या विशिष्ट व्यक्ति या सेवक को पारितोषिक या पुरस्कार भी अपने कार्य मे प्रोत्साहन देने के लिहाज से दिया जाता है।

जैसे हमारे राष्ट्र मे किसी कलाकार, विशिष्ट व्यापारी या राष्ट्रसेवक को पदमविभूषण, आदि पद या वीरचक्र आदि पदक व नकद रुपये दिये जाते हैं। स्वतन्त्रता सग्राम सेनानियो को उनकी देशसेवा के कारण प्रतिमास पैंशन के रूप मे पुरस्कार दिया जाता है। कई अध्यापको को अपने उत्तम कार्य के लिए पद एव पारितोषिक प्रदान किया जाता है।

इस दान मे उचित पद या सम्मान का दान भी आ जाता है। जो राष्ट्र के किसी पुरुष या महिला को उसके सत्कार्य करने या राष्ट्र-गौरव बढाने के उपलक्ष मे दिया जाता है। जैन जगत् मई १९२८ मे एक समाचार प्रकाशित हुआ था—

अमरीका की एक युनिवर्सिटी ने मिसेज एलीमन क्रोम्पटन नामक ८० वर्षीया महिला को देश के लिए उपयोगी एव विद्वान सन्तान को जन्म देने तथा माता के रूप मे सन्तान को उत्तम सेवा करने और उनमे उत्तम गुणो की वृद्धि करने के उपलक्ष

मे सम्मानपूर्वक एल० एल० डी० की पदवी प्रदान की। पदवी-वितरण करते समय कुलपति ने कहा था—आपने देश को विद्वान् और उपयोगी सन्तान दिये हैं, इसलिए आपको यह सम्मान प्रदान किया जाता है। आपने गृहिणी तथा माता के रूप मे देश की उत्तम सेवा की है उत्तम गुणो की वृद्धि की है। आपके बड़े पुत्र प्रो० कार्ल मासाच्युसेट के प्रसिद्ध उद्योग मन्दिर के प्रमुख हैं, दूसरे पुत्र विल्सन अर्थशास्त्री, वकील तथा बड़े व्यापारी हैं, तीसरे पुत्र आर्थर चिकागो युनिवर्सिटी पदार्थशास्त्र (फिजिक्स) के प्राध्यापक हैं, आपको अभी एक शोध के उपलक्ष मे नोबल प्राइज मिला है। आपके तीनो पुत्र प्रिंसटन युनिवर्सिटी के डॉक्टर हैं। आपके पतिदेव अमेरिका युनिवर्सिटी के एक कॉलेज मे ४५ वर्ष तक प्राध्यापक एव बाद मे २० वर्ष तक प्रिंसिपल रहे हैं। आपने हमारे देश मे उत्तम मनुष्यो की वृद्धि की है। अत हम आपके ऋणी हैं और प्रणाम करके आपको युनिवर्सिटी की सबसे बड़ी उपाधि से सम्मानित कर रहे हैं।"

सचमुच इस प्रकार का पदवीदान भी योग्यता का मूल्याकन करने हेतु उचित दान की कोटि मे गिना जा सकता है। औचित्य की सीमा तक किसी व्यक्ति को उसकी सेवा, योग्यता, सत्कार्य या सद्गुण को प्रोत्साहित करने हेतु दान देना उचितदान है। परन्तु जब औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करके किसी ऐसे-वैसे अयोग्य और दुर्गुणी व्यक्ति को दान दिया जाता है, तब उसे उचितदान नही कहा जा सकता। जैसे अन्तकृद्दशाग सूत्र मे अर्जुनमाली के प्रसग मे राजगृह नगर के ६ ललितगोष्ठी पुरुषो का जिक्र आता है, जिन्हें राजगृह नरेश ने उनके किसी कार्य से प्रसन्न होकर इनाम भी दिया था और मनमानी करने की छूट भी दे दी थी। ऐसे दान को उचितदान नही कहा जा सकता। ऐसे गुण्डे या बदमाशो को दान देकर उन्हे सद्गुणो के प्रति प्रोत्साहित करने के बजाय, उनके दुर्गुणो को बढावा देना है।

इसी प्रकार सामाजिक कुप्रथाओ का पोषण करने के लिए जब अपने किसी सम्बन्धी को औचित्य का उल्लघन करके, अपने गरीब मध्यमवर्गीय भाइयो की दुर्दशा की ओर ध्यान न देकर दिया जाता है। इतना दिया जाता है, कि उसमे कोई विवेक नही रखा जाता। इस प्रकार आँखें मूँदकर अन्धाधुन्ध खर्च करना उचितदान की कोटि मे कथमपि नही आ सकता।

उचित दान से न तो पुण्य होता है और न ही पाप या अधर्म। धर्म के दायरे मे तो यह दान आता ही नही है। इससे केवल सामाजिक, जातीय, कौटुम्बिक या राष्ट्रीय व्यवहार की एव व्यवस्था की रक्षा होती है।

क्षायिकदान क्या किस मे और कैसे ?

दिगम्बर जैन ग्रन्थो मे क्षायिकदान की चर्चा आती है। क्षायिकदान वास्तव मे दानान्तराय आदि के अत्यन्त क्षय होने से होता है, और दानान्तराय आदि का सर्वथा क्षय अर्हन्तो और वीतरागो—केवलज्ञानियो के ही होता है, जो १२वें, १३वें

गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं। परन्तु एक सवाल उठता है कि ऐसे उच्चगुणस्थानवर्ती महापुरुष तो यथाख्यातचारित्री, क्षीणमोहनीय या सयोगीकेवली होते हैं, उनके पास उस समय देने को क्या होता है ? न तो वे धन दे सकते हैं, न अन्न ही और न अन्य कोई वस्तु ही दे सकते हैं। तब वे दान किस बात का करते हैं ? इसका समाधान करते हुए आवश्यक निर्युक्ति (११०३) मे कहा है—

जं तेहिं दायव्वं त दिन्न जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो ॥

—तीर्थंकरो ने जो कुछ देने योग्य था सब दे दिया है। वह समग्रदान है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उनदेश।

वास्तव मे तीर्थंकर और केवलज्ञानी जब तक सिद्ध नहीं होते, उससे पहले-पहले शरीर से जितना भी उपकार ससारी जीवो का कर सकते हैं, करते हैं। परन्तु वे धन, खाद्यपदार्थ, वस्त्र या अन्य कोई चीज स्वय रखते नही, वे स्वय आहारादि जिस वस्तु का उपयोग करते हैं, वह भी सग्रह करके रखते नही, और वह भी गृहस्थ से याचना करके लेते हैं इसलिए याचित वस्तु का दान वे कैसे कर सकते हैं ? जो जिस वस्तु का याचक है, वह उम वस्तु का दाता कैसे बन सकता है ? इमीलिए तीर्थंकरो के पास जो वस्तुएँ हैं—ज्ञान, धर्म, अभय, बोधि आदि उसी का वे दान कर सकते हैं, और करते हैं। इसीलिए शक्रन्तव (नमोत्थुण) के पाठ मे अभयदयाणं, चक्खुदयाण, मग्गदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाण अभयदानदाता, चक्षु (ज्ञान) ज्ञान-दाता, मार्ग के दाता) (राहबर-पथ प्रदर्शक) बोधि (मम्यक्त्व या मम्यग्दर्शन) के दाता, धर्म (सूत्र-चारित्ररूप धर्म) के दाता उन्हे कहा गया है। यही कारण है कि तत्वार्थ-सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (२।४।१५४।४) मे आचार्य पूज्यपाद ने तथा राजवार्तिक (२।४।२।१०५।२८) मे क्षायिकदान का लक्षण इम प्रकार किया है—

"दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्त प्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्।"

अर्थात्—दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणिगणो का उपकार करने वाला अभयदानरूप क्षायिकदान होता है।

एक प्रश्न इम मम्बन्ध में फिर उठाया जाता है कि[1] अरिहन्तो के दानान्तराय कर्म का तो सर्वथा क्षय हो गया है, फिर वे सभी जीवो को इच्छित अर्थ क्यो नही दे देते ? माना कि वे अपने पास धन आदि पदार्थ नही रखते, किन्तु वे दूसरो को उपदेश देकर या कहकर तो दिला ही सकते हैं। इसका उत्तर षट्खण्डागम की धवला टीका मे दिया गया है—उन जीवों को अरिहत न तो बाह्यपदार्थों का दान दे सकते हैं और न

---

१ अरहता खीणदाणतराइया सव्वेसिं जीवाण मिच्छिदत्थे किण्ण देंति ? ण, तेसिं जीवाण लाहतराइयभावादो ॥ —धवला १४।५, ६, १८।१७।१

ही दिला सकते हैं, क्योकि उनके अभी लाभान्तरायकर्म का उदय है, इसलिए बाह्य पदार्थों का लाभ (प्राप्ति) उन्हे नही हो सकता।"

क्षायिकदान के सम्बन्ध मे एक और प्रश्न उठाया गया है कि[1] क्षायिकदान जैसे अरिहतो मे होता है, वैसे सिद्धो मे भी होना सम्भव है, क्योकि वे भी दानान्तराय आदि सभी कर्मों का सर्वथा क्षय कर चुकते हैं, फिर वे ससारी जीवो को अभयदानादि क्यो नही देते ? इस प्रकार की शका सर्वार्थसिद्धि (टीका) मे उठाई गई है, जिसका समाधान वहाँ किया गया है कि सिद्धो मे क्षायिकदानादि होते हुए भी अभयदानादि का प्रसग प्राप्त नही होता, क्योकि अभयदानादि के होने मे शरीरनामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म के उदय की अपेक्षा रहती है, मगर सिद्धो के शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नही होते, अत उनमे अभयदानादि प्राप्त नही होते।'

इसी से सम्बन्धित एक शका फिर उठाई गई है कि[2] जब सिद्धो के ये शरीर तीर्थंकरादि नामकर्म नही होते, इसलिए उनमे अभयदानादि नही पाये जाते, किन्तु सिद्धो मे क्षायिकदानादि तो होते हैं, फिर उन भावो का सद्भाव कैसे माना जाय ? इसका समाधान किया गया है कि जिस प्रकार सिद्धो के केवलज्ञान रूप मे अनन्त वीर्य का सद्भाव माना गया है, उसी प्रकार परमानन्द के अव्याबाध रूप से ही क्षायिक का दानादि का सिद्धो मे सद्भाव है।

बौद्धशास्त्रो मे वर्णित दो दान

यद्यपि बौद्ध साहित्य मे विविध दृष्टियो से दान के अनेक भेद बताए हैं, किन्तु अगुत्तरनिकाय (२।१३।१) मे महात्माबुद्ध ने मुख्यतया दो प्रकार के दान बताए हैं—

"भिक्षुओ ! दो दान हैं—भौतिकदान और धर्मदान (आमिसदान च धम्मदान च)। इन दोनो मे धर्मदान श्रेष्ठ है। धर्मदान की महिमा बताते हुए धम्मपद (२५।२१) मे कहा गया है—

'सब्बं दान धम्मदान जिनाति
सब्ब रस धम्म रसो जिनाति।

अर्थात्—धर्मदान सब दानो से बढकर है। धर्म का रस सब रसो से श्रेष्ठ है।

---

१ यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि, तत्प्रसग ।
नैष दोष, शरीरनामतीर्थंकरनाम कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् तेषा तदभावे तदप्रसग ॥
—सर्वार्थसिद्धि २।४।१५५।१

२ कथ तर्हि सिद्धेषु तेषा वृत्ति ? परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेषा तत्र वृत्ति ।
केवलज्ञान रूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् । —सर्वार्थसिद्धि २।४।१५५।१

धर्मदान के तीन रूप हैं—अभयदान, सयति (सुपात्र) दान और ज्ञानदान। भौतिक (आमिष) दान वह है, जो इन्द्रियो के विषयो से सम्बन्धित हो। वस्तुत जो दान वस्तुनिष्ठ हो, वह आमिसदान कहलाता है, परन्तु जो दान भावनिष्ठ हो, वह धर्मदान कहलाता है। भाव या अभय का दान अधिक लाभदायक, आत्मा के लिए वस्तु की अपेक्षा विचार, ज्ञान, हितकारक और जीवन निर्माणकारी होता है।

धर्मदान की सर्वश्रेष्ठता तो सभी धर्मों मे बताई गई है। पिछले पृष्ठो मे हम यह बता चुके हैं कि धर्मदान श्रेष्ठदान है। क्योकि जिसे अभयदान दिया जाता है। वह भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अपने जीवित को अधिक चाहता है, जीवन सब को प्यारा है। एक ओर सोने-चांदी या रत्नो का ढेर हो और दूसरी ओर केवल अभय हो या ज्ञान अथवा विचार हो तो प्रत्येक प्राणी, खासतौर से मनुष्य तो जिन्दगी को ही अधिक चाहता है। ☆

17

वर्तमान में प्रचलित दान : एक मीमांसा

वर्तमान युग मे प्रचलित दान

दान के विषय मे जब इतना विशद विश्लेषण किया जा रहा है, तब वर्तमान युग मे सर्वोदय नेता सत विनोबा भावे द्वारा प्रचारित कुछ दानो का जिक्र न करना उचित नहीं होगा। एतदर्थ हम यहाँ प्रसगवश उन दानो पर सक्षेप मे विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

भूदान—यद्यपि प्राचीनकाल मे भी राजाओ, क्षत्रियो या जमीदारो द्वारा किसी शौर्य, वीरता, विशिष्ट कार्य या मन्दिर आदि के निर्वाहार्थ जमीन दान दी जाती थी। कभी-कभी शासक लोग खुश होकर ब्राह्मणो, कवियो, भाटो या चारणो आदि को भूमि दान दे दिया करते थे। परन्तु उस भूमिदान मे और राष्ट्र सत विनोबा द्वारा प्रचलित भूमिदान मे बहुत ही अन्तर है। राष्ट्र सत विनोबाजी का उद्देश्य भूमिदान के पीछे यह है कि जिन लोगो के पास अनाप-सनाप जमीनें हैं, अथवा परिवार पोषण से अधिक भूमि है, उन लोगो को स्वेच्छा से उन भूमिहीनो को अपनी भूमि मे से कम से कम छठा हिस्सा दान देना चाहिए, ताकि निर्धन भूमिहीन या अत्यल्प भूमिधर का भी निर्वाह हो सके। समाज मे विषमता तभी फैलती है, जब एक ओर एक व्यक्ति के पास इतनी अधिक जमीन हो कि न तो वह स्वय उतनी जमीन जोत सकता है, और न इतनी जमीन पर होने वाली अत्यधिक उपज की उसे और उसके परिवार को जरूरत है, दूसरी ओर भूमि के अभाव मे गाँव मे कई परिवार कष्ट से अपना गुजारा चलाते हैं, मेहनत-मजदूरी के काम भी बारहो महीने मिलते नहीं और मजदूरी का दर भी बहुत कम है, जिससे उनके परिवार का पर्याप्त रूप से निर्वाह नही होता। ऐसी दशा मे अगर उन भूमिहीन या अत्यल्प भूमिधर परिवारो को स्वेच्छा से अधिक भूमिधर व्यक्ति नहीं देंगे तो वे भूखे मरते हुए या तो चोरी करेंगे, या किसी अनैतिक धन्धे मे प्रवृत्त होगे, अथवा किसी राजनीतिज्ञ के चक्कर मे आकर उन अत्यधिक भूमिवानो का सफाया करने पर उतारू होगे। भूखा आदमी धर्म-मर्यादा, शर्म, लिहाज या स्नेह-सद्भाव को ताक मे रख देता है, उस समय उसे सिवा लूट-खसोट या सम्पन्नो पर आक्रमण के और कुछ सूझता नहीं। बहुत ही विरले लोग ऐसे समय मे धैर्य रखकर नैतिकता और ईमानदारी पर दृढ रह

पाते हैं। इसलिए सत विनोबाजी ने सन् १९५० से पोचमपल्ली (हैदराबाद जिले) मे एक ही रात मे कई जमीदारो की हुई हत्या के बाद उक्त परिस्थिति पर गम्भीरता से मन्थन करके भूदान का आविष्कार किया। तब से लेकर सारे हिन्दुस्तान मे भूदान की गगा प्रवाहित हुई। सर्वोदय नेता एव सर्वोदय के कार्यकर्ता जगह-जगह भूमिहीनो के लिए भूमिधरो से जमीन मांगते और जमीदार भूमिवान लोग स्वेच्छा से अपनी जमीन मे से यथेष्ट भूमिदान के रूप मे देने लगे। बाद मे दान मे प्राप्त उस जमीन का भूदान कार्यकर्ता भूमिहीनो मे वितरण करा देते, सरकार उसका पट्टा भूमिहीन के लिए करा देती और इस प्रकार लाखो भूमिहीनो को भूदान प्राप्त होने से राहत मिली। वे भूमिदान पाकर स्वावलम्बी हो गए। यह एक विशिष्ट कार्य हुआ। बहुत से अल्पभूमिवानो ने भी अपनी-अपनी जमीन मे अमुक-अमुक हिस्सा भूमिहीनो के लिए दान किया।

सम्पत्तिदान—किन्तु केवल भूमिदान से ही उन गरीबो का कार्य पूर्ण नही होता था, बहुत-से लोग कृषिजीवी नही थे, वश-परम्परा से अन्य धधा या पेशा अपनाया हुआ था, उन्हे भूमिदान से इतना लाभ नही हुआ। अत सत विनोबाजी ने जनता को समझा-बुझाकर ऐसे लोगो को कोई उद्योग-धन्धा दिलाकर या गाँवों मे जिसके उद्योग कल-कारखानो के आने के कारण नष्ट हो गए या छिन गए, उन्हें भी पुन उन उद्योगो को सजीवित कराने हेतु सम्बन्धित दीन-हीन, बेकार लोगो को स्वेच्छा से सम्पत्ति दिलाई। अथवा जनता से स्वेच्छा से सम्पत्तिदान करवाकर ऐसे ग्रामीण लोगो को अपने धधे मे राहत दिलाई। सम्पत्तिदान का उद्देश्य भी अच्छा है। इससे भी समाज मे व्याप्त विषमता का अन्त आ सकता है। ईशोपनिषद् मे तो ऋषि स्पष्ट कहते हैं—

"तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृध कस्यस्विद् धनम्।'

—तुम्हें जो भी प्राप्त हुआ है, उसमे से त्याग करके फिर उपभोग करो। केवल धन को बटोर-बटोर कर उस पर मूर्च्छा रख कर मत बैठो, यह बताओ कि धन किसके पास या किसका बनकर रहा है?

साधन दान—जिन भूमिहीनो को खेती के लिए जमीन दी गई थी, उनमे से कई तो इतने निर्धन और साधनहीन थे कि उन्हे भूमि दिला देने के बावजूद भी वे खेती नही कर पाते थे, क्योंकि उनके पास जमीन जोतने और बोने आदि के लिए हल, बैल आदि अनिवार्य साधन नही थे, इसलिए सत विनोबा ने साधनदान का आविष्कार किया। सम्पन्न व्यक्तियो को समझाकर उनसे साधनदान लिया गया। सत विनोबाजी का यह कहना था कि अगर एक घर मे किसी सम्पन्न गृहस्थ के पाच पुत्र हैं तो छठा पुत्र दरिद्र नारायण को समझ लें, और उसी श्रद्धा के साथ अपनी भूमि, सम्पत्ति या साधन मे से छठा हिस्सा निकाल कर उसे भूमि, सम्पत्ति या

साधन से हीन लोगो को स्वेच्छा से दान दे। इस प्रकार सर्वोदय नेताओ एव कार्यकर्ताओ द्वारा देश की बढती हुई गरीबी और उसके कारण फैलती हुई अनैतिकता और हिंसा की जडो को ढीली करने मे और उसकी रोकथाम करने मे भूदान, सम्पत्तिदान और साधन दान ने बहुत अशो मे काम किया। भारत की लोकश्रद्धा को दान के रूप मे पुन जागृत किया, जनता मे दान की सन्निष्ठा बढाई। व्यवस्थित ढग से लोगो को दान की व्याख्या समझाई। इसका प्रभाव केवल भारत मे ही नही, विदेशो पर भी पडा और वे लोग भी भारत मे लाखो एकड जमीन स्वेच्छा से दान के रूप मे लोगो को देते देखकर आश्चर्य से दाँतो तले अगुलि दबाने लगे। बहुत-से विदेशी लोगो ने भारत मे आ-आकर इस स्वेच्छा से भूमिदान की प्रक्रिया को देखा। क्योकि भारतवर्ष मे जहाँ दुर्योधन जैसे उद्दण्ड शासको के उद्‌गार थे—सूच्यग्र नैव दास्यामि, विना युद्धेन, केशव !" (सूई की नोक पर आए, इतनी जमीन भी युद्ध के बिना नही दे सकता) तथा जमीन के लिए हजारो युद्ध हुए, रक्तपात हुआ, एक-एक इच भूमि के लिए खून बहाया गया, वहाँ लोग स्वेच्छा से भूमिदान देने लगे, यह नवयुग का सूत्रपात था।

श्रमदान—जिन लोगो के पास न तो जमीन थी, न अधिक धन था, न अत्यधिक साधन थे, वे लोग समाज सेवा मे कैसे योगदान दें, समाज सेवा और परोपकार का पुण्य कैसे वे उपार्जित करें, इसके लिए सत विनोबा ने श्रमदान की प्रेरणा दी। स्वेच्छा से नि स्वार्थभाव से या परोपकारभाव से बिना किसी बदले की आशा से श्रमदान करना भी एक प्रकार का पुण्य है। कायपुण्य के रूप मे हम श्रमदान को भी गिन सकते हैं। श्रमदान से ग्रामो की श्री-वृद्धि हुई है, कई जगह गाँवो की समृद्धि बढी है, श्रमदान से कई तालाब, सडक, बाँध आदि निर्माण करके ग्रामीण लोगो ने अपने कर्त्तव्य या ग्रामधर्म का परिचय दिया है।

बुद्धिदान—कई व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिनका शरीर श्रम के लायक नही है, जो प्राय वैभव मे पले-पुसे हैं, या जिन्हे कठोर श्रम करने की आदत नही है, अथवा जो अपाहिज या अगविकल हैं, उनमे बौद्धिक शक्ति और दूसरो को विचार समझाने की शक्ति अच्छी है, उनकी बुद्धि उर्वरा है, ऐसे व्यक्तियो को अनायास पुण्योपार्जन करने, समाज सेवा करने या समाज की विशिष्ट उन्नति के कार्य मे योगदान देने हेतु सत विनोबाजी ने बुद्धिदान की प्रेरणा दी। यद्यपि इस कार्य को प्राचीनकाल से ऋषिमुनि या ब्राह्मण-श्रमण करते आए हैं, वे सदा से धर्म कार्य मे मार्गदर्शन, प्रेरणा एव उपदेश देते रहे हैं। परन्तु उनका क्षेत्र धर्मसम्प्रदायो या जातियो तक ही प्राय सीमित रहा है। वे व्यावहारिक क्षेत्र मे स्वय तथाकथित विषय से अनभिज्ञ तथा दूर होने से मार्गदर्शन या परामर्श नहीं दे सकते। इसलिए सत विनोबाजी ने बुद्धिदान को व्यापक रूप प्रदान किया, इसमे जो भी व्यक्ति चाहे अपनी बौद्धिक प्रतिभा का नि स्वार्थदान दे सकता है।

एक अध्यापक है, उसकी बुद्धि अच्छी है। अगर वह बुद्धिहीन, अथवा पढने मे कमजोर, मन्दबुद्धि छात्रो या प्रौढो को मुफ्त मे पढाकर बुद्धिदान देता है। ग्रीष्मावकाश या अन्य अवकाश के दिवसो मे वह अपनी बुद्धि के द्वारा अनाथ, निर्धन, मन्दबुद्धि बालको को फ्री पढाकर उनकी बौद्धिक शक्ति मे और वृद्धि करता है, तो यह भी बुद्धिदान का ही प्रकार है।

गुजरात मे आनन्द के प्रशिक्षण कॉलेज के ५० नये बी टी अध्यापको के एक जत्थे ने सन् १९६८ के ग्रीष्मावकाश के दौरान ग्रामीण क्षेत्रो मे मुफ्त मे एम एस सी की कक्षाएँ लेने और विद्यार्थियो को पढाने का निश्चय किया। खेडा जिले के जिन हाईस्कूलो का परीक्षाफल खराब रहा अथवा जहाँ-जहाँ के विद्यार्थी मन्दबुद्धि रहे, उन-उन गाँवो मे जाकर कुछ अध्यापको के जत्थो ने पढाया। प्रशिक्षण कॉलेज के प्रिंसिपल ने यह अनोखा विचार (बुद्धिदान का) प्रशिक्षण के लिए आये हुए अपने छात्र-अध्यापको के सामने रखा और उन्होने यह सहर्ष स्वीकार किया तथा श्रद्धा और स्नेह भावना से उन्होने ग्रामीण क्षेत्रो मे जाकर बुद्धिदान के इस कार्य को निष्ठापूर्वक किया।

इसी प्रकार अपाहिज या रोगी व्यक्ति भी अपनी बौद्धिकशक्ति से दूसरो का उपकार करके बुद्धिदान का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्य के पास अनेक शक्तियाँ होती हैं। यदि आत्मविश्वास हो तो वह पैसे या साधन के अभाव मे बुद्धि से भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण परोपकार के कार्य कर दिखाता है।

'जॉन मेक स्क्वायर' बहुत साधारण स्थिति का न्यूयार्क की नुवेले न्यू हॉस्पिटल का एक रोगी था। उसके हाथ-पैर भी काम नही करते थे। पैरो से अपग होने के कारण वह पहियेवाली गाडी मे बैठकर घूमता-फिरता था। उन्ही दिनो जॉन के मन मे अन्त स्फुरणा हुई मैंने जो कुछ सहा है, वह दूसरे रोगियो को न सहना पडे, इसके लिए मैं जो कुछ कर सकूँ, अपने अनुभव दे सकूँ, लोगो को सुन्दर विचार देकर उनकी निराशा खत्म कर दूँ, जो जिन्दगी भर रोगी रहे हैं, जिनके हाथ-पैरो मे शक्ति नही है, या जिनके हाथ-पैर कट गये हो। सन् १९६१ से जॉन पहियेदार गाडी मे बैठकर उन रोगियो के पास जाने लगा। उन्हे मानव जीवन की श्रेष्ठता समझाता, उन्हे धैर्य बधाता, परमात्मभक्ति या नाम स्मरण करने का तरीका बताता, उन्हे अपनी वर्तमान परिस्थिति से निराश न होकर उसी स्थिति मे भी सत्कार्य या परोपकर के क्या-क्या कार्य हो सकते हैं, यह समझाता, उनकी चिन्ताएँ दूर करके उन्हे प्रसन्न और प्रफुल्ल रखता। "उनमे आत्मशक्ति प्रगट करता और आत्मशक्ति प्रगट करने के उपाय बताता।" इस प्रकार जॉन ने चार ही वर्षों मे अनेक रोगियो, अपाहिजो को बुद्धिदान देकर नवजीवन दिया। उनमे आत्मशक्ति प्रगट कर दी, परमात्मा के प्रति श्रद्धा जगाई।"

समयदान—बुद्धि भी किसी व्यक्ति मे न हो, शारीरिक श्रम देने की भी शक्ति

न हो, परन्तु समय तो हर व्यक्ति के पास रहता है। वह समयदान देकर भी बहुत-सा परोपकार का कार्य कर सकता है। वास्तव मे समयदान देना भी महान् पुण्यकार्य है। किन्तु समयदान का यह अर्थ नही है कि किसी व्यक्ति के पास घन्टो बैठकर उसका मनोरजन करने मे समय बिताये, उसके व्यसन पोषण या ताश आदि खेलो के लिए अपना अमूल्य समय दे। समयदान का अर्थ है—व्यक्ति अपनी दिनचर्या मे से अमुक समय निकालकर नि स्वार्थ भाव से परोपकार या भलाई के कार्य मे लगाए या दे। ग्रीष्मावकाश या अन्य छुट्टियो के दिन अध्यापक या कर्मचारी आदि किसी भी सत्कार्य के लिए समय देकर अपने समय का दान कर सकते हैं।

अमेरिका के एक डॉक्टर विलियम मोरगन जो नाक, कान और गले के विशेषज्ञ हैं। एक बार अपने मित्र के आमन्त्रण पर 'डोमिनिकन रिपब्लिकन' बन्दरगाह पर बने टापू पहुँचे। वहाँ वे अपने तीन सप्ताह छुट्टियो के बिताने आये थे। किन्तु अनेक गले के रोगियो की उन्होने फ्री जाच की। पहले-पहल तो लोग ऑपरेशन से डरते थे, किन्तु धीरे-धीरे सन् १९३८ के बाद डॉ० मॉरगन इसी टापू पर तीन सप्ताह का अवकाश बिताने और रोगियो की फ्री चिकित्सा करने के लिए आने लगे। और प्रतिवर्ष ३००-४०० रोगियो के गले आदि के ऑपरेशन फ्री कर जाते थे। अन्य रोगियो का इलाज फ्री करने लगे। पिछले १२ वर्षों मे इस समयदानी डॉक्टर ने ग्रीष्मावकाश का समय रोगियो को देकर लगभग ५००० से अधिक रोगियो के ऑपरेशन किये हैं। अब तो वे प्रतिवर्ष इस डॉक्टर का वहाँ के टापूनिवासी लोग हजारो की सख्या मे फूलमालाएं लिए डॉक्टर मोरगन का अभिनन्दन एव स्वागत करने के लिए खडे रहते हैं। इसी प्रकार अन्य पेशे के लोग भी अपना समयदान देकर जीवन को कृतार्थ कर सकते हैं।

इसके अनन्तर सन्त विनोबाजी ने भूदान के ही उत्कट रूप ग्रामदान और सर्वस्व दान की भावना के साथ कर्तव्यपरायण बनकर जीवनदान की प्रेरणा दी है। इन दोनो का भी सक्षिप्त परिचय पा लेना भी आवश्यक है।

ग्रामदान—वह कहलाता है, जिसमे सर्वोदय कार्यकर्ताओ की प्रेरणा से सारा गाँव मिलकर गाँव की भूमि को ग्रामसभा को दे देता हो, सारा गाँव नही दे तो, गाँव मे ६० प्रतिशत लोग इसके लिए सहमत हो, तो भी ग्रामदान हो जाता है। ग्रामदान मे ग्रामसभा को मिली हुई जमीन सारे गाँव की मानी जाती है, फिर ग्राम-सभा सारे परिवारो का सर्वेक्षण करके जिस परिवार को जितनी भूमि, साधन, आदि की जरूरत होती है, वह उसे देती है, वह जमीन बेची नही जा सकती, न रहन रखी जा सकती है, सिर्फ उस जमीन को जोत-बोकर उसकी उपज ली जा सकती है। उपज मे से अमुक हिस्सा ग्रामकोष मे ग्रामसभा मे जमा कराया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार भी सामूहिक रूप से उक्त ग्राम दानी गाँव की उन्नति के लिए सब प्रकार का प्रयत्न करती है, मदद करती है। इस दृष्टि से ग्रामदान ग्राम के प्रति

कर्तव्यपालन होने से, ग्रामधर्म के अनुकूल एक प्रकार का समानदान के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार के कई ग्राम-दान उडीसा के कोटापुर जिले मे तथा बिहार आदि मे हुए हैं। मगरौठ का ग्रामदान भी बहुत सफल हुआ था।

जीवनदान—जीवनदान का अर्थ है—व्यक्ति अपना सर्वस्व समाज-सेवा के लिए अर्पित कर दे और समाज से सिर्फ अपने निर्वाह के लिए उचित रूप मे ले। परन्तु इस प्रकार के सच्चे जीवनदानी सत विनोबा, जयप्रकाश नारायण आदि इने-गिने ही साबित हुए हैं। वैसे जीवनदान की प्रक्रिया तो अच्छी है। और इस प्रकार का सेवाव्रती जीवनदानी अपना जीवन सर्वस्व समाज के चरणो मे अर्पित करके महान् पुण्य उपार्जन करता है। वास्तव मे, ऐसे सच्चे जीवनदानी तो सच्चे नि स्पृही त्यागी सत, श्रमण, ऋषि, मुनि आदि होते है, जो अपना घरबार, धनसम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि सर्वस्व छोडकर अपना-जीवन स्व-पर-कल्याण मे लगा देते हैं।

आधुनिक दानो मे भूदान से लेकर जीवनदान तक जितने भी दान हैं, वे एक तरह से पुण्य के अन्तर्गत आ जाते हैं, बशर्ते कि ये दान अपने उद्देश्य के अनुरूप मानवता की भलाई के लिए हो, पक्षपात, भाई-भतीजावाद, स्वार्थ एव बेईमानी आदि दोषो से दूर हो। वैसे लोकश्रद्धा और बडे-बडे धनिको या जमीदारो की सद्भावना प्रगट करने मे इन दानो ने काफी प्रेरणात्मक कार्य किया है। कई लोगो के दिलो मे दान का चिराग जलाया है। जैसे बारिया (गुजरात) के भूतपूर्व नरेश और गुजरात विधानसभा के असन्तुष्ट स्वतन्त्र नेता श्री जगदीपसिंह जी ने अपना बारियास्थित महल एव लगभग ५० एकड का विशाल भूमि-खण्ड कृषि-अनुसन्धान के लिए एक सार्वजनिक ट्रस्ट को दान दे दिया। महल व जमीन की कीमत लगभग ४० लाख रु० से अधिक की होगी। श्री जगदीपसिंह जी स्वय एक छोटी-सी कुटिया मे रहने लगे।

इसी प्रकार नेताजी सुभाषबाबू जब बर्मा पहुँचे तो उन्होने भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के लिए आजाद हिन्द फौज बनाई। उस समय वे इस स्वतन्त्रता यज्ञ के लिए घूमते-घूमते एक बुढिया के यहाँ पहुँचे। वह बहुत धनाढ्य थी। उसने पूछा—"बेटा! तुम कौन हो?"

सुभाषबाबू—"मैं सुभाष हूँ माँ!"

बुढिया—"क्या वही सुभाष हो, जिसने भारत को आजादी दिलाने के लिए आजाद-हिन्द फौज बनाई है? बोलो क्या चाहिए?"

"सुभाषबाबू—"सेना के लिए कुछ सहायता चाहिए, माँ!"

बुढिया—"अरे, इसमे क्या! लो, मैं अपनी सर्वस्व सम्पत्ति १० लाख तुम्हारे देश सेवा कार्य के लिए दे देती हूँ।"

सुभाष—"माँ! फिर तुम्हारा गुजारा कैसे होगा?"

रख दी । बुढिया ने अन्तर से आशीर्वाद दिये । वे सज्जन तुरन्त अपने डिब्बे मे जा बैठे और उसी समय गाडी रवाना हो गई, वे सज्जन थे—कासिम बाजार के राजा माणिक्यचन्द्र नन्दी । वास्तव मे वे सच्चे राजा थे ।

इसे हम श्रमदान का नमूना कह सकते हैं । किन्तु वर्तमान श्रमदान, प्राय सामूहिक रूप से सार्वजनिक कार्यो मे नि स्वार्थ भाव से अपना श्रम देने के अर्थो मे प्रयुक्त होता है ।

उक्त दानो मे पवित्रता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि ये सभी दान नि स्वार्थ भाव से अथवा मानवीय दृष्टि से हो । अगर इनमे स्वार्थ, प्रदर्शन और नेतागिरी की भावना आ गई तो फिर उन दानो से कोई भी पुण्य या लाभ नही होने वाला है ।

दान के ये और इस तरह के सभी प्रकारो का वर्णन लगभग आ गया है । वास्तव मे देखा जाय तो दान भावना पर निर्भर होने से उसके अनेक प्रकार हो सकते हैं, वस्तु की अपेक्षा से, पात्र की अपेक्षा से, आवश्यकता की अपेक्षा से और जीवन निर्माण की अपेक्षा से । अत इनका वर्गीकरण करके पूर्वपृष्ठो मे यत्र-तत्र धर्मशास्त्रो, ग्रन्थो एव महान् व्यक्तियो द्वारा निर्दिष्ट एव प्रचलित दानो का उल्लेख एव उन पर सागोपाग विवेचन किया जा चुका है । ☆

18

दान और अतिथि सत्कार

अतिथि-सत्कार

भारतीय संस्कृति में अतिथि को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। उपनिषदों में 'अतिथि देवो भव' का मन्त्र यही बताता है कि प्रत्येक गृहस्थ को अतिथि को देवता मानकर चलना चाहिए। अतिथि का निराश होकर किसी के घर से लौट जाना पुण्य राशि का लौट जाना है। इसीलिए नीतिकार इस बात की एक स्वर से उद्घोषणा करते हैं—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गेहात्प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा, पुण्यमादाय गच्छति ॥

—'जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट जाता है, समझ लो, वह उसे पाप देकर और पुण्य को लेकर लौटता है।' प्रश्न होता है कि अतिथि निराश होकर लौटता है, वह पुण्य लेकर और पाप देकर कैसे चला जाता है ? इसका समाधान यह है कि अतिथि सत्कार करने से जिन नौ प्रकार के पुण्यों का उपार्जन वह गृहस्थ कर सकता था। उसके बदले यदि वह अतिथि को रूखा उत्तर देकर, टरकाकर या हताश करके या अपमानित करके अपने घर से निकाल देता है तो वह गृहस्थ उस पुण्य से तो वंचित ही रहा, और अतिथि को खाली हाथ लौटाने या अपमानित करने का पाप और उसके पल्ले पड़ गया। इस प्रकार पुण्य के बदले वह गृहस्थ पाप का भागी बन जाता है, जो अतिथि को खाली लौटा देता है।

इस दृष्टि से जब हम अतिथि सत्कार पर विचार करते हैं, तो शास्त्रोक्त ९ पुण्यों का उसके साथ गहन सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतिथि जब किसी के घर में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम उसे नमस्कार किया जाता है या राम-राम या जयजिनेन्द्र, जयश्रीकृष्ण आदि किया जाता है, फिर वचन से उसे 'आओ, पधारो, स्वागत है आपका', कहकर स्वागत किया जाता है। मन से भी अतिथि को अपने घर आया देखकर गृहस्थ अपना अहोभाग्य समझता है, और राजस्थान की कहावत—'घर आयो मां को जायो' समझकर मन ही मन अपने भाग्य को सराहता है कि उसके यहाँ दिव्य पुरुष—पुण्य का अवसरदाता—आ गया। और फिर अतिथि को भोजन के समय

उत्तम भोजन देता है, अन्य पेय-पदार्थ तथा स्वच्छ छना हुआ ठडा जल पिलाता है। साथ ही अतिथि के निवास का प्रबन्ध करता है, अतिथि को सोने के लिए चारपाई, या पलग देता है, ओढने-बिछाने के लिए वस्त्र देता है। इस प्रकार 'अतिथि सत्कार करने या अतिथि को आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने मे नौ ही प्रकार के पुण्य प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्वोक्त नवविध पुण्यो के साथ अतिथि-सत्कार का वर्णन पढकर पाठक अवश्य ही इस नतीजे पर पहुँच सकेंगे कि अतिथि-सत्कार से नवविध पुण्योपार्जन अनायास ही किया जा सकता है।

भारतीय सस्कृति मे अतिथि-सत्कार के लिए प्राथमिक रूप मे चार बातें आवश्यक मानी जाती थी—

१ खडे होकर स्वागत करना।

२ बैठने के लिए आसन देना।

३ कुशल प्रश्न पूछकर भोजन आदि की मनुहार करना

४ जाते समय आदरपूर्वक विदा करना।

मनुस्मृति मे सद्‌गृहस्थ के लिए अतिथि सम्मान आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। और सद्‌गृहस्थ को उसके लिए प्रेरणा दी गई है—

तृणानि भूमिरुदक वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥३/१०१॥

—अर्थात् अतिथि के लिए तृणासन (चटाई), ठहरने की जगह, पैर धोने के लिए या पीने के लिए पानी, और मधुर एवं सत्य (हितकर) वाणी, इन चार वस्तुओ की कमी तो सद्‌गृहस्थो के यहाँ कभी नही होती।

प्राचीनकाल मे कुछ सद्‌गृहस्थ तो इस प्रकार का नियम ले लेते थे कि अतिथि को खिलाए बिना मैं कुछ नही खाऊँगा। अथवा अतिथि जिस दिन हमारे घर मे भोजन नही करेगा, उस दिन हम भूखे रहेगे।' इस नियम की कभी-कभी तो बडी कसौटी हुआ करती थी। कभी-कभी तो सद्‌गृहस्थ को कई दिनो तक इधर-उधर ढूँढने पर भी अतिथि नही मिलता था। अत उसे भूखे रहना पडता था। कई-कई बार तो अतिथि की विचित्र माँग होती, उसे भी सद्‌गृहस्थ पूरी करता था।

गुजरात मे सगालशा नामक एक प्रसिद्ध धनिक वैश्य हो गया है, जिसका यह नियम था कि 'जब तक अतिथि को नही खिला दूंगा, तब तक स्वय भोजन नही करूंगा' जिस दिन कोई अतिथि नही मिलता, उस दिन वह स्वय भूखा रहता था। आजकल की तरह उस समय भिखमगो या भिखारियो की बाढ नही थी, और न इतने भगेडी, गजेडी, निठल्ले, या पेशेवर याचको की पलटन थी। बडी मुश्किल से ढूंढने पर कोई ऐसा व्यक्ति मिलता था, जो आतिथ्य स्वीकार करने के लिए तैयार होता था।

एक बार कई दिनो तक सगालशा सेठ को कोई अतिथि नही मिला। फलत वे अपने नियम के अनुसार भूखे रहे। कई दिनो बाद उन्हे एक तपस्वी मिले। उनसे सगालशा सेठ ने प्रार्थना की—'तपस्विन् ! कृपा करके आज मेरे घर पधारिए और कुछ आतिथ्य स्वीकार कर मुझे भी कुछ लाभ दीजिए।'

तपस्वी ने कहा—'भाई ! मैं तो बीमार साधु हूँ। अत तुम्हारे यहाँ मैं कैसे भोजन कर सकूंगा ?' इस पर सगालशा सेठ ने आग्रहपूर्वक प्रार्थना करते हुए कहा—'भगवन् ! आप जो कहेगे, वैसा भोजन आपके लिए प्रस्तुत कर दूंगा। अत आज तो आपको मेरा घर पावन करना ही होगा, आप केवल अपने चरण ही मेरे घर मे डाल दें। सेठ की अत्यन्त भक्ति देखकर तपस्वी सन्त उसके यहाँ चलने को तैयार हो गए। दोनो ही व्यक्ति चलकर घर आए। तपस्वी सत ने सेठ की परीक्षा लेने के लिए कहा—'सेठ जी ! अगर आप अपने लडके को मार-पीट कर मुझे देंगे तो मैं वह भोजन ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही।' सेठ सगालशा अपने लडके को पीटने के लिए तैयार हो गए। तपस्वी सत शीघ्र समझ गए कि सेठ की भक्ति मे दिखावा नही है। अत उन्होंने सेठ जी को ऐसा करने से रोका और उनके यहा का भोजन स्वीकार किया।

वास्तव मे उत्तम अतिथि सत्कार मे किसी प्रकार का वर्ण, जाति, रग, देश, प्रान्त, धर्म, आदि का भेद नही किया जाता। वहाँ तो यही देखा जाता है कि अतिथि चाहे कोई भी हो, वह बडा है, देवमय है, पूज्य है। देखिए, भारतीय मनीषियो ने अतिथि-सेवा पर कितना गहनतम एव उदार चिन्तन है—

—"अपने घर पर आया हुआ व्यक्ति चाहे बालक हो चाहे युवक हो अथवा वृद्ध हो, उन सबकी पूजा (सत्कार-सेवा) करनी चाहिए, क्योकि अतिथि सबसे बडा माना जाता है।

—उत्तम वर्ण के या नीच कुल के भी घर पर आए हुए व्यक्ति की यथायोग्य पूजा (सेवा-सत्कार) करनी चाहिए, क्योकि अतिथि सर्वदेवमय होता है।

—"कोई भूख और प्यास से पीडित हो, या किसी के द्वारा सताया हुआ हो, वह अपने घर आ जाय, तो उसे अतिथि समझना चाहिए और मनीषी पुरुष को उसकी सेवा, या पूजा विशेष रूप से करनी चाहिए।

जिसके कुल या नाम का पता नहीं है, दूसरी जगह से आया है, एक (अपने) गाँव का निवासी नही है, ऐसे अतिथि की भी भलीभाति पूजा (सेवा-सत्कार) करनी चाहिए।

—"न तो अतिथि के जन्म (जाति) के सम्बन्ध मे पूछना चाहिए और न ही उसके गोत्र या आचार के सम्बन्ध मे और न ही उसके गुणो या समृद्धि के विषय मे प्रश्न करना चाहिए, क्योकि अतिथि धर्म तो सर्वधर्ममय (समस्त धर्मों मे घुला-मिला) होता है।

—"दूर से आए हुए, मार्ग मे थके हुए या किसी व्यथा से त्रस्त व्यक्ति को अपने घर पर आये देखकर जो उसकी सेवा (पूजा या सत्कार) किये बिना ही स्वय भोजन कर लेता है, वह चाण्डाल कहलाता है।

—"शत्रु भी अपने घर पर आ जाय तो उसका भी उचित आतिथ्य करना चाहिए। वृक्ष भी अपने को काटने वाले पर से अपनी छाया समेट (हटा) नही लेता।

—देवयोग से यदि अतिथि के रूप मे देव का घर मे निवास या प्रवेश हो तो उसे खिलाये-पिलाये बिना अकेले अमृतपान करना भी शोभा नही देता।[1]

अतिथि सेवा के इस उदार चिन्तन के प्रमाण के रूप मे निम्नोक्त घटना पढ़िए—

भूदेव महामहोपाध्याय अपने घर से घूमने के लिए निकले। रास्ते मे एक मौलवी साहब से बातचीत करते हुए वे घर तक आ गए। मौलवी साहब को प्यास लगी थी। उन्होने भूदेव महामहोपाध्याय से पानी मांगा। एक गिलास मे स्वच्छ ठडा पानी भर कर उन्हे पीने के लिए दिया गया। पानी पीने के बाद झूठा गिलास मौलवी साहब पास मे खडे हुए बालक को देने लगे। बालक ने सोचा—'मुसलमान फकीर का झूठा गिलास मैं कैसे लूं?' तब महामहोपाध्याय जी ने आंख के इशारे से उसे झूठा गिलास ले लेने को कहा। बालक ने गिलास ले लिया। मौलवी साहब के चले जाने के बाद महामहोपाध्यायजी ने बालक को समझाया—हिन्दूधर्म के नाते

---

१ बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागत।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याभ्यागतो गुरु॥
उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागत।
पूजनीयो यथायोग्य सर्वदेवमयोऽतिथि॥
आर्त्तस्तृष्णाक्षुधाभ्या यो वित्रस्तो वा स्वमन्दिरम्।
आगत सोऽतिथि पूज्यो विशेषेण मनीषिणा॥
अज्ञातकुलनामानमन्यत समुपागतम्।
पूजयेदतिथि सम्यग् नैकग्रामनिवासिनम्॥
न प्रश्नो जन्मन कार्यो, न गोत्राचारयोरपि।
नाऽपि गुणसमृद्धीना सर्वधर्ममयोऽतिथि॥
दूरागत पथिश्रान्तव्यथागृहआगतम्।
अनर्चयित्वा यो भुक्ते, स वै चाण्डाल उच्यते॥
अरावप्युचित कार्यमातिथ्य गृहमागते।
छेत्तु पार्श्वगता छाया नोपसहरते द्रुम॥
यदि दैवाद् गृहे वासो देवस्यातिथिरूपिण।
पीयूपस्याऽपि पान हि, त विना नैव शोभते॥ —(कुरल ९।२)

इस प्रकार झूठा गिलास लेने मे तुम्हे दु ख अवश्य हुआ होगा। किन्तु याद रखना चाहिए कि अपने घर पर कोई अतिथि आ जाए तो उसका सत्कार करने मे जाति व धर्म का विचार नही करना चाहिए। अतिथि को साक्षात् ब्रह्मा या विष्णु समझ कर सत्कार करना चाहिए। अतिथि सत्कार मे यदि तनिक भी कमी पडे तो समझना चाहिए हिन्दूधर्म का वास्तविक रूप मे पालन नही हुआ है। यदि हम इस प्रकार अतिथि सत्कार न करें तो सद्‌गृहस्थ ब्राह्मण की श्रेणी मे भी नही आ सकते। तुमने मुसलमान को झूठे गिलास का स्पर्श किया, इससे तुम्हे कोई दोष नही लगा। हाँ, यदि तुम मौलवी साहब का उचित सत्कार नही करते तो बहुत बडी मात्रा मे कर्तव्य-हीन की श्रेणी मे गिने जाते और पाप के भागी होते।'

यह है 'अतिथि देवो भव' का उदात्त एव प्रत्यक्ष उदाहरण। वैसे देखा जाय तो अतिथि धर्म मे बहुत-से धर्म, कर्तव्य या दायित्व आ जाते हैं। भारत मे बहुत से फाहियान ह्वेनसाग जैसे विदेशी यात्री आए और उन्होने भारत की यात्रा का वर्णन अपने-अपने ढग से लिखा। उसमे भारत की एक विशेषता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा कि भारत के लोग अतिथि सत्कार मे सब देशो से आगे हैं। यहाँ घरो मे पानी माँग ने पर दूध हाजिर किया जाता है, और दूध न लें तो शर्बत या गुड तो गरीब से गरीब घर मे अतिथि को दिया जाता है।' भारत के लोग कैसी भी कठिन परिस्थिति मे होने पर भी अतिथि को खाली हाथ नही लौटने देते थे।

जिन दिनो महाराणा प्रताप अपने परिवार सहित चित्तौड को छोडकर अरावलीपर्वतो मे निवास कर रहे थे। अकबर की शक्तिशाली सेना उनके पीछे पडी हुई थी। जगल मे रहने का उनका कोई एक निश्चित स्थान नही था, कभी कही और कभी कही रात बिताते थे। उस वन मे खाने के लिए न कोई फल या कन्द मिलते थे। सिर्फ घास के बीज पत्थर पर बाटकर उसकी रोटी बनाकर खाते थे। कई दिनो से निराहार रहने के कारण राणा और रानी जी का शरीर सूख गया था। दोनो बच्चो को आधी-आधी रोटी दी गई। राजकुमार अबोध था, उसने अपनी आधी रोटी उसी समय खा ली। लेकिन राजकुमारी कुछ सयानी व समझदार थी, उसने अपनी आधी रोटी न खाकर एक पत्थर के नीचे दबाकर अपने भाई के लिए सुरक्षित रख दी। उन्ही दिनो वन मे राणा के पास एक अतिथि आ गये। उन्हे पत्ते बिछाकर एक शिला पर सोने-बैठने का आसन दिया। पैर धोने को पानी दिया। फिर वे इधर-उधर देखने लगे। मेवाडाधिपति के पास आज अतिथि को देने के लिए दो दाने भी न थे। लेकिन राजकुमारी ने पिता का आशय समझ लिया। वह अपने हिस्से का रोटी का टुकडा एक पत्ते पर रखकर लाई और अतिथि के सामने रखकर बोली— 'हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य आज और कुछ नही है, आप इसे ही स्वीकार करें। अतिथि ने वह आधी रोटी खाई, जल पिया और विदा हो गए। मेवाडाधिपति की आँखो मे आँसू आ गये कि मैं एक अतिथि को भी नही खिला सका, और बच्चों का पिता होकर इन्हें भी भरपेट न दे सका, खेद है।'

महाराष्ट्र मे यशवन्त नामक एक गृहस्थ अतिथि-धर्म का पालक हो गया है। वह अपने यहाँ आए हुए अतिथि को हर्गिज जाने नही देता था। एक बार उसके यहाँ एक विद्वान् आया। यशवन्त उसकी बहुत खातिर-तवज्जह करने लगा। आतिथ्य मे उसने कोई कोरकसर न रखी। अतिथि ने यशवत से कहा—मैं तुम्हारे यहाँ चार दिन तक रहना चाहता हूँ। परन्तु मैं इसी शर्त पर रह सकता हूँ कि तुम मुझे अपने घर के आदमी की तरह रखो। अन्यथा, मैं धर्मशाला मे रह जाता हूँ।' यशवत ने अपने स्वभाव के अनुसार आगन्तुक की बात मान ली, उसे अन्यत्र हर्गिज नही जाने दिया। वह अतिथि अब घर के लोगो से घुल-मिल गया। घर मे जो भी काम उसे सूझता, वह करता रहता। तथा यशवत से भी पूछता—'बोलिए क्या लाऊँ आपके लिए ?' तीन दिन यशवत के यहाँ रहकर जब वह चौथे दिन जाने लगा तो यशवत ने पूछा—'बोलो, आपकी भावना के अनुसार काम हो गया न ! मुझ से कोई गलती हुई हो तो माफ करना।' अतिथि ने कहा—'मैं तो अपने घर की तरह ही तुम्हारे यहाँ रहा हूँ। गलती क्या हो सकती है, तुम से ?' यह है, अतिथि-पूजा का रहस्य ! अतिथि के लिए गृहस्थ सर्वस्व न्योछावर कर देता है, यहाँ तक कि सकटग्रस्त होने पर भी अतिथि सेवा करना नही छोडता।

एक बात और है, जो अतिथि सत्कार के साथ विचारणीय है, वह यह है कि अतिथि सेवा या अतिथि सत्कार से नौ प्रकार के पुण्य का लाभ सर्वांशत तभी मिल सकता है, जबकि पूर्ण विधिपूर्वक अतिथि का सत्कार किया जाए, जिसमे उक्त नौ भेद पुण्य के (पूर्वोक्त रीति से) आ जाएँ। अर्थात् अतिथि के आगमन, भोजन और विदाई के समय पूर्ण शिष्टाचार और निश्छल उदार व्यवहार रखना चाहिए। इन तीनो प्रसगो के सम्बन्ध मे पचतन्त्र, मनुस्मृति एव चन्दचरित्र मे भली-भाँति निर्देश किया गया है। वे श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं—

> एह्य गच्छ समाश्रयासनमिद, कस्माच्चिराद् दृश्यसे।
> का वार्ता तनुदुर्बलोऽसि कुशल प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
> एव नीचजनेऽपि युज्यते गृह प्राप्ते सतां सर्वदा।
> धर्मोऽय गृहमेधिनां निगदित स्मार्तैर्लघुस्वर्गद।
>
> —पचतन्त्र १।२।७६

—'आओ, पधारो, इस आसन पर बैठो, इस बार तो बहुत दिनो मे दर्शन दिये। क्या हालचाल हैं ? कमजोर कैसे दिखाई दे रहे हैं ? स्त्री-बच्चो सहित कुशल तो हैं न ? आपके दर्शन पाकर बडी प्रसन्नता हुई। इस प्रकार साधारण (नीचा) व्यक्ति भी सज्जनो के घर मे पहुँच जाय तो उसका सदा मधुर वाणी से स्वागत-सत्कार करना उचित है। मनु आदि स्मृतिकारो ने इसे गृहस्थ धर्म कहा है, तथा शीघ्र स्वर्ग-दायक भी बताया है।

अतिथि सेवा करने से नौ प्रकार का पुण्य कैसे उपार्जित हो जाता है, और

उस पुण्य सचय के फलस्वरूप वह शीघ्र स्वर्ग मे या मनुष्यगति मे भी उत्तम कुल में कैसे जन्म ले लेता है, इसके लिए उदाहरण देखिए—

प्रतिष्ठानपुर का राजा सातवाहन एक बार आखेट के लिए वन मे गया। उसके सैनिक उससे बहुत आगे निकल गये, राजा रास्ता भूल जाने से बहुत पीछे रह गया। राजा को वन मे भटकते-भटकते भील की एक झोंपडी मिली। भील ने राजा को नही पहिचाना। उसने अतिथि समझकर राजा का बहुत स्वागत किया। स्वच्छ जल तथा सत्तू जो कुछ अपने पास था, भील ने सारा का सारा राजा को दे दिया। राजा अत्यन्त भूखा था, इसलिए सत्तू खाकर तृप्त हुआ। झोंपडी बहुत ही छोटी थी, और जाडे के दिन थे। जगल मे कडाके की ठड पडती थी। भील ने राजा को झोंपडी मे सुलाया, और स्वय बाहर सर्दी मे ठिठुरता रहा। भील ने अत्यन्त ठड लग जाने के कारण वही दम तोड दिया। प्रात काल सैनिक राजा को ढूंढते-ढूंढते भील की झोंपडी पर पहुँचे। राजा ने अपने उपकारी भील को मृत देखकर उसकी ससम्मान अन्त्येष्टि क्रिया की। भील की पत्नी का पता लगाकर उसे भी जीवन-निर्वाह के लिए बहुत धन दिया। यह सब करके राजा सातवाहन नगर को लौटे, लेकिन मन मे पश्चाताप चल रहा था कि मेरे कारण बेचारे भील की मृत्यु हो गई। राजा को चिन्तातुर देखकर महापडित ज्योतिर्विद वररुचि उसे लेकर नगर सेठ के यहाँ पहुँचे। नगर सेठ का नवजात पुत्र जब राजा के सामने लाया गया तो पण्डितजी के आदेश पर बोल उठा—"मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपको सत्तू देने तथा आतिथ्य करने के कारण ही मैं मरकर यहाँ नगर सेठ का पुत्र बना हूँ। और उसी पुण्य प्रभाव से मुझे पूर्वजन्म का स्मरण (ज्ञान) हुआ है।"[1]

अतिथि के आगमन के समय किस प्रकार आतिथ्य करना चाहिए, यह स्पष्ट है। बल्कि अतिथि के आगमन पर जो स्वागत नही करता, उसके सम्बन्ध मे भी स्मृतिकार कहते हैं—

—"जिस घर मे अतिथि के आने पर कोई उठकर स्वागत नही करता न बातचीत ही करता है, न मीठे वचन बोलता है, गुण-दोष की चर्चा न हो, उस घर मे जाना भी नही चाहिए।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति मे तो निर्धन या साधारण गृहस्थ के लिए भी अतिथि-सत्कार का अनिवार्य विधान बताया है—

'अतिथित्वेन वर्णानां देय शक्त्याऽनुपूर्वश ।'

—चारो वर्णों के लोगो को अतिथि रूप मे पाकर क्रमश यथाशक्ति देना चाहिए।

---

१ ऐसी ही घटना राजा विक्रमादित्य के पूर्व भव के विषय मे प्रसिद्ध है।

२ नाम्युत्थानक्रिया यत्र, नालापो मधुराक्षर ।
गुणदोष-कथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥

इसी प्रकार अतिथि को स्वय भोजन करने से पहले खिलाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे मनुस्मृति (३।११५) मे स्पष्ट कहा है—

—'जो अज्ञानी अतिथियो को न खिलाकर पहले स्वय खा लेता है, वह यह नही जानता कि मरने के बाद उसके शरीर को कुत्ते और गीध नोच-नोच कर खायेंगे।'[1]

अतिथि के साथ विदाई के समय कैसा व्यवहार करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे चन्द्रचरित्र (पृ० ८०) मे कहा है—

गन्तव्य यदि नाम निश्चितमहो! गन्तासि केय त्वरा ?
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान् पश्यामि यावन्मुखम्।
ससारे घटिकाप्रवाहविगलद्धारासमे जीविते।
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद् वा न वा सगम ॥

—"यदि आपको निश्चित रूप से जाना ही है तो चले जाना। इतनी क्या उतावल है ? थोडी देर ठहर जाइए। आपके मुखारविन्द के दर्शन तो कर लूं। रेंहट की घडिया के प्रवाह से गिरती हुई जलधारा के समान चचल जीवन वाले इस ससार मे न जाने आपका पुन समागम होगा या नही ?"

किन्तु एक बात निश्चित है कि अतिथि को स्वय अपना अतिथित्व सिद्ध करना चाहिए। अतिथि के नाम पर लुच्चा, लफगा, चोर या उचक्का घुस आए और आतिथ्य के लिए मेजवान पर जबर्दस्ती करे, उससे गृहस्थ की श्रद्धा भी खत्म हो जाती है और वह प्रत्येक भले आगन्तुक सज्जन के बारे मे सशक हो जाता है। इसलिए सामान्य अतिथि का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

—'सोने, चाँदी, धन और धान्य के बारे मे जिसे लोभ नही है, उसे सर्व-सामान्य अतिथि समझो।'[2]

कई बार धन या सोने-चाँदी के लोभी लोग अतिथि बनकर आ धमकते हैं और गृहस्वामी से कई तरह फरमाइश करते हैं, परन्तु अतिथि का सत्कार प्रत्येक गृहस्थ को वर्तमान युग मे उचित रूप मे ही करना चाहिए। उसकी अनुचित मागो की पूर्ति करना, अथवा अपने सिद्धान्त या नियम को भग करके अतिथि की लालसा को पूर्ण करना अतिथि सत्कार की मर्यादा नही है। इस सम्बन्ध मे एक सच्ची घटना पढिए—

मगलदास पकवासा (भू पू राज्यपाल म प्र एव बम्बई) ने बताया—'जब

---

१ अदत्त्वा तु य एतेभ्य पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षण ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मन ॥

२ हिरण्ये सुवर्णे वा, धने धान्ये तथैव च।
अतिथि त विजानीहि, यस्य लोभो न विद्यते ॥

मैं मध्यप्रदेश का गवर्नर था, तब लार्ड माउटबेटन मेरे यहाँ अतिथि हुए। इससे पूर्व उनके सेक्रेटरी का पत्र आया था, जिसमे उनकी अनुकूल व्यवस्थाओ का दिग्दर्शन था। ब्राडी की व्यवस्था के लिए विशेष रूप से सकेत था। मेरे लिए यह एक समस्या थी कि लिखे जाने पर भी घर आने वाले मान्य अतिथि की मैं व्यवस्था न करूँ ? यह कैसा लगेगा उसे ?' आखिर मैंने महात्मा गाँधीजी से इस सम्बन्ध मे मार्गदर्शन माँगा। उन्होने स्पष्ट लिखा—'जिस वस्तु को तुम बुरा समझते हो, वह वस्तु अपने मान्य अतिथि को कैसे दोगे ?' मैंने सेक्रेटरी को उत्तर लिखा दिया—'आपके लिखे अनुसार और सब व्यवस्थाएँ हो जाएँगी, लेकिन खेद है कि मैं ब्राडी की व्यवस्था नही कर सकूँगा, क्योकि मैं इसे बुरी चीज मानता हूँ, वह मैं अपने सम्मान्य अतिथि को दूँ, यह मुझे उचित नही लगता।' मेरे यहाँ लार्ड माउटबेटन तीन दिन ठहरे और मेरी सिद्धात-प्रियता के लिए मुझे धन्यवाद दिया।

इसीलिए अतिथि के विषय मे जो पूर्वोक्त लक्षण दिया गया है, उसकी कसौटी पर उसे कस लेना अच्छा है। भावुकता मे बहकर सिद्धान्त और नैतिकता को ताक में रख देना अतिथि-सत्कार नहीं है। जैसे विदेशो मे ऐसी प्रथा है कि अतिथि के साथ गृहस्थ के घर की गृहणियाँ ताश खेलती हैं, अग-कुचेष्टा करती हैं, विकारवर्द्धक हँसी-मजाक भी करती हैं। पर भारतीय सस्कृति मे अतिथि के लिए यह स्पष्ट बताया है—

—'जो स्नान-शृ गार (छैलछबीला बनने हेतु) न करता हो, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा न कराता हो, आभूषणो से सजधज न आया हो, मद्य-मास से निवृत्त हो, ऐसा गुणवान् को ही वास्तविक अतिथि समझना चाहिए।'[1]

जो स्वय छैल छबीला हो, मौज-शौक के लिए किसी के घर जब-तब आ धमकता हो, शराब-मास का सेवन करता हो, या बनठन कर गृहस्वामी के घर की स्त्रियो को अपने मोहजाल मे फँसाने हेतु आता हो, आकर्षित करने हेतु गहने और शृ गार करके चला आता हो, ऐसे सम्पन्न या उद्धत व्यक्ति को अतिथि समझना भूल है और उसे देने से भी कोई पुण्य नही प्राप्त होता। अतिथियो को देने से पुण्य की बात फैलाने से मध्ययुग मे अतिथियो की बहुत-सी कतारें प्रत्येक घर के आगे लग जाती। इसीलिए अतिथि का स्पष्टार्थ किया गया।

—'जिस महान् आत्मा ने अपने आने की कोई तिथि या कोई पर्व मुकर्रर नही किया है, तथा गृहस्थ के यहाँ जैसा भी मिल जाय, उसमे न हर्ष है, न शोक है, उसे

---

१ स्नानोपभोगरहित पूजालकारवर्जित.।
मधु-मास-निवृत्तश्च गुणवानतिथिर्भवेत्॥

ही बुद्धिमानो को अतिथि समझना चाहिए, इससे अतिरिक्त जो है, उसे पाहुना कहा जा सकता है।'[1]

इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक[2] मिलता है।

इसीलिए बाद के आचार्यों ने अतिथि शब्द की व्याख्या भी त्यागी या ब्रह्मचारी परक करदी।

—'जिसके आने की कोई प्रतिपदा आदि तिथि निश्चित नही है, वह अतिथि है। अथवा जो सयम को विनष्ट होने से बचाकर जो महान् आत्मा दूसरो के यहाँ भिक्षा या आहार के लिए अटन करता है, जाता है या घूमता है, वह अतिथि है।[3]

—'अथवा सयम के लाभ के लिए जो घूमता है अथवा उत्कटचर्या करता है, वह अतिथि है।'[4]

—जो तप और शील से युक्त हो, ब्रह्मचारी हो अपने गृहीत व्रतो पर दृढ हो, निर्लोभी हो, एव ससार के प्रपचो को छोड चुका हो, ऐसा ही महानुभाव अतिथि है।[5]

इसीलिए अतिथि संविभागव्रत मे अतिथि के रूप मे उसी महानुभाव को लिया गया है, जो साधु हो, गृहत्यागी मुनि हो। हालाकि उसमे भी तीन प्रकार के पात्र अतिथि के लिए सविभाग मे करुणापात्र, पात्र और सुपात्र सबके लिए बता दिया है। अत इसकी विशेष चर्चा आगे पात्र-सुपात्र के विषय मे दान के वर्णन के समय करेंगे।

यहाँ तो इन सबका निष्कर्ष यह समझ लेना चाहिए कि गृहागत व्यक्ति अगर पूर्वोक्त लक्षणो के प्रकाश मे देखने पर वास्तव मे अतिथि है, तो उसे आहारादि देने से नौ प्रकार के पुण्यो का उपार्जन सम्भव है। इसके विपरीत अतिथि की ओट मे किसी लोभी, चोर, उचक्के या लफगे को अथवा किसी सम्पन्न को बार-बार घर मे आने पर अतिथि समझकर अज्ञानपूर्वक अथवा अविवेकपूर्वक अपनी कुल-मर्यादा, धर्ममर्यादा या नियम, व्रत आदि तोडकर दान देने से नवविध पुण्य नही हो सकता, वल्कि गलत आदमी को भावुकता मे आकर देने से पश्चात्ताप ही पल्ले पडता है, चित्त प्रफुल्लित नही होता। अत अतिथि सत्कार मे भी विवेक की आवश्यकता है। ☆

---

१ तिथि-पर्वोत्सवा सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथि त विजानीयाच्छेषमभ्यागत विदु ॥"

२ तिथिपर्व-हर्षशोकास्त्यक्ता येन महात्मना।
धीमद्भि सोऽतिथिर्ज्ञेय, पर प्राघूर्णिको मत ॥

३ नास्य तिथिरस्तीत्यतिथि अनियतकालागमन इत्यर्थ ।
सयममविनाशयन् अततीत्यतिथि ।
—सर्वार्थसिद्धि ७।२१।३६२

४ सयमलाभार्थमतति गच्छति उद्दण्डचर्यां करोतीत्यतिथिर्यति ।
—चारित्तपाहुड टीका २५।४५

५ तप शीलसमायुक्तो ब्रह्मचारी दृढव्रती।
निर्लोभस्त्यक्तससारी ह्यतिथिरीदृशो भवेत् ॥

19
दान और पुण्य : एक चर्चा

भारतीय सस्कृति के सभी चिन्तको ने पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे विस्तार से चिन्तन किया है। मीमासक दर्शन ने पुण्य-साधन पर अत्यधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि पुण्य से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। उन स्वर्गीय सुखो का उपभोग करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, पर जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मों से मुक्ति पाना।[1] यह देहातीत या ससारातीत अवस्था है। जब तक प्राणी ससार मे रहता है, देह धारण किये हुए है तब तक उसे ससार व्यवहार चलाना पडता है और उसके लिए पुण्य कर्म का सहारा लेना पडता है। पाप कर्म से प्राणी दुखी होता है, पुण्य कर्म से सुखी। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयुष्य, धन-वैभव, परिवार, यश-प्रतिष्ठा—आदि की कामना प्राणी मात्र की है। सुख की कामना करने से सुख नही मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के कार्य-सत्कर्म (धर्माचरण) करने से ही सुख मिलता है। उस सत्कर्म को ही शुभयोग कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

योग शुद्ध पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यास[2]

—शुद्ध योग पुण्य का आस्रव(आगमन)करता है, और अशुद्ध योग पाप का।

शुभयोग, शुभभाव अथवा शुभपरिणाम तथा सत्कर्म-प्राय एक ही अर्थ रखते हैं। केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

मतलब यह हुआ कि सुख चाहने वाले को शुभयोग का आश्रय लेना होगा। शुभयोग से ही पुण्यबध होता है। एक बार कालोदायी श्रमण ने भगवान महावीर से पूछा—कि 'जीवो को सुख रूप शुभफल (पुण्य) की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर मे भगवान महावीर ने बताया—

कालोदाई ! जीवाण कल्लाणाकम्मा कल्लाणफलविवाग संजुत्ता कज्जति।[3]

---

१ कृत्स्नकर्म वियोग लक्षणो मोक्ष ।—तत्त्वार्थ १/४ (सर्वार्थसिद्धि)
२ उमास्वातीय नवतत्त्व प्रकरण (आस्तवतत्त्व प्रकरण),
३ भगवती सूत्र ७।१०

—कालोदायी ! जीवो द्वारा किये गये शुभ कर्म ही उनके लिए शुभ फल देने वाले होते हैं।

वास्तव मे धर्म क्रिया द्वारा, शुभप्रवृत्ति द्वारा दो कार्य निष्पन्न होते हैं— अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभकर्म का बंध। अर्थात् पाप का क्षय और पुण्य का बध। पाप-क्षय से आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य बध से जीव को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य की परिभाषा ही यही है—

सुहहेउ कम्मपगइ पुन्न[1]

—सुख की हेतुभूत कर्म प्रकृति पुण्य है।

पुण्य के सम्बन्ध मे पहली एक सर्वसम्मत मान्यता तो यह है कि पुण्य भी बध है, कर्म सग्रह है और मोक्षकामी जीव के लिए वह बधन रूप होने से त्याज्य ही है। पाप लोहे की बेडी है और पुण्य सोने की बेडी है। बेडी टूटने से ही मुक्ति होगी चाहे सोने की हो या लोहे की। किन्तु यह भी सभी आचार्यों ने माना है कि पहले लोहे की बेडी तोडने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् पाप नाश के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए। पुण्य क्षय के लिए कोई भी समझदार व्यक्ति प्रयत्न नही करता और न यह उचित ही है। क्योकि पुण्य का भोग ही पुण्य का स्वत क्षय करता है अत मुक्ति-कामी को भी पुण्य के विषय मे अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नही। अपितु पुण्य बध के हेतु भूत—शुभ कर्मो का आचरण करना चाहिए।

दूसरी एक मान्यता है जिसमे दो मत है। एक परम्परा है—जो शुभकर्म, धर्माचरण दान, सेवा, दया, उपकार आदि कार्य से धर्म भी मानती है और पुण्य भी। जैसे व्रती, सयती आदि को दान देना, उनकी सेवा करना धर्म है, इससे सवर तथा निर्जरा रूप धर्म की वृद्धि होती है। अशुभ कर्म का निरोध होना सवर है, बधे हुए अशुभ कर्मों का क्षय होना निर्जरा है—और नये शुभ कर्म का बधना पुण्य है। तो सयती आदि को दान आदि देने से संवर-निर्जरा रूप धर्म भी होता है और शुभकर्म बध रूप पुण्य भी होता है। किन्तु जो पूर्णव्रती नही है सयतासयति या असयति है फिर भी दान या सेवा के पात्र हैं, तो उनको दान देने से, उन पर अनुकम्पा करने से, उनकी सेवा करने से भले ही सवर रूप धर्म न हो, किन्तु पुण्य का बध अवश्य होता है। उस सेवा-दान-अनुकम्पा आदि के फलस्वरूप जीव को पुण्य की प्राप्ति होती है। जैसा कि आचार्य उमास्वाति ने बताया है—

—"भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग-सयम शाति और शौच—ये छह साता वेदनीय कर्म (सुख) के हेतु हैं।[2]

---

१ श्री देवेन्द्रसूरि कृत नवतत्त्व प्रकरण, गा० २८

२ तत्त्वार्थसूत्र ६।१२

दूसरी मान्यता के अनुसार जिस प्रवृत्ति मे धर्म नही उसमे पुण्य भी नहीं।[1] व्रती, सयमी को दान देना, उनकी सेवा करना इसी मे धर्म है और इसी मे पुण्य है। अव्रती तथा व्रताव्रती की सेवा तथा दान मे धर्म भी नही और पुण्य भी नही।

यह मान्यता सिर्फ एक सम्प्रदाय की है, जैन जगत के प्राय मूर्धन्य विचारको और विद्वानो ने इस धारणा का डटकर खण्डन किया है। क्योंकि इससे दान सेवा आदि का क्षेत्र बहुत ही सकुचित हो जाता है, सिर्फ साधु को दान देना ही उनकी दृष्टि मे धर्म है, पुण्य है, बाकी सब पाप है। पाप शब्द की जगह भले ही वे 'लोक व्यवहार' अथवा 'सामाजिक कर्तव्य' आदि मधुर शब्दो का प्रयोग करते हो, किन्तु इनसे उनका आशय तो 'पाप' ही है। उनसे पूछा जाय कि पाप-पुण्य के अलावा तीसरा कोई तत्त्व है क्या ? जिस कार्य मे आप पुण्य नही मानते उससे विपरीत उसे 'पाप' कहने मे क्यो हिचकते हैं ? अगर वास्तव मे ही सयती के अतिरिक्त किसी को देना पाप है तो उसे स्पष्ट रूप से, निर्भीक होकर मानना और कहना चाहिए अन्यथा मान्यता मे परिष्कार करना चाहिए। वह सिद्धान्त क्या काम का, जिसे स्पष्ट कहने मे भी डर लगे, जीभ अटके और जी कतराये ? फिर आगम की कसौटी पर भी तो वह कहाँ खरा उतरेगा ?

आगमो मे बताया है—तीर्थंकरदेव दीक्षा लेने से पहले वर्षीदान देते हैं ?[2] यह दान कौन लेते हैं ? क्या त्यागी श्रमण, सयती यह दान लेने जाते हैं ? नही। यह दान लेने जाते हैं—कृपण, दीन, भिक्षुक, अनाथ आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हे स्वर्ण-मणि आदि की आवश्यकता या कामना है ? और वे तो स्पष्ट ही अव्रती या व्रताव्रती (श्रावक) की कोटि मे ही आयेंगे। तो क्या उन लोगो को दान देने मे तीर्थंकर देव को सवर रूप धर्म होता है ? नही, किन्तु हमारे पडौसी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार अगर उसमे धर्म नही है तो एकान्त पाप ही है ? जबकि अन्य समस्त जैनाचार्यों ने इस दान को पुण्य हेतुक माना है। और वास्तव मे ही वह पुण्य है। अगर पुण्य नही होता तो तीर्थंकर देव—भगवान महावीर आदि दीक्षा लेने के पूर्व इतना बडा पाप कृत्य क्यो करते ? इधर तो करोडो अरबो-खरबो स्वर्णमुद्राओ का दान और इधर पाप का बधन। क्या समझदारी है ? अत इस एक उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कार्य मे धर्म नही हो, उसमे भी पुण्य हो सकता है। बहुत से कृत्य धर्मवर्द्धक नही है, किन्तु पुण्यकारक है, जैसे तीर्थंकरो का वर्षीदान।

रायप्रसेणी सूत्र मे राजा प्रदेशी का जीवनवृत्त है। वह जब केशीकुमार श्रमण से श्रावकधर्म अगीकार करता है तब अपने राज्य कोष को चार भागो मे बाँटता है। जिसके एक भाग मे वह अपने राज्य मे दानशालाएँ, भोजनशालाएँ, औषधालय, कुएँ

---

१ आचार्य भिक्षुकृत-नव पदार्थ (पुण्य पदार्थ गा० ५४-५६)

२ आचाराग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध

अनाथाश्रम आदि खुलवाता है जहाँ हजारो अनाथ, रुग्ण, भिक्षुक आदि आकर आश्रय लेते हैं, अपनी क्षुधापिपासा शात करते हैं और औषधि आदि प्राप्त कर स्वास्थ्य लाभ लेते हैं। अगर इन प्रवृत्तियो मे पुण्य नही होता तो केशीकुमार श्रमण अपने श्रावक राजा प्रदेशी को स्पष्ट ही कह देते—यह कार्य पुण्य का नही है, अत करने मे क्या लाभ है ? और फिर श्रावक व्रतधारी चतुर राजा भी यह सब आयोजन क्यो करता ? अत आगम की इस घटना से भी स्पष्ट सूचित होता है कि बहुत से अनुकम्पापूर्ण कार्यों मे धर्म भले ही न हो, किन्तु पुण्यबध तो होता ही है और इसी पुण्य हेतु व्यक्ति शुभ आचरण करता है। ताकि दीन-अनाथ अनुकम्पा पात्र व्यक्तियो को सुख-साता पहुँचे।

पुण्य के नौ भेद

पुण्य की चर्चा मे अधिक गहरे नही जाकर हम अपने विषय क्षेत्र मे ही रहना चाहते हैं। क्योकि दान का प्रकरण चल रहा है और इस प्रकरण मे हमे दान और पुण्य पर कुछ विचार करना है। क्या दान मे एकान्त धर्म ही होता है, या जहाँ धर्म नही, वहाँ पुण्य भी हो सकता है ? यह प्रश्न हमारे सामने है। और इसी सदर्भ मे हमने उक्त विचार प्रकट किये हैं कि आगमो मे उक्त दोनो विचारो का स्पष्ट समर्थन मिलता है।

स्थानाग सूत्र मे पुण्य के नौ स्थान (कारण) बताये हैं—जैसे[1]—

१ अन्न पुण्णे
२ पाण पुण्णे
३ वत्थ पुण्णे
४ लयण पुण्णे
५ सयण पुण्णे
६ मण पुण्णे
७ वयण पुण्णे
८ काय पुण्णे
९ नमोक्कार पुण्णे

यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान (पानी) स्थान, शयन (बिछौना) वस्त्र आदि के दान मे तथा मन, वचन, काया आदि की शुभ (परोपकार प्रधान) प्रवृत्ति मे एव योग्य गुणी को नमस्कार करने से पुण्य प्रकृति का बध होता है। ये पुण्य के कारण हैं, कारण मे कार्य का उपचार कर इन कारणो को पुण्य की सज्ञा दी गई है। अर्थात् अन्नदान से अन्न पुण्य, पान (जल) दान से पान पुण्य इसी प्रकार अमुक कारण मे जो पुण्य होगा उसे वही सज्ञा दी गई है।

इस सदर्भ मे टीकाकार आचार्य अभयदेव ने उक्त आगम पाठ के साथ ही एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है—

अन्न पान च वस्त्र च आलय शयनासनम्।
शुश्रूषा वदन तुष्टि पुण्य नवविध स्मृतम्॥

१ स्थानाग सूत्र ९।३।६७६

इसमे छह कारण तो मूल आगम-वर्णित ही है किन्तु मन-वचन और काया के स्थान पर—आसन पुण्य, शुश्रूषा पुण्य और तुष्टि पुण्य का उल्लेख किया है जो सभवत उस समय की एक मान्यता रही हो।

दिगम्बर विद्वानो ने भी नौ पुण्य माने हैं किन्तु उनके स्वरूप मे काफी अन्तर है। वे इस प्रकार हैं—

१ प्रतिग्रहण, २ उच्चस्थापन, ३ पाद-प्रक्षालन, ४ अर्चन, ५ प्रणाम, ६ मन शुद्धि, ७ वचनशुद्धि, ८ कायशुद्धि और ९ एषणशुद्धि।[1]

वास्तव मे ये नौ पुण्य एक ही क्रिया से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। सागारधर्मामृत के[2] अनुसार दाता दान देते समय मुनिजनो के प्रति बहुमान प्रदर्शित करता है तब ये नौ विधियाँ सम्पन्न करनी चाहिए। इन्ही नौ विधियो को नौ प्रकार का पुण्य माना है।

यहाँ हम स्थानाग सूत्र वर्णित नौ पुण्यो पर ही विचार करेंगे। इन नौ पुण्यो पर विवेचन करते हुए टीकाकार अभयदेवसूरि लिखते हैं—

पात्रायान्नदानाद् यस्तीर्थंकर नामादि पुण्यप्रकृतिबन्ध स्तदन्नपुण्यमेव ······ सर्वत्र ·।[3]

अर्थात् पात्र को दान देने से तीर्थंकर नामकर्म आदि पुण्य प्रकृतियो का बध होता है। अत अन्नदान को अन्न पुण्य कहा है। वैसे ही पानदान को पान पुण्य जानना चाहिए।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पात्र को अन्नदान करने से ही तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बध होता है या अन्य किसी को? तथा क्या सभी जगह पात्रदान से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बध होता है?

यहाँ इन दोनो प्रश्नो पर विचार करना है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, वह प्रत्येक प्रश्न पर अनेकान्तदृष्टि से विचार करता है। पात्र के भी कई भेद हैं। सुपात्र, पात्र, अपात्र, कुपात्र।

सुपात्र को देने से महान फल की प्राप्ति होती है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, स्थविर, मुनि आदि पच महाव्रतधारी सुपात्र हैं।[4] देशविरत गृहस्थ तथा सम्यक् दृष्टि पात्र है। दीन, करुणा पात्र, अगोपाग से

---

१ पडिगहणमुच्चठाण पादोदकमच्चण च पणम च।
मणवयण कायसुद्धि एसण सुद्धी य णवविह पुण्ण॥

२ सागारधर्मामृत ५।४५

३ स्थानाग टीका ९

४ श्रीनवतत्त्व प्रकरण (सुमगला टीका—पृ० ४८)

हीन व्यक्ति भी पात्र है।[१] इनके अतिरिक्त सभी अपात्र हैं। तथा दुर्व्यसनी, हिंसक आदि कुपात्र हैं।

तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बध सुपात्र को देने से ही होता है। किन्तु यह भी कोई नियम नही है। जब त्रिकरण शुद्धि के साथ दाता को उत्कृष्ट भावना आती है, अर्थात् भावधारा अत्यत शुद्ध उच्चतम श्रेणी पर चढती है तभी उस दान के महाफल रूप तीर्थंकर नाम प्रकृति का बध होता है। सामान्य भावस्थिति मे शुभ कर्मों का बध होता है जिसमे शुभ दीर्घ आयुष्य का बध भी होता है[२] तथा शुभ मनुष्य आयु का भी बध होता है।[3]

तो, सुपात्र के सिवाय जब सामान्य पात्र (सम्यक्दृष्टि गृहस्थ या करुणा पात्र दीन व्यक्ति) को अनुकपा, वत्सलता, उपकार आदि कोमल भावना से प्रेरित होकर अन्न आदि का दान किया जाता है, तब वह भले ही सयमवृद्धि कारक न हो, किन्तु पुण्यवृद्धि कारक तो है ही क्योकि हृदय मे जब कोमलता, उदारता, अनुकपा आदि भावो की धारा उमडती है, तो आत्म-प्रदेशो मे निश्चित ही स्पन्दन होता है, शुभ योग की वृद्धि होती है और तब शुभयोग से पुण्य बध भी होता है। अगर सुपात्र (सयमी) के सिवाय अन्न आदि देना पुण्य कारक न होता तो भरत चक्रवर्ती श्रावको के लिए भोजनालय क्यो चलाते और क्यो प्रदेशी राजा राज्य मे दानशालाएँ खुलवाता। आगमो के प्राचीन उदाहरण इस बात को स्पष्ट रूप मे स्वीकार करते हैं कि अनुकपा आदि शुभ भाव के साथ दिया गया अन्नदान, पानदान, वस्त्रदान, अन्न पुण्य, पानपुण्य, वस्त्र पुण्य की कोटि मे आता है।

नवतत्त्व प्रकरण की सुमगला टीका मे विस्तारपूर्वक पात्रापात्र का विवेचन करके बताया है[४]—

—'सुपात्रो को धर्मबुद्धि से दिये गये प्रासुक अशनादि के दान से अशुभ कर्मों की महती निर्जरा तथा महान् पुण्य बध होता है।'

—'देशविरति तथा सम्यक् दृष्टि श्रावको को अन्नादि देने से मुनियो के दान की अपेक्षा अल्प पुण्य बध तथा अल्प निर्जरा होती है।'

—'अगविहीनादि को अनुकम्पा की बुद्धि से दान देने से श्रावको को दान देने की अपेक्षा अल्पतर पुण्यबध होता है।'

—'कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति किसी के घर दान के लिए

---

१ वही, पृष्ठ ४९

२ (क) स्थानाग ३।१।१२५ (ख) भगवती सूत्र ५।६

३ देखिए सुखविपाक, सुबाहु कुमार का प्रकरण।

४ नवतत्त्व प्रकरणम् (सुमगला टीका, पृष्ठ ४९)।

जाता है और उसे यह सोचकर दान देना पड़ता है कि अपने घर आये इस व्यक्ति को यदि कुछ नही देता हूँ तो इससे अपने अर्हत् धर्म की लघुता होगी। ऐसा सोचकर दान देने वाले व्यक्ति को भी अल्पतम पुण्य बध होता है।'

—'करुणा के वशीभूत होकर कुत्ते, कबूतर प्रभृति पशुओ को अभयदान तथा अन्नदान देने से पात्रत्व के अभाव मे भी करुणा के कारण निश्चित रूप पुण्यबध होगा ही।'

सुमगला टीका के उपर्युक्त अवतरण पर विचार करने से यह स्पष्ट घोषित होता है कि सयती के सिवाय अन्य व्यक्तियो को, करुणा, वत्सलता, धर्म-प्रभावना आदि भावना के साथ अन्न आदि का दान करने से निश्चित ही पुण्य बध होता है। हाँ, पुण्य की मात्रा (अल्प या अधिक) तो पात्र की अपेक्षा भाव पर अधिक निर्भर करती है। भावना मे जितनी पवित्रता, कोमलता, करुणा रहेगी पुण्य बध उसी अनुपात मे होगा। किन्तु यह आग्रह करना गलत है कि अन्नपुण्य आदि सिर्फ सुपात्र को देने से ही होता है। पात्र का दायरा बहुत विस्तृत है, उसकी कोई एक कसौटी नही हो सकती। मुख्य बात है देने वाले की सद्भावना और लेने वाला उस दान के लिए योग्य हो।

यहाँ पर हम सामान्य पात्र की दृष्टि से ही अन्नपुण्य आदि नौ पुण्यो पर विचार करेंगे। क्योकि सुपात्र को अन्न आदि देने मे पुण्य है यह तो पहले ही बताया जा चुका है, किन्तु उसके अतिरिक्त भी जो पात्र हो उनको अन्न आदि देने से पुण्य होता है, यही यहाँ पर विवेचनीय है।

अन्नपुण्य—अन्नपुण्य का अर्थ पीछे बताया जा चुका है कि अन्न का दान करना अन्नपुण्य है। त्यागी सयतियो को शुद्ध अन्नदान करना महान् पुण्य है। साथ ही क्षुधापीडित, अभावग्रस्त व्यक्ति को अन्नदान करना भी अन्नपुण्य है। क्योकि क्षुधापीडित को देखकर सर्वप्रथम मन मे अनुकम्पा जाग्रत होती है। मन मे कोमल भावनाएँ उठती हैं। दुखी का दुख दूर करने की सहयोग भावना उमडती है। और दाता जब इस प्रकार की सद्भावधारा मे अवगाहन करता है और पात्र को शुभभावो से अन्नदान देता है तो वहाँ पुण्यबन्ध अवश्य ही होता है। लेने वाले के आधार से भी सद्भावनापूर्वक आशीर्वाद की वर्षा होती है। इसलिए अन्न देने से पुण्य अवश्य होता है।

पानपुण्य—पानपुण्य से मतलब है, प्यासे एव पिपासाकुल व्यक्तियो को पीने के लिए पानी या पेयपदार्थ देने से पुण्य होता है। कई धनिक लोग ऐसे स्थलो पर प्याऊ लगवाते हैं, बावडी या तालाब खुदवाते हैं, जहाँ रेगिस्तान होता है, पानी की कमी होती है, या दूर-दूर तक यात्री को पानी नही मिलता। पानी का दान भी पुण्य का कारण बनता है। क्योकि जलदान के पीछे भी करुणा और सहानुभूति की भावना होती है। बीकानेर एव जोधपुर रियासत मे कई जगह उदार धनी लोगो द्वारा प्याऊ

खोली जाती हैं, और वे गर्मी के दिनो मे प्राय हर साल चलाई जाती हैं। सौराष्ट्र के एक गाँव मे एक उदार सद्गृहस्थ ने छाछ का सदाव्रत खोला। छाछ गाँव का जीवन है। अत इस छाछसत्र की गाँव मे सर्वत्र प्रशसा हुई। सब ओर से उस सद्गृहस्थ को आशीर्वाद मिलने लगा। यह भी पानपुण्य है।

इसी प्रकार साबरमती—रामनगर मे श्री धारशी भाई हीराणी (जैन) ने अपनी पत्नी की स्मृति मे भी छाछ का सत्र खोला। वे स्वय आगन्तुको और जरूरत-मन्दो को अपने हाथो से छाछ दिया करते थे।

इसी प्रकार गर्मी से व्याकुल एव पिपासापीडित व्यक्ति को सान्त्वना देकर पानी पिलाना भी पानपुण्य है।

लयनपुण्य—लयन का अर्थ है—मकान, रहने का स्थान। कोई भूला-भटका, बेघरबार या शर्दी या गर्मी से पीडित व्यक्ति को अगर ठहरने के लिए सद्भावना से मकान या स्थान दिया जाता है, वहाँ लयनपुण्य होता है। कई लोग बडी-बडी धर्म-शालाएँ यात्रियो एव मुसाफिरो के लिए बनवाते हैं, कई जगह दूरस्थ प्रान्त या राष्ट्र के व्यक्तियो के लिए, जिनका उस नगर मे कोई परिचित नही होता, ऐसी धर्मशाला या अतिथिगृह अथवा यात्रीगृह बनवाते हैं। वह सब लयनपुण्य की कोटि में आता है।

प्राचीनकाल मे भी राजगृह के नन्दनमणियार तथा अन्य कई उदारचेता व्यक्तियो ने जगह-जगह अतिथिशाला, धर्मशाला, विश्रामगृह बनवाए थे।

देशबन्धु चित्तरजनदास के दादा जगबन्धुदास बहुत ही परोपकारी हो गये हैं। व दूसरो के लिए स्वय कष्ट उठाने मे नही हिचकिचाते थे। एक बार जगबन्धुदास पालकी मे बैठकर कही जा रहे थे कि रास्ते मे एक ब्राह्मण मिला, जो बहुत दूर से चलकर आ रहा था। वह धूप के कारण अत्यन्त थक भी गया था। जगबन्धुदास उस थके हुए ब्राह्मण को देखकर स्वय पालकी से उतर पडे और उस ब्राह्मण को आदर-पूर्वक पालकी मे बिठा दिया। इसी घटना के पश्चात् जगबन्धुदास के मन मे यह भी विचार आया कि इस प्रकार के थके हुए व्यक्तियो के विश्राम हेतु एक विश्रामगृह की आवश्यकता है। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने एक धर्मशाला बनवाई, जिसमे थके हुए पथिक व निराश्रित व्यक्ति आश्रय पाते व विश्राम करते थे। श्री जगबन्धुदास का यह कार्य लयनदान होने से लयन पुण्य की सीमा मे आता है।

बहुधा यह देखा जाता है कि शहरो मे कई मकान यो ही खाली पडे रहते है, न तो वे किसी को आश्रय देने या थकेमाँदे को विश्राम के लिए दिये जाते हैं और न ही उनका चिकित्सालय, विद्यालय या अन्य किसी सार्वजनिक सेवा के कार्य मे उपयोग होता है, और न वे किसी को किराये पर दिये जाते हैं। आखिर वे वर्षा, आँधी या भूकम्प के धक्को से या मरम्मत न होने से ढह जाते हैं या उनमे चमगादड अपना बसेरा कर लेती हैं, चूहे अपने बिल बनाकर रहने लगते हैं या कबूतर अपना निवास-

स्थान बना लेते हैं। ऐसे उदारचेता बहुत ही कम मिलते हैं, जो उस मकान को किसी सार्वजनिक सस्था के उपयोग के लिए दे दे। जो व्यक्ति उदारतापूर्वक इस प्रकार के मकान को किसी सार्वजनिक सेवा या महापुरुषो के रहने के लिए दे देता है, वह महान् पुण्य का उपार्जन करता है।

भगवती सूत्र मे श्रमणोपासिका जयन्ती श्राविका का वर्णन आता है जिसने भगवान महावीर से जीवन और दर्शन सम्बन्धी विविध प्रश्न किये और भगवान महावीर का सचोट उत्तर सुनकर अत्यधिक प्रमुदित हुई। वह जयन्ती श्राविका साधुओ के लिए प्रथम शय्यातर के रूप मे विश्रुत थी—'वेसाली सावयाण अरहताण पुव्वसिज्जायरी जयन्ती णाम समणोवासिया होत्था'[1]

उसके मकान का उपयोग साधु मुनिराजो के ठहरने एव गृहस्थो के धर्मध्यान करने मे होता था। वर्तमान मे भी इसी प्रकार कई जगह कई उदार महानुभावो ने अपनी जगह या मकान ऐसे ही सार्वजनिक धर्मकार्यों के हेतु दे दिये हैं।

एक छोटी-सी घटना इस पर मार्मिक प्रकाश डालती है—

रात का समय था। बडे जोर की बरसात हो रही थी। गाँव के बाहर छोटी-सी कुटिया थी। कुटिया का मालिक दरवाजा बन्द करके सोया हुआ था। भीगता हुआ एक व्यक्ति आया और उसने कहा—'मेहरबानी करके किवाड खोलो। मैं पूरी तरह भीग रहा हूँ।' आवाज सुनकर मकान मालिक उठा और बोला—'इस छोटी-सी झोंपडी मे एक सो सकता है, दो बैठ सकते हैं। आओ, तुम्हारा स्वागत है।' वे पूरे बैठ भी नही पाए थे, तभी एक व्यक्ति दौडा हुआ आया और विवशतापूर्वक पुकारने लगा—'द्वार खोलिए, मैं वर्षा की ठड से ठिठुर रहा हूँ।' कुटिया के स्वामी ने किवाड खोला तो आगन्तुक विस्मय विमुग्ध होकर बोला—'मैं कहाँ बैठूँगा? इसमे तो तुम दोनो भी मुश्किल से बैठे हो?' घर के मालिक ने कहा 'इसमे एक सो सकता है, दो बैठ सकते हैं और तीन खडे रह सकते हैं। आओ तुम्हारा स्वागत है।' इस प्रकार उदार गृहस्वामी ने अपनी कठिनाई की परवाह न करके दोनो आगन्तुको को कुटिया मे स्थान देकर लयनपुण्य उपार्जित कर लिया।

और जो अनगार हैं, जिनका कोई घरबार, जमीन जायदाद नही है, ऐसे अप्रतिबद्धविहारी साधु-साध्वियो को जो निवास के लिए भक्तिभावपूर्वक मकान देता है, उसके पुण्योपार्जन का तो कोई ठिकाना ही नही है। वह तो महाभाग्यशाली है। शास्त्र मे उसे शय्यातर (शय्या देने से तरने वाला) अथवा शय्याधर (मकान का मालिक) कहा है। किन्तु यह पुण्य तभी उपार्जित होता है, जब मकान किसी अनुकम्पा पात्र, सुपात्र या मध्यम पात्र को दिया जाता है, किसी चोर, बदमाश व्यभिचारी,

---

१ भगवती १२।उद्दे० २

रामचरण—'नही, महाराज! मैंने तो आपको बिलकुल समर्पण कर दिया था।'

बालानन्द स्वामी—'तो फिर उस दुशाले का क्या हुआ, क्या नहीं, इसकी पचायत तुम क्यो करते हो?'

सचमुच परदुःख निवारक स्वामी जी ने शीत पीडित व्यक्ति को वस्त्रदान देकर पुण्य उपार्जन कर लिया।

इसी प्रकार हिन्दी के उच्चतम कवि निराला भी अत्यन्त दयालु प्रसिद्ध हुए हैं। एक बार उन्हे सर्दी मे ठिठुरते देखकर महादेवी वर्मा का हृदय भर आया। वे उनके लिए एक गर्म कोट सिलवाकर लाईं और कहा—'यह कोट आपका नहीं, मेरा है। मैंने सिर्फ आपके शरीर की रक्षा के लिए बनवाया है। अत मेरी अनुमति के बिना इस कोट का और कोई उपयोग मत करना।' कुछ दिनो बाद निराला जी महादेवी जी की दृष्टि से दूर रहने लगे। एक दिन सामने से जाते देख महादेवी जी ने उन्हे पूछा—'निराला जी! कोट क्यो नहीं पहिना आपने?' पहले तो उन्होंने टालमटूल करनाचाहा। परन्तु महादेवी जी ने जब खोलकर पूछा तो उन्होने कहा—'कुछ दिन पहले एक नग्न भिखारी ठड से काप रहा था। मुझे लगा कि मुझसे ज्यादा उसे कोट की जरूरत है। अत निद्रामग्न उस भिखारी को मैं वह कोट ओढाकर चला आया।'

यह था सहृदय कवि निराला जी द्वारा वस्त्रपुण्य का उपार्जन!

मनपुण्य—इसके बाद मनपुण्य का क्रम आता है। मन से शुभ विचारो का दान देना, मन से प्रेमभाव, वात्सल्य, या आशीर्वाद देना, अन्तर से किसी के प्रति शुभकामना प्रगट करना, कल्याणकामना एव मगलभावना का हृदय से दान देना मनपुण्य है।[1] इन और ऐसी ही शुभ भावनाओ का दान पुण्य का अर्जन करने में बहुत ही सहायक होता है। व्यक्ति के जीवन मे मन भी पुण्योपार्जन कराने मे बहुत बडा सहायक है। हाँ, मन से अशुभ विचार, दुर्भावना, अन्तर की आहें, बददुआएँ आदि भी प्रकट की जाती हैं, तब पुण्य के बदले पाप-कर्म का बन्ध ही होता है। परन्तु दूसरे के प्रति, योग्य पात्र के प्रति मन से शुभकामना अथवा अन्तर की आशीष देने से पुण्य का उपार्जन अनायास ही हो जाता है।

शुभ विचारो मे बहुत बडा बल होता है। कई प्रभावशाली व्यक्ति परोपकार की दृष्टि से रोगी, दुःखी और पीडित व्यक्ति को शुभभावनात्मक सकल्प बल एव मत्र शक्ति के बल से स्वस्थ, सुखी और शान्तिमय बना सकते हैं, वे इस प्रकार के अनुकम्पा योग्य पात्र के प्रति अपने प्रबल शुभ सकल्पमय मत्रबल से स्वस्थ और सुखी बनाकर एक प्रकार से मनोदान देते हैं।

---

१ मनस शुभ सकल्प—नवतत्त्व सुमगला टीका।

परस्पर फूट, कलह आदि को वचन द्वारा मिटाना भी एक तरह से वचनदान है, जिससे महान् पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है।

जैसे मथरा दासी ने कैकेयी रानी को अपनी चातुर्ययुक्त वाणी द्वारा उलटा पाठ पढाकर भाई-भाइयो मे परस्पर फूट डालने की सलाह दी, उससे राम के परिवार मे महान् अनर्थ होने की सम्भावना थी, यह वचनदान पाप का कारण है, किन्तु सुमित्रा माता ने लक्ष्मण को अपने बडे भाई राम की सेवा मे जाने की सलाह दी, तथा सीता और राम को माता-पिता तुल्य मानने और जगल को अयोध्या समझने की जो शिक्षा दी, वह वचनदान—पुण्य-उपार्जन का कारण हुआ।

बौद्ध साहित्य मे श्रमण नारद के जीवन की एक घटना है—

एक बार वे वाराणसी जा रहे थे, रास्ते मे पाण्डु जौहरी घोडागाडी मे बैठ कर जाता हुआ मिला। पाडु जौहरी ने उन्हे घोडागाडी मे बैठने के लिए बहुत आग्रह किया। बहुत आग्रहवश श्रमण नारद उसकी घोडागाडी मे बैठ गये। रास्ते मे एक बैलगाडी, जो चावलो के बोरो से लदी हुई थी, कीचड मे धसी हुई मिली। गाडीवान बहुत जोर लगा रहा था, मगर बैल इतने भार को लेकर गाडी को कीचड से पार करने मे असमर्थ हो रहे थे। रास्ता सकडा ही था। इसलिए घोडागाडी जब वहाँ आकर रुकी तो पाडु जौहरी झल्लाकर कहने लगा—'सारा रास्ता रोके हुए खडा है, हटा गाडी को एक तरफ।' वह बेचारा मिन्नत करने लगा, पर सेठ का पारा गर्म हो गया। उसने घोडागाडी हाकने वाले से कहा—'नीचे उतरकर, इसकी गाडी एक तरफ कर दो, ताकि हमारी घोडागाडी निकल सके।' पाडु सेठ की आज्ञा से सईस ने बैलगाडी को धक्का लगाकर दलदल से निकालने के बजाय, एक ओर करदी, जिससे चावलो के बोरे कीचड मे पड गये। चावल बिखर गये। किन्तु घोडागाडी को सईस ने रास्ता करके निकाल ली। बेचारा गाडीवान किसान दाँत पीसता रह गया। उसे सेठ के व्यवहार पर बहुत गुस्सा आया। श्रमण नारद तो पाडु सेठ का व्यवहार देखकर बहुत खिन्न हुए। उन्होने सेठ से कहा भी कि इस बेचारे की गाडी धक्का दिलवा कर दलदल से निकलवा दीजिए। पर सेठ ने न मानी। अत श्रमण नारद वही उतर गये, जहाँ बैलगाडी फँसी हुई थी। उन्होने गाडीवान को आश्वासन देकर बैलो को पुचकारा और सहायता देकर उस किसान की बैलगाडी को दलदल से निकलवा दिया। गाडीवान बहुत प्रसन्न हुआ और अन्तर से श्रमण-नारद को आशीर्वाद देने लगा।

इसी बीच एक घटना और हो गई, रास्ते मे रुपयो से भरी कमर पर बाँधी जाने वाली एक नौली घोडागाडी से गिर पडी बैलो ने उसे अन्धेरे मे सर्पाकार देखा तो वे भयभीत होकर वही रुक गये। गाडीवान ने देखा तो रुपयो से भरी नौली। उसने पराया धन समझ उठाना न चाहा। परन्तु श्रमण नारद ने अनुमान लगाया कि हो न हो, यह पाडु जौहरी की घोडागाडी से गिर गई होगी, सेठ बेचारा हैरान

होगा। अत उसने किसान से कहा—'यह पाडु सेठ की नौली मालूम होती है, तुम अमानत के तौर पर इसे अपने पास रख लो और वाराणसी पहुँचकर उसे दे देना।' यह सुनते ही किसान गुस्से मे आकर बोला—'उस नीच दुष्ट की यह नौली मैं नही उठाता। उसने मेरा बहुत नुकसान करवा दिया। मैं उसे ले जाकर नही दूंगा यह।' श्रमणनारद ने उसे समझाया—'भाई, ऐसा मत करो। पाडु सेठ के प्रति द्वेष और पूर्वाग्रह की गाठ बाधना ठीक नही है। उसका क्या दोष है? दोष तो तुम्हारे कर्मों का है। लो, यह उठा लो और उसे सौंप देना।' श्रमणनारद के बहुत समझाने से किसान मान गया और वह नौली उठाकर अपने पास रख ली। उधर किसान को यह चिन्ता हो रही थी कि मेरे कीचड से सने चावल कौन खरीदेगा? परन्तु सयोग-वश एक व्यापारी ने राजकुमारी के विवाह पर चावल देने का राजा के साथ वादा किया। उसे बाजार मे कही चावल न मिला। उसे पता लगा कि एक गाडी चावल आ रहा है तो वह सामने चलाकर गया और वही उसने बाजार भाव से डेढ गुने दाम अधिक देकर चावल का सौदा तय कर लिया। किसान प्रसन्न हो उठा। उधर पाडु जोहरी जब घर पहुँचा तो घोडागाडी मे रुपयो की नौली न देखकर अपने सईस से पूछा। सईस ने कहा—'मुझे कुछ भी पता नही है। कही रास्ते मे ही वह गिर गई होगी।' परन्तु सेठ नही माना। उसे सईस पर पक्का शक हो गया। उसने बहुत धमकाया सईस को। पर बेचारा सईस इन्कार करता कि मैंने नौली नही ली है। इस पर सेठ ने गुस्से मे आकर उसे पुलिस के हवाले करके खूब पिटाई कराई। सईस को मारपीट कर पुलिस ने छोड दिया। परन्तु सईस के मन मे सेठ के प्रति दुर्भावना जगी, वैर की गाँठ बँध गई। उधर किसान ने श्रमणनारद के कहने से पाडु जोहरी को वह रुपयो की नौली ले जाकर सौपी। पाडु जोहरी प्रसन्न हो गया और श्रमण नारद के समझाने पर उसने किसान के साथ जो दुर्व्यवहार किया था, उसके लिए क्षमा मांगी, किसान ने भी क्षमा प्रदान की।

सईस के प्रति पाण्डुजोहरी को जो दुर्भाव था, वह बहुत अशो मे हट गया, किन्तु सईस के मन मे पाण्डुसेठ के प्रति दुर्भाव नही मिटा। उसे पता लगा कि पाण्डुसेठ ने फलादिन राजकन्या के लिए अमुक-अमुक हीरे एव जवाहरात से जडे हुए कीमती गहने बनवाकर राजा को देने का वादा किया है, इसलिए उसने चोरो को तैयार करके पाण्डुसेठ के यहाँ उसी रात को चोरी करने की सलाह दी। वह भी उन चोरो के साथ मिल गया। चोरो को वह सारा माल पाण्डुसेठ के यहाँ मिल गया। गठडी बाधकर सभी चोर वहाँ से भागे। वे सब एक पेड के नीचे उस माल का बँटवारा करने बैठे। लेकिन बँटवारे मे किसी बात पर इस भू पू सईस से झगडा हो गया। सबको इस पर वहम हो गया कि यह सेठ से जाकर कह देगा और हमे गिरफ्तार करवाएगा। इसलिए सभी उस पर पिल पडे और उसे मार-मारकर अध मरा करके वही छोडकर भाग गये। सुवह हुआ। श्रमणनारद उधर से गुजरे और उन्होने सईस की मरणासन्न स्थिति देखी तो उसके पास पहुँचे। उसे आश्वासन दिया

और इलाज करवाकर ठीक करा देने का कहा। पर उसने कहा—"भते! मैं अब थोडी ही देर का मेहमान हूँ। मैंने अपने किये का फल पा लिया। पाण्डुसेठ के यहाँ चोरी कराकर मैंने उस कुकर्म का फल भोग लिया।"

श्रमणनारद—"क्या पाण्डुसेठ से तुम्हें क्षमायाचना करनी है या इस वैर-विरोध या द्वेष की गाठ को साथ ही ले जानी है?"

सईस—"अब पाण्डुसेठ क्या मुझे क्षमादान देंगे, जबकि मैंने उनका इतना नुकसान करवा दिया है?"

श्रमण—"मैं प्रयत्न करूँगा, पाण्डुसेठ को यहाँ लाने का और तुमसे क्षमायाचना करवाने का। तुम तो क्षमायाचना करने के लिए तैयार हो न?"

भू० पू० सईस—हाँ, भते! मैं तो बिलकुल तैयार हूँ। मैं उनके सामने अपना पश्चात्ताप भी प्रकट करूँगा और उन्हे वह चोरी का माल भी, जिसे चोर यहाँ छिपा गए हैं, बता दूंगा। आप उन्हे जल्दी ले आइए।"

श्रमणनारद पाण्डुजौहरी के यहाँ पहुँचे। वहाँ रात्रि को जो आभूषणो की चोरी हुई, उसके बारे मे सभी चिन्तित और उदास होकर चर्चा कर रहे थे। श्रमण-नारद ने पाण्डुजौहरी को एक ओर बुलाकर कहा—"सेठ! चिन्ता मत करो। सब ठीक होगा। पहले यह तो बताओ कि उस सईस के प्रति आपके मन मे कोई दुर्भाव रहा है?"

पाण्डुसेठ—"भते! मेरा दुर्भाव तो समाप्त होने जा रहा था, लेकिन मुझे शक है कि उसी ने चोरो को भेद बताकर यह चोरी करवाई है। इसलिए फिर दुर्भाव बन गया है।"

श्रमण नारद—"अब आप उसके प्रति दुर्भाव छोडिए। यह तो सब कर्मों का खेल है। आप मेरे साथ चलिए। वह आपका भू पू. सईस मरणासन्न स्थिति मे है। अपने किये का पश्चात्ताप कर रहा है और आपसे क्षमायाचना करने को तैयार है। और सम्भव है, वह आपको चुराए गए माल का भी पता बता दे।" पाण्डुसेठ की आशा बधी। उसने कहा—"भते! अगर ऐसी बात है तो मैं खुशी से चलने को तैयार हूँ। उससे मैं स्वय क्षमायाचना करूँगा।" इस प्रकार श्रमणनारद के कहने से उनके साथ पाण्डुसेठ वही पहुँचा, जहाँ भू पू सईस मरणासन्न पडा था। पाण्डुसेठ ने आते ही उसकी हालत देखकर अफसोस प्रकट किया, फिर उससे क्षमायाचना की। उसने भी पाण्डुसेठ से क्षमायाचना करते हुए कहा—'सेठजी! मुझे माफ कर दें। मैंने आपका बहुत अहित किया। अब मेरा जीवनदीप बुझने को है। आप मेरे निकट आएँ, मैं आपको वह माल बता दूं, जो चोरो ने आपके यहाँ से चुराया था।" सेठ निकट आए। सईस को दोनो हाथो के सहारे से बिठाया। उसने सेठ के कान मे सारा रहस्य खोल दिया। चुराए हुए माल का पता-ठिकाना बता दिया। कुछ ही देर मे उक्त सईस के प्राणपखेरू उड गए। सेठ ने उस स्थान को खोदकर सारा माल

निकाला और एक गठडी मे बाधकर अपनी घोडा-गाडी मे रखकर ले आया। उसने श्रमणनारद के प्रति आभार प्रगट करते हुए कहा—"भते ! आपने मेरे जीवन का उद्धार कर दिया। अन्यथा, वह गाडीवान किसान और यह सईस दोनो के प्रति मेरे हृदय मे वैर-विरोध की गाठ बनी रहती और पाप-कर्म की और अधिक वृद्धि कर बैठता। पर आपने अपने वचन से मुझे सत्य परामर्शदान देकर मेरा पूर्वाग्रह छुडवाया, मुझे उनके साथ क्षमायाचना करवा दी। आपको कोटिश धन्यवाद।

वास्तव मे श्रमणनारद ने अपने वचनो से किसान, सईस और पाण्डुजौहरी इन तीनो के मन मे बधे हुए पूर्वाग्रह और तज्जनित द्वेष और वैर को समाप्त करवाकर बहुत बडा पुण्यकार्य किया। क्या इस प्रकार का वचनदान महापुण्य-कारक नही हो सकता ?

जैन जगत मे ऐसे अनेक ज्योतिर्धर जैनाचार्य व सन्त हुए हैं जिन्होने अनेको जगह समाज और जाति मे पडी हुई फूट, द्वेष और वैर-विरोध को अपने वचनो के प्रभाव से समाप्त कराकर महान् पुण्य का उपार्जन किया।

कई ऐसे भी पुण्यशाली मानव होते हैं, जो अपने वचन के द्वारा किसी उन्मार्गगामी, शराबी, जुआरी, रिश्वतखोर, हत्यारे आदि को बोध देकर सन्मार्ग पर लगाते हैं, वे भी महान् पुण्य के भागी बनते हैं।

इसी प्रकार वचन के द्वारा किसी सकटग्रस्त को, उलझन पडे हुए व्यक्ति को सकट मे मुक्त कराना, उसकी उलझी हुई गुत्थी सुलझाना भी पुण्य का कार्य है। किसी को किसी ने सहायता का वचन दे दिया, तथा किसी रोगी, दुखी या पीडित को आश्वासनदायक वचन दिया, और वह पूरा कर दिया यह भी पुण्य का कार्य है।

बिना किसी प्रकार की लागलपेट के निष्पक्ष भाव से सच्चा इन्साफ या न्याय देना भी वचन पुण्य मे माना जाएगा। क्योकि सच्चा, निष्पक्ष और शुद्ध न्याय गरीबो को प्राय नही मिल पाता। उसे जबर्दस्त आदमियो द्वारा दबा दिया जाता है, उसकी कोई सुनवाई नही होती, या रिश्वतखोर, लोभी एव पक्षपाती लोग न्याय का खून कर देते हैं, किन्तु जब भी कोई व्यक्ति शीघ्र सच्चा और निष्पक्ष न्याय देता है, तो वह अन्याय पीडितो की बहुत अधिक दुआएँ पाता है, उन्हे बहुत अधिक राहत मिलती है, और किसी को राहत या साता पहुँचाना पुण्य का कारण है। इस दृष्टि से न्यायदान भी वचनपुण्य के अन्तर्गत आ जाता है।

कहते है, राजा विक्रमादित्य शुद्ध और निष्पक्ष न्याय देता था। वह जब न्याय के सिंहासन पर बैठता था तो किसी का साहस नही होता था कि उसके सामने झूठ बोलकर बात की हेरा-फेरी कर दे। वह गरीबो और अन्याय पीडितो के साथ हमदर्दी रखता था और उनकी बाते ध्यानपूर्वक सुनकर जो भी न्याय होता, वह बिना किसी लागलपेट के दे देता था।

कायपुण्य—वचनपुण्य के बाद कायपुण्य का नम्बर आता है। कायपुण्य काया

से जो परोपकार का कार्य, नि स्वार्थ कार्य करके पुण्योपार्जन किया जाता है, उसे कहा जा सकता है। सेवा भावना से किसी गरीब की सेवा करना श्रमदान करना, अपने शरीर से किसी वृद्ध एव जर्जर का बोझ उठाकर सेवा करना, दूसरे के लिए अपनी काया को कष्ट मे डालना, शरीर से स्वय परिश्रम करके किसी अपाहिज, विकलांग, अन्धे, लूले लगडे आदि को सहायता पहुँचाना, किसी अनाथ एव निराधार बालक की सेवा करना इत्यादि कार्य काय पुण्य के अन्तर्गत आते हैं। कायपुण्य भी अपने-आप मे महान् एव विशिष्ट पुण्य है। किसी व्यक्ति के पास धन न हो, साधन न हो, बुद्धि न हो अथवा वाचिक शक्ति न हो तो भी काया के दान द्वारा वह महान् पुण्योपार्जन कर सकता है। विश्व इतिहास मे ऐसे कई उज्ज्वल व्यक्तित्व के धनी प्रसिद्ध हुए हैं, जिन्होने शरीर के द्वारा नि स्वार्थ भाव से दूसरे प्राणी को सुखसाता पहुँचाई है और विशिष्ट पुण्य का उपार्जन किया है। कभी-कभी धन और अन्न देने की अपेक्षा भी काया से सेवा देने का महत्त्व अधिक हो जाता है।

मारवाड का एक प्रसग है। एक पण्डितजी, सेठजी और ऊँटवाला तीनो ऊँट पर बैठकर कही जा रहे थे। रास्ते मे जोर से आँधी आई कि उनका छाता उड गया। काफी दूर चलने पर उन्होने रास्ते मे पडे हुए एक बीमार को कराहते हुए देखा। उसमे उठने की भी शक्ति नही थी कि कही चलकर जा सके और अपना इलाज करा सके। इन तीनो ने उसे देखा तो ऊँट को रोका। सर्वप्रथम पण्डित जी उसके पास पहुँचे और लगे उपदेश देने—'भाई। यह तो कर्मों का फल है। जैसा मनुष्य कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। इत्यादि।' पर उपदेश सुनना उस समय उसके बस की बात नही थी। उसके बाद सेठजी भी दयावश होकर उसके पास पहुँचे। अपनी जेब मे हाथ डाला और २-३ रुपये की जो रेजगारी थी, उसे उस अशक्त बीमार के सामने फेंककर कहा—'ले, ये पैसे ले। इनसे इलाज करा लेना।' परन्तु उस रोगी की हालत इतनी खराब थी कि पैसो को देखकर उसकी आँखो मे थोडी चमक तो आई, लेकिन पैसे से उसका क्या बनता? पैसो को हाथ से उठाने की भी उसमे शक्ति न थी। वह टुकुर-टुकुर देखता रह गया। उसे उपदेश या पैसे की आवश्यकता नही थी, उसे आवश्यकता थी, शरीर से सेवा की। वह उन दोनो ने दी नही। अन्त मे, ऊँटवाले को दया आई। उसने पण्डितजी और सेठजी से कहा—'यहाँ उपदेश और पैसे का काम नही है, यहाँ तो इसे सेवा की जरूरत है। वह आपके बस की बात नही। अत आप दोनो आगे चलिए, गाँव मे पहुँचिये ऊँट लेकर मैं इसे कही अस्पताल मे भर्ती कराकर आता हूँ। पण्डितजी और सेठजी दोनो ऊँट लेकर आगे चल दिये। ऊँटवाले ने उस रोगी को धीरे से उठाकर अपनी पीठ पर रखा, वे पैसे बटोर कर उसकी धोती के पल्ले मे बाँधे और वहाँ से कोई दो मील पर एक कस्बे मे जो अस्पताल था, उसमे डॉक्टरो से कह सुनकर भर्ती कराया। डॉक्टरो से उसका अच्छी तरह इलाज करने को कहा और वे पैसे उसे सौंपकर उसने उस रुग्ण व्यक्ति से इजाजत माँगी—'भैया। अब मैं जाता हूँ। तुम प्रसन्नता से रहना

और इलाज कराना।' उसने हृदय से आशीर्वाद बरसाते हुए कहा—'भाई। आपने मेरी बहुत सेवा की। आपको बार-बार धन्यवाद देता हूँ। अब आप भले ही पधारें।'

यह है, उपदेश और धन की अपेक्षा भी काया से सेवादान का महत्त्व। वास्तव मे यह शारीरिक सेवा महान् पुण्य का कारण है।

जैन सस्कृति का एक चमकता हुआ पृष्ठ है—मर्यादा पुरुषोत्तम कर्मयोगी श्रीकृष्ण जी के जीवन का। वे सन्तो, श्रमणो और त्यागियो के परम भक्त थे ही, यह जैन, बौद्ध, वैदिक तीनो के धर्मशास्त्रो से प्रसिद्ध है। एक बार वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि (जो उनके चचेरे भाई थे, और श्रमण बन गये थे) को वन्दना करने और अपने लघुभ्राता गजसुकुमार मुनि (जो कल ही दीक्षित हुए थे) को भी वन्दन करने जा रहे थे। रास्ते मे जब उनकी सवारी नगर के बीच से होकर जा रही थी, तो उन्होंने एक अत्यन्त कृशकाय जराजीर्ण बूढे को देखा, जिसके चेहरे पर झुर्रियाँ पडी हुई थी, बाल सफेद थे और काँपते हुए हाथो से ईंटो के एक ढेर मे से एक-एक ईंट उठाकर बडी मुश्किल से अन्दर रख रहा था। श्रीकृष्ण जी ने जब उसकी हालत देखी तो उनकी करुणा छलक उठी, उन्होने बूढे को अनुकम्पनीय दृष्टि से एव सहानुभूतिपूर्वक देखा और अनुकम्पा लाकर स्वय अपने हाथ से ईंटो के ढेर मे से एक ईंट उठाई और अन्दर रखी। श्रीकृष्णजी द्वारा एक ईंट के रखे जाते ही उनके साथ जो राजदरबारी एव अधिकारी आदि थे, उन सबने हाथोहाथ वे ईंटे उठाकर अन्दर रख दी बूढे का कार्य बहुत हलका कर दिया। वृद्ध श्रीकृष्ण जी के प्रति आभार मानता हुआ अन्तर से आशीर्वाद देने लगा। वह श्रीकृष्ण जी को अत्यन्त श्रद्धा, आदर और अहोभाव से देखने लगा।

क्या श्रीकृष्णजी के द्वारा अनुकम्पापूर्वक वृद्ध को दिया गया श्रमदान कितना महत्त्वपूर्ण और पुण्यवृद्धि का कारण नही था? क्या किसी को श्रीकृष्ण जी के इस शरीर से सेवा के कार्य को कायपुण्य कहने मे हिचक हो सकती है?

इसी प्रकार काया से सेवाभावना से श्रमदान देना भी पुण्योपार्जन का कारण होने से उसे भी कायपुण्य कहा जा सकता है।

इसी प्रकार कई लोग किसी वृद्ध, अपाहिज या चक्षु विकल व्यक्ति पर दया लाकर उसका बोझ उठा लेते हैं, उसे सहायता देते हैं। यह भी कायपुण्य का ही एक प्रकार है।

नमस्कारपुण्य—अन्तिम पुण्य है—नमस्कारपुण्य। नमस्कार करने से भी पुण्य अर्जित होता है। प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त ८ प्रकार के पुण्य के साथ तो दान का सम्बन्ध एक या दूसरे प्रकार से जुडा है और वह सबकी समझ मे भी आ सकता है।

किन्तु नमस्कार का दान कैसे सम्भव हो सकता है ? और दान के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार नमस्कार मे किस पर क्या और कैसे अनुग्रह है ? वास्तव में, नमस्कारपुण्य के साथ दान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है, किन्तु अहकार का दान किये बिना, अभिमान का विसर्जन किए बिना नमस्कार होता नही । इसलिए अहकार या अहभाव का दान ही प्रकारान्तर से नमस्कार पुण्य है । अहकार के दान करने से आत्मा पर तो अनुग्रह होता ही है, दूसरो पर भी बहुत बडा अनुग्रह होता है । क्योकि अहंकार का त्याग (दान) करने वाले व्यक्ति को देखकर अनेक व्यक्तियो को अहकार-त्याग की प्रेरणा मिलेगी । और फिर नमन भी अपने से महान् व्यक्ति को, बडे आदमी को—जो उम्र मे, गुणो मे या चारित्र मे या ज्ञान मे बडा हो, आगे बढा हुआ हो उसे किया जाता है । ऐसे व्यक्ति के सामने अपने अहकार का विसर्जन करने से उनका अनुग्रह भी मिलता है, इसलिए 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'—अपने पर अनुग्रह के लिए अपने अह को मेरेपन को भूल जाना—छोड देना—ही दान है, यह लक्षण भी घटित हो जाता है ।

अपने से उत्कृष्ट व्यक्ति के प्रति नमन करते समय जीवन मे प्रविष्ट अभिमान, द्वेष, काम, क्रोध, अहकार, ममत्त्व आदि विकार को उक्त महान् नमस्करणीय व्यक्ति के चरणो मे चढा देना होता है । इस प्रकार का नमस्कार दान अपनी आत्मा को तो पुण्य से ओतप्रोत बनाता ही है, अन्य अनेको के लिए प्रेरणादाता होने से भी लाभदायक है ।

मानव-जीवन मे अहकार अनेक अनिष्टो को पैदा करता है । गृहस्थजीवन मे तो पद-पद पर जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि का मद मनुष्य को पतन के मार्ग पर ले जाता है । मद के कारण दुनिया मे बडे-बडे युद्ध, कलह, क्लेश, झगडे, सघर्ष, वैरविरोध होते हैं, जिनके फलस्वरूप राग, द्वेष, मोह, घृणा आदि कर्मबन्धो के उत्पादक विकार बढते जाते हैं । इनको दान करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है—वीतराग प्रभु के चरणो मे सर्वस्व समर्पित कर देना, भगवान को अपने अहत्व-ममत्व आदि चढा देना, वास्तव मे वही अहकार शून्य होता है । इससे व्यक्ति को स्वय को लाभ तो है ही, उस व्यक्ति के कारण कई झगडे, क्लेश, युद्ध, कलह आदि होने वाले थे, उनसे सबको राहत मिल जाती है, शान्ति का अनुभव होता है । और दूसरो को साता, शान्ति या राहत पहुँचाने से पुण्य उपार्जित होता है ।

इस दृष्टि से नमस्कार पुण्य का एक अर्थ यह भी फलित होता है कि जब राष्ट्र-राष्ट्र मे, प्रान्त-प्रान्त मे या जनपद-जनपद मे या धर्म सम्प्रदायो मे परस्पर रस्साकसी चल रही हो, सघर्ष, वैर-विरोध, उग्रविवाद, कलह, युद्ध या द्वेषभाव चल रहा हो, उस समय उसके अग्रगण्य या नेता द्वारा अपने अहत्व-ममत्व को हटाकर झुक जाना, उस विवाद या कलह आदि को समाप्त कर देना, इससे भविष्य मे अनेक गुना फैलती हुई अशान्ति, मनोमालिन्य, कर्मबन्ध, सक्लेश आदि जो बढते, उनके रुक जाने से

शान्ति हो गई। यह भी बहुत बड़ा पुण्य का कारण हुआ या किसी महापुरुष के चरणो मे नमस्कार करके उनका आदेश मानकर वैरविरोध को वहीं समाप्त कर देना भी नमस्कार जनित-पुण्य है। इस अर्थ की दृष्टि से देखा जाय तो मुख्यतया व्यक्ति के अहंत्व—ममत्व का दान नमस्कारजनित पुण्य का कारण बनता है।

तथागत बुद्ध के जमाने की एक घटना है। एक बार ग्रीष्मऋतु मे सूर्य के प्रचण्ड ताप से नदी, नाले, सरोवर, पोखर आदि सब जलाशय सूख गए थे। पानी के अभाव मे लोग सर्वत्र आकुल-व्याकुल थे। इस भयकर गर्मी से रोहिणी नदी जो कपिल वस्तु और कोलिय नगर की सीमा पर बहती थी, सिमटकर अत्यन्त छोटी-सी धारा के रूप मे बहने लगी। कपिलवस्तु और कोलिय नगर की सीमा पर बहने वाली रोहिणी नदी की धारा के उपयोग के बारे मे शाक्यो और कोलियो मे विवाद छिड गया। शाक्यो ने पानी का उपयोग सिर्फ अपने ही खेतो के लिए करने का आग्रह किया, जबकि कोलियो ने उस पर अपना हक बतलाते हुए स्वय ही उस पानी का उपयोग करने की जिद्द ठान ली। दोनो राजकुलो मे विवाद छिड गया। बढते-बढते क्रोधाग्नि इतनी अधिक प्रज्वलित हो उठी कि प्रतिस्पर्धा के आवेश मे दोनो ओर की तलवारें खिच कर म्यान से बाहर आने को उतारू हो रही थी।

तथागत बुद्ध उस समय रोहिणी के तटपर कपिलवस्तु मे चारिका कर रहे थे। बुद्ध ने आमने-समाने डटे हुए सैनिको से पूछा—"किस बात का कलह है ?"

रोहिणी के पानी का झगडा है, भते !" दोनो ओर के लोगो से उत्तर मिला। "पानी का क्या मूल्य है ? महाराजो !" तथागत ने दोनो सेनापतियो की ओर देख कर उद्बोधन किया।

"कुछ भी नही, भते ! पानी बिना मूल्य कही पर भी मिल सकता है ?" शाक्यो और कोलियो का उत्तर था।

"क्षत्रियो का क्या मूल्य है, महाराजो !" तथागत की गभीर वाणी प्रस्फुटित हुई। दोनो ओर से उत्तर मिला—"क्षत्रियो का मूल्य नही आका जा सकता, भते ! यह अनमोल है।"

"क्या अनमोल क्षत्रियो का रक्त साधारण पानी के लिए बहाना उचित है ?" तथागत के इस प्रश्न पर सभी मौन और नतशिर थे। बुद्ध का प्रेममय सन्देश मुखरित हो उठा—"शत्रुओ मे अशत्रु होकर जीना परम सुख है। वैरियो मे अवैरी होकर रहना परम शम है।" बुद्ध के इस प्रेममय सन्देश पर दोनो दलो मे समझौता हो गया। दोनो दलो के अग्रगण्यो ने तथागत बुद्ध के चरण छूकर नमस्कार किया और अपने अहत्व और तज्जनित कलह को समर्पित करते हुए बोले—"भते ! आज से हम कभी इसी प्रकार वैर-विरोध करके नही लड़ेंगे।"

इस नमस्कारजनित आचरण का प्रभाव दोनो नगर के निवासियो और खास-तौर से क्षत्रियो पर इतना अधिक पडा कि दोनो जगह अशान्ति का जो ज्वालामुखी फूटने वाला था, वह वही शान्त हो गया। क्या यह नमस्कारजनित पुण्य कम प्रभाव-जनक है ? नमन का अर्थ झुक जाना भी होता है, इस दृष्टि से बुद्ध जैसे महापुरुष के चरणो मे दोना दल झुक गए, दोनो ने अपनी-अपनी हठ छोड दी, और भविष्य मे वैर-विरोध न करने का प्रण किया। क्या यह नमस्कार-जनित पुण्य का प्रभाव नही है ?

इसी प्रकार नमस्कारपुण्य का एक फलितार्थ यह भी होता है कि समस्त प्राणियो मे परमात्मभाव को देखकर, उसे परम-आत्मा समझ कर देना, ऊपर का चोला न देखकर अन्तरात्मा को ही देखकर श्रद्धाभाव से नमनपूर्वक देना। यानी-प्रत्येक सकटग्रस्त या क्षुधा आदि पीडा से ग्रस्त आत्मा को परमात्मा का रूप समझ कर नमनपूर्वक दान देना नमस्कारपूर्वक दान से उपार्जित होने वाला पुण्य है।

नवविध पुण्यजनक दान एक चर्चा

कुछ लोगो का कहना है कि पूर्वोक्त नौ प्रकार के पुण्य तो केवल महाव्रती साधु-साध्वियो को देने से ही फलित होता है, अन्य को देने से नही। उनका यह तर्क है, अगर गृहस्थ को देने से पुण्य होता तो वहाँ धनपुण्य, हस्तिपुण्य या वाहनपुण्य आदि का भी उल्लेख होता, परन्तु ऐसा उल्लेख नही है। वहाँ साधुवर्ग के लिए कल्पनीय, ऐषणीय या ग्राह्य वस्तुओ का ही उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि अन्य दानो की गणना तो दस प्रकार के दानो मे आ ही जाती है, सिर्फ वे दान, जिनसे कर्मक्षय न होकर पुण्यबन्ध होता है, उनका उल्लेख करना शेष रह गया था, इसलिए सद्गृहस्थो को या अनुकम्पा पात्रो को देने योग्य सामान्य वस्तुएँ गिनाई गई हैं। धन या हाथी की अपेक्षा मुसीबत मे पडे मनुष्य को अन्न, वस्त्र और आवास की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इसलिए नौ प्रकार के पुण्योत्पादक दान सर्वसाधारण अनुकम्पापात्र या तथाविध पात्र के लिए हैं। और फिर साधु-साध्वी को ये वस्तुएँ देने से तो पुण्य बन्ध से भी आगे बढकर कर्म-निर्जरा होती है जिसका साक्षी भगवती सूत्र का पाठ है अन्न की अपेक्षा उनके लिए अभीष्ट चतुर्विध आहार का दान कल्पनीय होता है। इस दृष्टि से भी साधु वर्ग की अपेक्षा सद्गृहस्थ या अनुकम्पा पात्र को देने से नवविध पुण्य का होना अधिक प्रमाणित या सभावित है। अगर साधुवर्ग को देने मे ही इस नवविध पुण्य को परिसमाप्त कर दिया जाएगा, तो फिर जहाँ साधु वर्ग नही पहुँच पाता है, जहाँ उसके दर्शन भी दुर्लभ हैं, वहाँ तो पुण्य वृद्धि या पुण्यो-पार्जन का कोई कारण नही रहेगा। वहाँ के लोग तो पूर्वपुण्य क्षीण कर देंगे, नये पुण्य का उपार्जन नही कर सकेंगे। फिर तो उनके लिए पुण्योपार्जन की कही भी कोई गुंजाइश नही रहेगी। परन्तु ऐसा है नही। नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण

योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप मे या व्यक्तिगत रूप मे दान करने से उपार्जित हो सकते हैं, होते हैं, हुए हैं। ऐसा अर्थ ही अधिक सगत मालूम होता है।

इस अर्थ से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम, या देश-कुल का हो, अपने स्थान या क्षेत्र मे रह कर भी पुण्य उपार्जित कर सकता है। शास्त्र मे जैसे पापोपार्जन के १८ प्रकार बताए हैं, वैसे ही पुण्योपार्जन के ये ९ भेद बताये हैं। इन्हीं ९ प्रकारो मे ससार के सभी प्रमुख पदार्थ आ जाते है, जिनसे पुण्योपार्जन किया जाता है, बशर्ते कि ये ९ पदार्थ तद्योग्य पात्र को परिस्थिति देखकर दिये जाएँ। इसी कारण हमने दान के प्रकारो मे इन नवविध पुण्योत्पादक दानो का उल्लेख और विश्लेपण किया है।
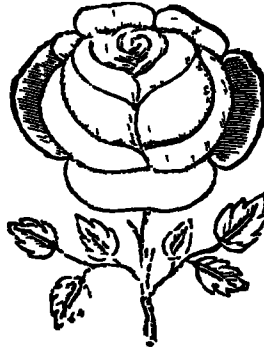
आतिथ्य-पूर्ण-माहात्म्य-वर्णने न क्षमा वयम्।
दातृ-पात्र-विधि द्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता ॥

—अतिथि दान या अतिथि-सेवा की महत्ता पूर्ण करने मे समर्थ नही है, उसके पुण्य का परिमाण भी हम नही बता सकते, किन्तु यह तो कहेगे कि उस अतिथिदान मे दाता, पात्र, विधि और द्रव्य के कारण न्यूनाधिकता रहती है।

तृतीय अध्याय

दान :
प्रक्रिया और पात्र

१ दान की कला
२ दान की विधि
३ निरपेक्षदान अथवा गुप्तदान
४ दान के दूषण और भूषण
५ दान और भावना
६ दान के लिए संग्रह एक चिन्तन
७ देय द्रव्य-शुद्धि
८ दान मे दाता का स्थान
९ दाता के गुण-दोष
१० दान के साथ पात्र का विचार
११ सुपात्रदान का फल
१२ पात्रापात्र-विवेक
१३ दान और भिक्षा
१४ विविध कसौटियाँ

1

दान की कला

मानव ससार का सर्वोत्तम विचारशील प्राणी है। वह किसी भी कार्य को करने से पहले विचार करता है कि उस कार्य मे उसे लाभ होगा या अलाभ ? अगर लाभ होगा तो कितना होगा ? किस कार्य मे अधिक लाभ होगा ? अमुक कार्य की अपेक्षा अमुक कार्य मे विशेष लाभ होगा या नही ? इस प्रकार के विकल्प उसके मन मे उठा करते हैं। यह बात दूसरी है कि वह उन विकल्पो की आवाज को सुनी-अनसुनी कर दे या विस्मृत हो जाय, प्रमादी होकर अन्तर की आवाज को सुने ही नही। क्योंकि मनुष्य का लक्षण ही यह है—मत्वा कार्याणि सीव्यतीति मनुष्य (जो मनन करके, विचार करके कार्य मे प्रवृत्त होता है, वह मनुष्य है)। इस दृष्टि से दान की क्रिया को करने से पहले भी वह यह अवश्य सोचता है कि यह दान लाभदायक होगा कि नही ? क्या इसकी अपेक्षा भी और कोई दान की विधि लाभ-दायक हो सकती है ? किस विधि से या किसप्रकार से अथवा किस रूप मे, किस द्रव्य को, किसको देने से दान से अधिक लाभ हो सकता है ? इस प्रकार दान की कला और लाभ के विचार से सम्पन्नव्यक्ति उमी तरीके से दान देता है, जिससे उसके दान से अधिकाधिक लाभ हो। हाँ, किसी समय वैसा सुपात्र न मिले तो अनु-कम्पा पात्र को भी वह दान देता है, परन्तु उसमे भी अविधि से होने वाले अलाभ से वचकर देता है, ताकि वह विधिपूर्वक दान से लाभ उठा सके।

मनुष्य कई वार दूर दृष्टि से सोचता है, तो उसे यह ध्यान मे आ जाता है कि दान दिया हुआ, कभी निष्फल नही जाता। वह किसी न किसी रूप मे, यहाँ और वहाँ फल देता ही है।

दान कभी व्यर्थ तो नही जाता, उसका फल यहाँ भी मिलता है, वहाँ भी, लेकिन देखना यह है कि सत्कारपूर्वक विशिष्ट भावना मे विशिष्ट द्रव्य का उतना ही दान देकर एक दानकला का विशेषज्ञ उस व्यक्ति से विशेष लाभ उठा सकता है, जितना कि एक दानकला से अनभिज्ञ व्यक्ति वेढगेपन से, अनादरपूर्वक, उसी द्रव्य का उतना ही दान देकर या प्रसिद्धि, नाम या अन्य किमी स्वार्थ की आकाक्षा से देकर उतना लाभ खो देता है। इसलिए दानकला निपुण व्यक्ति के दान देने मे और दान

कला से अनभिज्ञ के दान देने मे चाहे वस्तु और क्रिया मे अन्तर न हो, किन्तु भावना और फल मे, लाभ और विधि मे अन्तर हो जाता है।

यहाँ हमे पाठको को वही रहस्य बताना है कि दान की कला से व्यक्ति कितना अधिक लाभ थोडी-सी वस्तु देकर प्राप्त कर लेता है और दान की कला से विहीन व्यक्ति उस लाभ को किस प्रकार कौडी के मोल मे गवा बैठता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र मे (७।३९) मे आचार्य उमास्वाति ने प्रकाश डाला है—

। विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेष ।

—'विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र (दान लेने वाले) की विशेषता से दान से होने वाले लाभ मे विशेषता आ जाती है।

दान एक प्रकार का सोना है, अपने आप मे वह मलिन नही होता, किन्तु फूहडपन से, अनादर से, अविधि से या अनवसर से, दान देने से उक्त दान पर दोष की कालिमा चढ जाती है, और निपुणता से, सुघडपन से, सत्कारपूर्वक, अवसर पर, विधिपूर्वक दान देने पर दान मे विशेष चमक आ जाती है। दानदाता के जीवन मे आया हुआ समस्त कालुष्य भी उसके सहारे से धुल जाता है।

इसीलिए कुरल (९।७) मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

—"हम आए हुए अतिथि को दान देने या अतिथि-सेवा के माहात्म्य का पूर्णतया वर्णन करने मे समर्थ नही है कि उसमे कितना पुण्य है ? किन्तु यह बात अवश्य कहेंगे कि उस अतिथियज्ञ (दान) मे विशेषता दाता, पात्र, विधि और द्रव्य को लेकर न्यूनाधिक होती है।[1]

दान-कला की निपुणता को अभिव्यक्त करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

सुखविपाक सूत्र मे इसी बात को स्पष्टतया प्रतिपादित करते हुए कहा है कि आदर्श श्रमणोपासक सुबाहुकुमार ने हस्तिनापुर नगरनिवासी सुमुख गृहपति के भव (पूर्वजन्म) मे एक दिन धर्मघोष स्थविर के सुशिष्य सुदत्त नामक अनगार को, जोकि एक मासिक उपवास (मासक्षपणक तप) करते थे, जब मासक्षपण तप के पारणे के लिए अपने (सुमुख के) घर की ओर पधारते देखा। देखते ही वह मन ही मन अत्यन्त हर्षित और तुष्ट हुआ। अपने आसन से उठा, चौकी पर पैर रखा एव वहाँ से उतर कर एक-साटिक उत्तरासग किया (उत्तरीय लगाया) और सुमुख अनगार की ओर सात-आठ कदम सामने गया, उन्हे तीन बार प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक (तिक्खुत्तो के पाठ से) वन्दन-नमस्कार किया और जहाँ अपना भोजनगृह था, वहाँ उन्हे सम्मानपूर्वक लेकर

---

१ आतिथ्य-पूर्ण माहात्म्य-वर्णने न क्षमा वयम्।
दातृपात्रविधिद्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता ॥

आया। फिर अपने हाथो से विपुल अशन, पान, खादिम एव स्वादिम चारो प्रकार के आहार देने की उत्कट भावना से उन्हे आहार दिया। आहार देने से पहले, आहार देते समय और आहार देने के बाद तीनो समय सुमुख गृहपति के चित्त मे अतीव प्रसन्नता और सन्तुष्टि थी।

उसके बाद उस सुमुख गृहपति ने उक्त दान मे द्रव्यशुद्धि, दाता की शुद्धि और पात्र की शुद्धि इस प्रकार मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप त्रिकरण शुद्धि पूर्वक सुदत्त नामक अनगार को प्रतिलाभित करने (दान देने) से अपना संसार (जन्म-मरण का चक्र) सीमित कर लिया। मनुष्यायु का बँध किया। उसके घर मे ये पाँच दिव्य प्रादुर्भूत हुए—धन की धारा की वर्षा हुई, पाँच वर्ण की पुष्पवृष्टि हुई, देवो ने वस्त्र भी आकाश से डाले, देवदुन्दुभियाँ बजी और बीच-बीच मे आकाश से अहोदान, अहोदान की घोषणा भी की।'[1]

जैनशास्त्रो मे इस प्रकार की दानकला के विशिष्ट लाभो का वर्णन करने वाले अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। परन्तु उन सब मे सिर्फ दाता और पात्र के नाम अलग-अलग हैं, या देय, द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दान देने की कला और उसके फल-स्वरूप दान की विधि मे तथा उसके कारण प्राप्त होने वाले दान के फल मे कोई अन्तर नही है।

भगवतीसूत्र शतक १४ मे विधिपूर्वक दान का इसी रूप मे निरूपण किया है—

---

१ तेण कालेण तेण समए ण इहेव जवूदीवे दीवे भारहेवासे हत्थिणाउरे णाम णयरे ···· सुमुहे णाम गाहावइ परिवसई। धम्मघोसाण थेराण अतेवासी सुदत्ते नाम अणगारे मासखमणपारणगसि धम्मघोस थेर आपुच्छइ जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गिह अणुपविट्ठे। तएण से सुमुहे गाहावई सुदत्त अणगार एजमाण · पासइ हट्ठतुट्ठे, आसणाओ अब्भुट्ठेइ,···· पायपीढाओ पच्चोरुहइ , पाउयाओ उमुयति···· एगासाडिय उत्तरासग करेइ···· सुदत्त अणगार सत्तट्ठपयाइ अणुगच्छइ· तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ ··· वदइ णमसइ·· जेणेव भत्तए तेणेव उवागच्छइ सयहत्थेण विउल असण पाण खाइम साइम पडिलाभिस्सामित्ति कट्टु तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिएत्ति तुट्ठे।

तएण तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेण दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण पडिगाहय सुद्धेण तिविहेण तिकरण सुद्धेण सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे ससारे परित्तीकए, माणुसाउए निबद्धे, गिहसिय से इमाइ पच दिव्वाइ पाउब्भूयाइ। तजहा—(१) वसुहारा वुट्ठा, (२) दसद्धवण्णे कुसुमे निवाइए, (३) चेलुक्खेवे कए, (४) आहयाओ देवदुन्दुभीओ य, (५) अतरावि य ण आगाससि अहोदाण घुट्ठे य। "

"द्रव्य (देयवस्तु) की पवित्रता से, दाता की पवित्रता से और पात्र (दान लेने वाले) की पवित्रता से मन-वचन-काया के योगपूर्वक त्रिकरण शुद्धि से दान देने से दान मे विशेषता पैदा होती है।[1]

तात्पर्य यह है कि देयवस्तु, दाता, पात्र एव विधि इनमे से एक भी दूषित हो या न्यून हो तो दान मे चमक पैदा नही होती। दान मे चमक आती है, उक्त तीनो की निर्मलता से। शास्त्रकार मूलपाठ मे ही इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि तीनो मे से एक की भी शुद्धि न हो या न्यून हो तो दान का उत्कृष्ट लाभ प्राप्त नही होता। जैसे तिपाई के तीनो पायो मे से एक भी पाया टूट जाए तो वह टिक नही सकती, वैसे ही दान मे पूर्वोक्त शुद्धि के त्रिपाद मे से एक भी कम हो तो वह शुद्धि खण्डित हो जाती है।

बौद्ध धर्मशास्त्र सयुत्त निकाय के इसत्थसूत्र (३।३।४) मे भी दान के तीन उपकरण माने गए हैं—(१) दान की इच्छा, (२) दान की वस्तु और (३) दान लेने वाला।

एक बार तथागत बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन के विहार मे विराजित थे। उस समय राजा प्रसेनजित् उनके दर्शनार्थ आया। बातचीत के सिलसिले मे तथागत बुद्ध से राजा प्रसेनजित् के इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए—

प्रसेनजित्—'भते! किसे दान देना चाहिए ?'

बुद्ध—'राजन्! जिसके मन मे श्रद्धा हो।'

प्रसेनजित्—'भते! किसको दान देने से महाफल होता है ?'

बुद्ध—'राजन्! शीलवान को दिए गए दान का महाफल होता है।'

दान मे चार तत्त्वो से विशेषता

जैसे जैनसूत्रों मे द्रव्यशुद्धि दाता की शुद्धि और पात्रशुद्धि इस शुद्धित्रय की दान मे विशेष अपेक्षा रखी गई है वैसे ही तत्त्वार्थ सूत्रकार आदि आचार्यों ने उसी के विशद रूप मे दान की विशेषता के लिए चार तत्त्वो का होना आवश्यक माना है—(१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता और (४) पात्र। यद्यपि पूर्वोक्त तीनो तत्त्वो मे ही ये चार तत्त्व आ जाते हैं, फिर भी विशेष स्पष्टता की दृष्टि से ये चार तत्त्व दान मे हो तो पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध नही हैं।

तात्पर्य यह है कि दान का पूर्ण और यथेष्ट लाभ तभी प्राप्त हो सकता है, जब दान की विधि पर पहले गम्भीरतापूर्वक सोचा जाय। दान की विधि पर विचार करते समय पात्रानुसार, आवश्यकतानुसार, योग्यतानुसार, औचित्य के अनुरूप और सत्कार-सम्मान आदि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दान का विचार करना सर्वप्रथम अनिवार्य है।

---

१ 'दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण पडिग्गहसुद्धेण तिविहेण तिकरणसुद्धेण दाणेण.......'

तदनन्तर देय द्रव्य पर विचार करना जरूरी है कि मैं जो वस्तु दे रहा हूँ, वह इस व्यक्ति के योग्य या अनुरूप है या नही ? तदनन्तर दाता अपने आप मे ठीक है या नही ? तत्पश्चात् लेने वाला पात्र कैसा है ? इसका विचार कर लेना ठीक है। यानी इन चारो का सम्यक् विचार करके दिया गया दान लाभ की दृष्टि से भी उत्तम होता है और वह दूसरो के लिए आदर्श प्रकाशमान दान बनता है।

इन चारो की शुद्धता से मतलब है—चारो किसी स्वार्थ, पक्षपात, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, फलाकाक्षा निदान या अन्य किसी अनादर क्रोध आदि दोषो से दूषित न हो, इसी प्रकार देय द्रव्य सडा, बासी, फैंकने लायक न हो, वह किसी से छीनकर, हडपकर, अन्याय-अनीति से लूट-चोरी या जारी मे प्राप्त न हो, इसी प्रकार दाता भी उपर्युक्त किसी अशुद्धि से लिप्त न हो, तथैव पात्र भी शराबी, जुआरी, हत्यारा, चोर, उचक्का आदि न हो। हाँ, ऐसे लोग भी अगर अत्यन्त मरणासन्न या विपन्न हो, तो अनुकम्पाबुद्धि से दाता उसे देता है वहाँ उक्त दोष नही।

जैनदर्शन मे लाभालाभ की दृष्टि से दान के सम्बन्ध मे चित्त, वित्त और पात्र की महत्ता पर बहुत प्रकाश डाला गया है। क्योकि दान के लिए चित्त, वित्त और पात्र इन तीन त्रिपुटियो का उत्कृष्ट होना परम आवश्यक है। सभी लोगो के पास यह त्रिपुटी नही होती। इस त्रिपुटी मे से किसी के पास चित्त शुद्ध होता है तो वित्त नही होता या होता है तो शुद्ध नही होता। किसी के पास वित्त होता है तो उदारचित्त नही होता। किसी के पास चित्त और वित्त होते हैं, किन्तु वैसे सुपात्र का योग नही मिलता। इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है—

"केसिं च होइ वित्तं, चित्तं केसिंपि उभयमन्नेसिं।
चित्तं वित्तं च पत्त च तिन्नि लभति पुण्णेहिं॥"

अर्थात्—कई लोगो के पास धन या देय द्रव्य (साधन) तो होता है, परन्तु उनका चित्त इतना उदार या दान के लिए उत्साहित नही होता। कई लोगो के पास दिल उदार और उत्साहित होता है, उनके हृदय मे दान देने की श्रद्धा और भावनाएँ उमडती हैं, लेकिन उनके पास देने को द्रव्य या साधन नही होता। इसलिए वे बेचारे मन मसोस कर, अपनी उमगें मन की मन मे दबाकर रह जाते हैं। अथवा कई लोगो के पास चित्त तो शुद्ध और उदार होता है, किन्तु उनके पास धन या साधन शुद्ध एव न्यायप्राप्त नही होते या अत्यन्त अल्प होते हैं, पर्याप्त मात्रा मे नही होते। कई लोगो के पास धन या साधन भी पर्याप्त मात्रा मे होते हैं, शुद्ध होते हैं, और उनका हृदय भी उदार एव शुद्ध होता है, लेकिन उन्हें योग्य सुपात्र का योग नही मिलता। इसलिए पर्याप्त एव शुद्ध द्रव्य (धन या साधन), उदार एव शुद्ध हृदय तथा सुपात्र इन तीनो का सयोग प्रबल पुण्यो से ही मिलता है। मोदक बनाने मे जैसे घी, शक्कर और आटा तीनो की आवश्यकता होती है, तथैव विशिष्ट दान मे चित्त, वित्त और पात्र तीनो की आवश्यकता होती है।

तात्पर्य यह है कि चित्त, वित्त और पात्र इस त्रिपुटी की पूर्वोक्त शास्त्रकथित द्रव्य, दाता और पात्र की शुद्धि से सगति हो जाती है।

इसीलिए आचाराग सूत्र की टीका मे बताया गया है कि विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चारो अगो के सहित दिया हुआ थोडा-सा भी दान विशिष्ट फल लाता है—

'दान सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन।
वटकणिकेव महान्त न्यग्रोध सत्फल कुरुते ॥'
न्यायात्त स्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानम्।
दीन-तपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत् तु ॥'

अर्थात्—गुणो मे अधिक सत्पुरुषो को विनयपूर्वक दिया हुआ थोडा-सा भी दान सत्फल प्राप्त कराता है। जैसे वटवृक्ष का छोटा-सा बोया हुआ बीज एक दिन महान् वटवृक्ष के रूप मे सत्फलीभूत हो जाता है। न्याय से उपार्जित थोडा-सा भी दान अपने आश्रितो के भरण-पोषण के लिए देने के बाद अपने परिवार के बडो की आज्ञा से दीन, तपस्वी आदि को दिया जाता है तो वह भी महादान है। इससे भिन्न जो दिया जाता है, वह केवल दान है।

भगवद्गीता मे भी सात्त्विकदान के लक्षणो मे बताया गया है कि देश, काल और पात्र को देखकर नि स्वार्थ भाव से दिया गया दान ही वास्तव मे सच्चा दान है। महाभारत मे ऐसे दान को ही अनन्त फल जनक कहा गया है, जो उक्त चारो अगो से परिपूर्ण हो। देखिये वह श्लोक—

काले पात्रे तथा देशे, धन न्यायागत तथा।
यद् दत्त ब्राह्मणश्रेष्ठा स्तदनन्त प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात्—'जो द्रव्य (धन या साधन) न्यायोपार्जित हो, और योग्य देश, काल और पात्र मे दिया जाता हो, हे विप्रवरो! वही दान 'अनन्त' (अनन्त गुना फल देने वाला) कहलाता है।'

निष्कर्ष यह है कि दान के विशेष और यथेष्ट लाभ की दृष्टि से वही दान उचित कहलाता है, जिसमे विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चारो अग परिपूर्ण, शुद्ध, उदार एव न्यायोचित हो। इन चारो अगो की विद्यमानता से दान, चाहे वह थोडी मात्रा मे ही दिया गया हो, उत्कृष्ट फलजनक होता है।

आगे के पृष्ठो मे हम इन चारो अगो पर क्रमश सागोपाग विश्लेषण करेंगे।

☆

2
दान की विधि

धर्म की कोई प्रवृत्ति या क्रिया हो, अगर वह विधिपूर्वक होती है, तो उसका महाफल प्राप्त होता है, किन्तु अविधिपूर्वक अधिक सख्या मे चिरकाल तक की हुई तपस्या, दान, शील, तथा परोपकार की प्रवृत्ति या सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि धर्मक्रियाएँ कभी सार्थक नही होती, न ही उनसे महाफल प्राप्त होता है। क्योकि क्रिया या प्रवृत्ति एक-सरीखी होने पर भी दोनो के पीछे व्यक्ति की भावना, उत्साह, श्रद्धा, धृति, सवेग, या चित्तवृत्ति पर फल का आधार या दारोमदार है। विधिपूर्वक की हुई अल्पक्रिया या अल्पप्रवृत्ति भी महान् फल देने वाली बनती है, जबकि अविधिपूर्वक की हुई अधिक क्रिया या अधिक प्रवृत्ति भी अल्पफल देने वाली होती है। यही बात दान के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए। बौद्ध शास्त्र अगुत्तर निकाय मे भी कहा है—'अप्पस्मा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन सम मता' थोडे से मे से विधिपूर्वक दिया गया दान हजारो-लाखो के दान की बराबरी करता है।

दान अगर विधिपूर्वक थोडा-सा भी किया गया है तो उसका परिणाम बहुत ही सुन्दर आता है। किन्तु इसके विपरीत अविधिपूर्वक दिये गए अधिक मात्रा मे द्रव्य या वस्तु का दान या अधिक मूल्यवान दान का भी कुछ अच्छा परिणाम नही आता। इसलिए दान को श्रेष्ठ बनाने, दान को अधिक मूल्यवान, सुफलवान एव महालाभयुक्त बनाने के लिए दान की विधि पर ध्यान देना आवश्यक है।

एक रोचक दृष्टान्त द्वारा विधि और अविधि से दिये गए दान का अन्तर समझिए—

देवदत्त नाम का एक धनाढ्य था। उसके पास ९९ करोड रुपये थे, पर था वह पक्का कजूस। एक पैसा भी खर्च करना उसे अखरता था। अत लोगो ने उसे मू जी सेठ कहना शुरू कर दिया। जब वह बाजार से निकलता, तो लोग कहते—'अरे! मू जी सेठ आ गया।' जब देवदत्त उन लोगो की ओर आँखें उठाकर देखता तो वे कह देते—'अजी! हमने तो फला आदमी को मू जी कहा है, आपको नही कहा।' देवदत्त समझ जाता कि लोगो ने मुझे मू जी की पदवी क्यो दे रखी है! फिर भी वह सोचता था—'क्या मैं इन लोगो के कहने से बेवकूफ बन कर लक्ष्मी लुटा दूं?'

एक दिन रात को देवदत्त सोया हुआ था। लक्ष्मी जी आकर उससे बोली—'मै कैदी की तरह तुम्हारे घर मे बन्द रहना पसन्द नही करती।' सेठ देवदत्त बोला—'ऐं! क्या कहा? लक्ष्मी जी! क्या आप मेरे घर से चली जाएँगी? तब तो बड़ा गजब हो जाएगा। मै आपके बिना कैसे रह सकूंगा? इसलिए कृपा करके आप सात दिन और ठहर जाएँ। अगर आप तिजोरी मे सुरक्षित रहना नही चाहती तो मैं आपको बाहर की हवा भी खिलाऊँगा।'

लक्ष्मी ने सोचा—सात दिन की मुद्दत दे देने मे हर्ज ही क्या है? सात दिन मे यह मूंजी क्या दान-पुण्य कर लेगा?' अत लक्ष्मी ने सात दिन और रहना मजूर कर लिया।

सेठ ने जब लक्ष्मी के जाने की बात सेठानी से कही तो वह सुनकर हक्की-बक्की हो गई। बोली—'लक्ष्मी चली जाएगी तो मेरा क्या हाल होगा? हाय! मैं तो मजदूरिन की तरह काम करते-करते मर जाऊँगी!' दूसरे दिन सूर्योदय होते ही देवदत्त ने दानपुन्य करना शुरू कर दिया। उसने जिस किसी को योग्य पात्र समझा या सार्वजनिक सेवा करने वाली सस्था को देखा, उसे दिल खोलकर सम्मानपूर्वक दान दिया। अनाथालय, गुरुकुल, छात्रावास, विद्यालय, सेवासघ, औषधालय आदि सभी धर्मार्थ सस्थाओ को उसने श्रद्धा और सम्मानपूर्वक सहायता दी। सात दिन मे तो देवदत्त ने घर की सारी पूंजी दान कर दी।

सातवी रात्रि को लक्ष्मी आई और उसने आवाज दी—'देवदत्त! जागते हो या सो रहे हो?' देवदत्त दो बार आवाज देने पर भी बोला नही, तब लक्ष्मी ने तीसरी बार फिर कहा—'देवदत्त! मैं आ गई हूँ।' देवदत्त ने अनमने भाव से उत्तर दिया—'लक्ष्मी! एक सप्ताह पूरा हो गया। अब तुम जाना चाहो तो जा सकती हो। मैं तुम्हे अब बाँधकर रखना नही चाहता।' परन्तु लक्ष्मी ने उत्तर दिया—'अरे देवदत्त! यह क्या कह रहे हो? अब मैं तुम जैसे परोपकारी और दानी को छोड़कर कहाँ जाऊँगी? मै तो यही रहूँगी।' देवदत्त बोला—'यहाँ रहकर क्या करोगी, लक्ष्मी! यहाँ तो चूहो को एकादशी करने का समय आ गया है।'

लक्ष्मी—'देवदत्त! मेरे आने के बहुत-से रास्ते हैं। कल तुम नदी के किनारे जाना, वहाँ जो भी महात्मा मिलें, उन्हे सत्कारपूर्वक घर पर लाकर ससम्मान भोजन कराना और भोजन के बाद लोहे के एक डडे से उनके शरीर को स्पर्श कराना। उनका सारा शरीर सोने का हो जाएगा। यानी सोने की पुरुषाकार मूर्ति बन जाएगी। तुम उसके पैर की ओर सोना काट कर बेच देना। रात को वह फिर वैसा का वैसा हो जाएगा।'

देवदत्त ने दूसरे दिन वैसा ही किया। अब तो देवदत्त के पास कुछ ही दिनो मे ६६ करोड तो क्या ६६ अरब से भी अधिक का सोना हो गया। किन्तु देवदत्त अब धनाढ्य हो जाने पर फिर पहले की तरह दानपुण्य करने लगा। देवदत्त सेठ के

पड़ौस मे ही एक नाई रहता था। उसने सुना कि देवदत्त ने तो अपनी सारी सम्पत्ति दान मे दे दी थी, फिर भी यह कुछ ही दिनो मे मालदार हो गया। उसने इस रहस्य का पता लगाने के लिए अपनी पत्नी से कहा। चतुर नाइन सेठानी के पास आई। बहुत ही अनुनय-विनय के पश्चात् मधुर शब्दो मे बोली—'सेठानी जी! आप तो हमारी मालकिन हैं। एक बात आपसे पूछना चाहती हूँ। सुना है, आपने तो अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी थी, फिर कुछ ही दिनो मे उससे भी अधिक धन कहाँ से और कैसे आगया? मुझे अपनी छोटी बहन समझ कर आप बता दीजिए। मै किसी से नही कहूँगी।' सेठानी भोली थी, चतुर नाइन के वाक्जाल मे फस गई। उसने आदि से लेकर अन्त तक सारी बात नाइन को कह दी कि लक्ष्मी आई थी, उसके कहे अनुसार एक महात्मा को भोजन कराया, फिर उसके शरीर के लोहे का डडा लगाया आदि। यह सुनकर नाइन के पैरो मे पख लग गए। वह हर्ष के मारे उछलती हुई घर आई और अपने पति से सारी बातें कह दी, फिर कहा—'कल आप भी नदी तट पर जाकर एक महात्मा को भोजन के लिए ले आना और फिर इसी तरह करना, जिससे हम भी मालामाल हो जायेंगे।'

नाई को भी यह सस्ता सौदा पसन्द आ गया। सूर्योदय होते ही वह नदी के किनारे गया। सयोगवश वहाँ एक महात्मा मिले। नाई ने महात्माजी को अपने घर पधार कर भोजन का न्यौता दिया। महात्माजी नाई के साथ उसके घर आए। नाइन ने आदरपूर्वक उन्हे भोजन कराया। और भोजन करने के बाद महात्माजी के शरीर पर लोहे का डडा छूआने के बदले नाई ने जोर से डडा मारा। बेचारा महात्मा चिल्लाये—'अरे दुष्ट! मुझे तू क्यो मार रहा है?' ज्यो-ज्यो महात्मा मना करते गए, त्यो-त्यो वह जोर-जोर से डडे मारने लगा। महात्मा जोर से चिल्लाये—हाय! मरा रे! दौडो-दौडो भक्तो! यह दुष्ट मुझे मार रहा है।' शोर सुनकर एकदम पुलिस आ पहुँची और उसने नाई को गिरफ्तार करके राजा के सामने हाजिर किया। पुलिस ने राजा से शिकायत की कि नाई ने एक महात्मा को लोहे के डंडे मारकर अधमरा कर दिया। अत इसे हम आपके सामने लाए हैं।' राजा ने पूछा—'अबे! महात्मा को क्यो पीट रहा था, लोहे के डडे से?' नाई ने कहा—'हजूर! गुनाह माफ हो। मेरे पडौसी सेठ देवदत्त ने अपनी सारी सम्पत्ति दानपुण्य कर दी। फिर उसने एक महात्मा को भोजन कराया, उसके बाद उस महात्मा के शरीर पर लोहे का डडा लगाया, जिसमे वह सोने का पुरुषाकार बुत बन गया था। मै भी इसी तरह कर रहा था, ताकि मैं भी सोना प्राप्त कर मालामाल बन जाऊँ।'

राजा ने तुरन्त देवदत्त सेठ को बुलाया और उससे सारी बात पूछी। देवदत्त ने सारी बात सत्य-सत्य कह दी। इस पर राजा ने नाई से कहा—'अरे मूर्ख! तूने सिर्फ नकल ही की, पर अपनी अक्ल नही दौडाई कि इस सेठ ने तो अपनी ६६ करोड की सवस्व सम्पत्ति दान कर दी, तब इसे लक्ष्मीजी के प्रताप से महात्मा के शरीर पर लोहे का डडा छुआने से सोने का पोरसा मिला। मगर तूने तो अपनी कोई

सम्पत्ति दान नही दी, और न ही कोई परोपकार का काम किया, तू तो केवल बाल उतारता है, भला तुझ पर लक्ष्मी कैसे प्रसन्न हो जाती और हर किसी महात्मा को घर पर लाकर भोजन कराने से तथा बाद मे शरीर पर डडा छुआने के बदले जोर से डडा मारने से कैसे सोना बन जाता। सेठ की बराबरी तो करने चला, पर सेठ के द्वारा अपनाई हुई विधि को तो तूने नही अपनाया, जा, इतना भयकर अपराध करने पर भी तूने अपना अपराध सच-सच स्वीकार कर लिया, इससे तुझे छोडता हूँ, भविष्य मे ऐसा अपराध कभी मत करना।'

उपर्युक्त दृष्टान्त ही अपने आप मे स्पष्ट बोल रहा है कि सेठ ने तो सारा कार्य विधिपूर्वक किया था, इसलिए उसे यथेष्ट लाभ मिला, लेकिन नाई ने कोई भी काम विधिपूर्वक नही किया, केवल लोभवश महात्मा को लाकर लोहे का डडा फटकारा, यह कोई विधि नही थी, केवल अनुकरण मात्र था। इसी प्रकार कई लोग दान के महान फल का वर्णन सुनकर चाहे जैसे अटसट ढग से, लोभ के वशीभूत होकर फल की आकाक्षा से प्रेरित होकर दान देने लगते हैं। वे न तो दान की विधि पर विचार करते हैं, न कोई त्याग करते हैं और न जीवन मे और कोई धर्माचरण करते हैं, तब भला अविधिपूर्वक, चाहे वह अधिक मात्रा मे ही दिया गया हो, दिया गया दान फल मे उस विधियुक्त दान की समता कैसे कर सकता है? केवल लोभाविष्ट होकर किसी पद, प्रतिष्ठा, नामबरी या सत्ता की आकाक्षा से प्रेरित होकर दान करना अविधिपूर्वक दान है। ऐसे लोग दान की विधि से अनभिज्ञ होकर चाहे जिस व्यक्ति को, उसकी मर्यादा के विपरीत अयोग्य वस्तुएँ देकर या उसकी चापलूसी करके उसके आचार के प्रतिकूल दान देकर बदले मे बहुत अधिक भौतिक लाभ या इन्द्रिय सुखरूप फल चाहते हैं, परन्तु दान का फल चाहना या बदले की आकाक्षा रखना दान नहीं, एक प्रकार की सौदेबाजी है, व्यापार है। और यह सौदा भी तो घाटे का सौदा है। अगर उतनी ही मात्रा मे या अल्प मात्रा मे भी वही वस्तु किसी प्रकार के फल की आकाक्षा किये बिना लोभरहित होकर किसी योग्यपात्र को विधिपूर्वक देता तो उस दान का यथेष्ट और पर्याप्तफल मिलता। इसीलिए दक्षस्मृति (३/२५) मे विधिपूर्वक दान देने की स्पष्ट प्रेरणा दी गई है—

दान हि विधिना देय, काले पात्रे गुणान्विते।

अर्थात्—गुणवान् पात्र को उचित समय पर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक दान देना चाहिए।

विधि के विभिन्न अर्थ

सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि विधि क्या है? दान मे विधि शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों मे हुआ है? इस पर गहराई से विचार कर लेना आवश्यक है।

विधि का व्युत्पत्ति से अर्थ होता है—विशेष रूप से धारण करना—ग्रहण करना या बुद्धि लगाना। तात्पर्य यह है कि विशेष रूप से विवेक करना विधि है।

इसमे से फलितार्थ यह निकलता है कि यह विवेक करना कि किस व्यक्ति या सस्था को, कब, कितना और किस पदार्थ का दान करना है ? तथा किस व्यक्ति को, कब, क्यो, कितना और किस पदार्थ का दान नही करना है ? यह दान की विधि है। भगवद्गीता मे अविधिपूर्वक दिये गये दान को तामसदान बतलाया है—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञात तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

अर्थात्—जो दान अनुचित देश और काल मे, तथा अपात्रो को दिया जाता है, तिरस्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, उसे तामसदान कहा गया है। जिस देश मे दुष्काल पडा है, जहाँ लोग भूख से छटपटा रहे हैं, वहाँ तो अन्न का एक दाना भी नही देना और जहाँ सुकाल है, लोग खा-पीकर सुखी हैं, वहाँ अपनी प्रसिद्धि के लिए हजारो मन अन्न लुटा देना—अविधिपूर्वक दान है। उदाहरण के लिए—तथागत बुद्ध के समय मे एक बार श्रावस्ती मे दुष्काल पड गया था, उस समय बुद्ध के साधुओ को अन्य सुभिक्षयुक्त प्रदेश मे भोजन देने के लिए प्रसिद्धि लूटने हेतु कई श्रेष्ठी तैयार थे, लेकिन जब बुद्ध के शिष्य आनन्द ने दुष्काल पीडित क्षेत्र मे क्षुधा-पीडितो को अन्न देने के लिए कहा तो केवल तेरह वर्ष की एक लडकी सुप्रिया के सिवाय कोई भी तैयार न हुआ। एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—

Liberality does not Consist in Giving much, but in going at the right moment

अर्थात्—बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नही होती, किन्तु ठीक अवसर पर आवश्यकता के क्षणो मे सहायता प्रदान करना ही सच्ची उदारता है।

महात्मा बुद्ध ने आवश्यक समय पर दान देने का अत्यन्त महत्व बताया है। इसीलिए उन्होने दान के भेदो मे कालदान' का अलग से उल्लेख किया है और उसके ४ प्रकार बताये हैं—(१) आगन्तुक को दान देना, (२) जाने वाले को दान देना, (३) ग्लान (रोगी, वृद्ध, अशक्त) को दान देना और (४) दुर्भिक्ष के समय दान देना।

इसलिए समय पर दिया हुआ दान सविधि दान है और समय बीत जाने पर फिर दान देना अविधियुक्त दान है। कथासरित्सागर मे समय पर दान देने को श्रेष्ठ बताया है—

काले दत्त वर ह्यल्पमकाले बहुनाऽपि किम् ?

—समय पर दिया हुआ थोडा सा भी दान श्रेष्ठ है, जबकि बिना समय बहुत देने से भी क्या लाभ है ?

पच्चीस हजार की मोटर मे बैठकर एक सेठानी साध्वीजी के दर्शनार्थ आई। उससे कहा गया कि 'आपके पास बहुत धन है। बेचारी यह गरीब बहन इस समय दुःख और अभाव से पीडित है, इसे कुछ मदद दें।' इस पर सेठानी ने तमककर

कहा—'ऊँट की लम्बी गर्दन काटने के लिए थोडे ही है। मेरा धन यो लुटाने के लिए नही है।' हुआ यह कि इस बात के कुछ दिनो बाद ही उसका पुत्र ब्लेक (काला बाजार) करता हुआ पकडा गया, उसमे उसे अपने पास से हजारो रुपये निकालकर देने पडे।'

इसी प्रकार किसको, किस पदार्थ की, कितनी मात्रा मे जरूरत है, इसका विवेक करना विधियुक्त दान है और इसका विवेक न करना अविधियुक्त दान है। जैसे भगवान् ऋषभदेव मुनि-रूप मे जब आहार के लिए भिक्षाटन कर रहे थे, उस समय अयोध्या की जनता ने दानविधि न जानने के कारण उन्हे जिस वस्तु की जरूरत नही थी, जो चीज उनके लिए कल्पनीय (ग्राह्य) नही थी, ऐसी-ऐसी चीजें—हाथी, घोडा, रथ, अलकृत कन्या आदि या सुन्दर आभूषण हीरे-मोती आदि लाकर भेंट (दान) करने लगे। किन्तु उन सब चीजो की उन्हे न तो जरूरत थी और न उनके लिए वे कल्पनीय थी, इस कारण उन्होने उन्हे ग्रहण नही की और आगे बढ गये।

कई बार व्यक्ति जरूरतमन्द अभावग्रस्त मनुष्यो को दान देने मे बिलकुल अश्रद्धालु हो जाता है। और जिन्हे जरूरत नही है, जो उस दान की कोई कीमत ही नही समझते, उन्हे दान देकर अविवेक का परिचय देते हैं। इसलिए विधियुक्त दान मे यह विवेक होना चाहिए कि किस व्यक्ति को किस चीज की जरूरत है और कितनी मात्रा मे जरूरत है।

अकसर यह देखा जाता है कि जो लोग अन्याय, अनीति या झूठ-फरेब से धन कमाते हैं, उनकी सम्पत्ति का दान उचित ढग से, उचित क्षेत्र मे नही होता।

सन् १९६३ जून मे इन्दौर के एक मिल कामदार ने अपने पालतू कुत्ते को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके उसके नाम का वसीयतनामा कर दिया। अनेक लोगो ने ऐसा अविवेक न करने के लिए उसे बहुत समझाया, परन्तु उनका प्रयास निष्फल गया। उसने उनसे कहा—'अब मुझे मानव जाति से विश्वास उठ गया है। क्योकि मेरे अपने ही लोगो ने मेरे प्राण लेने के लिए विश्वासघात का षड्यन्त्र रचा, उस समय मेरे प्राण मेरे प्रिय कुत्ते ने ही बचाए हैं। इसलिए मेरा कुत्ता ही मेरा असली उत्तराधिकारी होगा।'

भला, बताइए, कुत्ते को उत्तराधिकारी घोषित करने के बावजूद क्या कुत्ता उसे दिये गये धन-साधन का कुछ उपयोग कर सका? यह तो नादानी से दिया गया दान है।

इसी प्रकार जहाँ जिसको जिस पदार्थ की जरूरत नही, वहाँ उसे अधिकाधिक देना भी दान का अविवेक है। जैसा कि महाभारत मे कहा है—

मरुस्थल्या यथा वृष्टि, क्षुधार्ते भोजन यथा।
दरिद्रे दीयते दान सफल पाण्डुनन्दन ॥

—जहाँ पानी से लबालब जलाशय भरे हो, वहाँ वर्षा व्यर्थ है, वर्षा का उपयोग मरुभूमि मे है, जहाँ सूखी धरती है। इसी प्रकार जिसने पहले ही छककर भरपेट खा लिया है, उसे और अधिक ठूंस-ठूंस कर खिलाने से क्या लाभ ? जो बेचारा भूखा हो, क्षुधा पीडित हो उसे ही आहार-दान देना सफल है। इसी प्रकार जो व्यक्ति दीन-हीन, अभाव पीडित हो उसे ही देने से लाभ है। इसलिए दान की विधि मे यह विवेक भी समाविष्ट है कि किसको किस वस्तु की, कितनी मात्रा मे और किस रूप मे आवश्यकता है। जैसे राजहँस के सामने मोती के दाने रखने पर ही वह सेवन करेगा, वह चाहे भूखा होगा, तो भी अन्य अन्नकण नही खाएगा। इसी प्रकार चातक चाहे जितना प्यासा हो, स्वाति नक्षत्र का जल बिन्दु ही पीएगा। इसी प्रकार पचमहाव्रतधारी मुनिवर अपनी साधु मर्यादानुसार कल्पनीय, ऐषणीय और स्वप्रकृति अनुकूल, एव सीमित मात्रा मे ही अमुक विधि से ही आहार ग्रहण करते हैं।[1] अगर मुनियो को उनके कल्प एव नियम के विरुद्ध जीवहिंसाजन्य भोज्य पदार्थ दिया जाता है, तो वे कदापि ग्रहण नही करते। इसीप्रकार आमिष भोजन एव मदिरा भी उनको कोई आहार-पानी के नाम पर देने लगे तो यह अविधि है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति साधु-सन्यासी को स्त्री देने लगे, हाथी, घोडे, रथ या सोना-चाँदी आदि अथवा जवाहरात देने लगे तो वे उसे कदापि स्वीकार नही करेंगे। क्योकि यह उनके लिए अविधि है। इसीलिए महाव्रती साधु के लिए तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मे स्पष्ट कहा है—

"न्यायागतानां कल्पनीयामन्नापानादीना द्रव्याणा दानम्।"

---

१ नौ प्रकार की दानविधि

निर्ग्रन्थ मुनियो को, चाहे वे दिगम्बर मुनि हो या श्वेताम्बर, दान देने की विधि विचारणीय है दिगम्बर सम्प्रदाय मे मुनियो को दान देने की विधि आचार्य पूज्य पाद ने सर्वार्थसिद्धि मे इस प्रकार बताई है–'प्रतिग्रहादिक्रमो विधि । प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो भेद । अर्थात्—मुनियो को नवधाभक्तिपूर्वक प्रतिग्रह आदि (पडगाहने आदि) का जो क्रम है, वह दान की विशिष्ट विधि है। प्रतिग्रह आदि मे आदर और अनादर होने से जो भेद होता है, वह विधि-विशेष है। श्वेताम्बर जैन आचार्यों ने वह विधि इस प्रकार बताई है—

सग्रहमुच्चस्थान पादवन्दन भक्तिः प्रणाम च।
वाक्कायमन शुद्धिरेषणा शुद्धिश्च विधिमाहु ॥

अर्थात्—(१) सर्वप्रथम तो आदाता के योग्य वस्तुओ का सग्रह घर मे रखना चाहिए ताकि दान देते समय इन्कार करने का प्रसग न आवे। अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रासुक या अचित्त देय वस्तुएँ, देखभाल कर ऐसी जगह सग्रह करके रखनी चाहिए, जहाँ कोई किसी सचित्त वस्तु (हरी वनस्पति, कच्चा पानी, अग्नि) आदि का सघट्टा-स्पर्श न हो।

'महाव्रती साधुसाध्वियो को न्याय प्राप्त कल्पनीय अन्न, पानी आदि द्रव्यो का दान देना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार मे इस विषय मे प्रकाश डाला है—

"वस्त्रपात्राश्रयादीनि पराण्यपि यथोचित दातव्यानि विधानेन रत्नत्रितयवृद्धये।"

—साधु-साध्वियो को वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि अन्य वस्तुएँ भी यथोचित रूप मे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की वृद्धि के लिए विधिपूर्वक देनी चाहिए। आगे हम बताएँगे कि साधु-साध्वियो को उनके लिए योग्य वस्तु दान देने की विधि क्या है?

सद्गृहस्थ भी, जो अभाव पीडित, कष्ट पीडित, आजीविका रहित या क्षुधाग्रस्त हो, वह चाहे साधर्मी हो अथवा अन्यधर्मी हो, उसे भी हिंसाजनित वस्तुएँ नही देनी चाहिए। न उनको शस्त्र, अस्त्र, लाठी, तीर अथवा हिंसा वृद्धि मे सहायक उपकरण आदि देने चाहिए। हाँ, धर्मोपकरण आदि धर्मवृद्धि के कारणभूत उपकरण दिये जा सकते हैं। इसीलिए श्रावक के ८ वें अनर्थदण्डविरमणव्रत मे 'हिंसप्पयाणं' हिंसाजनक वस्तु के दान को अतिचार (दोष) मे परिगणित किया है। इसी प्रकार किसी अनुचित (हिंसा, व्यभिचार, चोरी आदि अनैतिक धन्धे) कार्य के हेतु दान देना भी अविधि है। इसके विपरीत उचित कार्य के हेतु, धर्मवृद्धि या रत्नत्रय वृद्धि के हेतु या आध्यात्मिक विकास हेतु दान देना विधि है।

---

(२) जो पात्र (दान ग्रहण करने वाले योग्य व्यक्ति) पधारें, उन्हे उच्च स्थान दें।
(३) फिर उनके चरणो मे वन्दन करके गुणानुवाद करे कि आपने मुझ पर बडी कृपा की, मुझे यह लाभ दिया, और मेरे घर को पावन करने पधारे इत्यादि।
(४) यथायोग्य सविधि नमस्कार करे।
(५) दोनो हाथ जोडकर नम्रतापूर्वक अपने यहाँ जिस-जिस वस्तु का योग हो, उसकी आमन्त्रणा करे कि यह लीजिए, कृपा कीजिए।
(६) परिणामो मे उल्लास, हर्ष, उदारता रखें। मन मे किसी प्रकार का विपरीत भाव या हिचकिचाहट न आने दे।
(७) दान देने के पश्चात् प्रमोदभाव युक्त कहे—आज मैं धन्य हुआ, मेरा अहोभाग्य है, कि मेरी वस्तु सार्थक हुई इत्यादि।
(८) दानेच्छुक को अपने हाथ से ही दान देना उचित है। कहावत भी है—'हाथे सो साथे' जो अपने हाथ से दिया जाता है, वही पुण्य साथ आता है
(९) दान देते समय घबराए नही। जो वस्तु देने योग्य हो, उसे भली-भाँति देखकर यत्नाचार युक्त होकर दे। अर्थात् देय वस्तु सडी-गली, बासी, दुर्गन्धयुक्त या आदाता की प्रकृति के प्रतिकूल अथवा विकारोत्तेजक या सयम मे विघातक न हो। यह दान देने की नवधा भक्ति—नौ प्रकार की विधि है।

कई बार व्यक्ति दान तो देता है, किन्तु अनुचित कार्य के लिए देखादेखी या शर्मा-शर्मी लिहाज मे आकर दे देता है, यह उचित नही। इसीलिए यहूदी धर्म ग्रन्थ मिदराश निर्गमन, (रब्ब ३१।१८) मे इस अविधि युक्त दान को गलत बताया है—

'अनुचित काम करने के लिए एवं अपने स्वार्थ या सुख सुविधा के लिए दान देना गलत है।' महाभारत शान्तिपर्व (३६।३६) मे भी धार्मिक और विवेकी व्यक्ति को दान विधि के विषय मे स्पष्ट चेतावनी दी है—

"न दद्याद् यशसे दान, न भयान्नापकारिणे।
न नृत्यगीतशीलेषु, हासकेषु न धार्मिक ॥"

अर्थात्—धार्मिक पुरुष को यशकीर्ति के लिए दान न देना चाहिए, न ही किसी भय से भयभीत होकर देना चाहिए। इसी प्रकार अपने या दूसरे का अपकार (बुरा) करने वाले नाचने-गाने वालो, विदूषको (हँसाने वाले भाडो) को दान नही देना चाहिए।

इन सबके विपरीत बिना किसी यशोलिप्सा प्रतिष्ठा, पद एव सत्ता की लालसा के किसी स्वार्थ एव आकाक्षा से रहित होकर निर्भय एव निश्चिन्त होकर प्रसन्नतापूर्वक दान देना दान की विधि है। ☆

3

निरपेक्षदान अथवा गुप्तदान

कई लोग दान देने के साथ बहुत-सी लौकिक आकाक्षाएँ, पद-प्रतिष्ठा को जोडकर दान के फल मे मीठा जहर मिला देते है। दान के साथ इस मीठे जहर से बचने पर मनुष्य दान का असीम फल प्राप्त कर सकता है। पर लोग इस पद-प्रतिष्ठा की लिप्सा को छोडें तब न ? दान के साथ नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति भी दाता को पतन की ओर ले जाती है। इस सम्बन्ध मे ज्ञाताधर्मकथासूत्र मे उल्लिखित नदन मणिहार का प्रसग गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। नन्दनमणिहार ने प्याऊ, धर्मशाला पथिकशाला वापिका आदि सत्कार्यों मे बहुत-सा धन दान किया था। परन्तु उसे भी इसी प्रकार अपनी बडाई, नामवरी और प्रसिद्धि की आसक्ति लगी। यहाँ तक कि पौषधव्रत के समय भी उसका यही चिन्तन चलता रहा। शास्त्रकार कहते है इसी के फलस्वरूप वह मरकर अपनी ही बनाई हुई वापिका मे मेढक बना। यह उसके दान का फल नही था, अपितु दान के साथ आसक्ति का फल था, जिसका भान उसे बाद मे जाति स्मरण ज्ञान होने से हुआ। और उसने मेढक के जीवन मे भी अपनी पूर्व जन्म मे लगे हुए आसक्ति-दोष की आलोचना की, शुद्ध होकर श्रमणव्रत ग्रहण किये। और भगवान महावीर के दर्शन करने जाते समय घोडो की टाप के नीचे दब जाने से वही प्राणान्त हो गया। शुभ भावना मे मरने से वह मेढक भी स्वर्ग मे गया।

महात्मा गांधीजी से एक बार एक व्यक्ति ने आकर शिकायत की—"बापू ! यह दुनिया कितनी स्वार्थी है। मैंने ५० हजार रुपये खर्च करके यह धर्मशाला बनवाई। पर आज लोगो ने मुझे इसकी कमेटी मे से निकाल फैंका है। मानो, मेरी तो कीमत ही नहीं है। मैं तो अत्यन्त निराश हो गया हूँ, इस प्रकार के दान से !" महात्मा जी ने उन्हें साफ-साफ सुनाया—"भाई ! तुमने दान का सही अर्थ समझा ही नही है। दान देने वाले को सामने वाले (आदाता) पक्ष से किसी प्रकार की अपेक्षा नही रखनी चाहिए। कोई चीज देकर बदले मे कुछ पाने की इच्छा रखना दान नही, व्यापार है, तुमने तो व्यापार ही किया है, दान नही, इसीलिए तो तुम्हें बाह्य लाभ-हानि की चिन्ता हो रही है।"

इसलिए दान के साथ किसी प्रकार की सौदेबाजी करना, शर्त या प्रतिबन्ध

लगाना, या किसी प्रकार के बदले की आशा रखना अविधि है। इसीप्रकार किसी प्रकार की फलाकाक्षा या लाभ की आकाक्षा को भी दान के साथ जोडना अविधि है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (२०) मे इस सम्बन्ध मे सुन्दर प्रेरणा दी गई है—

एव जो जाणित्ता विहलिय लोयाण धम्मजुत्ताण ।
णिरवेक्खो त देदि हु तस्स हवे जीविय सहल ।।

—इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन उसे धर्मात्मा व्यक्तियो को देता है, बदले मे किसी प्रत्युपकार की वाञ्छा नही करता, उसी का जीवन सफल है।

कई लोग किसी तपस्वी, विद्वान् या आध्यात्मिक मुनि या साधु को अपने घर पर लेजाकर बहुत ही स्वादिष्ट आहार देते हैं, अन्य वस्तुएँ भी देते हैं, किन्तु बदले मे उनसे धन प्राप्ति या अन्य किसी स्वार्थसिद्धि की कामना से यत्र, मत्र, तत्र या आशीर्वाद आदि कुछ पाने की इच्छा रखते हैं। यह ठीक नही हैं। बिना किसी आकाक्षा या लाभ की इच्छा के साधु-सतो को देना या उनकी भक्ति करना चाहिए। उनके नियमानुसार ही उनको देना विधियुक्त दान है।

कई लोग दानशाला चलाते हैं, उसमे हजारो रुपये लगाते हैं, परन्तु उसके पीछे उनके मन के कोने मे सुषुप्त या तीव्र यशोलिप्सा रहती है। यशोलिप्सा की यह डाइन बडे-बडे दानी महानुभावो का पिंड नही छोडती। इस कारण यशोलिप्सा से रहित जो दान विधियुक्त होने से महाफल का कारण बन सकता था, उस फल को यशोलिप्सा की डाइन चूस जाती है। यशकीर्ति के भूखे मानव प्रसिद्धि, नामवरी या यशकीर्ति का नशा चढाकर वश मे किये जाते हैं, और उनसे अधिकाधिक रुपये दान के रूप मे झाडे जाते हैं। यश का नशा चढाने वाले उनके नाम की तख्ती या शिला-लेख लगा देते हैं, उनका नाम अखबारो मे मोटी-मोटी सुर्खियो मे छपवा देते हैं, उन्हे दानवीर या दानशिरोमणि पद देकर अथवा उनकी जय बोलकर, उन्हे अभिनन्दन-पत्र से सम्मानित करते हैं। और उनसे बहुत अधिक रकम ऐठी जाती है। यो तो वे देने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन उन्हे यह कहा जाय या यह पता लग जाय कि अमुक जगह नि स्वार्थ या निष्काक्षभाव से दान देना है, तो कोई न कोई बहाना बनाकर छिटकने की कोशिश करेंगे या फिर वे परोक्षरूप से बीमारी आदि का कोई बहाना बनाकर विधियुक्त एव महाफलदायक दान से छुटकारा पाने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इस बहुरत्ना वसुन्धरा मे ऐसे भी माई के लाल हैं, जो किसी भी स्वार्थ या आकाक्षा के बिना चुपचाप जरूरतमद को देकर अपना कर्त्तव्य अदा करते हैं।

स्व० दीनबन्धु एण्ड्रयूज बहुत ही उदारमना एव परोपकारी थे। एक बार शिमला जाते समय उनके एक मित्र ने उन्हे १५०) दिये थे। जब एण्ड्रयूज स्टेशन पर पहुँचे तो एक प्रवासी भारतीय से उनकी भेंट हो गई। उसने अपनी विपत्ति की करुण कहानी सुनाते हुए कहा—"मैं आप ही की तलाश मे आया था। बालबच्चो के भूखो मरने की नौबत आ गई है। एण्ड्रयूज महोदय का हृदय करुणा से द्रवित हो

उठा। उन्होने उसी समय उन्हे वे १५०) रुपये दे दिए और जरूरत पडने पर पत्र लिखने की सलाह भी दी। अगले दिन उनके मित्र को सारी कहानी मालूम हुई तो वे स्वय स्टेशन पर आए, टिकिट खरीदी और एण्ड्रयूज महोदय को गाडी मे बिठाकर घर लौटे।

आकाक्षा, फिर चाहे वह किसी पद की हो, सत्ता की हो या अन्य किसी वस्तु की हो, दान के साथ जोडना, दान की आत्मा का गला घोटना है। दान आकाक्षा की मोहिनी से दूषित हो जाता है। जैसे मन भर दूध मे जरा-सी नीबू की खटाई डालते ही वह फट जाता है, वैसे ही बडे-से बडे दान मे आकाक्षा की खटाई पडते ही दान फट जाता है, उसकी स्निग्धता समाप्त हो जाती है। कई व्यक्तियो को दान के साथ नामबरी या प्रसिद्धि की बडी भूख होती है, जब तक उनका नाम दानवीरो की सूची मे प्रकाशित नही होगा, तब तक उन्हें चैन नही पडेगा। परन्तु जो विवेकशील व्यक्ति हैं, सच्चे दानी हैं, वे नामबरी या प्रसिद्धि को 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' (प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा है) समझ कर उससे सौ कोस दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।

जमशेदजी मेहता कराची शहर के प्रतिष्ठित एव उदार नागरिक थे। उनका जीवन साधुचरित एव प्रेरणाप्रद था। कराची मे एक प्रसिद्ध सार्वजनिक अस्पताल था—'लेडी डफरीन हॉस्पिटल'। लोगो ने जमशेदजी मेहता को हॉस्पिटल की कमेटी मे लिया और एक बार हॉस्पिटल के लिए फड एकत्र करने का विचार किया। कमेटी ने यह तय किया कि जो हॉस्पिटल को दस हजार रुपये दान देगा, उसके नाम का सगमरमर का बोर्ड खुदवाकर हॉस्पिटल की दीवार पर लगाया जाएगा। अनेक सुखी गृहस्थो ने बडी-बडी रकमे फड मे लिखाई। जमशेदजी ने भी बडी रकम दान मे दी, परन्तु दस हजार रुपये मे १०-१२ रुपये कम दिये। यह देखकर एक भाई ने आश्चर्य-सहित पूछा—'मेहता साहब आपने दस हजार पूरे न देकर कुछ रुपये कम क्यो दिये? अगर १० हजार पूरे दे देते तो आपके नाम का बोर्ड हॉस्पिटल मे लगाया जाता।' जमशेदजी मेहता ने नम्रतापूर्वक कहा—'प्रभु ने जो कुछ मुझे दिया है, उसका उपयोग लोकसेवा मे मेरे हाथ से हो, इसी मे मुझे आनन्द है। अपने नाम का बोर्ड लगवाने में नही। मेरे नाम का बोर्ड न लगाया जाय, इसीलिए तो मैंने १० हजार मे कुछ रकम कम दी है।'

सचमुच नामबरी और प्रसिद्धि की लिप्सा की आग को बुझाने के लिए यह उदाहरण अग्निशामकयन्त्र रूप है। यही दान विधियुक्त है।

कई बार दानकर्ता लोग अपने दान को प्रसिद्धि या नामबरी के चौखट से बाहर निकाल कर चौहट तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दान के साथ जब तक ढिढोरा नही पिटवा लेंगे, अथवा दान को आडम्बर के आगन मे प्रतिष्ठित नही कर लेंगे, तब तक सतुष्ट नही होंगे। वे दान को बाजारू वेश्या की तरह सजा-सवार कर आम जनता मे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, आम जनता के हृदय पर वे

अपने दान की मुहर छाप लगा देना चाहते हैं। किन्तु भारतीय सस्कृति के प्रबुद्ध तत्त्वचिन्तक स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं—

'न दत्त्वा परिकीर्तयेत्'

—दान देकर उसका बखान मत करो। फारसी मे एक कहावत है कि दान इस प्रकार दो कि दाहिना हाथ दे और बाँया हाथ न जाने।' मनुस्मृति मे तो इस प्रकार दान का ढिंढोरा पीटने से उसका फल नष्ट होने की बात कही है—

''यज्ञोऽनृतेन क्षरति, तप क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन, दानं च परिकीर्तनात् ॥''

अर्थात्—झूठ से यज्ञ नष्ट हो जाता है, तपस्या विस्मय से नष्ट हो जाती है, ब्राह्मण एव साधु आदि की निन्दा करने से आयु घट जाती है और दान का जगह-जगह बखान करने से व कहने से वह निष्फल हो जाता है।

दान देकर उसका प्रदर्शन करना रत्न को बार-बार पेटी मे से निकालकर दिखाने के समान भयावह है। दान का प्रदर्शन फल को तो नष्ट करेगा, जब करेगा, किन्तु दान के प्रदर्शन से चोर, डाकू या लुटेरो को पता लगने पर कि अमुक व्यक्ति के पास बहुत धन है, उसका गला दबा सकते हैं या उसे मारपीट कर धन छीन सकते हैं, लूट सकते हैं अथवा चुरा सकते हैं। इसलिए दान का दिखावा या आडम्बर जीवन के लिए खतरनाक है। व्यक्ति किसी चीज का दिखावा तभी करता है, जब उस चीज से रिक्त होता है। एक कहावत है—

'थोथा चना बाजे घना"

इसी प्रकार अग्रेजी मे एक कहावत है—

Impty vessel sounds much

—खाली बर्तन आवाज बहुत करता है।' इसी प्रकार जो गुणो या अन्य बातो से रिक्त (अतृप्त) होगा, वह थोथा प्रदर्शन करके लोगो की वाहवाही से अपने मन को झूठा सन्तोष देने का प्रयत्न करता है। इसीलिए भारतीय मनीषियो ने गुप्त दान की बहुत महिमा बताई है। बिना किसी आडम्बर, समारोह, प्रतिष्ठा या ढिंढोरे, या प्रदर्शन के या तख्ती, बोर्ड या अखबारो मे प्रकाशन के चुपचाप अपना कर्त्तव्य समझ कर या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप मे गुप्त रूप से दान करना गुप्तदान है। सदूकची मे इस प्रकार डालना कि न देने वाला जाने और न लेने वाला जाने। गुप्त दान से सबसे बडा लाभ यह है कि देने वाले मे अहभाव नही आता और न प्रसिद्धि की भूख होती है, तथा लेने वाले मे हीन भावना या अपने को दबने या नीचा देखने की वृत्ति पैदा नही होती। लेने वाले की तेजस्विता तब समाप्त हो जाती है, जब देने वाला सबके सामने जाहिर मे उसे देकर कायल कर देता है और तब तो लेने वाला बिल्कुल पानी-पानी हो जाता है, मृतवत् हो जाता है, जब देने वाला एहसान जताता है, झूठा रौब गाँठता है, अपने मुँह से बडाई हाँकता है और यह कहकर अपने अह का झूठा प्रदर्शन करता है कि मैंने तुझे अमुक समय पर न दिया होता या सहायता न दी

होती तो तेरी क्या दशा होती ? तू भूखे मर जाता ? और इससे भी आगे बढकर जब दाता उससे स्पष्ट कहकर प्रत्युपकार की याचना करने लगता है, तब तो लेने वाले की आत्मा मर जाती है। इसीलिए रहीम ने एक छोटे-से दोहे मे मागने वाले और देने वाले की मृतदशा का वर्णन कर दिया है—

रहीमन वे नर मर चुके, जो कहुँ मागन जाहीं।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहीं ॥[1]

अर्थ स्पष्ट है—जब दाता गुप्तदान नही देता, तब याचक को उसके पास मागने जाना पडता है, अपनी कष्टकथा सुनानी पडती है और प्रगट मे देने वाला व्यक्ति अभिमानी, अहकारी बन जाता है, जिससे उसका दान अत्यन्त दूषित हो जाता है। इसीलिए रहीम ने ऐसे याचक और ऐसे कृपण दाता दोनो को मृतवत् बताया है। ऐसा अहकारी दाता भी अवसरवादी बन जाता है। वह जिधर यश या प्रसिद्धि का पलडा भारी देखता है, उधर ही दान धारा को मोड देता है, अन्यथा इन्कार कर देता है, दान देने से। इसीलिए गुप्तदान लौकिक और लोकोत्तर दोनो कोटि के दानों मे उत्कृष्ट है।

लखनऊ के एक नवाब आसफुद्दौला के विषय मे कहा जाता है कि वे गुप्तरूप से दान दिया करते थे। जब कोई मनुष्य उनके महल के पास से थाली मे कुछ लेकर निकलता तो वे सिफ्त से उसमे सोने की एक अशर्फी डाल देते थे कि थाली ले जाने वाले को बिलकुल पता नही लगता था। जब वह व्यक्ति घर पहुँचता और अपनी थाली मे सोने की अशर्फी देखता तो उसे बहुत खुशी होती थी। नवाब की दानशीलता देखकर किसी ने उनसे कहा—'आप बहुत सुखी (उदार) आदमी हैं।' तब आसफुद्दौला कहते—'मुझे कोई मनुष्य दानी और उदार न कहे, इसीलिए तो मैं गुप्तरीति से दान देता हूँ।'

गुप्तदान दान के साथ चुपके से घुस जाने वाले अहकार को मिटाने के लिए है।

जयपुर राज्य के दीवान अमरचन्द जी जैन हजारो रुपये गुप्तदान मे दिया करते थे। उन्हे पता चला कि कोई दीन-दरिद्री व्यक्ति हैं, तो उनके लिए बोरियो मे अनाज भरकर उनमे मुहरें दबाकर भेज देते थे। एक बार राजा ने उनके दान की प्रशसा करते हुए कहा—

निर्मोही दीवान ! तुम्हारा धन्य धन्य यह जीवन।
परहित मे नित करते रहते, तन-धन जीवन अर्पण ॥'

---

१ इसी से मिलता-जुलता एक दोहा और प्रसिद्ध है—
मागण गया सो मर गया, मरे सो मागण जाय।
सगला पहली वो मरै, जो होता नट जाय ॥'

यह सुनकर दीवान ने उत्तर दिया—

तन-धन-वसन कभी न अपना, यह जडद्रव्य पराया।
अपना क्या देते हैं इसमें? कौन इन्हे दे पाया?'

यह आध्यात्मिक उत्तर सुनकर राजा गद्‌गद हो गये।

बीकानेर मे सेठ गणेशलालजी मालू भी ऐसे ही गुप्तदानी थे। वे जिस किसी को गरीब देखते उसे अपने यहाँ से छाछ ले जाने का कहते थे, और वह जब छाछ लेने आता तो छाछ के वर्तन मे रुपये डाल देते थे और सम्मानपूर्वक उसे छाछ से भरकर वर्तन दे देते थे। जब वह घर जाकर देखता तो वापिस लौटाने आता, तब आप उसे प्रेम से कह देते—'यह तुम्हारा ही है, भैया! हमारा कुछ नही है।' ऐसे उदार गुप्तदानी थे।

वास्तव मे भारतीय मनीषी गुप्तदान के पक्ष मे ही अधिक थे। दान के विषय मे उनका मन्तव्य था कि एक विवेकी किसान खेत मे अनाज बोने के लिए बास की नली मे से डालता है और दूसरा अविवेकी किसान मुट्ठी भर-भर कर खेत मे दाने उछाल देता है। इन दोनो मे से विवेकी किसान के तो सैकडो-हजारो मन अन्न हो जाता है, जबकि दूसरे अविवेकी किसान का फैंका हुआ अनाज यो ही उड जाता है, या वह जाता है। यही बात दान के सम्बन्ध मे है। विधिपूर्वक गुप्त रूप से दिया गया दान सफल होता है और प्रदर्शन करने आडम्बर सहित दिया गया अनेको रुपयो का दान निष्फल चला जाता है। इसलिए दान देकर उसका प्रदर्शन मत करो।

दान के साथ अहकार, एहसान, अभिमान, नाम एव प्रसिद्धि का ममत्व आदि विकारो को मिटाने के लिए गुप्तदान रामवाण औषध है। यही कारण है कि दान की अविधि के अन्तर्गत उन विकारो को भी गिनाया है, जो प्रकट मे, अधिक आडम्बर एव विज्ञापन करके दान देने से सम्बन्धित हैं।

कुरानेशरीफ (२।२६४) मे भी दान की विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'ऐ ईमानवालो! अपने दान को एहसान जताकर या तकलीफ पहुँचाकर बर्वाद मत करो।'

जब व्यक्ति दान के साथ एहसान जताता है, तब वहाँ दान के साथ अहकार आसक्ति या बडप्पन का भाव आ जाता है, जो दान का विकार है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक हुट्टन ने कहा है—

'जो दान अपनी कीर्तिगाथा गाने को उतावला हो जाता है, वह दान नहीं, अहकार एवं आडम्बर मात्र है।'

लेने वाले (आदाता, पात्र या याचक) के प्रति क्रोध, खीझ या अनादर भी अहकार का ही रूपान्तर है। जब दाता के मन मे दान लेने वाले के प्रति नम्रता,

श्रद्धा, सद्भावना, सत्कार और कृतज्ञता की दृष्टि नही रहती, तब उसमे अहकार तर्क, बहसबाजी, विमुखता, रूक्षता, अनादर और खीझ पैदा होती है। ऐसा व्यक्ति किसी के दबाव मे आकर या शर्माशर्मी दान देता है, उसे दान देने का आनन्द नहीं आता, जबकि देय वस्तु वह पर्याप्त मात्रा मे देता है।

बौद्ध धर्मशास्त्र मे दान की विधि के चार अग बताए हैं—

'सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, और ठीक तरह से दोष रहित दान दो।'[1]

इसके विपरीत किसी को तिरस्कारपूर्वक, उपेक्षाभाव से, रूखेपन से, लापरवाही से, विलम्ब से, क्रुद्ध होकर, रोषपूर्वक या कटुवचन कहकर या पश्चात्ताप से अथवा मात्सर्य से दान नही देना चाहिए। क्योकि ये सब दान के दोष हैं, जो अविधि मे शुमार हैं। भारतीय ऋषियो ने इस प्रकार के दान को तामसदान कहा है और अविधि युक्त होने का सकेत किया है—

क्रोधाद् बलाभियोगाद् वा मनोभाव विनाऽपि वा।
यद्दीयते हितं वस्तु तद्दान तामस स्मृतम्॥

अर्थात्—क्रोध से, जबर्दस्ती से छीनकर, बल प्रयोग से, मन की भावना के बिना भी जो हितकर वस्तु दी जाती है, उस दान को तामसदान कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति से जबरन छीनकर, लूटकर या क्रोध से, बल प्रयोग से या मन मे दान देने की बिलकुल इच्छा न हो, केवल औपचारिक रूप से दिया जाय तो ऐसा दान न तो दाता के लिए ही लाभदायक है और न लेने वाले के लिए ही। ऐसे दान से दोनो के मानस मे सक्लेश रहता है। इसलिए ऐसा दान भी विधियुक्त नही है।

बौद्ध धर्मशास्त्र अगुत्तर-निकाय (१।१।३२) मे भी स्पष्ट कहा है—

'मच्छेरा च पमादा च, एव दान न दीयति।'

—मात्सर्य और प्रमाद से दान नही देना चाहिए।

उपर्युक्त सभी दोष प्राय प्रमाद के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योकि अविवेक भी प्रमाद का ही एक अग है।

कई बार व्यक्ति अपने आय-व्यय का तथा अपने पर चढे हुए कर्ज का विचार न करके, एव नौकरो को पूरी नौकरी न देकर या अपने आश्रितो का ठीक तरह से भरण-पोषण न करके मान, बडाई, देखा-देखी, ईर्ष्या या डाह के वशीभूत होकर या प्रसिद्धि पाने के लिए बडी-बडी रकम दान मे दे देता है। ऐसे व्यक्ति के परिवार

---

१ सक्कच्च दान देथ, सहत्था दान देथ।
चित्तीकत दान देथ, अनपविद्ध दान देथ॥ —दीर्घ निकाय २।१०।५

वाले उसे कोसते रहते हैं, साहूकार उससे कर्ज चुकाने के लिए तकाजा करते रहते हैं, उधर घर के नौकर-चाकर वेतन चुकाने के लिए चिल्लाते रहते हैं, ऐसे व्यक्ति को दान देने से मानसिक शान्ति भी नही मिलती। फलत उसका दान अविवेकपूर्ण होने से अविधि मे परिगणित होता है। इसीलिए यहूदी धर्मग्रन्थ—यालकत शिमे ओनी (प्रो० ६४७) मे कहा है—

'अपना कर्ज न चुकाकर या अपने नौकरो को पूरी तनख्वाह न देकर दान देना गलत है।'

इसी सन्दर्भ मे सम्भव है, भारतीय नीतिकारो ने अपनी हैसियत से उपरान्त दान देने को उचित नही बताया है। जैसा कि चाणक्यनीति मे कहा है—

'अतिदानाद् बलिर्बद्ध'

—शक्ति से अधिक दान से बलि बाधा गया। क्योंकि बलि के मन मे दान-वीरता का अभिमान आ गया था। इसलिए विष्णु ने उसका अभिमान उतारने के लिए वामन रूप बनाकर उसे वचनबद्ध कर लिया था, और पाताल लोक मे भेज दिया था, ऐसा पुराणकार का कहना है। तो इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि दान देने मे विधि का ध्यान रखा जाय, मन को सरल, नम्र और विवेक के प्रकाश से जागृत कर फिर दान दिया जाय और दान देकर उसके विषय मे मुँह को बन्द रखें। ☆

4

दान के दूषण और भूषण

इस ससार मे बहुत से लोग दान की विधि एव दान की कला से अनभिज्ञ होने के कारण दान के वास्तविक फल और उद्देश्य को पूर्ण नही कर पाते। ऐसे दाता वस्तु तो उतनी ही देते हैं, जितनी दानकलापटु देते हैं, परन्तु दान के साथ विवेक, अनासक्ति, सात्त्विक बुद्धि और नि स्वार्थता एवं आदरभाव उनमे नही होता, इस कारण किया-कराया सब गुड-गोबर हो जाता है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने दान के निम्नोक्त पाँच दूषण बताए हैं—

> 'अनादरो विलम्बश्च वैमुख्य विप्रिय वच ।
> पश्चात्तापश्च दातु स्याद् दानदूषणपंचकम् ॥

अर्थात्—दान देते समय लेने वाले का अनादर करना, देने मे विलम्ब करना, दान देने मे अरुचि या बेरुखी बताना, लेने वाले को अपशब्द कहकर, डाट-डपट कर या गालियो की बौछार करके देना, दान देने के बाद दाता के मन मे प्रसन्नता के बदले पश्चात्ताप या रज होना ये दान के पाँच दूषण हैं, जिनसे बचना बहुत आवश्यक है।

कई लोगो की आदत होती है कि वे दान देते समय लेने वाले के साथ इस प्रकार से व्यवहार करते हैं, जिससे उसका अपमान या तिरस्कार हो जाय, अथवा दान लेने वाले को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे अपना बडप्पन जाहिर हो अथवा वे दान देते समय ही इस प्रकार की तानाकशी करेंगे, जिससे लेने वाला अपमानित या लज्जित हो जाय।

एक साहूकार की माता ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा ! तुम लाखों रुपयो का लेनदेन करते हो, पर मैंने आज तक एक लाख रुपया एक स्थान पर रखा हुआ नही देखा। बेटा ने चाँदी के एक लाख रुपयो का एक जगह ढेर करके बराबर समतल जमाकर उन लाख रुपयो का चबूतरा-सा बनवा दिया। माताजी को लाख रुपये के चबूतरे पर बैठने के लिए कहा। माताजी बैठीं। साहूकार ने सोचा—'माताजी जिस पर बैठी हो, वह तो दान करना चाहिए। अत एक ब्राह्मण को बुलाया और अभिमानपूर्वक कहा—'पण्डितजी ! दाता तो आपको बहुत मिले होंगे, लेकिन मेरे जैसा

एक साथ एक लाख रुपये देने वाला नही मिला होगा।' इस तरह अपना अहकार प्रदर्शित करके उसने प्रकारान्तर से ब्राह्मण को हीन और नीचा बताने का भाव दिखाया, तो भिक्षुकवृत्ति का न होने से स्वाभिमानी ब्राह्मण ने भी जेब से एक रुपया निकाल कर उस चबूतरे पर डाला और बोला—'तुम्हारे सरीखे दाता तो बहुत-से मिल जाएँगे, लेकिन मेरे सरीखे एक लाख को ठोकर मारकर कुछ अपनी ओर से मिलाकर चल देने वाले विरले ही मिलेंगे।' यो कहते हुए वह चल दिया।

इसी प्रकार किसी को व्यग्य वचन कहकर अनादृत करना भी दान का दूषण है। कई लोग दान देते समय बहुत बकझक करते हैं। वे लेने वाले से कहते हैं—'यो रोज-रोज चले आते हो! यहाँ तुम्हारा कुछ रखा हुआ है, जिसे लेने के लिए आ जाते हो। लो, इतना ही मिलेगा, लेना हो तो ले जाओ, नही तो रास्ता नापो। अधिक कहाँ से दे दूंगा। यो मैं सबको दान देने लगूँ तो मेरा तो दीवाला निकल जाय। एक अश्रद्धालु दानदाता ने याचको के प्रति दान के प्रति अश्रद्धा और दान लेने वालो के प्रति बेरुखी बताई थी, उसका एक नीतिज्ञ ने कितना सुन्दर उत्तर दिया है देखिए—

—'इस भूतल पर मैं अकेला ही राजा (दाता) हूँ, और याचक एव भिक्षुक तो लाखो हैं। मैं किसको और क्या-क्या दे सकूंगा? इस प्रकार की चिन्ता करना व्यर्थ है। क्या इस ससार मे प्रत्येक याचक को देने के लिए एक-एक कल्पवृक्ष है? क्या प्रत्येक कमल को खिलाने के लिए एक-एक सूर्य है? अथवा प्रत्येक चातक को पानी पिलाने के लिए अथवा प्रत्येक लता और पौधे को सींचने के लिए एक-एक बादल है? निश्चित है कि ससार मे ऐसा कुछ नही है। प्रत्युत एक ही कल्पवृक्ष अनेक याचको की चिन्ता मिटाकर यथेष्ट वस्तु दे देता है। एक ही सूर्य लाखो कमलो को अकेला विकसित कर देता है और एक ही मेघ अनेक चातको की पिपासा मिटा देता है तथा अनेक बेलो एव पौधो को अपना पानी देकर उन्हे समृद्ध बना देता है।'

इसलिए दान देने वाले के मन मे यह चिन्ता भी व्यर्थ है, कि मैं अकेला कैसे इतने याचको को दे सकता हूँ? इस कारण उनका तिरस्कार करना या उन्हे अपमानित करके रो-रोकर दान देना दान का बहुत बडा कलक है।

आचार्य बृहस्पति ने भारतीय सस्कृति का स्वर मुखरित करते हुए दाता को सुन्दर परामर्श दिया है[२]—

---

१ एकोऽय पृथिवीपति क्षितितले, लक्षाधिका भिक्षुका।
किं कस्मै वितरिष्यतीति किमहो एतद्वृथा चिन्त्यते॥
आस्ते किं प्रतियाचक सुरतरु प्रत्यम्बुज किं रवि?
किं वाऽस्ति प्रतिचातक, प्रतिलतागुल्मञ्च धाराधर?

२ स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किञ्चित्कार्पण्य न तत्स्मृतम्॥

—अपने पास थोडा-सा पदार्थ हो तो उसकी चिन्ता मत करो, उस थोडे-से मे से भी थोडा-थोडा रोज दो, पर दो अदीन मन से, मन मे ग्लानि न लाते हुए, दीनता प्रदर्शित न करते हुए या स्पष्ट शब्दो मे कहे तो अपने अभावो का रोना न रोते हुए दो। थोडा देने मे तुम्हारी कृपणता नही कही जाएगी। कृपणता तो तब है, जब अपने पास होते हुए भी इन्कार कर जाए, दे नही। अथवा दे भी तो रोते-रोते या अपने अभावो की दु खकथा कहकर दे। इस प्रकार दान मे विमुखता, बेरूखापन लाना दान का दूषण है। कई लोगो की आदत होती है, कि वे दानी तो बनना चाहते हैं, किन्तु जिस समय किसी को देने लगेंगे, उस समय बडी लम्बी-चौडी बहसबाजी करेंगे, मानो उसका इण्टरव्यू ले रहे हो या परीक्षक बनकर परीक्षा ले रहे हो। वे उस समय लेने वाले से पूछेंगे—इतना किसलिए चाहिए ? घर मे कितने प्राणी हैं ? ऐसा एकदम अभाव कैसे हो गया ? क्या तुमने जुआ खेला था ? तुम्हारे पास तो बहुत धन था, तुम एकदम दरिद्र कैसे बन गए ? तुम्हारे पास तो अब भी काफी धन होगा, उसे खर्च न करने के लिए यहाँ याचक बनकर चले आए हो। तुम्हें तो बहुत-से दाता मिल सकते हैं, फिर मेरे पास ही क्यो आते हो ? बताओ, तुम्हारी कितनी आमदनी है और खर्च कितना है ? जिससे तुम्हारे बारे मे निर्णय कर सकूँ कि तुम्हे दिया जाय या नही। इस प्रकार प्याज के छिलके उतारने की तरह तर्क-वितर्क करके लेने वाले को कायल करके दान देना, दान के वैमुख्य नामक दोष के अन्तर्गत है। इस प्रकार दान देना भी रो-धोकर देना है, प्रसन्नचित्त से, हर्षपूर्वक देना नही है। इससे दान का बाग सूख जाता है। इस सम्बन्ध मे बुद्ध के जीवन का एक प्रसग अत्यन्त प्रेरणादायक है—

एक बार तथागत बुद्ध अपने सघसहित कौशल मे पधारे। वहाँ एक जमीदार ने उन्हे भोजन के लिए ससघ आमन्त्रित किया। भोजन के बाद वह बुद्धसहित सब लोगो को अपने बाग की सैर कराने ले गया। बाग बहुत बडा और सुन्दर था। उसके बीचोबीच एक बडा-सा स्थान था, जहाँ एक भी पेड न था। सघ के लोगो ने जमीदार से पूछा—'अजी ! क्या बात है ? इस स्थान पर एक भी पेड क्यो नही लगाया गया ?' जमीदार ने नम्रतापूर्वक कहा—'महात्मागण ! बात यह थी कि जिन दिनो यह बाग लगाया जा रहा था, उन दिनो मैंने एक लडके को वृक्षो को सींचने के लिए नियुक्त किया था। पहले तो वह सब वृक्षो को एक समान पानी देता रहा। बाद मे उसने सोचा—'इससे क्या लाभ ? जिस पौधे की जड जितनी लम्बी हो, उसे उतना ही कम पानी दिया जाय, यही बेहतर रहेगा।' अत वह सिंचाई से पहले प्रत्येक पौधे की जड उखाड कर उसकी लम्बाई देखता, तत्पश्चात् उसे पुन गाडकर उसी अनुपात मे उस पौधे को पानी देता। परिणाम यह हुआ कि थोडे ही दिनो में सभी पौधे सूख गए। इसी कारण इस जगह कोई पेड नही रहा। मैंने उस जड उखाड कर देखने वाले लडके को निकाल दिया।" इस पर महात्मा बुद्ध ने उपस्थित जमीदार, उसके कर्मचारी एव अपने सघ के लोगो को सम्बोधित करते हुए कहा—'जिस प्रकार बार-बार जडें उखाडने से पेड सूख गए, हराभरा बाग सूख गया, उसी प्रकार दान देते समय भी तर्क-

वितर्क या ज्यादा पूछाताछी नही करनी चाहिए। सहज भाव से, अपनी शक्ति अनुसार जिसको जो कुछ देना हो तुरन्त दे डालिए। अधिक विकल्पजाल या विचारो की उधेडबुन मे पडने से दान का बाग सूख जाता है। किसी याचक (आदाता) के साथ लम्बी बहस करके उसकी जडें उखाड कर देखने का प्रयत्न ठीक नही है। किसी का गुप्त भेद खुलवाने से क्या फायदा है ? जो कुछ विचार करना हो, वह दान देने से दो-चार दिन पहले विचार कर लेना चाहिए, दान देते समय इस प्रकार का विचार करना अथवा वाद-विवाद या बक-झक करना ठीक नही। एक जैनाचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया है—[1]

—'दान देते समय इभ्यश्रेष्ठियो को पात्र-अपात्र की चिन्ता करने से क्या लाभ है ?" आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि मे वर्णन है भगवान् महावीर ने जब देखा कि एक दीन-हीन ब्राह्मण गिडगिडाकर अपनी दीनावस्था प्रगट कर रहा है, तब उसके साथ तर्क-वितर्क नही की, न यह कहा कि यह (दारिद्र्य) तो तेरे कर्मों का फल है, मैं क्या कर सकता हूँ या तू तो सुपात्र नही है, आदि, किन्तु अनुकम्पा लाकर अपने कन्धे पर पडे हुए देवदूष्य वस्त्र का आधा हिस्सा उसे दे दिया।

इसी प्रकार दान देते समय विलम्ब या टालमटूल मत करो। कई लोगो की आदत होती है, दान तो देना चाहते हैं, किन्तु देते समय याचक को बहुत देर तक अपने द्वार पर प्रतीक्षा करायेंगे, उसे खडा रखेंगे, झटपट न देकर कहेंगे—अभी घण्टे भर की देर है। वे ऐसा इसलिए करते हैं, ताकि दान लेने वाला यहाँ से टरक जाय, निराश होकर अपने आप हार थककर यहाँ से रवाना हो जाय, किन्तु इस प्रकार विलम्ब करना या दान के लिए किसी को टरकाना दान का दूषण है। दान मे विलम्ब करने का मतलब है—दान देने की आन्तरिक इच्छा या उत्साह नही है, बिना मन से, बेरूखेपन से दान दिया जा रहा है, अथवा अपने द्रव्य के प्रति उसका ममत्व गाढ है, उसका ममत्व छूटा नही है, देय द्रव्य के प्रति।

रामकृष्ण परमहस के पास एक दिन एक साधक आया और कहने लगा—"स्वामी जी ! मुझे ससार छोडना है। मैं आपसे सन्यास लेना चाहता हूँ। और आपकी सेवा मे रहना चाहता हूँ। मैं अपनी कमाई की सर्वस्व पूंजी एक हजार रुपये लाया हूँ, उन्हे आपके चरणो मे अर्पण करना चाहता हूँ। आप इसका जैसा उपयोग करना चाहे, करें।" परमहंस ने एक हजार की थैली ग्रहण किये बिना ही आगन्तुक से कहा—"मैं यह ठीक समझता हूँ कि इस थैली को गगा-मैया (नदी) की भेंट कर आओ।" साधक ने इस अप्रत्याशित उत्तर से चकित होकर पूछा—"क्या गगा मैया को ?" परमहस ने वही वाक्य दोहराया। बेचारा साधक भारी कदमो से गगा नदी

---

१ "दानकाले महेभ्याना किं पात्रापात्रचिन्तया।
दीनाय देवदूष्यार्द्धं यथाऽदात् कृपया प्रभु ॥"

की ओर चला। गुरु की आज्ञा जो हुई थी! किसी तरह अनमने भाव से गंगा के तट पर बैठ कर उसने थैली का मुंह खोला और उसमे से एक रुपया निकाला और गगा मे फैंक दिया, फिर दूसरा रुपया निकाला, और उसे भी फैंका। इस प्रकार एक-एक करके उसने सब रुपये नदी मे फैंक दिये। खाली थैली लेकर वह परमहंस के पास लौटा और कहने लगा—"आपके आदेशानुसार सारे रुपये गंगाजी में डाल आया हूँ। परमहंस ने पूछा—"इतनी देर कहाँ और कैसे लगा दी, इन रुपयो के फैंकने मे ?' 'मैंने एक-एक रुपया निकाला और फैंका था, इसी से इतनी देर हो गई।' साधक ने कुछ हिचकते हुए उत्तर दिया।

परमहंस बोला—"तब तुम हमारे काम के नही हो।" साधक समझ रहा था कि 'मैंने बहुत बडा त्याग किया है, इसलिए गुरुजी मुझ पर बहुत प्रसन्न होंगे।' किन्तु जब उसने गुरुजी का निर्णय सुना तो भौचक्का-सा प्रश्न-सूचक की दृष्टि से गुरु की ओर देखने लगा। परमहंस ने उसे समझाया—"जो काम तुम्हे एक बार मे कर लेना चाहिए था, उसे तुमने हजारबार मे किया। जितनी देर मे तुमने एक रुपया फैंका, उतनी ही देर मे तुम शेष ९९९ रुपये फैंक सकते थे। फिर सबके सब रुपये एक साथ क्यो नही फैंक दिए ? इससे मालूम होता है कि तुम्हारी ममता मरी नही है। तुम ममत्व के विष को जल्दी नही छोड सकते। अभी जागृति पूरी नही आई। इसलिए अभी तुम सन्यास के अयोग्य हो यहाँ दान और त्याग मे विलम्ब करने वालों की गुजर नही।"

यह प्रेरणात्मक जीवनगाथा स्वय बोल रही है कि दान मे विलम्ब करना, दान के महत्त्व को घटाना है। इसलिए विलम्ब को दान का दूषण माना गया है। एक भारतीय कहावत प्रसिद्ध है—'तुरन्त दान महापुण्य', उसका भी आशय यही है कि शीघ्र दान देना महापुण्य का काम है। कई बार लोग प्रवचनकार के जोशीले प्रवचन एव व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जोश मे आकर दान की रकम की घोषणा कर देते हैं, अथवा अमुक अर्थराशि देने का वचन दे देते हैं, किन्तु बाद मे जब कार्य-कर्ता उनके पास लेने जाता है, तो वे आज-कल करते हुए महीनो भुला देते हैं, और इस प्रकार आगे से आगे टरका देते हैं। कभी-कभी तो वर्षों तक घोषित रकम देते नही हैं, सस्था को लटकाये रखते हैं और अन्त मे बिलकुल मुकर भी जाते हैं कि मैंने कब कहा था कि मैं इतनी रकम तुम्हारी सस्था को दूंगा। सस्था के कार्यकर्ता वसूली करते-करते हैरान हो जाते हैं, और दान के लिए वचन देने वाला आगे से आगे टरकाता जाता है। यह नीति ठीक नही है। दान का उत्साह इससे खत्म हो जाता है। दाता और आदाता दोनो के मन मे सक्लेश पैदा होता है। इससे न देने वाले को आनन्द आता है, न लेने वाले को। जैन समाज के एक दानी सद्‌गृहस्थ श्री सोहनलाल जी दुगड की यह खासियत थी कि वे दान की रकम घोषणा करते ही तुरन्त उतने रुपये निकाल कर दे देते थे। वे कहते थे—"जिन्दगी का कोई भरोसा

नही है। अभी मैंने दान की घोषणा की है, किन्तु बाद में मैं न दे सका तो कर्जदार बना रहूँगा। दूसरी बात यह कि मैं सटोरिया हूँ। इस समय मेरे पास इतनी रकम है, कल को सट्टे में नुकसान लग जाय तो फिर मैं कहाँ से दूँगा, इतनी रकम ?"

एक तरह से घोषित दान की रकम तुरन्त दे देना, बहुत ही अच्छा है।

झडू फार्मेसी के संस्थापक वैद्यराज झडुभट्ट जामसाहब के राजवैद्य थे। जामसाहब विभाजी के स्मारक बनाने हेतु चंदा एकत्र किया जा रहा था। जिस पर चन्दा लिखा जा रहा था, वह पत्रक पहले झडुभट्ट के हाथ में दिया गया, उन्होंने एक हजार कोटी (एक चाँदी का सिक्का) लिख दी। इसके बाद जब नगर सेठ के हाथ में वह पत्रक दिया गया तो उन्होंने १० हजार कोटी लिखने के बजाय एक हजार कोटी ही लिखी। इस पर भट्टजी ने तुरन्त वह पत्रक लेकर १० हजार कोटी लिख दी। इस पर नगर सेठ ने कहा—'भट्टजी तो एकलाख कोटी भी दे सकते हैं, इन पर तो जाम साहब के हाथ हैं, पर मैं तो १० हजार से अधिक नही दे सकूंगा। इस पर भट्टजी ने वह पत्रक लेकर एक शून्य और बढा दिया, इससे नगर सेठ को भी एक लाख कोटी लिखनी पड़ी। परन्तु लोगों में यह चर्चा चली कि इस समय भट्टजी का हाथ तंग है, कैसे वे एक लाख कोटी भरेंगे ?' यह चर्चा भट्टजी द्वारा बचपन में उपकृत सेठ अब्दुल्ला सुन रहा था। उसने अपनी दूकान पर जाकर तुरन्त अपने मुनीम से कहा—'भट्टजी के यहाँ १ लाख कोटी दे आओ। उन्होंने जामसाहब के स्मारक फंड मे एक लाख कोटी लिखी हैं। तुरन्त मुनीम भट्टजी के यहाँ पहुँचा और भट्टजी की अनुपस्थिति में ही उनके मुनीम भाई शंकर को कार में बिठाकर दूकान पर लाया। एक लाख कोटी (दो हजार गिन्नियाँ) गिनकर सेठ अब्दुला ने भट्टजी के मुनीम को दे दी। शाम को भट्टजी ने जब अपने मुनीम जी से इस एक लाख कोटी की बात सुनी तो भट्टजी ने प्रभु की कृपा मानते हुए मुनीम से कहा—'भाई शंकर! कल सुबह ही इन एक लाख कोटियों को राजकोष में जमा करा देना। पराई अमानत रखने से क्या लाभ ? यह तो घोषित दान की रकम है, जितनी शीघ्र दी जा सके दी जानी चाहिए।'

सचमुच, दान के विषय में विलम्बकारी नीति दान के रंग को खत्म कर देती है और शीघ्रकारी नीति दान के उत्साह को द्विगुणित कर देती है।

इसके साथ ही दान के दूषणों में एक बहुत ही खटकने वाला दूषण है—अप्रिय वचन। दान के साथ जब कटुवचन और गालियों की बौछार प्रारम्भ होती है, तब तो दान का सारा मजा किरकिरा हो जाता है। वह दान ही सारा जहरीला बन जाता है, जो दान के प्राण को ही खत्म कर देता है। दान दिया जाता है—प्रसन्नता से, प्रेम से, आत्मीयता से, मन की उमंग से, या श्रद्धा-भक्ति से, उत्साहपूर्वक। किन्तु ये सब बातें न होकर दान, केवल तीखे वाक्य बाणों के साथ दिया जाता है, तब तो उसमें बिना मजमून के कोरे लिफाफे के समान केवल नाम का ही दान रह जाता है। उसमें से दान की आत्मा निकल जाती है, और केवल दान का कलेवर रह जाता

है। यह कितना असत्य है कि व्यक्ति दान भी देता है, अपने द्रव्य का व्यय भी करता है, किन्तु कटुता के खारेपन के कारण दान भी कडवा और वेस्वाद हो जाता है।

यह दान नही, दान का मजाक है, जिससे दान करके भी व्यक्ति उसका प्रतिफल ठीक रूप मे प्राप्त नही कर सकता। इसीलिए आचार्य सोमदेवसूरि ने नीतिवाक्यामृत मे स्पष्ट कह दिया—

'तत् किं दान यत्र नास्ति सत्कार ।'

—'वह कैसा दान है, जिसमे सत्कार नही है ?

इसीलिए भारतीय सस्कृति के मनीषी महर्षियो के प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसी दासजी ने जहाँ दान के साथ कटुता हो, वहाँ से दान लेने का ही नही, उस घर मे जाने का भी निषेध किया है—

आव नहीं, आदर नहीं, नहीं नैनों में नेह।
तुलसी वा घर न जाइए, कंचन बरसे मेह ॥

गालियो और अपशब्दो के साथ जहाँ दान मिलता हो, वहाँ भला कौन स्वाभिमानी पुरुष दूसरी बार जाना चाहेगा ? रामायण का एक सुन्दर प्रसग इस सम्बन्ध मे अतीव प्रेरणादायक है—

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम वनवास से लौटे। राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर एक दानशाला का निर्माण किया गया। दानशाला के व्यवस्थापक के तौर पर श्री हनुमान जी को नियुक्त किया गया। श्रीराम ने उन्हे यह हिदायत दी कि याचक जो माँगे, वही दें। दानशाला से कोई भी याचक खाली न लौटने पाए। चूँकि प्राचीन युग का याचक भिखारी के रूप मे नही, अतिथि के रूप मे देखा जाता था। अत श्रीराम जी ने हनुमानजी को 'अतिथि देवो भव' की मगल प्रेरणा दी। श्री हनुमान जी ने आदेश का पालन किया राज्य के कोने-कोने से याचकगण आने लगे और हनुमान जी दिल खोलकर दान देने लगे। किन्तु याचको की कतार बहुत लम्बी होने लगी। भीड प्रतिदिन दूनी होने लगी। वे सबकी माँगो को सुनते और यथोचित रूप मे पूरी करते। पर प्रतिदिन बढती हुई इस भीड को देखकर श्री हनुमान जी का धैर्य जवाब देने लगा। अत दान के साथ उनकी कुछ झुंझलाहट भी बढने लगी। कुछ दिन बीते, झुंझलाहट के साथ कुछ गालियो की बौछार भी होने लगी। वस्तुओ के साथ गालियो का प्रवाह भी मुक्तरूप से बहने लगा। वस्तुओ के कोष मे कमी आ सकती थी, परन्तु गालियो का कोष तो अक्षय था। और गालियो के पुरजोश प्रवाह मे याचको की भीड छट गई। मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम के कानो मे ये समाचार पहुँचे। अपनी दानशाला की यह दुर्दशा देखकर श्रीराम जी का दिल दहल उठा। पर प्रिय सेवक हनुमान को कुछ कहा भी नही जा सकता था।

एक दिन सन्ध्या को श्रीराम वन-विहार को चले। साथ मे हनुमानजी भी थे। श्रीराम ने कुछ तेज कदम उठाए, अत हनुमान पीछे रह गए। आगे चलकर

हनुमान ने देखा कि एक कुटिया मे एक सन्त बैठे है। उनका विचित्र रूप देखकर हनुमान दग रह गए। मुनि की सारी देह सोने-सी चमक रही थी, परन्तु ऊपर देखा तो उनका मुँह सूअर-सा था। हनुमान जी आश्चर्य मे डूबते-उतराते हुए निकट आए। मुनि की देह को आँखें तरेर कर वे देखने लगे। मुनि बोले—'हनुमान! देह को क्या देख रहे हो? देखना हो तो आत्मा को देखो।' हनुमान ने पूछा—'मुने! ऐसा विचित्र रूप तो मैंने कभी कही नही देखा। ऐसा रूप मिलने का क्या कोई कारण भी है?'

मुनि—'अच्छा! सुनना ही चाहते हो तो सुनो। मैं पूर्वभव मे एक गृहस्थ था। सम्राट् की ओर से दानशाला पर नियुक्त था। उस दानशाला मे वर्षों तक मैंने दान दिया। हजारो याचक आते और मैं उन्हे दिल खोलकर देता। इन हाथो ने लाखो का दान दिया है, लेकिन इस जीभ ने मधुर वाक्यो का दान नही दिया, अपितु दान के साथ घृणा बरसाई। याचको का अपशब्द से तिरस्कार किया। और आज उस दान का फल साकार हुआ है। हाथो ने दान दिया, इसलिए यह सोने-सा शरीर मिला है, मगर जीभ ने घृणा बरसाई, अत मुँह सूअर-सा मिला है।' उन्ही के शब्दो मे—

"नाना दानं मया दत्त, रत्नानि विविधानि च।
न दत्त मधुर वाक्य, तेनाऽहं शूकरमुख ॥"

हनुमान जी सब कुछ समझ गए और तुरन्त अपनी भूल स्वीकार की तथा भविष्य मे ऐसी गलती न करने का वचन दिया। श्रीराम को सन्तोष हुआ।

सचमुच, दान के साथ मधुर वाक्य अमृत का-सा काम करते हैं और दाता को यशस्वी, आशीर्वाद से युक्त, सद्भावना से सम्पन्न बनाते हैं, जबकि कटुवाक्य विष का-सा काम करते हैं, घृणा फैलाते हैं और भविष्य मे द्वेष और वैर भी बढा देते हैं।

और दान का पाँचवाँ दूषण है—पश्चात्ताप। दाता के मन मे दान देने के बाद उसका पश्चात्ताप होना भी दान के फल को मिट्टी मे मिलाना है। कई कृपणवृत्ति के लोगो की आदत होती है कि वे पहले तो किसी स्वार्थ या लोभ के वश किसी व्यक्ति को दान देने मे प्रवृत्त होता है, किन्तु जब उसका स्वार्थ या लोभ पूर्ण नही होता या उसकी आकाक्षा पूरी नही होती, तब वे दिये गये दान के विषय मे पछतावा करते हैं। उनका मानसिक सन्ताप इतना बढ जाता है कि वे भविष्य मे किसी भी व्यक्ति को दान देने के लिए उत्साहित नही होते।

राजगृही के मम्मण सेठ के पास ९९ करोड की सम्पत्ति थी, फिर भी उसकी तृष्णा मिटी नही। उसने अपने सब लडको को थोडी-थोडी पूँजी देकर अलग व्यापार करने और अपना गुजारा चलाने के लिए अलग कर दिया। सब लडके मम्मण सेठ के सकुचित रवैये से तग आकर अपने स्त्री-बच्चो सहित अर्थोपार्जन के लिए परदेश चले गये। बाद मे मम्मण ने अपनी सारी सम्पत्ति को हीरे-पन्नो आदि से जटित बैल बनाने मे लगा दी। उस बैल को देखकर उसके मन मे उसकी जोडी का दूसरा बैल बनाने की धुन लगी और इसके लिए वह शर्दी, गर्मी, बरसात एव अँधेरी रात की परवाह

न करके कस कर मेहनत करने लगा। राजा श्रेणिक को जब पता लगा तो उसे दरबार मे बुलाकर उसे बढिया बैल देने का कहा, पर वह उस बैल से कहाँ सन्तोष हो सकता था? उसने राजा श्रेणिक को अपने यहाँ ले जाकर तलघर मे हीरे-पन्ने आदि से जटित बैल बताया और उसकी जोडी का बैल राजा से चाहा। आखिर उसकी माँग की पूर्ति न हो सकी।

राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से मम्मण सेठ की ऐसी वृत्ति का कारण पूछा तो उन्होने उसकी पूर्वजन्म की घटना सुनाई—'मम्मण सेठ पूर्वजन्म मे बहुत गरीब था। एक बार बिरादरी मे भोज हुआ, उसमे लड्डू दिये गये। इसने अपने हिस्से का लड्डू रख लिया। सोचा—'भूख लगेगी, तब खाऊँगा।' जब वह गाँव के बाहर आकर एक तालाब के किनारे उस लड्डू को खाने बैठा। तभी उसे एक मासोपवास की तपस्या वाले साधु आते दिखाई दिये। इसके जी मे आया—'आज अच्छा मौका मिल गया है, साधु को आहारदान दूं।' यह सोचकर उसने मुनि को आहार लेने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। मुनि ने कहा—तुम्हारी इच्छा है तो इसमे से थोडा-सा दे दो।' किन्तु उसकी भावना उस समय इतनी उत्कृष्ट थी कि मुनि के अत्यधिक मना करने पर भी उसने वह सारा लड्डू मुनि को दे दिया। मुनि लेकर चल दिये, उसके घर के पास मे एक व्यक्ति रहता था जिसके मन मे साधुओ के प्रति घृणा थी उसने उसके पास आकर कहा कि आज तुम्हारे यहाँ पर एक मोटा साधु आया था तुमने उसे क्या दिया?

उसने उसका प्रतिवाद करते हुए कहा—जरा सभ्यता से बोलो, तपस्वी सन्त भगवत को तुच्छ शब्दो से पुकारना उचित नही है। मेरे पास है भी क्या, जो मैं उन्हें देता। आज मेरे सद्भाग्य थे कि लहानी का लड्डू आया था और इधर तपस्वी सन्त भगवन्त पधार गये, मुझे सहज रूप से लाभ मिल गया। उसने कहा—जरा तेने लड्डू चखा भी है या नही, इतना बढिया लड्डू तो मैंने अपने जीवन मे पहली बार देखा, क्या उसका स्वाद है! उसके कहने से उसने थाली मे पडे लड्डू के कणो को खाया। वे लड्डू के कण बडे स्वादिष्ट थे। लड्डू की उस मिठास ने मुनि को दान के उसके रस को बिगाड दिया। उसके हर्ष को विषाद मे परिणत कर दिया। वह लगा सोचने—'कहाँ से आ गये ये? इन्हे भी आज ही आना था! यह तो सन्त हैं, इन्हे तो रोज-रोज ही लड्डू मिल सकते हैं, मुझे कौन-से रोज मिलते हैं। इन्हे भी आज ही आने की सूझी। आज तक तो मेरे यहाँ आये नही, और आये तो भी आज आए। मैंने व्यर्थ ही इन्हे लड्डू दे दिया।' इस प्रकार लड्डू देने के लिए पश्चात्ताप करने लगा वह। उसी पश्चात्ताप का परिणाम है कि आज इसके पास ९९ करोड की सम्पत्ति होते हुए भी उस दानान्तराय कर्मबन्धन के फलस्वरूप दान नही कर सकता, सत्कार्यों मे खर्च नही सकता।'

यह दान देकर पश्चात्ताप करने की मुंह बोलती घटना है। इसी प्रकार दान

देकर पश्चात्ताप करना, दान के रस को बिगाडना है। उदार व्यक्ति दान देकर पश्चात्ताप नही करता, चाहे दान मे उसने कीमती से कीमती चीज दे दी हो, बल्कि उसे दान देने के बाद हर्ष होता है कि मुझे अपनी प्रिय वस्तु देने का उत्तम अवसर मिला, आदाता ने अनुग्रहपूर्वक दान लेकर मुझे कृतार्थ किया।

कहते हैं, राणा सग्रामसिह जी ने राजघराने के व्यय से सम्बन्धित एक गाँव किसी को दान दे दिया। राणा के द्वारा रसौडा, जेब खर्च, वस्त्र या अन्य वस्तु, यहाँ तक कि प्रत्येक रानी के खर्च के लिए निश्चित रकम न बाँधकर एक-एक भूभाग निश्चित था, जिसे 'थूआ' कहा जाता था। प्रत्येक भूभाग का अधिकारी 'थूआदार' कहलाता था। ये राणा के प्रधानमन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते थे। एक दिन राणाजी एक सामन्त के साथ रसोडे मे भोजन कर रहे थे। अन्यान्य सामग्री के साथ उनकी थाली मे दही भी परोसा गया। राणा को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दही के साथ मीठा क्यो नही आया? राजपूतो के भोजन मे दही के साथ मीठा खाने का रिवाज है। राणा ने रसौडे के प्रधान से मीठा न आने का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया—'अन्नदाता! मन्त्रीजी कहते हैं कि श्रीमान् ने मीठे के लिए नियत गाँव किसी को दान कर दिये हैं।' राणा ने सुनते ही कहा—'ठीक है!' और बिना किसी प्रकार की नुक्ताचीनी या पश्चात्ताप किये वे भोजन करके उठ गये, उन्हे मीठे के लिए नियत गाँव के दान देने का कभी भी पश्चात्ताप न हुआ।

दान देने का पश्चात्ताप उसे ही होता है, जो व्यक्ति अनुदार हो, अपने विषय-सुखो या दैहिक सुविधाओ के प्रति आसक्त हो। अत विधियुक्त दान के लिए पूर्वोक्त ५ दूषणो से बचना चाहिए।

दान के पाँच भूषण

जैसे दान के पाँच दूषण बताये, वैसे ही विधियुक्त दान के लिए दान के पाँच भूषण भी जैनाचार्य ने इस प्रकार बताये हैं—

> आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो, बहुमानं प्रियं वच।
> तथाऽनुमोदना पात्रे दानभूषण-पञ्चकम्॥

अर्थात्—दान देते समय आनन्दातिरेक से आँसू उमड आना, पात्र को देखते ही रोमाञ्च हो जाना, आदाता (पात्र) का बहुमान करना, प्रिय वचनो से उसका स्वागत-सत्कार करना, तथा दान के योग्य पात्र का अनुमोदन (समर्थन) करना, ताकि दूसरो को उसे दान देने की प्रेरणा मिले, ये दान के पाँच भूषण हैं। इनसे दान की शोभा बढती है। दान मे विशेषता (चमक) आ जाती है।

अन्तकृद्दशाग सूत्र मे वर्णन आता है कि जिस समय सुलसा के यहाँ पले-पुसे मुनि बने हुए देवकी महारानी के छह पुत्र दो-दो के युगल मे बार-बार उसी के यहाँ भिक्षा के लिए आये तो उनके बार-बार आने का भ्रम होने पर भी देवकी ने मुनियो

को आहार देने मे किसी प्रकार की अरुचि नही दिखाई, बल्कि अत्यन्त उमग और उत्साहपूर्वक मुनियो के तीनो युगलो को आहार दिया। बल्कि उनको आहार देते समय हर्ष उमडता था। मुनियो को अपने राजमहल की ओर आते देखकर देवकी के मन मे आनन्द की लहर पैदा हो आई और वह अपने सिंहासन से उठकर स्वय सात आठ कदम सामने जाकर उनका स्वागत किया और अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें भोजनगृह मे पधारने की प्रार्थना करके उसने सिंह केसरिया मोदक उनके भिक्षापात्र मे दिये। इस प्रकार दान देने से पहले देने के बाद और देते समय बहुत उच्च भावना थी। हृदय मे उसके हर्ष नही समा रहा था। वह अपने को धन्य मान रही थी।'[1]

यह है दान के पाचो भूषणो का प्रतीकात्मक उदाहरण! दान की विधि के अन्तर्गत ही ये पाचो भूषण समझने चाहिए। केवल महाव्रती साधु को ही नहीं, समस्त दान पात्रो को दान देते समय ये पाचो भूषण दाता के व्यवहार मे आने चाहिए।

गुजरात के एक छोटे-से गाँव की घटना है। एक हरिजन बहन के पीहर में कोई न होने से वह अपने बीमार पति को लेकर ससुराल के गाँव मे शीघ्र पहुँचने हेतु पीहर के गाँव से बाहर होकर जा रही थी। ग्राम निवासी आयर पटेल ने उसे देखा तो अत्यन्त प्रेम से सम्बोधित करते हुए कहा—"बेटी! यह कैसे हो सकता है? बाप का घर छोडकर यो ही कैसे जा सकती हो? इस प्रेम के आगे अस्पृश्यता की दीवार कहाँ टिक सकती है? फलत वह हरिजन लडकी और उसका पति दोनों वापिस लौटे। आयर पटेल दोनो को अपने घर लाया। पटेल ने दोनो को अनाज की गठडी भर कर भेंट की और कहा—'बेटी! यह भी तेरा घर है। फिर दूसरी मौसम मे आना।' इस दान के पीछे न तो नाम की भूख थी, और न अहपन की खुमारी। इस दान के पीछे हर्षपूर्वक कर्तव्य का आनन्द था। प्रियवचन और बहुमान तो थे ही।

इसीलिए नीतिज्ञो ने दान के साथ प्रियवचन को मानव का सहज गुण बताया है—

> दातृत्व प्रियवक्तृत्वम् धीरत्वमुचितज्ञता।
> अभ्यासेन न लभ्यन्ते, चत्वारो सहजा गुणा ॥

---

१ 'तत्थण एगे सघाडए बारवतीए नयरीए भिक्खारियाए अडमाणे २ वसुदेवस्स रण्णो देवतीए गेहे अणुपविट्ठे। तते ण सा देवती देवी से अणगारे एज्जमाणे पासति पासित्ता हट्ठ जाव हियया आसणा तो अब्भुट्ठे ति, अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठ-पयाइ तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिण करेइ, करित्ता वदति, णमसति, वदित्ता नमसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागया, सीहकेसराण मोयगाण थाल भरेति, ते अणगारे पडिलामेति, वदति णमसंतित्ता पडिविसज्जेइ'

—अन्तकृद्दशाग सूत्र वर्ग ३

—'दान देना, प्रियवचन कहना, धीरता रखना और उचित का ज्ञान होना, ये चारो गुण अभ्यास से प्राप्त नही होते, ये चारो सहज गुण हैं।

दान के भूषण के सन्दर्भ मे दान की चार श्रेणियो का वर्णन कर देना उचित है।

पाराशरस्मृति मे दान की इन चारो श्रेणियो का सुन्दर विश्लेषण किया गया है—

—'लेने वाले पात्र के सामने जाकर देना उत्तम दान है, उसे बुलाकर देना मध्यमदान है, उसके मागने पर देना अधमदान है। और मागने पर भी न देकर अपनी चाकरी कराकर देना निष्फलदान हैं।[1]

दान का भलीभाँति नापतौल और पहिचान करने के हेतु यह एक ही श्लोक बहुत-सी प्रेरणा दे देता है।

दान के पाच भूषणो के सिलसिले मे दान की आठ कोटियो पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। वर्तमान मे अधिकाश लोगो का दान देने का तरीका गलत है। वे या तो देखादेखी या शर्माशर्मी देते हैं, या नामवरी के लिए देते हैं, वे कदाचित् हाथ से देते हैं, परन्तु हृदय से नही। इसलिए दानियो के लिए ये आठ कोटि के दान-सूत्र अत्यन्त प्रेरणादायक हैं, जिनसे वे अपने दान को टटोल सकें। इस दृष्टि से दान की आठ सीढियाँ निम्नलिखित प्रकार से बनती हैं—

(१) दान देना, पर इच्छा से नही, हाथ से देना, पर हृदय से नही।
(२) प्रसन्नता से देना, पर दु खी की आवश्यकतानुसार न देना।
(३) प्रसन्नता से देना, आवश्यकतानुसार भी देना, पर बिना मागे न देना।
(४) प्रसन्नतापूर्वक आवश्यकतानुसार और मागने से पहले ही देना, पर देना सबके सामने, जिससे लेने वाले को लज्जित होना पडे।
(५) एकान्त मे देना, जिसे देने वाला और लेने वाला जाने।
(६) देने वाला जाने, पर लेने वाला न जाने। गुप्त दान देना।
(७) न देने वाला जाने और न लेने वाला ही। सदूकची में गुप्तदान देना।
(८) दान का ऐसा प्रबन्ध करना, जिससे दरिद्रता कभी आने ही न पाए।

वास्तव दाता को दानविधि का ज्ञान करते समय दान की इन आठ सीढियो को अवश्य ध्यान मे लेना चाहिए।

इसी दृष्टि से दान के दूषण (अतिथिसविभागव्रत) के सन्दर्भ मे शास्त्रकारो ने पाच अतिचार (दोष) बताए हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है।

'सचित्तनिक्षेप-पिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमा.।'

---

१ "अभिगम्योत्तम दानमाहूयैव तु मध्यमम्।
अधम याचमानाय सेवादान तु निष्फलम्॥"

—'देय वस्तु सचित्तपदार्थ पर रख देना, सचित्त वस्तु से ढक देना या आदाता लेने आए, उस समय उस पर कपडा आदि कोई पदार्थ ढक कर उसे छिपा देना, देय वस्तु दूसरे के स्वामित्व की बताना, ताकि आदाता को टरकाया जा सके, दान देने वाले से डाह (ईर्ष्या) करना, जलना, और भोजन के समय मे दरवाजा बद करके टाल देना, बाद मे खोलना, इस तरह कालातिक्रम करके आदाता को टरका देना।

ये पाचो अतिचार दान देने के नाटक हैं। जहाँ व्यक्ति दान हृदय से नही देना चाहता, वहाँ दान देने की औपचारिकता होती है। जिस व्यक्ति को जैसा दान चाहिए, वैसा उमग और उत्साह से नही दिया जाता कई दफा तो दान न देने के लिए बहाना बना लिया जाता है कि देय वस्तु सचित्त वस्तु पर रखी हुई है चूंकि जैन मुनि सचित्त (सजीव) वस्तु पर रखी हुई कोई वस्तु ग्रहण नही कर सकता, इसलिए न देने का कहने के बजाय अनायास ही निषेध हो जाएगा। परन्तु जघन्य और मध्यम अतिथि के लिए भी अमुक आहार न देना हो तो सचित्त (नही पके या न सीझे हुए) के साथ रख-कर यो बहाना भी किया जा सकता है कि महाशय ! अमुक वस्तु तो अभी सीझी हुई या पकी हुई नही है, आपको कहाँ से देदें।' इसी प्रकार पिधान का अर्थ देय वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना है, वह भी साधु के लिए कल्पनीय या ग्राह्य नही होती। परन्तु गृहस्थपात्र के लिए पिधान का अर्थ छिपा देना होगा, जिससे वह बहाना बना सके कि "वस्तु तो है ही नही, दे कहाँ से दूं ?' या पिधान का अर्थ यह भी हो सकता है कि द्वार बदकर लेना, जिससे दान न देना पडे। बद दरवाजा देखकर कोई भी अतिथि घुस नही सकता। इसी प्रकार अन्य अतिचार भी साधु के लिए तो स्पष्ट है, लेकिन गृहस्थ पात्र के लिए जरा सा लक्षणा से अर्थ करना होगा। परव्यपदेश का अर्थ तो स्पष्ट ही बहाना बनाना है। जब व्यक्ति को कोई चीज देने की इच्छा नही होती है तो वह अपनी चीज को भी झूठ बोलकर दूसरे की बता देता है अगर देता है तो भी रोते-रोते, दूसरो की चीज कहकर देता है। जैसे श्रेणिक राजा की कपिला दासी से कहा गया तू अपने हाथ से दान दे, किन्तु उसने जब साफ इन्कार कर दिया कि मैं कदापि नही दे सकती। इन हाथो से मैं पराई चीज कैसे दे दूं ? तब उसके हाथो के चाटु बाँध दिये, और उससे दान देने का आग्रह किया गया, तो भी उसने यही कहते हुए दान दिया कि मै नही दे रही हूँ, मेरा चाटु दे रहा है।' यह दान नहीं, दान की विडम्बना थी। साधु को दान देने के लिए कालातिक्रम का अर्थ है—साधु के आने का जो समय हो, उस समय को टालकर दूसरे समय मे आहार आदि ग्रहण करने की प्रार्थना करना। यह भी एक एक तरह से टालमटूल करना है। गृहस्थ को देने के सम्बन्ध मे इसका अर्थ है—दान का वचन देकर बार-बार कल, परसो, तरसो, अमुक दिन आने का कहकर दान मे विलम्ब करना अथवा जिस समय दान देने का कहा हो, उस समय कही इधर-उधर चले जाना। और मात्सर्य का अर्थ है—दान देने वालो से ईर्ष्या करना। दान देने की भावना न होते हुए भी किसी दाता की बडाई सुनकर उसके दान से आगे बढने की कोशिश करना। अथवा यो कह कर देना कि उस

भिखारी के पास क्या देने को है ? लो, मैं आपको उससे बढिया पदार्थ देता हूँ। इस प्रकार ईर्ष्यावश अपनी हैसियत को न देखकर भी कई लोग दान देने को तैयार हो जाते हैं। दूसरो की देखादेखी, कर्ज करके या अपने आश्रितो या सेवको की तनख्वाह काटकर बचत करके उससे दान देना भी दान का दूषण है।

सुपात्र दान के बयालीस दोष

दान की विधि के प्रसग मे इस बात की भी चर्चा कर लेनी उचित है कि अतिथि-सविभाग व्रत के अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अतिथि (पात्र) के अनुरूप विधि से आहारादि दे।

मध्यम अतिथि व्रतधारी श्रावक होता है, उसके आहार ग्रहण करने के इतने नियम नही हैं, और न ही जघन्य अतिथि बुभुक्षित, आगन्तुक, पीडित, रोगी, अग-विकल आदि के लिए आहार ग्रहण करने की विधि के विषय मे सोचना है। आहार ग्रहण करने की विधि साधुसाध्वियो के लिए विचारणीय होती है। वे आहार के ४२ दोष वर्जित करके एषणीय, कल्पनीय, अचित्त आहार का ग्रहण करते हैं, इसलिए उन्हें आहारादि दान देते समय दाता को उनकी विधि के विषय मे विचार करके ही आहार देना उचित है। वही दान विधिपूर्वक दान कहलाता है।

शास्त्र मे व पिण्डनिर्युक्ति मे मुनियो के लिए आहारग्रहण करते समय ४२ दोष वर्जनीय बताए हैं। उनमे से १६ उद्गम के दोष हैं, १६ उत्पादना के और १० एषणा के दोष हैं। सर्वप्रथम उद्गम के जो दोष हैं, वे दानदाता और दान लेने वाला दोनो से सम्बन्धित हैं। इसलिए खासकर दाता को मुनियो को आहार देते समय इन १६ दोषो को छोडने का विवेक करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

> आहाकम्मुद्देसिय-पूइकम्मेय मीसजाए य।
> ठवणा पाहुडियाए पाऊअर-कीय-पामिच्चे ॥
> परियट्टिए अभिहडे अभिन्ने मालोहडइ य।
> अणिच्छे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥

—"आधाकर्म, औद्देशिक पूतिकर्म, मिश्रजात, स्थापना, प्राभृतिका, प्रादुष्कर, क्रीत, पामित्य, परिवर्तित, अभिहृत, अभिन्न, मालोपहृत, अनिच्छ, अनिसृष्ट, अध्यवपूरक या १६ उद्गम के दोष हैं। जो दान की अविधि के द्योतक हैं।

१ आधाकम्म— आधाकर्म साधुओ के निमित्त से आहार बनाना।

२ उद्देसिय—औद्देशिक-सामान्य याचको के लिए बनाना, अथवा किसी खास साधु-साध्वी को लक्ष्य करके बनाना।

३ पूइकम्म—पूतिकर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना।

४ मीसजाय—मिश्रजात अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना।

५ ठवणा—स्थापना-साधु के लिए अलग निकाल कर रख देना।

६ पाहुडिया—प्राभृतिका-साधु को गांव मे आया जानकर उन्हें विशिष्ट आहार बहराने के लिए पाहुनो या मेहमानो आदि के जीमनवार का समय आगे-पीछे करना।

७ पाओअर—प्रादुष्कर-अन्धकारयुक्त स्थान से दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन आदि देना।

८ कीअ—क्रीत-साधु के लिए खरीद कर आहारादि देना।

९. पामिच्च—पामित्य-साधु के लिए उधार लाकर देना।

१० परिअट्टिय—परिवर्तित-साधु के लिए आटा-साटा करना।

११ अभिहड—अभिहृत-साधु के लिए दूर से लाकर देना।

१२ उब्भिन्न—उद्‌भिन्न-लिप्त पात्र का मुँह खोलकर घृत आदि देना।

१३ मालोहड—मालापहृत-ऊपर की मजिल से या छीके वगैरह से सीढी आदि से उतार कर देना।

१४ अच्छिज्ज—आच्छेद्य-दुर्बल आदि से छीनकर, जबरन लेकर साधु को देना।

१५ अणिसिट्ठ—अनिसृष्ट-साझे की चीज दूसरे साथी की अनुमति के बिना ही देना।

१६ अज्झोयरए—अध्युपपूरक-साधु को गांव मे आया जानकर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन मे और अधिक डालकर बढा देना और फिर देना।

ये दोष मुख्यतया दाता से लगते हैं। इसलिए दाता को साधु-साध्वी को आहारादि भिक्षा देते समय इन दोषो से वर्जित आहार ही देना अच्छा है। भावुकता के वश या साधु-साध्वियो या तपस्वियो को विधि या अविधि किसी प्रकार से आहारादि दूंगा तो मुझे पुण्यलाभ होगा, मेरे भाग्य खुल जाएँगे, वारे-न्यारे हो जाएँगे, यदि ये साधु प्रसन्न हो गए तो, अथवा मुनिराज प्रसन्न होकर मुझे कोई अर्थ प्राप्ति आदि के लिए मन्त्रादि दे देंगे। परन्तु ऐसा आहारादि दान अविधि युक्त होने से उससे न केवल उन साधु-साध्वियो का ही अहित होता है, देने वाले का भी अप्रासुक अनेषणीय, अकल्पनीय आहार देने से अल्पायु का बन्ध होता है।

जो १६ उत्पादना के दोष हैं, वे साधु-साध्वियो से लगते हैं, इसलिए इस विषय मे आदाता (पात्र) के नाते उन्हे अपने दोषो को ध्यान रखकर वर्जित करना चाहिए। और एषणा के दस दोष भी खासकर साधु द्वारा ही लगते हैं, इसलिए उन दोषो से भी साधु-साध्वियो को सावधान रहने की आवश्यकता है। ☆

5

दान और भावना

दान-विधि के प्रसंग मे यह बताया गया है कि द्रव्य शुद्धि व दायक शुद्धि और पात्र शुद्धि तीनो की शुद्धता हो तभी दान शुद्ध कहलाता है। भिक्षुक को घर पर आता देखें तो कैसे, किस प्रकार उसका स्वागत करे, किस विधि से उसे आहारादि दे? इस विषय मे हम पहले ज्ञातासूत्र, अन्तकृत्, सुखविपाक आदि सूत्रो के उद्धरण देकर भली-भाँति स्पष्टीकरण कर आए हैं। आगमो मे अनेक स्थानो पर भिक्षादान की यह विधि बताई गई है। श्रावक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार से विधिपूर्वक साधु-साध्वियो को भिक्षा दे। यह नही कि मुनि घर पर भिक्षा के लिए आएँ, उस समय गृहस्थ लापरवाही से बैठा रहे, जैसे कोई भिखारी आया हो, मिले तो ले जाए, न मिले तो खाली लौट जाए। उपेक्षापूर्वक लापरवाही से दान देने मे वह आनन्द भी नही मिलता और न ही उत्तम फल प्राप्त होता है। उत्तम फल तभी मिलता है, जब खुशी से एव सत्कार से दान दिया जाय। अन्यथा वह दान अतिथि-सविभाग व्रत के पूर्वोक्त पाच अतिचारो (दोषो) मे से किसी भी दोष से युक्त होता है।

शुद्ध विधियुक्त भावनापूर्वक दिये गए दान को महाभारत के अनुशासन पर्व (७।६) मे इसे महायज्ञ बता कर इसके पाच अग बताए हैं—

> चक्षुर्दद्यात् मनोदद्यात् वाच दद्याच्च सुनृताम्।
> अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पचदक्षिण ॥

—"घर पर आए हुए अतिथि का पाँच प्रकार से स्वागत करना चाहिए। अतिथि को आते देखकर प्रफुल्लित आँखो से उसका स्वागत करे, फिर प्रसन्न मन से मीठी वाणी बोले, किस वस्तु की उसे आवश्यकता है, यह जाने और उस वस्तु को देकर उसकी सेवा करे, जब अतिथि इच्छा पूर्ण होने पर जाने लगे तो घर के बाहर तक उसे छोड़ने जाए। इन पाँचो विधियो से अतिथि का सत्कार करना अतिथियज्ञ की सच्ची दक्षिणा है।

दान-विधि में भावना की मुख्यता

वास्तव मे देखा जाय तो दान मे देय द्रव्य अधिक दिया या कम दिया? बहुमूल्य दिया या अल्पमूल्य दिया। धनिक ने दिया या निर्धन ने दिया? इसका

इतना महत्त्व नही, जितना महत्त्व दानविधि के साथ भावना का है। राजकुमारी चन्दनबाला ने दासी के रूप मे भगवान महावीर को दीर्घकालीन अभिग्रह तप के पारणे मे क्या दिया था ? केवल थोडे से उडद के बाकुले ही तो दिये थे, और वह भी थोडे से तथा रूखे थे और एक दासी के द्वारा दिये गए थे। विदुर पत्नी ने श्री कृष्ण को केवल केले के छिलके ही दिये थे और शबरी ने श्रीराम को केवल झूठे बेर ही तो दिये। परन्तु इन सबके पीछे दाता की श्रद्धा, भक्ति, भावना देने की विधि बहुत ही उत्तम थी, इसलिए ये तुच्छदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण और विश्व प्रसिद्ध बन गए।

दूसरी बात यह थी कि इन दाताओ ने न तो कोई आडम्बर ही किया, न अपनी नामवरी या प्रसिद्धि के लिए लालायित हुए, और न ही अपने दान के पीछे अहत्त्व-ममत्त्व की भावना से प्रेरित होकर आदाताओ पर अपना एहसान ही जताया।

हमने पिछले पृष्ठो मे भगवान महावीर को दान देने की प्रबल भावना से ओतप्रोत, किन्तु दान न दे पाने वाले पूरणश्रेष्ठी का उदाहरण अंकित किया है, वह भी भावना के महत्त्व को ही द्योतित करता है।

महात्मा बुद्ध को जब विशेष ज्ञान हुआ तो उनसे उनके शिष्य अनाथ पिण्ड ने प्रार्थना की—'भते ! आप अपने ज्ञान का लाभ ससार को भी दीजिए, जिससे उसका भी कल्याण हो।' बुद्ध ने कहा—'ससार के लोग इस ज्ञान के पात्र हो, तब न ?' अनाथपिण्ड—'इस ज्ञान का पात्र कैसा होना चाहिए ?' बुद्ध—'जो अपना सर्वस्व दान कर सके, वही इस ज्ञान का पात्र हो सकता है।' अनाथपिण्ड—'भते ! आपके लिए ऐसे सर्वस्वदान देने वाले अनेक लोग निकलेंगे। आप मुझे आज्ञा दें तो मैं अभी जाकर आपके लिए सर्वस्वदान ले आऊँ।'

बुद्ध—'तू तो अनेक की बात कहता है, यदि एक भी व्यक्ति मिल जाय तो मेरा कार्य हो जाय। पर मैं सर्वस्वदान चाहता हूँ, यह बात किसी पर प्रगट मत करना।'

अनाथपिण्ड पात्र लेकर कौशाम्बी आया। अभी सूर्योदय होने मे कुछ देर थी। लोग बिस्तर पर ही पडे थे। तभी अनाथपिण्ड ने आवाज लगाई—"तथागत बुद्ध सर्वस्वदान लेना चाहते हैं। यदि कोई सर्वस्वदान दाता हो तो वह मुझे दे।' लोगो ने आवाज सुनी। कहने लगे—'अनाथपिण्ड तथागत बुद्ध के लिए सर्वस्वदान लेने आया है, इसे खाली नही जाने देना चाहिए।' अत अनेक स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवक आभूषण, रत्न, बहुमूल्य वस्त्र आदि लेकर दौडे और अनाथपिण्ड के पात्र मे डालने लगे। किन्तु अनाथपिण्ड अपने पात्र को औंधा करके उन सब चीजो को नीचे गिरा देता और कहता—मैं तो सर्वस्वदान चाहता हूँ, ऐसा दान नही। लोग निराश होकर नीचे गिरी हुई अपनी-अपनी चीज उठाकर घर लौट जाते। अनाथपिण्ड सारी कौशाम्बी में

पूर्ववत् आवाज लगाता हुआ घूमा, मगर कोई भी सर्वस्वदाता न मिला। चलते-चलते वह नगर के बाहर जगल मे आ गया। सोचा, नगर मे कोई नही मिला, तो जगल मे सर्वस्वदानी कहाँ से मिलेगा? फिर भी आशान्वित होकर आवाज लगाता हुआ घूमने लगा। एक महादरिद्र, किन्तु भावनाशील महिला ने अनाथपिण्ड की यह आवाज सुनी। उसके न तो घरबार था, न उसके पास सिर्फ एक फटे वस्त्र के सिवाय और कोई कुछ धनादि था। उसने सोचा—'तथागत बुद्ध सर्वस्वदान चाहते हैं। मेरा सर्वस्व यही वस्त्र है। ऐसा उत्तम पात्र फिर कब मिलेगा? मुझे इस स्वर्ण सुयोग का लाभ उठा लेना चाहिए।' ऐसा सोचकर उसने भिक्षु को आवाज दी—'ओ भिक्षु! आओ, मैं तुम्हे सर्वस्वदान देती हूँ।' इस प्रकार जिस मार्ग से अनाथपिण्ड आ रहा था, उसी मार्ग पर स्थित एक पुराने वृक्ष के खोखले मे स्वय उतर गई और अपना एकमात्र वस्त्र हाथ मे लेकर अनाथपिण्ड से कहा—'लो, यह सर्वस्वदान लो। अपने गुरु महात्मा बुद्ध को दो, उनकी इच्छा पूर्ण करो।' अनाथपिण्ड ने उस स्त्री का दिया हुआ वह वस्त्र हर्षपूर्वक अपने पात्र मे लिया और गद्गद् होकर उससे कहने लगा—'माता! आपकी तरह सर्वस्वदान देने वाला ससार मे और कौन होगा? एकमात्र वस्त्र, जो आपके पास लज्जा निवारणार्थ था, उसे भी आपने उतार कर स्वय तरुकोटर मे प्रवेश करके दे दिया। यही आपका सर्वस्व था। मुझे बहुमूल्य वस्त्राभूषण, रत्न आदि देने वाले अनेक दाता मिले, लेकिन वह सर्वस्वदान न था। परन्तु आपको धन्य है, आपने सर्वस्वदान दे दिया।' इस प्रकार उस महिला की प्रशसा करके अनाथपिण्ड तथागत बुद्ध के पास पहुँचा। उसने सर्वस्वदान के रूप मे प्राप्त वह वस्त्र उन्हे देकर कहा—'भते! यह लीजिए, सर्वस्वदान।' और उसने कौशाम्बी नगरी मे सर्वस्वदान न मिलने और वन मे एक महिला द्वारा सर्वस्वदान मिलने का आद्योपान्त वृत्तान्त सुनाया। बुद्ध उस वस्त्र को पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होने वह वस्त्र मस्तक पर चढाकर कहा—'मेरी प्रतिज्ञा अब पूर्ण हुई। अब मैं लोगो को अवश्य ही वह ज्ञान सुनाऊँगा, जो मुझे प्राप्त हुआ है।'

सचमुच इस प्रकार के सर्वस्वदान को ही पूर्वोक्त गुण से युक्त विधिवत् दान माना गया है। इसी प्रकार का दान एक गरीब वृद्धा के हाथ से बुद्ध को आहारदान था। इस दान के पीछे भी न कोई प्रसिद्धि थी, न प्रतिष्ठा पाने की होड थी और न ही कोई स्वार्थसिद्धि की तमन्ना थी।

तथागत बुद्ध राजगृह के पूर्वी द्वार की ओर आये तो नगर के वस्त्राभूषणो से सुसज्जित नर-नारी उत्सुकता से देख रहे थे। वे सब बुद्ध की अगवानी के लिए खडे थे। तभी महात्मा बुद्ध शनै-शनै आते हुए दिखाई दिये। सभी के अन्तःकरण प्रफुल्लित हो गए। बुद्ध धर्म और सघ की शरण के स्वर से आकाश गूँज रहा था। बुद्ध के आगे-पीछे सैकडो श्रेष्ठी, राजपुत्र और राजा आदि विनीत मुद्रा मे चल रहे थे। नगर के द्वार पर सम्राट बिम्बसार ने हाथ जोड कर प्रणाम करते हुए उनका स्वागत किया और प्रार्थना की—'भते! आज के भोजन के लिए मेरे यहाँ पधारे

की स्वीकृति दीजिए।' तथागत—'राजन् ! भिक्षुओ को जहाँ तक सम्भव हो के घर पर बैठ कर भोजन नही करना चाहिए। न एक घर से सारी सामग्री ही लेनी चाहिए। हम लोग सार्वजनिक भिक्षाटन के लिए आयेंगे, उ आप भी कुछ दे दें।'

इसी नगर मे एक गरीब वृद्धा रहती थी। उसने महात्मा बुद्ध का नाम दिनो से सुन रखा था। परन्तु गया और सारनाथ जाकर दर्शन करने की उसे शक्ति और सुविधा नही थी। अब जब सुना कि तथागत अपने शिष्यो के साथ नगर मे आ रहे हैं, तो हर्षविभोर हो गई। उसने सुना था कि बौद्ध भिक्षु नगे चलते हैं, उनके पैरो मे काँटे चुभ जाते हैं। वह प्रतिदिन राजमार्ग मे बुहारी देर और काँटे चुगती थी। राह चलते हुए बच्चे उसे छेडते और उसे पगली समझते पर उसे इन बातो की कोई परवाह ही नही थी।

बुद्ध अपने शिष्यो सहित भिक्षा के लिए नगर मे पधारे। लोगो मे होड़ हुई थी, कि ज्यादा से ज्यादा स्वादिष्ट भोजन दिया जाय।

बेचारी वृद्धा थकी-मादी एक ओर खडी ताक रही थी। उसके पास एक रोटी बची थी। दूसरे लोगो को नाना प्रकार की मिठाइयो को देखकर उसे अप सूखी रोटी देते हुए झेंप और लज्जा हो रही थी। तथागत ने उसे भीड मे खडी हु देखी। पास मे जाकर कहा—'माई! भिक्षा दे दो।' बडे प्रेम से गद्‌गद होकर उ वृद्धा ने पूरी रोटी इनकी झोली मे डाल दी। उसने सोचा कि नाना प्रकार के व्यजन के रहते, मेरी इस रोटी को कौन पूछेगा ? फिर भी उसका मन नही माना और ज तथागत बुद्ध अपने शिष्यो सहित एक वृक्ष के नीचे बैठकर आहार करने की तैयारी करने लगे तो वह एक तरफ खडी ताकने लगी। दूसरे शिष्यो को अन्य सामग्री बाटने के बाद तथागत ने स्वय उस वृद्धा की रोटी से पारणा किया।

यह देखकर उस गरीब वृद्धा की आँखो से अश्रुधारा बहने लगी सोचा—आज मेरा जीवन धन्य और सार्थक हो गया।

वस्तुत दान का महत्त्व और मूल्य भावना मे निहित होता है। कौन, कितनी और कैसी वस्तु देता है, इसका महत्त्व नही; महत्त्व है वस्तु देने के पीछे व्यक्ति की श्रद्धा-भक्ति और हृदय की अर्पण भावना का। इसी कारण तुच्छ वस्तु का दान भी श्रद्धा-भावना के कारण महामूल्यवान हो जाता है, और इतिहास के पन्नो पर स्वर्णाक्षरो मे अकित एव प्रसिद्ध हो जाता है। ईसाई धर्म की पुस्तको के दरिद्रता मे दिये गये दान की महिमा गाई गई है। एक जैनाचार्य भी कहते हैं—'दाण दरिद्दस्स पहुस्स खती' दरिद्र द्वारा दिया गया दान और समर्थ द्वारा की गई क्षमा महत्त्वपूर्ण है।

एक बार कही दुष्काल पडा तो वहाँ के दुष्काल पीडितो के लिए चन्दा होने लगा। चन्दा करने वाले ईसामसीह थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व को देखकर लोग बडी-बडी रकमे देने लगे। एक बुढिया ने बडी भावना से दुष्काल पीडित सहायक फड

मे अपना सर्वस्व बचत—एक पैसा दे दिया। ईसा ने बडे प्रेम से उससे पैसा लेकर उपस्थित जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—'बन्धुओ ! यद्यपि तुम सबने हजारो-लाखो रुपये दिये हैं, लेकिन इस बुढिया के दिये हुए पैसे की तुलना नही कर सकते। क्योकि तुमने तो थोडा देकर बहुत-सा अपने पास रखा है, जबकि इसने तीन पैसे रोज की कमाई और तीन ही पैसे के खर्च मे कतरब्योत करके एक पैसा दिया है।

यही हाल पूणिया का था। वह कुछ ही पैसे रोज कमाता था। और उसी से पति-पत्नी निर्वाह करते थे। जिस दिन कोई अतिथि आ जाता तो उसके आतिथ्य मे सब कुछ व्यय करके स्वय पति-पत्नी उपवास कर लेते थे।

रायल सीमा दुष्काल राहत का फड इकट्ठा किया जा रहा था। चारो ओर से कपडो, पैसो और अन्न की वर्षा हो रही थी। अमीर-गरीब सभी दे रहे थे, किसी को नाम का मोह था तो किसी को नही। घूमते-घूमते फड की झोली एक सिंधी बुढिया के पास आई। उसने पूछा—'बच्चा क्या है ?' 'दुष्काल' उत्तर मिला। तुरन्त फटे हुए कपडे के अचल मे बँधा हुआ एक टका (दो पैसे का) निकालकर प्रेम से हाथ जोड कर झोली मे डालते हुए कहा—'बाबा ! हमारी इतनी ही शक्ति है। फड इकट्ठा करने वालो की आँखो मे हर्षाश्रु उमड पडे। वह बोला—'माई !' आपने दो पैसे नही, दो लाख रुपये दिये हैं, अपना सर्वस्व देकर।'

एक बार ईसामसीह ने देखा तो चर्च की दानपेटी मे श्रीमत लोग अपने-अपने दान की राशि डाल रहे थे। तभी एक कगाल विधवा को उसे दो ढब्बू डालते देख उन्होने कहा—सबसे अधिक दान तो इस बुढिया ने दिया है। दूसरो ने तो अपनी बचत मे से थोडा-सा दिया है, लेकिन इसने तो अपनी तग हालत मे, जो कुछ पास मे था, वह सर्वस्व दे दिया।

इस्लाम धर्म के कुछ लोगो ने अपनी तगी हालत मे भी अपने पास जो कुछ था, वह गरीबो के लिए दे डाला था।

इसलिए दानविधि मे और सब कुछ देखने की अपेक्षा, सबसे अधिक ध्यान दाता की भावना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति पर ही दिया जाना चाहिए। ऐसी दशा मे वह तुच्छ दान भी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होकर चमक उठेगा। हजारो-लाखो रुपयो के दान को भी ऐसा दान चुनौती देने वाला होगा।

6

दान के लिए संग्रह : एक चिंतन

कई लोग दान देने से किसी इहलौकिक या पारलौकिक आकांक्षा की पूर्ति हो जाएगी, धन, पुत्र या अन्य सासारिक लाभ हो जाएगा, इस स्वार्थसिद्धि की आशा से दान के लिए येन-केन-प्रकारेण धन कमाने का प्रयत्न करते हैं, और फिर दान देते हैं, यह दान भी विधियुक्त नही कहा जा सकता। सहज भाव से जो न्याययुक्त आजीविका से प्राप्त हो, उसे देना तो उचित है, पर इस प्रकार से किसी लोभ या स्वार्थ से प्रेरित होकर दान देने के लिए धन बटोरना शुभावह नही है। नीतिज्ञो ने इसे निन्दनीय बताया है—

"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्य सा न शुभावहा।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥"

—धर्मार्थ या दान-पुण्य करने के लिए जिसकी धन-संग्रह की इच्छा है, वह भी शुभकारक नही है। वह तो कपडे को कीचड मे डाल कर फिर धोने के समान वृत्ति है। धन संग्रह करने के लिए पहले तो पाप पक मे अपने को डालना, और फिर उसे धोने के लिए दान देना कथमपि शुभावह और सहज प्रवृत्ति नही है।

आचार्य पूज्यपाद ने भी इस विषय मे स्पष्ट कहा है—

—'जो निर्धन मनुष्य पात्रदान, देवपूजा आदि प्रशस्त कार्यों के हेतु अपूर्व पुण्य प्राप्ति और पाप विनाश की आशा से नौकरी, कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों द्वारा धनोपार्जन करता है, वह मनुष्य 'बाद में नहा लूंगा', इस आशा से अपने निर्मल शरीर पर कीचड लपेट लेता है।"[1]

चूंकि यह दान सहज भाव से नही होता, इसमे दान के लिए प्राय व्यक्ति अन्याय, अनीति, पापकर्म, झूठ-फरेब करके पहले धन बटोरता है, उसके बाद उस धन को दान देता है, इसे जैनाचार्यों ने अच्छा नही कहा। आत्मानुशासन मे इस विषय मे स्पष्ट निर्देश है—

---

१ त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त, सञ्चिनोति य।
स्वशरीर स पकेन स्नास्यामीति विलुम्पति॥ —इष्टोपदेश १६

—"कोई विद्वान मनुष्य विषयों को तिनके के समान तुच्छ समझकर याचकों के लिए लक्ष्मी देता है, कोई पापरूप समझकर किसी को बिना दिये ही लक्ष्मी का त्याग कर देता है, किन्तु सबसे उत्तम यह है कि लक्ष्मी को पहिले से ही अकल्याण-कारी जान कर ग्रहण नही करना।"[२]

जैनशास्त्र उत्तराध्ययन सूत्र में भी भगवान् महावीर ने इसी अर्थ में सकेत किया है—

जो सहस्सं सहस्साण मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो अदितस्स वि किंचण।

अर्थात्—जो प्रतिमास लाखो गायो का दान करता है, उसकी अपेक्षा भी जो अकिंचन अपरिग्रही बनकर कुछ भी नहीं देता, उसका सयम भी श्रेयस्कर है।

इससे एकान्त यह नही समझ लेना चाहिए कि जो परोपकारी व्यक्ति न्याय-नीति से धन उपार्जित करके उससे दानसत्र चलाता है या दान-परोपकार-सेवा आदि कार्य करता है, वह भी अकल्याणकर है। अपितु इस प्रकार का दान जो निःस्पृहभाव से, विना किसी नामवरी, प्रसिद्धि या आडम्बर के न्यायनीति से धन प्राप्त करके दिया जाता है, वह कल्याणकर है। जैसा कि कुरल (२३।६) मे स्पष्ट कहा है—

आतंक्षुधा विनाशाय नियमोऽयं शुभावह।
कर्त्तव्यो धनिभिर्नित्यामलये वित्तसग्रह॥

—'पीडितो और क्षुधार्तो की पीडा और भूख मिटाने के लिए यही मार्ग शुभा-वह है कि धनिको को अपने घर मे नित्य विशेष करके धन सग्रह कर रखना चाहिए। इसी प्रकार नीतिमान गृहस्थ के लिए मार्गानुसारी के गुणो मे अपनी आय मे से उचित धन दान करने के लिए या धर्मकार्य मे लगाने के लिए निकालने का विधान है। सागारधर्मामृत, धर्म सग्रह तथा योगशास्त्र आदि की टीका मे इस प्रकार के कर्तव्य के सम्बन्ध मे दो श्लोक मिलते हैं—

पादमायान्निधिं कुर्यात् पाद वित्ताय खट्वयेत्।
धर्मोपभोगयो पाद, पाद भर्त्तव्यपोषणे॥
आयार्धं च नियुञ्जीत, धर्मे समाधिक ततः।
शेषेण शेष कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम्॥

---

२ अर्थिभ्यस्तृणवद् विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्।
पाप तामवितर्पिणी विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्॥
प्रागेवाकुशला विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्।
एते ते विदितोत्तरोत्तरवरा सर्वोत्तमास्त्यागिन॥१०२॥

अर्थात्—सद्‌गृहस्थ को अपनी न्यायनीति युक्त कमाई के चार भाग करने चाहिए—एक भाग जमा रखें, दूसरा भाग आजीविकादि के कार्य मे लगाए, तीसरे भाग से दान-धर्मादि कार्य तथा अपने भोग-उपभोग के कार्य चलाए और चौथे भाग से अपने आश्रितो का पालन-पोषण करे। अथवा अपने कमाये हुए धन का आधा अथवा कुछ अधिक धर्मकार्य मे खर्च करे और बचे हुए द्रव्य से यत्नपूर्वक इहलौकिक (कुटुम्ब निर्वाह आदि) सब कार्य करे।
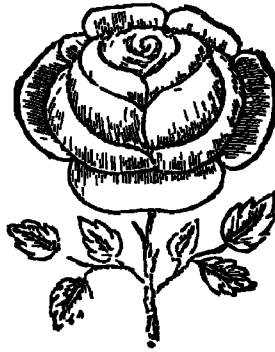
7
देय-द्रव्य शुद्धि

दान की विशेषता मे दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है—देय द्रव्य का विचार। देय वस्तु मूल्यवान हो, यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, किन्तु वह लेने वाले के लिए योग्य, हितकर, सुखकर और कल्पनीय है या नही ? उस देय द्रव्य से उसे कोई शारीरिक या मानसिक हानि तो नहीं पहुँचेगी ? अगर देय द्रव्य कीमती है, किन्तु उससे लेने वाला सन्तुष्ट नही है, या वह लेने से आनाकानी करता है तो वह देय द्रव्य उत्तम नहीं है। पाराशर स्मृति मे स्पष्ट कहा है—

—कोई दाता किसी त्यागी, तपस्वी, नि:स्पृह श्रमण या संन्यासी को सोना दान मे देता है, किसी ब्रह्मचारी को शृंगार योग्य वस्तु या ताम्बूल देता है, और चोर आदि दुष्टजनो को शस्त्रादि या अभयदान देता है तो ऐसा दाता नरक मे जाता है।[1]

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अन्याय-अत्याचार से धन कमाकर या दूसरे से छीन-झपटकर, उस द्रव्य का दान किसी योग्य व्यक्ति को करता है, तो वह देयद्रव्य शुभ नही माना जाता। उससे आदाता की भी बुद्धि बिगडती है और दाता को भी पुण्य-लाभ नही होता।

महाभारत मे कौरव सेनापति भीष्मपितामह जब अर्जुन के बाणो से घायल होकर रणभूमि मे गिर पडे तो सारे कुरुक्षेत्र मे हाहाकार मच गया। कौरव-पाण्डव पारस्परिक वैर भूलकर उनके पास कुशल पूछने आए। धर्मराज ने रोते हुए रुद्ध कठ से कहा—'पितामह ! हम ईर्ष्यालु पुत्रो को, इस अन्त समय मे, जीवन मे उतारा हुआ कुछ ऐसा उपदेश देते जाइए जिससे हम मनुष्य जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकें।" पितामह यह सुनकर होठ खोलने ही वाले थे कि द्रौपदी के मुख पर एक हास्यरेखा देख कर सभी विचलित हो उठें और वे इस बेतुके हास्य से रोष भरे नेत्रो से द्रौपदी की ओर देखने लगे। पितामह इस हास्य का मर्म समझ गए। वे बोले—"बेटी द्रौपदी ! तेरे हास्य का मर्म मैं जानता हूँ। तूने सोचा है—"जब भरे दरबार

---

१ यतिनें काचन दत्ते, ताम्बूल ब्रह्मचारिणे।
चौरेभ्योऽप्यय दत्ते, स दाता नरक ब्रजेत्॥

मे दुर्योधन ने साडी खीची, तब उपदेश देते न बना। वनो मे पशुतुल्य जीवन कर रहे थे, तब सहानुभूति का एक भी शब्द न निकला। कीचक द्वारा ला जाने के समाचार भी शान्तभाव से सुन लिए। रहने योग्य स्थान और क्षुधा के लिए भोजन मागने पर कौरवो ने हमे दुत्कार दिया। तब उपदेश याद न अ सत्य, न्याय और अधिकार की रक्षा के लिए पाण्डव युद्ध करने को विवश हुए सहयोग देना तो दूर रहा, कौरवो के सेनापति बनकर हमारे रक्त के प्यासे हु है। और अब, जब पाण्डवो द्वारा मार खाकर जमीन सूंघ रहे हैं, मृत्यु की घ गिन रहे हैं, तब हमे उपदेश देने की हूक उठी है। बेटी! तेरा यह सोचना सत्य तू मुझ पर जितना हँसे, उतना ही कम है। परन्तु पुत्री! उस समय पापात्मा को का दिया हुआ अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गई थी। किन्तु अब वह अपा रक्त अर्जुन के बाणो ने निकाल दिया है। अत आज मुझे सन्मार्ग बताने का सा हो सका है।"

निष्कर्ष यह है कि अन्याय-अनीति से उपार्जित द्रव्य के दान से आदाता' बुद्धि बिगडती है। इसलिए देयद्रव्य मे यह विवेक तो होना ही चाहिए। सा साध्वियो और त्यागियो को दिये जाने वाले द्रव्य के विषय मे भी यह विवेक बता गया है—

—'न्यायागत, कल्पनीय, एषणीय और प्रासुक आहारादि उत्कृष्ट अतिथि को देना चाहिए।'[1]

इसी प्रकार द्रव्य विशेष के लिए तत्त्वार्थभाष्य मे सकेत है—

—'अन्न आदि द्रव्यो की श्रेष्ठ जाति और उत्तम गुण से युक्त द्रव्य देना द्रव्य विशेष है।'[2]

सर्वार्थसिद्धि टीका मे आचार्य पूज्यपाद ने द्रव्य विशेष का लक्षण किया है—

—'जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है, वह द्रव्य विशेष है।'[3]

इसी प्रकार चारित्रसार मे भी इस विषय मे सुन्दर स्पष्टीकरण किया है—

—'भिक्षा मे जो अन्न दिया जाता है, वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है।'[4]

मुनियो को जो भी वस्तु दी जाय, उसके लिए रयणसार मे विशिष्ट चिन्तन दिया है—

---

१ न्यायागताना कल्पनीयानामन्नपानादीना द्रव्याणा दानम्। —तत्त्वार्थभाष्य

२. द्रव्य विशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कर्षयोग। —तत्त्वार्थ भाष्य

३ तप स्वाध्याय परिवृद्धि हेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष। —त० सर्वार्थ सिद्धि

४ दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तप स्वाध्याय परिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेष।

—"हित, मित, प्रासुक, शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओ को आवश्यकतानुसार सुपात्र को देता है, वह मोक्षमार्ग मे अग्रगामी होता है। औषधदान के विषय में देयद्रव्य का मुनिवरो को किस प्रकार दान देना चाहिए ?[1] इस विषय मे कहा है—

(१) मुनिराज की प्रकृतिशीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म, या पित्तरूप मे से कौन-सी है ? कायोत्सर्ग या गमनागमन से कितना श्रम हुआ है ? शरीर मे ज्वरादि पीडा तो नही है ? उपवास से कण्ठ शुष्क तो नही है ? इत्यादि बातो का विचार करके उसके उपचारस्वरूप दान देना चाहिए।[2]

(२) प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कम्बल, पादप्रोछन, प्रतिग्रह (पात्र), पीठ, फलक (पट्टा), सथारक (घास या आसन), औषध, भैषज्य आदि १४ प्रकार के पदार्थ साधु-साध्वियो को देने योग्य हैं। श्रमणोपासक इन १४ प्रकार के द्रव्य साधु-साध्वियो को प्रतिलाभित करता (देता) हुआ विचरण करता है।[3]

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय और अमितगति श्रावकाचार मे भी देयद्रव्य के सम्बन्ध मे विवेक बताया है—

(३) जिन वस्तुओ के देने से राग, द्वेष, मान, दुःख, भय आदि पापो की उत्पत्ति होती है, वे पदार्थ दान देने योग्य नही हैं।[4] जिन वस्तुओ के देने से तपश्चरण पठन-पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों मे वृद्धि होती है, वे ही देने योग्य हैं। वही देयवस्तु प्रशस्त है, जिससे रागनाश होता हो, धर्मवृद्धि होता हो, सयम-साधना का पोषण हो, विवेक जाग्रत होता हो, आत्मा उपशान्त होती हो।

दान ऐसी वस्तु का नही देना चाहिए, जो लेने वाले के लिए घातक हो, अहितकारक हो या हानिकारक है।

जैसे कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु दान मे दे देता है, जो सड़ी, बासी या दुर्गन्धयुक्त

---

१ हियमियमन्नपाणणिरवज्जोसहि-णिराउल ठाण।
सयणासणमुवयरण जाणिज्जा देइ मोक्खखो॥ —र० सा० २४

२ सीउण्हवाउविउल सिलेसिय तह परीसयव्वाहि।
कायकिलेसुव्वास जाणिज्जे दिण्णए दाण॥

३ फासुय-एसणिज्ज, कप्प असण-पाण-खाइम, साइम, वत्थ, कबल-पडिग्गह-पाय-पुच्छणपीढ-फलग, सेज्जा-सथारएण ओसह-भेसज्जेण पडिलाभेमाणे विहरइ।
—(सूत्र० भगवती, एव उपासकदशा मे)

४ राग-द्वेपासयम-मद-दुःखभयादिक न यत्कुरुते।
द्रव्य तदेव देय सुतप स्वाध्यायवृद्धिकरम्॥ —पु० सि० उ० १७०

हो, उससे लेने वाले का स्वास्थ्य खराब होता है, देने वाले की भी भावना विपरीत होती है इस प्रकार सडी चीज दान देने वाले को भविष्य मे उसका कटुफल भोगना पडता है। लेने वाला कई बार अपनी जरूरत के मारे ले लेता है, परन्तु अगर वह खाद्यवस्तु बिगडी हुई हो तो उसके स्वास्थ्य को बहुत बडी क्षति पहुँचाती है। उसे लेने के देने पड जाते हैं। परन्तु कुछ दाता अपनी कृपणता की वृत्ति से लोभवश जो चीज सडी-गली बासी या फेंकने लायक चीजो को दान दे देता है, जिससे नाम भी हो और फेंकनी भी न पडे। परन्तु ऐसे कृपण या लोभी दानियो को भी कभी-कभी किसी विचारवान की प्रेरणा मिल जाती है।

काशी की पुण्यभूमि मे सेठ लक्ष्मीदत्त का अन्न सत्र चलता था। वहाँ सैकडो अभावग्रस्त व्यक्ति भोजन करते थे। कुछ लोग आटा आदि लेकर स्वय अपने हाथ से पकाते थे। लोगो की भीड को देखकर और प्रशसा सुनकर सेठजी फूले नही समाते थे। सेठ के अनाज का व्यापार था। गोदाम मे पुराना सडा-गला अनाज बचा रहता। सेठजी पुण्य लूटने एव प्रशसा पाने के लिए वही सडा अनाज अपने अन्नसत्र में भेज देते थे। उन्हे दान का यह तरीका लाभप्रद प्रतीत होता था। सेठजी के पुत्र का विवाह हुआ। घर मे बहू आई, बडी विनीता, विचक्षणा और धर्ममर्मज्ञा। उसने कुछ ही दिनो मे घर का सारा कामकाज सम्भाल लिया। एक दिन वह सेठजी के अन्नसत्र पर पहुँच गई। उसने देखा कि जो रोटियाँ अन्नसत्र मे दी जाती हैं वे काली मोटे-आटे की और रद्दी-सी दी जाती है और आटा भी वैसा ही दिये जा रहा है। उसने अन्नसत्र के प्रबन्धक से बातचीत की तो वह बोला—सेठजी गोदाम से ऐसा ही अनाज भेजते हैं, हम क्या करें?" पुत्रवधू को सेठजी के इस व्यवहार से बडा खेद हुआ। वह अन्नसत्र से थोडा-सा आटा अपने साथ घर पर ले आई और उसी सडे आटे की मोटी काली रोटी बनाकर उसने सेठजी की थाली मे परोसी। पहला कौर मुँह मे लेते ही थू-थू करते हुए सेठ लक्ष्मीदत्त बोले—"बेटी! क्या घर मे और आटा नहीं है? यह सडी जवार का आटा तूने कहाँ से मँगवा लिया? क्या घर मे अच्छा आटा समाप्त हो गया?" बहू ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा—"पिताजी! आपने जो यहाँ अन्नसत्र खोल रखा है, मैं कल उसे देखने गई थी। वहाँ तो भूखो व याचको को ऐसे ही आटे की रोटी बनाकर दी जाती है। मैंने सुना है कि परलोक मे वैसा ही मिलता है, जैसा यहाँ दिया जाता है। दानवीर कहलाने के लिए वर्ष के अन्त मे आपकी दूकान मे जो न बिकने योग्य घुन लगा हुआ सडा अन्न बचा रहता है, उसे ही अन्नसत्र मे भेजते हैं। बेचारे भूखे लोग पेट की आग बुझाने के लिए खा लेते हैं। किन्तु मुझे विचार आता है कि आप उसे कैसे खा सकेंगे, जब परलोक मे आपको भी ऐसी ही रोटी सदा मिला करेगी। इसलिए आज मैंने अन्नसत्र से आटा मँगाकर उसकी रोटी बनाकर परोसी है, जिससे आपको अभी से ऐसी रोटी खाने का अभ्यास हो जाय और परलोक मे भी अगर ऐसी रोटी मिलेगी तो आपको उससे घृणा नही होगी।" बहू की इस बात का सेठजी के हृदय पर इतना अच्छा प्रभाव

पड़ा कि उसी समय उन्होंने अन्नसत्र का सारा अन्न फिकवा दिया और अच्छे अन्न का प्रबन्ध कर दिया।" इस प्रकार पुत्रवधू के विनयपूर्ण साहस ने सेठ का हृदय बदल दिया। उनका अहंभाव भी नष्ट हो गया और सात्त्विक दान धारा प्रवहमान हो उठी।

इसी प्रकार दान मे ऐसी वस्तु भी न दी जाये जो पात्र के लिए हानिकारक हो, प्राण-घातक हो। कई बार लोग अपनी दानवीरता की प्रसिद्धि के लिए ऐसी हानिकारक एव फालतू जमीन, अन्य पदार्थ या खाने की चीजें दे दिया करते हैं। भूदान के सिलसिले मे जब सन्तविनोबा और उनके कार्यकर्ता भारत के विभिन्न प्रान्तो मे पदयात्रा करते हुए लोगो को भूमिदान की प्रेरणा देते थे, तब बहुत-से जमीदारो ने अपनी फालतू पड़ी हुई बंजरभूमि भूदान मे दे दी। बहुत-से लोग अन्धे या विक्षिप्त याचको को अपने पास फालतू पडे हुए और न चलने वाले खोटे सिक्के दे देते हैं। कई बार ऐसे दान, जो प्राणघातक होते हैं, दाता और आदाता दोनो का अनिष्ट कर डालते हैं। आदाता का तो उस प्रकार के पदार्थ के खाने से एक ही बार प्राणान्त होता है, लेकिन दाता को तो उस कुत्सित दान के फलस्वरूप बार-बार अनन्त ससार मे असख्य वर्षों तक जन्म-मरण के चक्र मे परिभ्रमण और दारुण दु ख का सामना करना पडता है। ज्ञाताधर्मकथाग मे उल्लिखित नागश्री ब्राह्मणी के द्वारा धर्मरुचि जैसे पवित्र महान् अनगार को कडवा तुम्बा दान मे देने का जिक्र हम पहले कर चुके हैं। नागश्री के द्वारा यद्यपि उत्कृष्ट सुपात्र को दान दिया गया था, किन्तु देय वस्तु प्राणघातक तक थी, और दाता नागश्री के भाव भी कुत्सित थे, इसलिए देय-वस्तु के घृणित होने से सारा दान दूषित हो गया। और उसे नरक की यात्रा करनी पड़ी। जैसे गजे व्यक्ति को कघा देना और अन्धे व्यक्ति को दर्पण देना निरर्थक है, इसी प्रकार जो वस्तु जिसके लिए योग्य न हो, उसे उन अयोग्य अनावश्यक और अनुपयोगी वस्तुओ का दान देना भी निरर्थक है।

जो वस्तु स्वय श्रम से अर्जित हो, न्यायप्राप्त हो, नीति की कमाई से मिली हो, वह देय वस्तु अधिक बेहतर है, बनिस्पत उसके कि जो अन्याय-अनीति से उपार्जित हो या दूसरो की मेहनत से निष्पन्न हो या दूसरो के हाथ से बनी हुई हो। आचार्य हेमचन्द्र को साभर नगर मे निर्धन धन्ना श्राविका द्वारा अपने हाथ से काते हुए सूत की बनी हुई मोटी खुरदरी खादी की चादर का भावपूर्वक दिया गया दान कुमारपाल राजा के रेशमी चादर के दान की अपेक्षा भी बेहतर लगा। वास्तव मे धन्ना श्राविका द्वारा दी गई चादर के पीछे उसका अपना श्रम, श्रद्धा और भक्तिभाव था।

देय वस्तु के दान के पीछे भी दाता की मनोवृत्ति उदार और नि स्वार्थी होनी चाहिए, न कि अनुदार और दान के बदले मे कुछ पाने की लालसा से युक्त।

मनुष्य का सद्भाव और दुर्भाव देयद्रव्य के दान को सफल या विफल बना देता है। जगत् मे ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो किसी आकाक्षा, वाञ्छा, स्वार्थ या प्रसिद्धि

आदि की आशा से हिचकते हुए देय द्रव्य देते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो उदार भावना के साथ, किसी प्रकार की स्पृहा या आकाक्षा के बिना करुणा या श्रद्धा से प्रेरित होकर उमग से देय द्रव्य देते हैं। पहले का देय द्रव्य विकार भाव मिश्रित होने से फलीभूत नही होता, जबकि दूसरे का देय द्रव्य निर्विकार भाव से युक्त होने से सफल हो जाता है।

ये देयद्रव्य अधिक फलवान नहीं

बहुत-से लोग अपना बडप्पन प्रगट करने के लिए अथवा कुल परम्परागत, वर्णपरम्परागत एव कुरूढिगत बातो को लेकर प्राचीनकाल मे ब्राह्मणो को हाथी, घोडे, क्षत्रियो को शस्त्र-अस्त्र आदि दान दिये जाते थे। परन्तु इस प्रकार के देय-द्रव्य का दान मोक्ष फलदायक तो होता ही नही। प्राय पुण्यफलदायक भी नही होता। क्योकि पुण्यफल प्राप्ति के लिए भी शुभ भावना का होना अनिवार्य है।

इसीलिए पद्मनन्दिपचविंशतिका मे इस विषय मे स्पष्ट सकेत किया है—'आहारादि चतुर्विध दान के अतिरिक्त गाय, (अन्य पशु) सोना, पृथ्वी, रथ, स्त्री आदि के दान महान् फल को देने वाले नही हैं।[1]

बहुत-से लोग दान शब्द की महिमा सुनकर या दान से प्रसिद्धि प्राप्त होती देखकर स्त्री, या कन्या का दान, स्त्रियो को ऋतुदान, पुत्रदान आदि विषय-वासना-वर्द्धक वस्तुओ के दान मे प्रवृत्त होते हैं। कुछ धर्म और धर्मशास्त्रो के तथाकथित उपदेशक भी कन्यादान, स्त्रीदान, ऋतुदान, पुत्रदान आदि लौकिक स्वार्थवर्द्धक बातो को पुण्यफलजनक बताकर विषयलोलुप जीवो को भ्रम मे डालकर इस प्रकार के दान की महिमा बताते हैं, अथवा भोलेभाले लोगो को ऐसे दानो का महत्व समझाकर स्वय इस प्रकार के दान लेने मे प्रवृत्त हो जाते हैं किन्तु जिन वस्तुओ के देने से हिंसा (प्राणिघात) विषयवृद्धि, वासनावृद्धि, ममत्व, मोह, कषाय, कलह आदि की पापकर्म-वृद्धि होती हो, उन देयद्रव्यो का दान निष्फल और साथ ही पापवर्द्धक समझना चाहिए।

तीर्थस्थानो मे कुलपरम्परागत रूढिवश गोदान या अन्य दानो का महत्त्व बताकर कुछ स्वार्थी लोग दान लेते हैं, उनसे प्रत्येक धर्मपरायण, दानविवेकी दाता को सावधान रहना है। जैनश्रावक के लिए तो यह प्रत्यक्ष मिथ्यात्व है। इसी प्रकार हिंसक या पशुबलि वाले तथाकथित देवी-देवो के स्थानो मे बकरे, भैंसे आदि का दान भी पापकर्म-वर्द्धक है। युद्ध या अन्य किसी व्यक्ति का वध करने के लिए दिया गया शस्त्र-अस्त्र, मूसल आदि का दान भी दाता और आदाता दोनो के लिए हितकर नही है। इसी कारण सागारधर्मामृत मे नैष्ठिक श्रावक के लिए हिंसा के निमित्त भूत पदार्थों का दान निषिद्ध किया है—'नैष्ठिक श्रावक प्राणिहिंसा के निमित्तभूत हो ऐसे

---

[1] नान्यानि गो-कनक-भूमि-रथागनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात्।

—पद्मनन्दि पचविंशति २/५०

भूमि, घर, लोहा, शस्त्र, गौ, बैल, घोडा वगैरह पशु, ग्रहण, सक्रान्ति, श्राद्धादि परम्परागत रूढिगत दान मे ऐसे द्रव्यो को न दें।[1]

इन सबका निष्कर्ष यह है कि विवेकी दाता ऐसे द्रव्यो का दान कदापि न करे, जो प्राणिहिंसाजनित हो, अथवा जीववध का निमित्त हो यानी जिससे दान लेने वाला व्यक्ति किसी प्रकार की हिंसा करे, या अन्य कोई पापकर्म करे। जो पुरुष ऐसे पदार्थ दान देते हैं, जिनसे लेने वाले के द्वारा उन वस्तुओ के सेवन मे जीवहिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, ममत्ववृद्धि, विषयवासना वृद्धि, कषायोत्तेजना, मोहवृद्धि आदि अनेक पापकर्मों का उपार्जन होता हो, वे दाता और उनको इस प्रकार के पापोत्तेजक द्रव्यो के दान की प्रेरणा करने वाले एव पापकर्म मे सहायक पाप के अधिकारी माने जाते हैं। इसलिए दाता को दान के योग्य-अयोग्य पदार्थों का पूर्ण विवेक करके ही दान देने मे प्रवृत्त होना चाहिए।

सच तो यह है कि देयद्रव्य भी दान की महिमा एव फल को बढाने-घटाने मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है। इसीलिए विशिष्ट देयद्रव्य के देने से दान मे विशेषता आ जाती है। योग्य और विशिष्ट देयद्रव्य के कारण दान मे चमक आ जाती है। जैसे मिट्टी मिले हुए सोने को शुद्ध करके पॉलिश कर देने पर उसमे चमक-दमक आ जाती है, वैसे ही देयद्रव्य मे विवेक और भावो की पॉलिश चढा देने पर दान मे भी चमक-दमक आ जाती है। सगम ग्वाले ने केवल खीर ही तो दी थी, किन्तु उस खीर के दान पर उदात्तभावो की पॉलिश लग जाने के कारण खीर का वह दान पुण्य की प्रबलता को लेकर चमक उठा। वह जैन इतिहास मे प्रसिद्ध हो गया। उसका परिणाम शालिभद्र के रूप मे साकार हो उठा।

---

१ हिंसार्थत्वान्न भू-गेह-लोह, गोऽश्वादि नैष्ठिक।
न दद्याद् ग्रह-संक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सुदृग् द्रुहि ॥ —सा० धर्मामृत ५/५३

8
दान में दाता का स्थान

ससार मे दाता का बहुत बडा स्थान है। उसका नाम भी प्रात स्मरणीय होता है। कृपण का नाम सुबह-सुबह कोई नही लेना चाहता। दाता का नाम सभी की जबान पर चढ जाता है। उससे किसी को प्राय द्वेष या वैर नही होता। यह स्वाभाविक है कि दाता सदैव याचक या आदाता से उच्च स्थान पाता है। जिस समय वह दान देने लगता है, उस समय की स्थिति को देखिए, दाता का हाथ ऊपर रहेगा, आदाता (लेने वाले) का हाथ नीचे। अभिज्ञान शाकुन्तल मे इसी बात को सूचित करते हुए कहा है—[1]एक (दाता) का हाथ ऊँचा रहता है और एक (याचक) का हाथ नीचा रहता है। ऊँचा-नीचा रहकर हाथो ने दाता और याचक का अन्तर दिखला दिया कि दाता का स्थान ऊँचा है और याचक का नीचा।" प्रकृति जगत् मे भी देखा जाता है कि जो दाता है, उसका स्थान ऊँचा रहता है और जो केवल सग्रह करके ही रखता है, उसका नीचा है। बादल अपनी जल सम्पदा को लुटाता रहता है, प्यासी धरती को, पेडो को, पशु-पक्षियो को, मनुष्यो को, यहाँ तक कि समस्त प्राणियो को अपनी जल-सम्पदा बरसा कर अपनी उदारता का परिचय देता है, बदले मे उनसे कुछ नही चाहता। इसीलिए[2] जलदाता मेघ का स्थान आकाश मे ऊँचा है और जो अपनी जलनिधि को देता नही, सचित ही सचित करके रखता है। नदियो से, तालाबो से, बादलो से या अन्य जलाशयो या जलस्रोतो से जितना भी पानी मिलता है, लेता ही लेता रहता है, उस जलधि—समुद्र का क्या हाल होता है ? वह नीचा ही रहता है, पृथ्वी पर ही स्थित रहता है।

दूसरी बात यह है कि जो देता है, उसकी वह सम्पदा भी मधुर रहती है, जबकि जो देता नही, सग्रह करके रखता है, उसकी सम्पदा भी खारी (कटु) हो जाती है। बादल देता है, इसलिए उसकी जलसम्पदा मधुर रहती है, शुद्ध रहती है,

---

१ एकेन तिष्ठताऽधस्तादेकेनोपरितिष्ठता।
दातृ-याचकयोर्भेद कराभ्यामेव सूचित ॥

२ स्थितिरुच्चै पयोदाना पयोधीनामध स्थिति।
गौरव प्राप्यते दानात्, न तु वित्तस्य सचयात् ॥

लेकिन समुद्र देता नही, सग्रह करके रखता है, इसलिए उसे मीठा जल मिलने पर भी उसकी जलसम्पदा खारी हो जाती है। उसमे अनेक खनिज पदार्थ मिल जाते हैं, जिससे उसका पानी भी दूषित हो जाता है। झरने और नदी आदि अपना पानी देते रहते हैं, इसलिए उनका पानी भी निर्मल रहता है और मधुर रहता है। इसी प्रकार दाता का स्थान भी समाज और राष्ट्र मे सदैव ऊँचा रहता है। उसका व्यवहार प्राय मधुर रहता है, इससे उसकी धन-सम्पदा भी प्राय मधुर और वर्धमान रहती है। जबकि कृपण एव धन जोड-जोड कर रखने वाले का स्थान सभा-सोसाइटियो मे कभी ऊँचा नही रहा। कोई उसे उच्च पद या उच्चस्थान देना नही चाहता। और उसका व्यवहार भी साधारण जनता के साथ प्राय मधुर नही होता, इसलिए उसकी धनसम्पदा के साथ परिवार, समाज एव राष्ट्र के लोगो की मानसिक कटुता रहती है, उसे सुपात्रो या पात्रो के आशीर्वाद नही मिलते। प्राय कृपण के पास शोषण और अनीति से धन जमा होता है, इसलिए उसके धन के साथ शोषितो और पीडितो के अन्तर की आहे जुडी रहती हैं।

सूर्य और चन्द्रमा सारे ससार को प्रकाश देते हैं, इसलिए उनका स्थान आकाश मे ऊँचा है। दीपक और बल्ब आदि भी प्रकाश देते हैं, इसलिए इनके प्रकाश से लाभ उठाने वाले या प्रकाश लेने वाले लोग इन्हें ऊँचे स्थान पर रखते हैं, तभी इनसे ठीक तरह से प्रकाश ग्रहण किया जा सकता है। यही बात जगत् मे दाता के सम्बन्ध मे है, सभा-सोसाइटियो मे दाता को सम्मानप्रद उच्च स्थान पर नियुक्त करके या उच्च स्थान पर बिठा कर ही उससे धन का लाभ लिया जाता है। ऋग्वेद मे दाता की महिमा बताते हुए कहा है—

(१) दानियो के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है। दाता के लिए ही आकाश मे सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, वह अत्यन्त दीर्घायु प्राप्त करता है।[१] महाभारत मे बताया गया है कि (२) "इस ससार मे कई प्रकार के शूर होते हैं, अन्य बातो मे शूरवीर तो इस लोक मे सैकडो की सख्या मे मिल सकते हैं, लेकिन उनकी गिनती करते समय दानशूर ही विशेषता की गणना मे आते हैं।"[२] नीतिकारो ने उदार व्यक्ति को मनुष्यो मे अग्रगण्य बताते हुए कहा— (३) 'वही एकमात्र मनुष्यो मे अग्रणी है, जो त्याग (दान) से युक्त हाथ से याचको (प्राथियो) के प्रार्थना के कारण धूलिधूसरित विवर्ण मुख को पोछता है।'[३] मतलब

---

१ दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावता दिवि सूर्यास ।
दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते, दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयु ॥ १।१२५।६

२ शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर ।
तेषा सख्यायमानाना दानशूरो विशिष्यते ॥

३ नृणा धुरि स एवैको य कश्चित्त्यागवाणिना ।
निर्माष्टि प्रार्थनापासुधूसर मुखमर्थिनाम् ॥

यह है कि जो दीनदुखियो को अपने हाथ से भावपूर्वक दान देकर उनके आँसू पोछता है, वही अग्रगण्य मनुष्यो की गणना मे आता है।

राजा कर्ण ससार का बहुत बडा दानी हो गया है। भारतवर्ष मे हिन्दू समाज में प्राय आम मान्यता प्रचलित है कि प्रात काल की वेला राजा कर्ण का नाम लेने की है, इस अमृतवेला मे कलह, झगडा, कटुकथन या क्रोधादि नही करना चाहिए। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भी कर्ण की दानवीरता की प्रशसा करते थे। कहते हैं—राजा कर्ण ने एक याचक को अपने पास आए देख, सोचा—"इस समय मेरे पास और तो कुछ नही है, क्या दूं! सोचते-सोचते उसे विचार आया कि महल के कपाटों में लगा हुआ चन्दन तो है, इसे ही क्यो न दे दिया जाए। अत उन्होंने अपने सेवक से कह-कर महल तुडवाया और कपाटो मे लगा चन्दन याचक को देकर सन्तुष्ट किया।

महाभारत मे जिक्र आता है कि एक बार इन्द्र ब्राह्मण रूप मे कर्ण के पास पहुँचे और उसके कवच और कुण्डल माँगे, जो उसके प्राणसमान थे, तथा सूर्य से प्राप्त हुए थे। फिर भी दानवीर कर्ण ने याचक इन्द्र को वे दोनो बहुमूल्य पदार्थ प्रसन्नता पूर्वक दे दिये।

वास्तव मे कर्ण का दान अद्भुत था। इसी कारण वह मनुष्यो मे ही नही, दानियो मे भी शिरोमणि माना गया था। उदारदाता के हृदय मे याचक के प्रति करुणा भी होती है, और यह श्रद्धा भी होती है कि कौन किसके द्वार पर याचना करने आता है। जब यह बडी आशा से आया है तो इसे निराश करके लौटाना अच्छा नही है। और तीसरी विशेषता जो उनके जीवन मे होती है, वह यह कि वह सुपात्र या पात्र याचक को देखकर सोचता है, मुझे इस महानुभाव ने अपनी सम्पत्ति या साधनो का दान देकर सदुपयोग करने का उत्तम अवसर दिया, यह भी मुझ पर महान् अनुग्रह किया है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

'याचक को इन्कार करने के लिए सत्पुरुषो की जीभ जड हो जाती है।'[1]

'कर्ण ने त्वचा, शिबि ने मास, जीमूतवाहन ने जीव और दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियाँ दान मे दे दी क्योकि महापुरुषो के पास न देने योग्य कुछ होता ही नही।'[2]

महान् दाता प्रत्याशा से दूर

दाता के विषय मे विचार करते समय यह तो मानकर चलना चाहिए कि वही दाता अपने दान मे सफल होगा जो विधि, द्रव्य और पात्र उत्तम होने के बावजूद भी अपने आप मे नि स्वार्थ, निष्काम और सच्चा होगा। जो दाता पात्र से किसी न

---

१ 'याचितार निराकर्तुं सता जिह्वा जडायते'।

२ कर्णस्त्वच शिबिर्मांस जीव जीमूतवाहन।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेय महात्मनाम्॥

किसी प्रकार की स्पृहा या लौकिक स्वार्थ अथवा इहलौकिक या पारलौकिक फलाकाक्षा रख कर दान देगा, वह वास्तव मे सच्चा दाता नहीं माना जाएगा। नीतिवाक्यामृत मे कहा गया है—वही दाता महान है जिसका मन प्रत्याशा से उपहत नहीं है।'[1]

ऐसा दाता अगर नीचे स्थान मे भी बैठा होगा, अथवा निम्न कुल मे भी पैदा होगा, तो भी जनता उसकी सेवा मे पहुँच जाएगी। प्रसग रत्नावली मे कहा है—'दाता छोटा होने पर भी उसकी सेवा की जाती है, लेकिन फल न देने वाले महान् व्यक्ति की नही की जाती। यह प्रत्यक्ष देख लो, जल पीने का इच्छुक समुद्र को छोड कुएँ की सेवा करता है, भले ही जमीन मे बहुत नीचा और गहरा हो।[2]

जो वृक्ष फलदार हो, वह चाहे बडा न हो, सघन न हो फिर भी लोग उसकी सेवा मे पहुँच जाते हैं, किन्तु जो वृक्ष केवल घना हो, फल न देता हो, उसके पास बहुधा नही जाते। जो गाय दूध देने वाली होती है, उसके पास दुग्धार्थी पहुँच जाते हैं, उसका सत्कार भी करते हैं, किन्तु जो गाय बूढी व दूध न देने वाली होती है, उसकी सेवा कम ही करते हैं। इसी प्रकार निम्न जातीय दाता भी उच्च भावना के फलस्वरूप उच्च कोटि का दाता कहलाता है, वह मानवतावादी होता है और अपने गाढे पसीने की कमाई से प्राप्त धन मे से दान देता है।

यह सच है कि दाता अगर स्वावलम्बी, श्रमनिष्ठ हो, मानवता युक्त हो तो वह चाहे जिस जाति का हो, सर्वत्र सम्मानित होता है।

किन्तु ऐसे सच्चे दाता विरले ही होते हैं। अधिकाश दाता तो सम्मान चाहते है, कोई न कोई स्वार्थ सिद्धि करना चाहते हैं अथवा किसी स्पृहा से देते हैं। इसीलिए तो स्मृतिकार व्यास को कहना पडा—'शूरवीर सौ मे से एक होता है, पण्डित हजार मे से एक होता है, और वक्ता दस हजार मे से एक होता है, लेकिन दाता तो क्वचित् होता है, क्वचित् नही भी होता।'[3]

प्रश्न होता है—दाता इतना दुर्लभ क्यो ? इसके उत्तर मे यही कहना होगा कि वैसे तो बरसाती मेढको की तरह किसी न किसी स्वार्थ, पुण्योपार्जन या किसी मतलब से हजारो दाता मिल जायेंगे पर सच्चा नि स्पृहदाता कोई विरला ही मिलेगा।

चन्दचरित्र मे दाताओ का वर्गीकरण तीन भागो मे किया गया है, इस पर से पाठक अनुमान लगा सकेंगे कि उच्च कोटि का दाता कैसा होता है ?

---

१ स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहत चेत ।

२ दाता नीचोऽपि सेव्य स्यात् निष्फलो न महानपि ।
जलार्थी वारिधि त्यक्त्वा, पश्य कूप निषेवते ॥

३ शतेषु जायते शूर, सहस्रेषु च पण्डित ।
वक्ता दशसहस्रेषु, दाता भवति वा न वा ॥

'उत्तमदाता याचक के बिना मांगे ही देता है, मध्यम मांगने पर देता है, किन्तु वह अधमाधम है, जो मांगने पर भी नही देता।'[1]

उत्कृष्ट दाता के रूप मे हम राजा हर्षवर्धन का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं—राजा हर्षवर्धन (शिलादित्य) स्वय को राजा न मानकर स्वय को अपनी बहन राज्यश्री का प्रतिनिधि मानते थे। राज्यश्री का कहना था—प्रयाग की पावनभूमि महादानभूमि है। यहाँ से कुछ भी घर लौटा ले जाना अनुचित है। प्रयाग मे कुम्भ मेले पर राजा द्वारा मोक्ष सभा के आयोजन मे देश के विभिन्न प्रान्तो से समागत बौद्ध भिक्षुओ, विद्वान् सनातनी साधुओ, ब्राह्मणो एव सन्यासियो के आवास-भोजनादि की व्यवस्था की जाती थी। एक महीने तक धर्मचर्चा चलती थी। राज्यश्री ने हर्ष राजा के द्वारा सर्वस्वदान की घोषणानुसार धन, आभूषण, वस्त्र, वाहन आदि सर्वस्व दान कर दिया। अधोवस्त्र के सिवाय शरीर पर पहने हुए वस्त्र तक राज्यश्री ने सेवको को दे दिये। लेकिन उसे तब चौंकना पडा, जब उसके भाई सम्राट् हर्ष केवल धोती पहने उत्तरीय वस्त्राभूषणरहित उसके सम्मुख आकर बोले—'बहन! हर्ष तुम्हारा राज्यसेवक है। यह अधोवस्त्र नापित को दे देने का सकल्प कर चुका है। क्या अपने सेवक को एक वस्त्र नही दोगी?' सुनकर राज्यश्री के नेत्र भर आए। उसके स्वय के शरीर पर सिर्फ एक साडी बची थी, लज्जा निवारणार्थ। ढूंढा तो एक फटा-पुराना वस्त्र शिविर मे पडा मिला, वह वस्त्र हर्ष ने ले लिया, और उसने अपनी धोती नापित को दे दी। इसके बाद तो यह परम्परा ही चल पडी, हर छठे वर्ष राज्यश्री से मांग कर हर्ष एक चिथडा लपेट लेते। भारत का वह सम्राट् अनावृत देह कुम्भ की भरी भीड मे बहन के साथ पैदल विदा होता, उस समय उस महादानी की शोभा दर्शनीय होती थी।

जैन आगम एव ग्रन्थो मे ऐसे उत्तम दाताओ के अनेक उदाहरण आते हैं जिन्होने उत्तम पात्र को पाकर अपना सब कुछ जो सबसे अत्यन्त प्रिय था वह भी दे डाला। शालिभद्र पूर्वभव मे सगम ग्वाला था और उसने मुनि को खीर का जो दान दिया वह वास्तव मे ही उत्तम दान था जिसके प्रभाव से वह अपार ऐश्वर्यशाली बना। उसके दान मे प्रतिदान व प्रतिफल की कोई आकाक्षा नही थी, सिर्फ पवित्र भावना की एक लहर थी जो आत्म-सागर से उठी और उसी मे लीन होगई।

मध्यमदाता याचक को भावना से देता है, जरूरत के अनुसार देता है, योग्य वस्तु भी देता है, पर देता है—याचक के मांगने पर। इसमें याचक जरा अपमान महसूस करता है, और दाता मे थोडा-सा गर्व का लेश भी आ जाता है। हालाकि वह याचक (आदाता) का अपमान नही करता, किन्तु याचना के बाद ही दान धारा की वृष्टि दान की विशेषता को कुछ फीकी कर देती है।

---

1 उत्तमोऽप्रार्थितो दत्ते, मध्यम प्रार्थित पुन।
याचकैर्याच्यमानोऽपि, दत्ते न त्वधमाधम॥

एक बार प० मदनमोहन मालवीय मद्रास के एक धनाढ्य के यहाँ 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के लिए चदा लेने गये। उस धनिक ने मालवीय को ४० हजार रु० का चैक काटकर दे दिया। मालवीय जी ने वह चैक देखा नहीं, उसे लेकर वे सीधे अपने निवासस्थान पर आए। वहाँ जब उन्होंने चैक देखा तो नौकर के साथ तुरन्त वह चैक वापिस लौटाया, साथ ही एक पत्र भी लिखा कि 'बहुत बडी आशा से मैं आपके यहाँ आया था।' धनिक ने मालवीयजी का पत्र पढकर उस चैक मे एक शून्य बढा दिया। अर्थात् दान की रकम ४० हजार के बदले ४ लाख हो गई। इस चैक के मिलते ही मालवीय जी ने उस उदार धनिक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखा—'एक जबर्दस्त शून्य बढाने के लिए मेरे धन्यवाद स्वीकारिये।' सचमुच यह दान भी कम महत्त्वपूर्ण न था।

किन्तु कई मम्मण सेठ सरीखे अनुदार और कृपण भी होते हैं, जो दान से दूर और बटोरने मे शूर होते हैं। वे न तो किसी को देना जानते हैं, और न ही स्वय अपने शरीर के लिए आवश्यक खर्च करते हैं। ऐसे लोग मरने के बाद एक ही साथ सारा धन दे जाते हैं, क्योंकि वह सारा धन उनके मरने के बाद यहीं पडा रह जाता है। व्यास स्मृति मे कृपण के लिए व्यग्य कसा गया है—

> अदाता कृपणस्त्यागी, धनं संत्यज्य गच्छति।
> दातारं कृपण मन्ये, न मृतोऽप्यथ मुचति ॥"

अदाता-कृपण पुरुष ही वास्तव मे त्यागी है, क्योंकि वह धन को यहीं छोडकर चला जाता है, दाता को तो मैं कृपण मानता हूँ, क्योंकि वह मरने पर भी धन को नहीं छोडता, अर्थात् पुण्य रूप धन उसके साथ ही जाता है।

वृत्ति के अनुसार तीन प्रकार के दाता

इसी प्रकार वृत्ति के अनुसार दाता के तीन प्रकार बताये गये हैं—

(१) ऐसा दाता, जो स्वय तो सुस्वादु भोजन करे, परन्तु दूसरो को अस्वादु भोजन दे, वह दानदास है।

(२) जो जिस प्रकार का स्वय खाता है, वैसा ही दूसरो को देता है, या खिलाता है, वह दानसहाय है और।

(३) जो स्वय जैसा खाता है उससे अच्छा दूसरो को खिलाता या देता है, वह दानपति है।

वास्तव मे वही दानवीर है, जो स्वय कष्ट सह कर या रूखासूखा खाकर या स्वैच्छिक गरीबी मे रहकर दूसरो को सुख देता है, अपना धन मुक्तहस्त से योग्यपात्र को देता रहता है। इस ससार मे कई प्रकार की रुचि, वृत्ति और दृष्टि के लोग होते हैं। कई लोग ऐसे होते हैं, जो दाता बनने का दम भरते हैं, लेकिन उनके जी से अच्छी चीज उतरती नहीं। वे दान देते समय सौदेबाजी या कजूसी करते हैं।

एक पण्डितजी थे। एक भक्त से उन्हे दान-दक्षिणा लेनी थी। इसलिए चन्दन के तिलक के बदले भक्त के मिट्टी का तिलक करते हुए बोले—'गगाजी की मृत्तिका, चन्दन करके मान।" भक्त भी कम नही था। उसने भी पण्डित को दक्षिणा से मेढकी देते हुए कहा—"गंगाजी की मेढकी, गैया करके जान।' तात्पर्य यह कि जैसा आदाता था, वैसा ही दाता मिल गया।

खलीफा ऊमर, जो हजरत मुहम्मद साहब के शिष्य थे। उनके समय मे ईरान देश जीता गया था। सेना नायक ने जीत मे मिला हुआ सारा धन खलीफा के आगे रखा। खलीफा ने स्वय एक कौडी भी न रखकर सारा धन गरीबो को बाट दिया। उसमे मणि-जटित एक कीमती गलीचा था, जिसे सेनापति ने उन्हे नमाज पढने के लिए रख लेने का आग्रह किया। परन्तु खलीफा को उस कीमती गलीचे पर बैठकर नमाज पढने मे ग्लानि आती थी, उन्हें दो तीन दिन तक नीद भी न आई। अत उन्होंने उसे भी यहूदी व्यापारियो को बेच डाला और उसके जो रुपये मिले, उन्हे समानरूप से गरीबो मे बाँट दिये। स्वय ऊँट के बने कबल पर बैठकर नमाज पढने लगे। यह था दानसहाय दाता का रूप!

कुछ दाता ऐसे भी होते हैं, जो स्वय धनिक होते हैं, उनके अपने व्यापार धन्धे मे आमदनी भी अच्छी होती है, फिर भी वे स्वय किसी प्रकार की मेहनत करके वह आय गरीबो मे बाट देते हैं। वे भी दानसहाय दाता की कोटि मे ही गिने जायेंगे।

कहा जाता है कि मेवाड के राणा भीमसिहजी एक बार सकट मे पड गए। तब किसी ने उन्हे सलाह दी कि 'अब अपनी दानशीलता मे कटौती करो।' इस पर उन्होने कहा—'मैं भोजन व कपडो मे कमी कर सकता हूँ, पर दान देने मे नही।'

वि० सवत् १९५३ मे जब भयकर दुष्काल पडा, उस समय देवगढ के राव साहब किसनसिहजी थे, उनके कोठार मे कामदार थे—चन्दनमलजी मेहता। अन्न के दाने के लिए तरसते हुए लोगो ने मेहताजी से कहा—'किसी तरह हमे बचाओ, अन्न दो।'

मेहताजी दयालु थे, उन्होने अपने मातहत नौकरो व पहरेदारो से कह दिया—जो लोग अनाज ले जाते हो, उन्होने ले जाने दो। बेचारो की किसी तरह दुष्काल सकट से रक्षा हो।' इस प्रकार मेहताजी ने जरूरतमदो को पूछ-पूछकर अनाज देना शुरू किया। लगभग १६०० मन अनाज उन्होने सरकारी कोठार से दिया। कुछ सरकारी लोगो ने राव साहब से शिकायत की कि हजूर! १६०० मन अनाज कोठार मे कम उतरा है, आप मेहता साहब से पूछें कि इतना अनाज कहाँ गया?' दूसरे दिन जब चन्दनमलजी मेहता राव साहब को मुजरा करने आये तो उन्होने पूछा—'मेहतासाहब! यह १६०० मन अनाज कहाँ गया?' मेहता साहब मुह से कुछ नही बोले। इससे पहले ही रावणा राजपूतो की औरतो और पुरुषो ने कहा—'अन्नदाता! मेहता साहब

अपने घर में तो इसमे से एक छटाक अन्न नही ले गये हैं, अन्न तो हम प्रजा मे बाटा है, हमारे पेट मे पडा है। इससे हमारा दुष्काल का समय गुजर गया, नही तो बेमौत मारे जाते। मेहता साहब ने हमे अन्न देकर बचाया है।" राव साहब भी भद्र प्रकृति के थे। उन्होने कहा—'अच्छा जाओ, कोई बात नही, दे दिया तो। इतना खर्च खाते लिख दो।' सचमुच चन्दनमलजी मेहता ने अपने को सकट मे डालकर भी कष्ट पीडित प्रजा को अन्न देकर बचाया। यह उत्कृष्टदातृत्व का उदाहरण है।

दाता की पात्रता

वास्तव मे दानदाता मे विशेषता तभी आती है, जब दाता मे शराब, जुआ, व्यभिचार या मासाहार आदि दुर्व्यसन न हो। जिस दाता मे ये दुर्व्यसन होते हैं, वह चाहे कितना ही अच्छा योग्य द्रव्य दे दे, उत्तम पात्र को चाहे विधिपूर्वक ही क्यो न दे दे, उसका दान उत्तम फलदायक नही होता। प्राय ऐसे दाता कभी-कभी अपने ऐबो या बुरी आदतो अथवा दुर्व्यसनो किंवा पापो को छिपाने के लिए या उन पर पर्दा डालकर जनता की दृष्टि मे प्रतिष्ठा-भाजन बनने के लिए भी दान देते रहते हैं। कई दफा तो लेने वाले पात्र भी ऐसे लोगो से दान लेने से इन्कार कर देते हैं।

आगरा के दयालबाग मे राधास्वामी सम्प्रदाय की ओर से कई औद्योगिक सस्थान चल रहे हैं। एक बार एक अमरीकन दम्पती यह देखने के लिए आये। वे सारी सस्था, दयालबाग के भव्य सत्सगभवन, मन्दिर आदि देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और सस्था को उन्होने १० हजार डालर दान देना चाहा। इस पर दयालबाग के अधिकारी ने कहा—'साहब! माफ करिये, हम उसी दाता से दान लेते हैं, जो शराब और मासाहार से परहेज करता हो।' कुछ क्षण विचार कर वे बोले—'तो हम आज से मासाहार का त्याग कर देते हैं, परन्तु शराब तो हमारी आदत व ठडी आबहवा के कारण हमे थोडी-सी लेनी पडती है अब तो हम से दान लीजिएगा न?' अधिकारी—'नही, साहब! दोनो चीजो का त्याग करने पर ही रकम ली जा सकती है। दाता मे इतनी पात्रता तो होनी ही चाहिए।' बेचारे निराश होकर चले गए। दाता की पात्रता देखने का कितना अद्भुत प्रसग है यह। यही कारण है कि भगवान महावीर ने साधुसाध्वियो को दान देने वाले गृहस्थ नर-नारियो के लिए पहले श्रावक के ११ व्रत बताए हैं, और अन्तिम व्रत बताया है—अतिथिसविभागव्रत। इसका रहस्य यह है कि उक्त गृहस्थ दाता मे श्रमणोपासक या श्रावक धर्म की योग्यता आ जानी चाहिए। ग्यारह व्रतो के सम्यक् पालन से वह व्यक्ति (दाता) इस प्रकार की योग्यता एव पात्रता अर्जित कर लेता है कि उसके दान मे किसी प्रकार का दोष—पापाश या अनिष्ट फलप्रदायी तत्त्व नही रहता। □

9

दाता के गुण-दोष

दाता की योग्यता के विषय मे आचार्यों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। उसकी पात्रता तथा गुण-दोषो पर यहाँ कुछ और चिन्तन प्रस्तुत है।

दाता मे कौन-कौन-से गुण होने चाहिए ? इसके लिए आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे निम्नलिखित श्लोक द्वारा दाता के विशिष्ट गुण बताए हैं—

'ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादित्व-मुदित्वे निरहंकारित्वमिति दातृगुणा ॥१६९॥

अर्थात्—इहलोक सम्बन्धी किसी फल की इच्छा न करना, क्षमा, निष्कपटता, अनुसूयता, अविषादिता, मुदिता, निरहंकारिता, ये ७ गुण दाता मे होने चाहिए।

१ फलनिरपेक्षता—दाता मे सबसे पहला गुण होना चाहिए—फलाकांक्षा से रहितता। दान के साथ किसी स्वार्थ या प्रसिद्धि, धन, पुत्र या अन्य किसी बात की लालसा दाता मे नही होनी चाहिए, तभी उसके दान मे विशेषता पैदा होती है। अतः किसी प्रकार के बदले की आशा से रहित होकर निष्कांक्ष भाव से ही दान करना चाहिए। लोक व्यवहार मे भी जो लोग ऑनरेरी (अवैतनिक) सेवा देते हैं, उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर समाज उन्हें उनके परिश्रम से अनेक गुना अधिक लाभ दे देती है, परन्तु वेतन लेकर सेवा करने वाले पूरा कार्य समय पर नही करते हैं तो उनसे सस्था के अधिकारी भी असन्तुष्ट रहते हैं, वे दण्ड भी पाते हैं। यही बात दान के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए। फल निरपेक्ष दान का लाभ पिछले पृष्ठो मे शालिभद्रजी की ऋद्धि, सुबाहुकुमार की महासम्पदा, धन्नासार्थवाह का तीर्थंकरत्व के रूप मे दान का फल अनन्तगुणा अधिक मिलता है, यह उल्लेख करके बता आये हैं। कहा भी है—

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं व्यापारे तु चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणं ज्ञेयं, दाने चानन्तगुणं मतम् ॥

अर्थात्—लगाया हुआ द्रव्य व्याज से दुगुना हो जाता है, व्यापार मे चौगुना

9

दाता के गुण-दोष

दाता की योग्यता के विषय मे आचार्यों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। उसकी पात्रता तथा गुण-दोषो पर यहाँ कुछ और चिन्तन प्रस्तुत है।

दाता मे कौन-कौन-से गुण होने चाहिए ? इसके लिए आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे निम्नलिखित श्लोक द्वारा दाता के विशिष्ट गुण बताए हैं—

'ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादित्व-मुदित्वे निरहंकारित्वमिति दातृगुणा. ॥१६६॥

अर्थात्—इहलोक सम्बन्धी किसी फल की इच्छा न करना, क्षमा, निष्कपटता, अनुसूयता, अविषादिता, मुदिता, निरहंकारिता, ये ७ गुण दाता मे होने चाहिए।

१ फलनिरपेक्षता—दाता मे सबसे पहला गुण होना चाहिए—फलाकांक्षा से रहितता। दान के साथ किसी स्वार्थ या प्रसिद्धि, धन, पुत्र या अन्य किसी बात की लालसा दाता मे नही होनी चाहिए, तभी उसके दान मे विशेषता पैदा होती है। अतः किसी प्रकार के बदले की आशा से रहित होकर निष्कांक्ष भाव से ही दान करना चाहिए। लोक व्यवहार मे भी जो लोग ऑनरेरी (अवैतनिक) सेवा देते हैं, उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर समाज उन्हे उनके परिश्रम से अनेक गुना अधिक लाभ दे देती है, परन्तु वेतन लेकर सेवा करने वाले पूरा कार्य समय पर नही करते हैं तो उनसे सस्था के अधिकारी भी असन्तुष्ट रहते हैं, वे दण्ड भी पाते हैं। यही बात दान के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए। फल निरपेक्ष दान का लाभ पिछले पृष्ठो मे शालिभद्रजी की ऋद्धि, सुबाहुकुमार की महासम्पदा, धन्नासार्थवाह का तीर्थंकरत्व के रूप मे दान का फल अनन्तगुणा अधिक मिलता है, यह उल्लेख करके बता आये हैं। कहा भी है—

व्याजे स्याद् द्विगुण वित्त व्यापारे तु चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुण ज्ञेय, दाने चानन्तगुण मतम्॥

अर्थात्—लगाया हुआ द्रव्य व्याज से दुगुना हो जाता है, व्यापार मे चौगुना

वार उनके यहां एक प्रवासी ब्राह्मण आया और कहने लगा—"सेठ जी ! मेरे पास पानी पीने के लिए लोटा नही है। अगर कोई तांबे का लोटा दिलाएँ तो बडी कृपा होगी।" दादासाहब ने अपने नौकर से पानी का लोटा लाने का कहा। नौकर जल्दी मे था, उसने सोचा—दादा साहब को पानी पीना है, इसलिए सेठानी को कहकर किसी जरूरी काम से चला गया। सेठानी ने दूसरे नौकर के साथ चाँदी का लोटा पानी भर कर भेजा। दादासाहब तांबे के बदले चाँदी का लोटा देख मुस्कराए और स्नानादि से निवृत्त होकर आए तब तक वह गरीब ब्राह्मण तांबे के लोटे की प्रतीक्षा मे बैठा था। काफी देर होने से अधीर होकर उस गरीब ब्राह्मण ने कहा—"साहब ! आपने मेरी बात पर ध्यान नही दिया ?" इस पर वह बोले—"वह लोटा, जो रखा है, तुम्हारे लिए ही तो रखा है, ले जाओ।" गरीब ब्राह्मण तो दादासाहब की उदारता और चढते भावो को देख कर दग रह गया। वह तांबे के बदले चाँदी का लोटा पाकर प्रसन्न हो उठा। ऐसी मुदिता दाता मे होनी चाहिए।

७ निरहकारिता—दाता को निरभिमानी होना चाहिए। तीर्थंकर दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष मे ३ अरब, ७४ करोड ४० लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान देते हैं, ऐसे दानेश्वरियो के सामने मैं किस विसात मे हूँ। मेरा तो जरा-सा तुच्छ दान है। मैं क्या दे सकता हूँ ? इत्यादि विचारो से अहकार शून्य होकर दान दे। कई बार दाता का अहकार दान का मजा किरकिरा कर देता है। जबकि दाता की नम्रता दान को विशिष्ट फलवान बना देती है।

दाता मे ये सात विशिष्ट गुण होने चाहिए।

महापुराण मे दानपति (श्रेष्ठदानी) के सात गुण इस प्रकार बतलाए हैं—[1] श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग। श्रद्धा कहते हैं—आस्तिक्य को। आस्तिक बुद्धि न होने पर दान देने मे अनादर हो सकता है। दान देने मे आलस्य न करना शक्ति नामक गुण है। पात्र के गुणो के प्रति आदर करना भक्ति नामक गुण है। दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना—विधि या कल्प्याकल्प्य, एषणीय-अनेषणीय, प्रासुक-अप्रासुक का ज्ञान होना विज्ञान है। दान के प्रति किसी प्रकार की फलाकांक्षा न रखना अलुब्धता है। सहनशीलता होना क्षमा नामक गुण है और दान मे उत्तम द्रव्य देना, त्याग है। इस प्रकार जो दाता उपर्युक्त सात गुणो से युक्त है, और निदानादि दोषो से रहित होकर पात्र रूपी सम्पदा मे दान देता है, वह दाता मोक्ष प्राप्ति के लिए उद्यत होता है।[2]

---

१ श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलुब्धता।
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणा ॥ —महा पुराण २०।८२

इसी प्रकार के दाता के ७ गुण गुणभद्रश्रावकाचार[1] मे बताए गए हैं और ये ही ७ गुण चारित्रसार[2] मे वसुनन्दि श्रावकाचार से उद्धृत किये गये हैं। परन्तु पहले बताए हुए सात गुणो मे और इन दो जगह बताए गये सात गुणो मे एक-एक गुण का अन्तर है। जैसे पूर्वोक्त सात गुणो मे एक गुण त्याग है, उसके बदले यहाँ सन्तोष गुण है और चारित्रसार मे इसके बदले दया गुण है। यो एक-एक गुण का अन्तर है। सन्तोष और दया ये दो गुण दाता मे होने ही चाहिए। त्याग का गुण अलुब्धता के अन्तर्गत आ जाता है, तथैव सन्तोष का गुण भी अलुब्धता के अन्तर्गत आ जाता है। दयागुण को ही विशेष समझना चाहिए। थोडे-से अन्तर के साथ सागारधर्मामृत मे विशुद्ध दाता का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

भक्ति-श्रद्धा-सत्त्व तुष्टि-ज्ञानालौल्यक्षमागुणः।
नवकोटी विशुद्धस्य दाता दानस्य य पति ॥ —सा० ध० ५।४७

अर्थात्—भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलोलुपता और क्षमा इनके साथ असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन-वचन-काया तथा कृत-कारित-अनुमोदित इन नौ कोटियो से विशुद्ध दान का अर्थात् देने योग्य द्रव्य का स्वामी होता है, वही सच्चा दाता कहलाता है। दाता की विशेषताएँ बताते हुए राजवार्तिक मे इस प्रकार कहा है

—'पात्र मे ईर्ष्या न होना, त्याग मे विषाद न होना, देने के इच्छुक तथा देने वालो पर तथा जिसने दान दिया है, उन सब पर प्रीति का होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा न करना, निदान न करना, किसी से विसवाद न करना आदि दाता की विशेषताएँ हैं। ये ही बातें सर्वार्थ-सिद्धि मे बताई हैं।[3]

---

२ श्रद्धाऽऽस्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादर।
भवेच्छक्तिरनालस्य, भक्ति स्यात्तद् गुणादर ॥८३॥
विज्ञान स्यात् क्रमज्ञत्व, देयासक्तिरलुब्धता।
क्षमा तितिक्षा ददतस्त्याग सद्व्ययशीलता ॥८४॥
इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्र सम्पदि।
व्यपेतश्च निदानादे दोषान्नि श्रेयसोद्यत ॥८५॥ —महापुराण

१ श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञान, पुष्टि शक्तिरलुब्धता।
क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥

२ श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्व, भक्तिर्ज्ञान दया क्षमा।
इति श्रद्धादय सप्त गुणा स्युर्गृहमेधिनाम् ॥ २६।६

३ प्रतिगृहीतरि अनसूया, त्यागे विषाद दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोग कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादि दातृविशेषोऽवसेय। —राजवार्तिक ७।३९।४।५५९।२९
—सर्वार्थसिद्धि ७।३९।६७३।६

वास्तव मे श्रेष्ठ दाता वही है, जो अपनी थोडी-सी कमाई मे से श्रद्धाभाव से विधिपूर्वक योग्य पात्र को दे। अपनी करोडो की कमाई मे से थोडा-सा हिस्सा दान मे दे, वह दाता अवश्य है, किन्तु श्रेष्ठदाता नही। और वह भी अच्छा दाता नही कहलाता, जो दान देने के साथ अहंकार, फलाकाक्षा आदि दोषो से लिप्त हो जाय। इसीलिए अमितगति श्रावकाचार के परिशिष्ट मे कहा गया है—

आस्तिको निरहंकारी वैयावृत्यपरायणः।
सम्यक्त्वालंकृतो दाता जायते भुवनोत्तम ॥

—'जो आस्तिक, निरहकारी, वैयावृत्य (सेवा) मे तत्पर और सम्यक्त्वी दाता होता है, वही लोक मे उत्तम कहा गया है'

चार प्रकार के बादलो के समान चार प्रकार के दाता

भगवान् महावीर ने प्रकृति की अनुपम वस्तुओ से भी बहुत कुछ प्रेरणा दी है, और ससार को बताया है कि दान, पुण्य या परोपकार के लिए प्रकृति की खुली पोथी पढो, और उससे प्रेरणा लो। स्थानाग सूत्र के चतुर्थ स्थान मे श्रमण-शिरोमणि भगवान् महावीर ने चार प्रकार के मेघ बताए हैं, वे इस प्रकार हैं[1]—

(१) कुछ बादल गर्जते हैं, पर बरसते नही।
(२) कई बादल बरसते हैं, पर गर्जते नही।
(३) कई बादल गर्जते भी हैं, बरसते भी हैं।
(४) कई बादल न गर्जते है, न बरसते हैं।

इसी प्रकार ससार मे चार प्रकार के दाता कहलाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कई दाता गर्जते बहुत हैं, पर बरसते बिलकुल नही।
(२) कई दाता चुपचाप बरसते जाते हैं, गर्जते नही।
(३) कई दाता गर्जते भी हैं, बरसते भी हैं।
(४) कई दाता न तो गर्जते हैं, न उदारभाव से बरसते हैं।

भगवान् महावीर मानव-प्रकृति के बहुत बडे पारखी थे। उन्होने बताया कि कई दाता ससार मे ऐसे होते हैं, जिनसे कोई भी व्यक्ति कुछ मांगे या उनके द्वार पर खडा हो जाय अथवा किसी सार्वजनिक सस्था के हेतु दान देने का कहे तो वे बहुत लम्बी चौडी बातें बनाएँगे, गाल बहुत बजायेंगे, अपनी प्रशसा के बहुत लम्बे-चौडे गीत गायेंगे, अर्थात् वे छप्पड फाड बातें करेंगे, पर जब देने का समय आएगा, तब अगूठा बता देंगे, या कोई न कोई बहाना बना लेंगे, या दूसरे पर सरका देंगे। ऐसे व्यक्ति वाणीदान मे

---

१ चत्तारि मेहा पण्णत्ता, त जहा-गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता, वासित्ता णाममेगे णो गज्जित्ता, एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि, एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता ॥ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता

—स्थानागसूत्र स्थान ४, सू० उ० ४ सू० ५३३

शूर होते हैं, पदार्थदान मे नही। वे जोर-जोर से गर्ज कर अपना आडम्बर एव घटाटोप बहुत दिखायेंगे, पर उनके हाथ से दानजल की एक भी बूंद बरसेगी नही। परन्तु दूसरे प्रकार के बादल के समान कई दाता ऐसे होते हैं, जो गर्जन-तर्जन, आडम्बर या लम्बी-चौडी बातें नही करेंगे, चुपचाप दानधारा बरसा कर याचक या आदाता की पिपासा शान्त कर देंगे। ऐसे दाता न तो अपनी प्रसिद्धि चाहते हैं, न आडम्बर और न ही दान का ढिढोरा पीटते हैं, जो कुछ देना हो, चुपचाप योग्य पात्र देखकर तदनुसार दे देते हैं। कई ऐसे दाता होते हैं, जो दान देते हैं, लेकिन पात्र को डाँट-डपट कर गर्जन-तर्जन करके देते हैं। अरबस्तान मे एक धनाढ्य आदमी गरीबो को एक-एक मुट्ठी अन्न का दान कर रहा था। एक फकीर ने वहाँ जाकर हाथ पसारा तो उस दाता ने मुट्ठी भर अन्न दे दिया। फकीर ने दूसरी बार फिर हाथ फैलाया तो दाता क्रोधान्ध हो फकीर को धमकाने लगा। पहरेदारो से कहा—'इस भुक्खड को बाहर निकालो।' इस पर फकीर ने शान्तभाव से कहा—'मैंने हातिम का दान देखा था, इसलिए दूसरी बार हाथ फैलाया था।' दाता बोला—'यह बात मानी नही जा सकती।' फकीर—'मेरी बात पर विश्वास न हो तो चलो मेरे साथ।' धनाढ्य और फकीर दोनो हातिम के यहाँ पहुँचे। फकीर ने हातिम के दान भण्डार से लगातार चालीस बार भिक्षा मांगी, लेकिन प्रत्येक बार आदरपूर्वक भिक्षा मिलती गई। यह देखकर वह धनाढ्य दाता शर्मिन्दा हो गया।

तात्पर्य यह है कि कई दाता इस धनाढ्य की तरह गर्जते बहुत हैं, लेकिन इतने बरसते नही, जबकि हातिम जैसे कई दाता गर्जते नही, सदा ही बरसते रहते हैं।

तीसरे प्रकार के दाताओ मे दोनो गुण होते हैं—वे मेघ के समान गर्जते भी हैं तो बरसते भी हैं। वे लोगो मे दान देने की घोषणा भी करते हैं, वे याचको अथवा पात्रो को दान लेकर अपने पर अनुग्रह करने के लिए, उद्घोषणा करके सावधान भी करते हैं और मुक्तहस्त से देते भी हैं। वे कोरे गर्ज-गर्ज कर याचको को धोखे मे नही रखते। वे बरसते हैं तो ऐसे बरसते हैं कि फिर पात्रो या याचको को तृप्त कर देते हैं। वे गरजते भी हैं तो, इसलिए नही कि अपनी प्रसिद्धि या आडम्बर करें, केवल नाम का ढिढोरा पीटें। उनका गर्जन पात्रो को आह्वान करने के लिए प्राय. होता है। वे नही चाहते कि पात्र, कही अन्यत्र ऐसी जगह चला जाय, जहाँ उसे केवल थोथी वाक्यावली ही सुनने को मिले, उसे खाली हाथ लौटना पडे, पात्र का अपमान हो, वह निराश होकर लौट जाय। और चौथे नम्बर के दाता—दाता क्या नाम के दाता—कृपण के अवतार और दान से कोसो दूर, बटोरने मे शूर ऐसे लोग हैं, जो न तो दान शब्द का नाम ही कानो से सुनना और मुख से कहना चाहते हैं, और न ही इन हाथो से दानधारा बरसाना चाहते हैं। हाँ, कवि की भाषा मे उसके सरीखा दानी ससार मे और कोई नही है। प्रसग रत्नावलि मे बताया है—

कृपणेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि, य परेभ्य प्रयच्छति॥

अर्थात्—कृपण के समान दाता न तो हुआ है, और न ही होगा, जो अपने सारे धन को बिना ही छुए, ज्यो का त्यो दूसरो को दे देता है। यानी छोड कर परलोक को विदा हो जाता है।

ऐसा कृपण न तो कभी दान का नाम लेकर ही लोगो के सामने दान की या दानी की प्रशसा करता है, बल्कि दूसरो को दान करते देखकर कृपण का कलेजा थर्रा उठता है। वह सोचने लगता है कि कही दान का ज्यादा बखान कर दिया तो याचको की मेरे यहाँ जमघट हो जाएगी। किस-किस को दूंगा और किसे इन्कार करूँगा। इसीलिए वह 'द कार' का नाम भी सुनना और लेना नही चाहता। एक कवि ने कृपण की खूब चुटकी ली है—

देवता को सुर औ असुर कहे दानव को,
दाई को सुधाय, तिया दार को कहत हैं।
दर्पण को आरसी त्यो, दाख को मुनक्का कहे,
दास को खवास आमखास उचरत है।
देवी को भवानी और देहरा को मठ कहै
याही विधि 'घासीराम' रीति आचरत है।
दाना को चबीना दीपमाला को चिरागजाल,
देवे के डर कभी दहो ना कहत है।

हाँ, तो ऐसा मृत्यु के बाद का दाता अर्थात् कृपण न तो कभी गरजता है, और न ही बरसता है।

इन चारो प्रकार के दाताओ मे दूसरे और तीसरे नबर के दाता अच्छे हैं, परन्तु पहले और चौथे नबर के दाता तो दा+न वाले अर्थात् नही देने वाले हैं, निकृष्ट और अनुदार प्रकृति के हैं।

प्रथम नम्बर के दाता उस ढपोरशख के समान हैं, जिसे पाकर बेचारा दरिद्र ब्राह्मण पछताया था। उससे लाख रुपये मागने पर वह कहता—'ले दो लाख, ले ले चार लाख।' परन्तु जब उससे याचक कहता—'अच्छा ला, एक लाख ही दे दे।' तब वह कहता—'अहं ढपोरशखोऽस्मि, वदाम्येव ददामि न'—मैं तो ढपोरशख हूँ, केवल कहता हूँ, देता कुछ नही हूँ।" वैसे ही व्यक्ति प्रथम नम्बर के बादल के समान हैं। दूसरे नम्बर के बादल के समान व्यक्ति गुप्त दानी, अहत्त्व-ममत्वरहित दानदाता हैं। वे याचक (पात्र) के बिना मांगे ही, उसकी आवश्यकतानुसार दे देते हैं। और तीसरे नम्बर के मेघ के समान दाता भी दानशाला खुलवा कर देने वाले राजा प्रदेशी, नन्दन मणिहार आदि के समान याचको को पुकार-पुकार कर देने वाले हैं।

और चौथे नम्बर के मेघ के समान दाता—मरणोपरान्त दाता—मम्मण सेठ के भाई होते हैं, जो 'चमडी जाय, पर दमडी न जाय' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

वाद्यो की तरह दानप्रेरित दाता के चार प्रकार

पूर्वोक्त लक्षणो से सम्पन्न दाता वर्तमान युग मे बहुत ही विरले मिलते हैं। अधिकतर दानी किसी न किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर दान देते हैं। उन्हें अगर कोई प्रेरणा न दे या किसी प्रकार की प्रेरणा न मिले तो वे दान से विरत हो जाते हैं। क्योकि वर्तमानयुग मे स्वार्थ, आकांक्षा, फलेच्छा आदि का बाजार गर्म है। अधिकाश सेवाभावी सार्वजनिक सस्थाए, जो दान के आधार पर चलती हैं, किसी न किसी प्रकार की प्रेरणा दाता को दी जाती है, तभी वे दान के लिए थैली का मुँह खोलते हैं। अगर उन लोगो को प्रेरणा न दी जाए तो उनके द्वारा दान के रूप मे फड इकट्ठा करना कठिन हो जाता है। स्वतः प्रेरणा से दान देने वाले बहुत ही कम होते हैं। अत देखना यह है कि वे प्रेरणाएँ—जो दानदाताओ को दी जाती हैं कितने प्रकार की हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे चार प्रकार के वाद्यो का वर्णन किया है—

(१) आतोद्य, (२) झणझणित, (३) स्वस्य और (४) स्पृश्य।

आतोद्य का अर्थ है—कष्ट देने—पीटने पर बजने वाले वाद्य, जैसे—ढोल, तबला, नगारा आदि। इन्हे कभी अगुलियो से थपथपाया जाता है, कभी हथेली या डडो से पीटा जाता है।

झणझणित का अर्थ है—वे वाद्य, जो परस्पर टकराने पर बजते हैं, जैसे—मजीरा, झझार, खडताल आदि।

स्वस्य वे वाद्य हैं, जो फूंक मारने पर बजते हैं, जैसे—मुरली, नफीरी, बिगुल आदि।

और स्पृश्य वाद्य वे हैं, जो तनिक-सा छूने पर बज उठते हैं, जैसे—वीणा, सितार, सारगी आदि तार वाले वाद्य।

इन चार प्रकार के वाद्यो के समान दाता भी चार प्रकार की प्रेरणा से प्रेरित होते हैं। कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनसे दान लेने के लिए ताडने की आवश्यकता होती है। उन्हे आतोद्य कहा जा सकता है। जब तक उनमे भय उत्पन्न नही किया जाता या वे विवशता का अनुभव नही करते, तब तक दान के लिए तैयार नही होते, जो पुलिस, सरकारी अधिकारी आदि के डर से रिश्वत के रूप मे देते हैं, उन्हें दाता की कोटि मे नही गिना जा सकता। उनके सिवाय ऐसे लोग जिन्हें नरक का डर दिखाकर या यहाँ चोरी-डकैती होने या सरकार के द्वारा गिरफ्तारी होने का डर दिखाकर किसी सस्था के लिए दान देने की प्रेरणा देकर दान लिया जाता है।

दूसरा प्रकार उन प्रेरित दाताओ का है, जिनसे झणझणित वाद्य के समान

परस्पर टकराकर, प्रतिस्पर्द्धा पैदा करके दान लिया जाता है। कही साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्द्धा पैदा की जाती है, कही जातीय, और कही प्रान्तीय तो कही भाषाकीय एव कही इसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न की जाती है, और प्रतिस्पर्द्धा के माध्यम से दान के लिए उकसाकर दान लिया जाता है। वैसे तो किसी को देते नही, किन्तु प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करने पर वे अनायास ही धन देने लगते हैं। फिर उन्हें कहने की आवश्यकता नही। उनसे अलग-अलग बुलाकर ऐसी बातें कही जाती हैं कि अमुक व्यक्ति इतने रुपये दे रहा है, बोलो तुम लगाना चाहो तो तुम्हारा नाम सर्वोपरि आयगा, शिलापट्ट पर तुम्हारा नाम लिखा जाएगा। अथवा यो कहा जाता है कि अमुक सम्प्रदाय या जाति वाले अपनी सम्प्रदाय या जाति के लिए इतने लाख खर्च करने तुले हुए हैं, अगर तुम्हे अपनी सम्प्रदाय या जाति की शान रखनी है तो इससे ज्यादा खर्च करके अच्छा काम करके दिखाओ। अपनी नाक ऊँची रखो, अपनी सम्प्रदाय या जाति उससे सवाई रहे, उन्नति मे अग्रगण्य कहलाए, ऐसा काम करना हो तो उदारतापूर्वक इतना दान करो।

तीसरा प्रकार उन प्रेरित दानियो का है, जिन्हे स्वस्य वाद्य की तरह फूंक मारने की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ है, सच्ची-झूठी प्रशसा और प्रशस्तिगान द्वारा उसके अहकार को जाग्रत करना। उसके मन मे अपनी प्रशसा सुनते ही फौरन दान देने की भावना पैदा हो जाती है। प्रशसा से फूल कर वह अनायास ही शीघ्र दान के लिए तैयार हो जाता है।

और चौथा प्रकार उन प्रेरित दानियो का है, जो स्पृश्य वाद्य के समान जरा-से गुदगुदाते हैं, दान के लिए तैयार हो जाते हैं। उनके प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति की जाती है। ज्योही उन्हे यह ज्ञात हो जाता है, कि अमुक महान् व्यक्ति हमसे प्रेम रखता है, अमुक सस्था के लिए उनकी प्रेरणा है, तो ये उक्त महापुरुष के प्रेम से अभिभूत होकर उसे निभाने के लिए हर सम्भव सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। वे अपने आपको भूल जाते हैं और प्रेमी की प्रसन्नता के लिए कठोर परिश्रम करने मे आनन्द मानते हैं। उनके हृदय को महान् व्यक्ति के प्रेम का सस्पर्श ही दान देने का उत्साह एव बल प्रदान करता है। किन्तु चारो प्रकार के ये दाता स्वत प्रेरित नही होते, ये पर प्रेरित होते हैं, इसी कारण उनके द्वारा दिया गया दान सहजभाव का दान नही होता। जैनशास्त्र की भाषा मे कहे तो यह अपनी लब्धि का दान नही, परलब्धि का दान है।

जाति आदि देखकर देना—दाता का दोष

जैनागमो मे जहाँ कही भी मुनियो या साधु-साध्वियो को दान देने की चर्चा है, वहाँ यह स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि 'दव्वसुद्धेण, दायगसुद्धेण पडिग्गह-सुद्धेण'—यानी द्रव्य शुद्धि से, दाता की शुद्धि से और पात्र की शुद्धि से अमुक व्यक्ति का दान सफल हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि दाता की शुद्धि भी दान की

सफलता के लिए अनिवार्य है। दाता की शुद्धि के लिए पिछले पृष्ठो मे हम दाता के गुण बता आये हैं, फिर भी एक-दो बातें और रह गई हैं, जिन्हे बताना आवश्यक है। वे ये हैं कि दाता को जब उत्तम मध्यम या जघन्य कोई भी पात्र मिले, उस समय जाति-पाति, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्त आदि की दीवारें नही खींचनी चाहिए। उस समय यह नही सोचना चाहिए कि यह तो हमारे प्रान्त का व्यक्ति नही है, अथवा यह नीची मानी जाने वाली जाति का है, अमुक नीचे कुल का है, अथवा यह हमारे सम्प्रदाय का नही है, या हमारे गुरु का शिष्य या भक्त नही है, इसकी वेश-भूषा, या तिलकछापे दूसरे ढग के हैं, इसलिए पराये व्यक्ति को कैसे दान दे सकते हैं ? अथवा दाता मुह देखकर तिलक निकालने के प्रयत्न करता है, अर्थात् अपने जाने-माने सम्प्रदाय आदि का हो तो उसे अत्यन्त भावनापूर्वक अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देता है और अन्य सम्प्रदाय आदि का कोई पात्र हो तो उसे रूखी-सूखी या ऐसी-वैसी, रद्दी चीज देकर बला टाले। यह दाता का बहुत बडा दोष है। जो प्राय आधुनिक युग के दाताओ मे पाया जाता है। दान देते समय पात्र अवश्य देखना चाहिए, पात्र के अनु-रूप वस्तु देना चाहिए, उसमे अवश्य विवेक करना चाहिए, परन्तु भावना मे किसी प्रकार की कमी नही आने देनी चाहिए। यदि अपने-पराये तेरे-मेरे, अमुक जाति-सम्प्रदाय-प्रान्त आदि के लेबल देख-देखकर दान दिया गया तो वह दान स्वार्थ दोष से दूषित हो जाएगा। उसमे अह का विष मिल जाएगा, जिससे वह सारे ही दान को दूषित कर देगा। ऐसे भेदभावो से साम्प्रदायिकता की सकीर्णवृत्ति से दान देने पर दाता के मन मे राग-द्वेष का कालुष्य आने की सम्भावना रहती है।

दाता के दोष साधुवर्ग को दान की दृष्टि से

दाता चाहे जितना गुणी हो, परन्तु आहारादि देय वस्तु सुपात्र साधु-साध्वियो को निर्दोष नही देता है, फलासक्ति मे पडकर, या साधुसाध्वियो के प्रति अन्धभक्ति के प्रवाह मे बहकर सदोष आहारादि देता है तो वह भी दाता का दोष समझा जाता है।

यद्यपि साधु-साध्वियो को स्वय आहार लेते समय गवेषणा और छानबीन करके लेना चाहिए, परन्तु कभी-कभी वे भी भावुक भक्तो की भक्ति देख कर अधिक छानबीन नही करते, उनके विश्वास पर ही ग्रहण कर लेते है। इस दृष्टि से कुछ हद तक दाता की अपेक्षा आदाता (पात्र) का भी दोष है। फिर भी दाता को सुपात्र साधु-साध्वियो को आहारादि देते समय इन दोषो का पूरा ध्यान रखना चाहिए। ऐसे दोष जो कि साधु-साध्वियो को भिक्षाचरी के समय लगते हैं, यद्यपि ४२ हैं, परन्तु उनमे दस दोस एषणादि दोष हैं, जिनका श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो के शास्त्रो मे उल्लेख है। वे दस दोष इस प्रकार हैं[१]—

---

१ सकिय-मक्खिय-निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे।
अपरिणय-लित्त-छड्डिय, एसणदोसा दस हवति॥ —पिण्डनिर्युक्ति

(१) शकित—यह चारो प्रकार का आहार आगमानुसार साधु-साध्वियो के लेने योग्य है या नही, इस प्रकार की या आधाकर्मादि दोषो की शका होने पर भी आहार लेना।

(२) म्रक्षित—वर्तन, कुडछी, हाथ आदि आहार देते समय सचित्त वस्तु के स्पर्श युक्त हो।

(३) निक्षिप्त—अप्रासुक, सचित्त जल, अग्नि, मिट्टी, हरित वनस्पति आदि पर रखा हुआ आहार देना।

(४) पिहित—आहारादि, अप्रासुक (सचित्त) वस्तु से ढका हुआ हो।

(५) सव्यवहरण—(सहृड) बिना देखे हुए उतावली या हडबडी मे भोजनादि देना अथवा पात्र मे पहले से रखे हुए अकल्प्य आहार को निकालकर उसी पात्र से देना।

(६) दायकदोष—दाता स्वय लूला, लगडा, अत्यन्त वृद्ध, अत्यन्त बालक, अग काप रहे हो, मूर्च्छित, असाध्यव्याधिग्रस्त, मदिरा पीया हुआ हो, वमन कर रहा हो, रक्त से लिप्त हो, दान देने वाली बहन शिशुको स्तनपान करा रही हो, पूरे मास की गर्भवती हो, आसन्न प्रसवा हो, चूल्हा फूंक रही हो, अग्नि बुझा रही हो आदि दोषो से युक्त होकर जो दान देता है वह दायक-दोष कहलाता है।

(७) उन्मिश्र—सचित्त मिट्टी, जल, वनस्पति या द्वीन्द्रियादि त्रसजीव आदि से मिला हुआ आहार देना।

(८) अपरिणत—आहार-पानी आदि पूरी तरह शस्त्र परिणत न हुआ हो, उसे देना।

(९) लिप्त—गेरु, हडताल, खडिया, मैनसिल, कच्चा पानी, हरी वनस्पति आदि से लिप्त हाथ या वर्तन से आहार देना।

(१०) छर्दित (व्यक्त)—जिस वस्तु मे अधिक भाग फैकने योग्य हो उसे देना, अथवा आहारादि तरल पदार्थ के छीटे नीचे गिराता हुआ दे।

दान के लिए अनधिकारी दाता

इसीप्रकार चालीस प्रकार के दायक-दोष भी श्वेताम्बर शास्त्रो मे बताए गए है, प्रकारान्तर से इसी प्रकार के दायक दोष भगवती-आराधना एव अनगारधर्मामृत आदि दिगम्बर शास्त्रो मे लिखित हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) बाल—अत्यन्त छोटा बच्चा दान दे तो,
(२) वृद्ध—अत्यन्त वृद्ध, जराजीर्ण, जिसके अग काप रहे हो दे तो,
(३) मत्त—मदिरादि नशीली वस्तु का सेवन किया हुआ हो,
(४) उन्मत्त—पागल हो, अथवा उन्माद प्राप्त हो या भूतादिग्रह से गृहीत हो,
(५) वेपमान—शरीर काप रहा हो, ऐसा व्यक्ति,

(६) ज्वरित—ज्वर से अत्यन्त पीडित हो,

(७) अन्धा—आंखो से रहित हो,

(८) गलित कुष्टरोगी,

(९) आरूढ—किसी सवारी पर चढा हुआ हो, ऊँचे स्थान पर खडा हो, या चमडे के जूते आदि पहने हुए हो,

(१०) बद्ध—हथकडियो-बेडियो आदि के बधन मे जकडा हुआ हो,

(११) छिन्न—जिसके हाथ-पैर आदि कटे हुए हो,

(१२) वर्जित—हाथो या अन्य अगो से रहित हो, या वे काम न करते हो,

(१३) नपु सक हो,

(१४) गर्भवती या आसन्न प्रसवा हो,

(१५) बालवत्सा—दूध पीते छोटे बच्चे वाली हो,

(१६) भुजाना—भोजन कर रही हो,

(१७) घुसुलती—दही आदि बिलो रही हो,

(१८) भर्जमान—चूल्हे आदि मे कुछ भून रही हो,

(१९) दलन्ती—गेहूँ आदि अनाज पीस रही हो,

(२०) कंडयन्ती—ऊखल आदि मे अनाज कूट रही हो,

(२१) पीषन्ती—शिला आदि पर चटनी, तिल आदि कुछ बांट रही हो,

(२२) रुवन्ती—कपास आदि लोढ रही हो,

(२३) पिजन्ती—रुई आदि पीज रही हो,

(२४) कृतन्ती—कैंची आदि से कुछ कतर या काट रही हो,

(२५) प्रमृद्गन्ती—कपास मे से कपासिये निकाल रही हो,

(२६) षट्कायव्यग्रहस्ता—सचित्त वस्तु से हाथ भरे हो,

(२७) निक्षिप्यददती—श्रमणो के लिए आहार देते समय सचित्त वस्तु नीचे रखती हो,

(२८) चालयन्ती—छह-काया के जीवो को पैरो से कुचलती हुई भिक्षा देती हो,

(२९) सघट्यती—सचित्त वस्तु के सघट्ट (स्पर्श) से युक्त आहार देती हो,

(३०) आरभमाणा—सचित्त या छकाया के जीवो की विराधना करती हुई, आरम्भ समारम्भ करके आहार देती हो,

(३१) ससक्तहस्ता—दही आदि द्रव्यो से हाथ लिप्त हो, उन्ही से आहार दे रही हो

(३२) ससक्तपात्रा—उन्ही सचित्तादि से बर्तन लिप्त हो, उन्ही से आहार देती हो,

(३३) उद्वर्त्यददती—भारी भरकम पेटी आदि उतार कर या सरका कर आहार देती हो,

(३४) साधारण वहुसत्का—अनेक लोगो के साझे का अन्न उनसे बिना पूछे देती हो,

(३५) चोरित ददती—चुराई हुई चीज देती हो,

(३६) मु चती—अग्नि मे थाली आदि मे निकालकर देती हो,

(३७) सत्प्रत्यपामा—जिसके देने से झगडा होता हो, ऐसा आहार देती हो,

(३८) स्थापित ददती—किसी साधु के उद्देश्य से स्थापित आहार देती हो,

(३९) आभोगेन अशुद्धं ददती—जान-बूझकर अकल्प-अशुद्ध आहार देती हो।

(४०) अनाभोगेन ददती—अनजाने, सहसा अशुद्ध वस्तु देती हो।[1]

ये ४० प्रकार के व्यक्ति दान के लिए अधिकारी हैं। बहुधा ये दोष दाता के द्वारा नही, साधु-साध्वियो द्वारा भिक्षा ग्रहण करते समय लगते हैं, किन्तु दाता के अमुक अवस्थागत दोष हैं। इसलिए ऐसे दाता से साधु-साध्वियो को आहारादि नही लेना चाहिए। क्योकि इस प्रकार के अवस्था विशेषगतदाता से आहार लेने से सघ और साधु-वर्ग की अवहेलना, निन्दा आदि होती है।

मुधादायी और मुधाजीवी

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र, इन चारो मे से दो के साथ अगर दाता और पात्र उत्तम न हो तो दान का यथेष्ट फल प्राप्त नही होता। इसीलिए जैनशास्त्र मे दोनो की विशेषता का उल्लेख बहुत ही गौरव के साथ किया गया है। वहाँ इन दोनो का योग मिलना बहुत दुर्लभ बताया गया है।

दुल्लहाओ मुहादाई मुहाजीवि वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छति सुग्गइं ॥[2]

---

१ बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविए य जरिए य।
अघेल्लए, पगलिए, आरूढे पाउयाहिं च ॥६०३
हत्थेदुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं।
तेरासि गुव्विणी बालवच्छ मु जती घुसुल्लती ॥६०४॥
भज्जती या दलती कडती चेव तहय पीसती।
पिंजती सवती, कत्तती पमद्दमाणी य ॥६०५॥
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव।
ते चेवोग्गाहती, सघट्टताऽऽरभतीय ॥६०६॥
ससत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तपत्ता य।
उव्वत्तती साहारण व दितीय चोरियय ॥६०७॥
पाहुडिय व ठवती, सपच्चवाया पर च उद्दिस।
आभोगमणाभोगेण दलती वज्जाणिज्जा य ॥६०८॥ —पिण्डनियुंक्ति

२ दशवैकालिक ५।१।१०३

अर्थात्—किसी प्रकार के प्रतिफल की कामना के बिना देने वाला मुधादायी तथा निष्कामभाव से भिक्षाचरी पर जीने वा दोनो ही (दाता और पात्र) ससार मे दुर्लभ हैं। ऐसे मुधादायी और ही सद्गति मे जाते हैं। मुधादायी का एक अर्थ यह भी किया गया मे किसी प्रकार के प्रतिफल की कामना न रखें कि मैं भिक्षा देता हूँ, फल की प्राप्ति हो, अथवा मेरा अमुक कार्य भिक्षा लेने वाला कर दे मुधाजीवी का अर्थ यह है कि जो नि स्पृहतापूर्वक धर्म साधना और हुए जीता है, वह मुधाजीवी है।

मुधादायी दाता कैसा होता है ? इस सम्बन्ध मे दशवैका हारिभद्रीया वृत्ति मे एक उदाहरण दिया है—

एक सन्यासी था। वह एक बार एक भक्त (भागवत) के यहाँ बोला—"मैं तुम्हारे यहाँ चातुर्मास काल व्यतीत करना चाहता हूँ। क निर्वाह का भार उठा सकोगे ?"

भागवत ने कहा—"आप मेरे यहाँ चातुर्मास व्यतीत करेंगे, इससे खुशी होगी, किन्तु मेरी एक शर्त है, जो आपको स्वीकार हो तो आप प्रस मेरे यहाँ चातुर्मास कीजिए।"

सन्यासी ने कहा—"क्या शर्त है ?"

भागवत—"मैं यथाशक्ति आपकी सेवा करूँगा, लेकिन बदले मे अ कोई भी कार्य नही करेंगे। क्योंकि प्रत्युपकार की भावना रखने से मेरी से फल क्षीण हो जाएगा।"

सन्यासी ने उस भागवत की शर्त मान ली। और वह उसके यहाँ गया। भागवत भी भोजन आदि से सन्यासी की सेवा करने लगा। एक दिन रात भागवत के यहाँ चोर आए। चोरो के हाथ और कुछ नही लगा तो वे भागवत घोडा चुराकर ही ले गए। जाते-जाते सबेरा होने लगा तो चोरो को डर लगा कही किसी ने देख लिया तो पकडे जाएँगे। अत उन्होने घोडे को नदी तट पर ए पेड से बाँध दिया और आगे चल पडे।

सन्यासी प्रात नियमानुसार उसी नदी के तट पर स्नान करने पहुँचे तो, उसने वहाँ भागवत का घोडा बँधा देखा। वह तुरन्त खबर देने भागवत के घर पर आए। किन्तु सहसा उसे अपनी प्रतिज्ञा याद आई। इस कारण को छुपाते हुए उसने भागवत से कहा—"मैं नदी के किनारे अपना वस्त्र भूल आया, अत नौकर को भेजकर वस्त्र मँगवा दो।" भागवत ने नौकर को नदी के किनारे से सन्यासी का वस्त्र ले आने का कहा। नौकर वहाँ पहुँचा तो उसने मालिक का घोडा नदी तट पर बँधा देखा। वह दौड कर मालिक के पास आया और उससे सारी बात कही।

भागवत सन्यासी की सब होशियारी ताड गया। उसने सन्यासी से कहा—"महाराज! आपने मेरा कुछ भी काम न करने की प्रतिज्ञा की थी, पर अब आपसे नही रहा गया। आप अपनी प्रतिज्ञा तोड बैठे। अत अब मैं आपकी सेवा नही कर सकता। क्योकि किसी से सेवा लेकर बदले मे उसकी सेवा करने का फल बहुत ही अल्प होता है। मैं तो आपकी निष्काम सेवा करना चाहता था।

इस उदाहरण से सहज ही यह प्रतिध्वनित होता है कि जो दाता अपने पात्र से दान के बदले मे किसी प्रकार की स्पृहा, बदले की आशा, धन, पुत्र, पद आदि की प्राप्ति की आकाक्षा, अथवा स्वर्गादि प्राप्त होने की कामना नही रखता, वह तो सिर्फ सुपात्र समझ कर उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति और तप-सयम की आराधना की दृष्टि से देता है। वही मुधादायी सर्वश्रेष्ठ दाता होता है।

इस प्रकार का श्रेष्ठदाता जहाँ भी होगा, अपने जीवन को सफल बनाएगा और अपने दान से पात्र को भी प्रभावित करेगा। ☆

10

दान के साथ पात्र का विचार

दान मे पात्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। देय द्रव्य भी अच्छा और योग्य हो, दाता भी योग्य हो, विधि भी ठीक हो, किन्तु दान लेने वाला पात्र अच्छा न हो, दुर्गुणी हो तो दिया हुआ सारा दान निष्फल जाता है, अथवा साधारण-सा फल प्राप्त होता है।

किसान खेत मे बीज बोते समय बीज की योग्यता देखता है कि यह बोने योग्य है या नही, यह कही व्यर्थ तो नही जाएगा ? इसी तरह वह यह भी देखता है कि इस बीज के अकुरित होने के लिए जितनी मात्रा मे वर्षा या पानी अथवा सूर्य की धूप, हवा आदि की जरूरत है, उतनी मात्रा मे है या नही ? इसके साथ ही वह बीज बोने वाले स्वय या दूसरे (जिसके द्वारा बीजवपन कराया जाता है) मे कुशलता, योग्यता अथवा विवेक है या नही ? और इन सबके साथ ही वह सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण बात यह देखता है कि बीज जहाँ बोया जा रहा है, वह भूमि शुद्ध सम और उपजाऊ है या नही ? अगर भूमि ककरीली, पथरीली, या ऊषर (बजर) होती है तो वहाँ किसान बीज नही बोता, क्योकि वहाँ बीज बोने से उसके पल्ले कुछ भी अनाज नही पडता, उसका श्रम भी व्यर्थ जाता है। चतुर किसान इतनी मूर्खता नही कर सकता कि वह बीज बोये जाने वाली भूमि का भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण न करे। यही बात दान के सम्बन्ध मे है—दान देते समय भी विधि, द्रव्य और दाता के सम्बन्ध मे विचार करने के साथ-साथ दाता को दान लेने वाले पात्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे किसान बीज बोने से पूर्व खेत की परीक्षा करता है कि इस खेत मे बोया हुआ बीज फलप्रद होगा या नही ? होगा तो कितना फलदायक होगा ? वैसे ही दानार्थी को भी दान देने से पूर्व पात्र का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए और यह विचार भी करना चाहिए कि किस पात्र को दिये गये दान का कितना लाभ होगा ? उत्तराध्ययन सूत्र के हरिकेशीय अध्ययन मे ब्राह्मणो को हरिकेशी मुनि की ओर से उनका सेवक यक्ष उत्तर देता है—

> थलेसु बीयाइ ववति कासगा, तहेव निन्नेसु य आससाए।
> एयाए सद्धाए दलाह मज्झ, आराहए पुण्णमिण तु खित्त ॥

—किसान लोग अच्छे स्थलो (खेतो) को देखकर बीज बोते हैं, और सुफल

पाकर आश्वस्त होते है। इसी श्रद्धा (विश्वास) से मुझे (आहार) दान दीजिए, और इस पुण्यशाली क्षेत्र की आराधना कीजिए।

यह तो असदिग्ध बात है कि पात्र को दिया हुआ स्वल्पदान भी विशिष्ट फलदायक होता है। अत्यन्त कीमती और बढिया वस्तु भी अच्छे योग्य दाता के द्वारा बहुत मात्रा मे अत्यन्त सावधानी के साथ भी कुपात्र या अपात्र के दी जाने पर भी वह विपरीत फलदायिनी होती है, जबकि तुच्छ वस्तु थोडी-सी मात्रा मे भी योग्यदाता द्वारा विधि-पूर्वक सुपात्र या पात्र को दी जाय तो वह शुभ फलदायिनी बनती है। हरिवशपुराण अमितगति श्रावकाचार एव वसुनन्दीश्रावकाचार मे इस सम्बन्ध मे काफी चिन्तन मिलता है—[1] 'जिस प्रकार नीम के वृक्ष मे पडा हुआ पानी कडवा हो जाता है, कोदो मे दिया हुआ पानी मदकारक हो जाता है और सर्प के मुख मे पडा हुआ दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्र मे दिया हुआ दान विपरीत रूप मे परिणत हो जाता है, विपरीत फल लाता है। "जिस प्रकार ऊसर खेत मे बोया हुआ बीज जरा भी नही उगता, उसी प्रकार अपात्र मे दिया हुआ दान भी फलरहित समझना चाहिए।" इसीलिए महर्षि व्यास ने कहा है— पात्र और अपात्र मे गाय और साँप जितना अन्तर है। गाय को खिलाये हुए तुच्छ घास के तिनको से दूध बनता है और साप को पिलाये हुए दूध से जहर बनता है।[2] नीतिवाक्यामृत मे भी कहा कि अपात्र मे धन खर्च करना राख मे हवन करने के समान है।[3] याज्ञवल्क्यस्मृति मे भी पात्रापात्र-विवेक के विषय मे चिन्तन मिलता है—'एक ही भूमि और एक ही पानी होने पर भी नीम और आम मे जो अन्तर है वह बीज रूप पात्र की ही विशेषता है।[4]

इस सम्बन्ध मे प्रश्न यह उठता है कि थोडी मात्रा मे तुच्छ वस्तु के दान से इतना विशिष्ट फल कैसे प्राप्त हो जाता है? जबकि बहुत अधिक मात्रा मे बहुमूल्य वस्तु के दान से अत्यल्प फल प्राप्त क्यो होता है, इसके उत्तर मे हम आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार एव चारित्रसार का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं—[5] 'पात्र मे दिया हुआ थोडा-सा तुच्छ दान भी समय पर भूमि मे बोये

---

१ (क) अम्बु निम्बद्रुमे रौद्र कोद्रवे मदकृत् यथा।
विष व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतित तथा ॥११८॥ —हरिवश पुराण

(ख) 'जह ऊसरम्मि खेत्ते पइण्णबीय न किंपि रुहेइ।
फलवज्जिय वियाणइ अपत्तदिण्ण तहा दाण ॥२४२॥—वसुनन्दिश्रावकाचार

२ पात्रापात्र विवेकोऽस्ति, धेनु-पन्नगयोरिव।
तृणात्सजायते क्षीर, क्षीरात्सजायते विषम् ॥ —व्यास

३ भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्यय। —नीतिवाक्यामृत १।[illegible]

४ [illegible] पात्र विशेषता। —याज्ञवल्क्यस्मृति

५ क्षितिगतमिव वटबीज, पात्रगत दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छाया विभव, बहुफलमिष्ट शरीरभृताम् ॥ —र० क० श्रा० ११६

हुए वटबीज से छाया वैभव से सम्पन्न हुए विशालवट वृक्ष की तरह मनोवाञ्छित महाफल दाताओ को देता है।'

आचारागसूत्र की टीका (श्रु० १, उ० ८, सू० २) मे भी इस विषय मे प्रकाश डाला गया है—

दु ख समुद्र प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुनैव मकरनिलय वणिजः सद्यानपात्रेण ॥

—'जैसे वणिक् लोग छोटे-से अच्छे यानपात्र से समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही प्राज्ञजन पात्र को दिये हुए दान के प्रभाव से दु खसमुद्र को पार कर लेते हैं।"

कहने का तात्पर्य यह है कि[1] "ऊषर भूमि मे बोये हुए अच्छे से अच्छे बीज निष्फल चले जाते हैं, वैसे ही कुपात्रो को दिया हुआ दान निष्फल जाता है।" "अपात्र मे दिया हुआ दान सात कुल तक का नाश कर देता है, क्योकि सर्प को पिलाया हुआ दूध आखिरकार जहर ही हो जाता है।"

वास्तव मे अपात्र या कुपात्र को दिया हुआ दान न तो दाता को लौकिक लाभ दिलाता है, न लोकोत्तर ही। अपात्रदान से प्राय पुण्यबन्ध भी नही होता, कभी-कभी अपात्र को जरा-सा कम दिया या कुछ हलकी चीज दे दी तो वह हल्ला मचाकर लोगो मे दाता का उपकार मानने के बदले फजीहत करता है, दाता को व्यर्थ ही बदनाम करता रहता है। इस दृष्टि से अपात्रदान या कुपात्रदान सक्लेश-कारक और आर्त्तध्यानकारक हो जाता है। इसीलिए महाभारत मे अपात्र को दी हुई विद्या के सम्बन्ध मे कहा है[2]—"कुत्ते की चमडी मे गगा का पानी रखा जाय, दूध को मद्य के घडे मे रखा जाय तो पवित्रता सुरक्षित नही रख सकते।" इसी प्रकार कुपात्र मे निहित विद्या भी कोई पवित्रता नही रख सकती, न भला कर सकती है। कोई भी क्रिया अपात्र या कुपात्र (कुद्रव्य) मे की हुई उसी तरह सफल नही हो सकती, जिस तरह सैकडो उपाय करने पर भी बगुले को तोते की तरह पढाया नही जा सकता।"[3] तात्पर्य यह है कि सुपात्र मे ही दी हुई विद्या फलित होती है, रखी हुई वस्तु

---

१ सुबीजमूषरे यद्वदुप्त नैव प्ररोहति।
तद्वद्दत्त कुपात्रेषु दान भवति निष्फलम् ॥ १५९ ॥
अपात्रे चापि यद्दान दहत्यासप्तम कुलम्।
दुग्ध हि ददशूकाय विषमेव प्रजायते ॥ १६० ।

—धर्मसर्वस्वाधिका

२ श्वानचर्मगता गगा, क्षीर मद्यघटस्थितम्।
कुपात्रे पतिता विद्या, किं करोति युधिष्ठिर।
नाद्रव्ये निहिता काचिन् क्रिया फलवती भवेत्।
नव्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बक ॥

सुरक्षित रहती है। सुपात्र को दिया हुआ दान सफल होता है। इसीलिए व्यासस्मृति (४१) मे बार-बार सुपात्र दान की प्रेरणा दी गई है—

सुक्षेत्रे वापयेद् बीजं, सुपात्रे वापयेद् धनम्।
सुक्षेत्रे सुपात्रे च, क्षिप्रं नैव हि दुष्यति ॥

अर्थात्—सुक्षेत्र और सुपात्र मे डाला हुआ द्रव्य नष्ट नही होता, अत सुक्षेत्र मे बीज बोओ और सुपात्र को दान दो।

सूत्रकृतागसूत्र की टीका मे बताया गया है कि दान के सम्बन्ध मे दाता यह जान ले कि मेरा दान दोषो का पोषण करने वाला है, फिर भी उसकी उपेक्षा करके बदस्तूर दान की तथाकथित क्रिया जारी रखता है, वह चन्दन को जलाकर उसके कोयले बनाकर जीविका करता है।[1] इसलिए सौ बातो की एक बात है कि दान देने से पहले, चतुर दाता को पात्रापात्र का विवेक स्वय विचक्षण बुद्धि से करना चाहिए।

पात्र तीन प्रकार के हैं—(१) मुनि, (२) श्रावक और (३) सम्यग्दृष्टि। इन तीनो प्रकार के पात्रो को दान देना, उनके गुणो की प्रशसा करना, औचित्य तथा अनतिक्रम की बुद्धि (दृष्टि) से यही दान सर्वसम्पत्कर माना गया है।[2]

अमितगति-श्रावकाचार (परि० ११) मे कहा गया है[3]—जो व्यक्ति असयतात्मा को दान देकर पुण्यफल की इच्छा करता है, वह जलती हुई अग्नि मे बीज डालकर धान्य उत्पन्न करने की स्पृहा करता है। जो व्यक्ति कुपात्र हैं, या अपात्र हैं, हिंसा आदि विपरीत मार्ग पर चलते हैं, उन्हे कोई दाता, चाहे कितनी ही शुद्ध भावना से दान देता है, किन्तु वे कुपात्र या अपात्र तो अपनी आदत एव प्रकृति के अनुसार उलटे ही रास्ते चलकर अपराधी बनते हैं।[4]

एक उर्दू शेर मे कहा है—

'जो देगा शरीरो को तू माल-दौलत,
गुनहगार होंगे वे तेरी बदौलत।'

---

१ दोषपोषकता ज्ञात्वा तामुपेक्ष्य स्वय क्रिया।
प्रज्वाल्य चन्दन कुर्यात् कष्टामगारजीविकाम् ॥ —सूत्रकृताग टीका

२ अत पात्रं परीक्षेत दानशौण्ड स्वय धिया।
तत् त्रिधा स्यान्मुनि श्राद्ध सम्यग्दृष्टिस्तथा परम् ॥
एतेषा दानमेतत्स्थ-गुणानामनुमोदनात्।
औचित्यानुतिवृत्या च सर्वसपत्कर मतम् ॥ —अभिधानराजेन्द्रकोष

४ वितीर्य दान त्वसयतात्मने, जन फल काक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीज ज्वलिते स पावके, समीहते सस्यमपास्तलक्षणम् ॥
—अ० श्रा० प० ११

इन सब दृष्टिकोणो से यह निर्विवाद कहा जा सकता है, कि दान देते समय जैसे उसकी विधि तथा द्रव्य एव दाता के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है, वैसे ही पात्र के सम्बन्ध मे विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक है, ताकि दान देने के पश्चात् पश्चात्ताप करने और सुपात्र या पात्र के प्रति भी अथवा दान देने के प्रति भी अश्रद्धा प्रगट करने का अवसर न आये। इसीलिए भगवद्गीता मे दान के साथ चेतावनी दी गई है कि—देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्त्विक विदु—यानी देश, काल और पात्र को दिया हुआ दान ही सात्विक माना जाता है। अदेशकाल या अपात्र को दिया हुआ दान तामसदान माना जाता है। साथ ही महाभारत मे "उसी दान को अनन्त कहा गया है जो देश, काल, न्यायागत धन और पात्र मे दिया गया है।[1]

इन सब तथ्यो पर विचार करके हमे अनेकातदृष्टि से पात्र का विचार करना चाहिए और विवेक पूर्वक दान करना चाहिए। ☆

---

१ काले पात्रे तथा देशे धन न्यायागत तथा।
यद् दत्त ब्राह्मणश्रेष्ठास्तदनन्त प्रकीर्तितम्॥

इस तारतम्य का कारण यह है कि गृहस्थ सम्यक्त्वी या श्रावक को दिया गया दान तो उसका अपना ही पोषण और कल्याण करता है, जबकि एक महाव्रती अथवा महाव्रतियो मे भी शिरोमणि वीतराग प्रभु को दिया गया दान केवल अपना ही पोषण और कल्याण नही करता, वरन् उस दाता का भी कल्याण करता है। वास्तव मे जैसे दाता, द्रव्य और विधि के उत्कृष्ट-निकृष्ट होने के कारण दान के फल मे अन्तर हो जाता है, वैसे ही पात्र के भी उत्कृष्ट-निकृष्ट के कारण दान के फल मे भी अन्तर हो जाता है।

अनगारधर्मामृत मे इसी के सम्बन्ध मे एक श्लोक पर्याप्त प्रकाश डालता है—'जो आहार गृहस्थ ने स्वय अपने लिए बनाया हो, जो प्रासुक हो या त्रस एव स्थावर जीवो से रहित हो, ऐसे भक्त-पानादि को गृहस्थ के द्वारा दिये जाने पर आत्मकल्याणार्थ ग्रहण करने वाला महाव्रती साधु केवल अपना ही नही, अपितु उस दाता का भी कल्याण करता है। यदि दाता सम्यग्दृष्टि है तो उसे स्वर्ग या मोक्ष रूपी लक्ष्मी के योग्य बना देता है और यदि दाता मिथ्यादृष्टि है तो उसे अभीष्ट विषयो की प्राप्ति करा देता है।[1]

सुपात्र दान के फल के विषय मे आगमो मे एक सवाद है। पूछा गया है—

'भते ! श्रमणोपासक (श्रावक) यदि तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक-एषणीय आहार देता है, तो उसे क्या लाभ होता है ?'[2]

'गौतम ! वह एकान्त (सर्वथा) कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) करता है, लेकिन किञ्चित्मात्र भी पापकर्म का बन्ध नही करता।

एक जैनाचार्य सिन्दूरप्रकरण (७७) मे भी इसी बात का समर्थन करते हैं—'सुपात्र को दिया हुआ पवित्र धन (द्रव्य) मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने वाला होता है।'[3]

---

१ यद्भक्त गृहिणाऽत्मने कृतमपैतैकाक्षजीव त्रसैर्,
निर्जीवैरपि वर्जित तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यति ।
युञ्जनुद्धरति स्वयमेव, न पर किं, तर्हि सम्यग्दृशम्,
दातार द्युशिवश्रिया च युङ्क्ते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥
—सागारधर्मामृत, अ० ५ श्लोक ६६

२ समणोवासगस्सण भते ! तहारुव समण वा माहण वा फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?
गोयमा एगतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थिय से पावे कम्मे कज्जइ ।
—भगवती सूत्र ८।६

३ निर्वाणश्रियमातनोति निहित पात्रे पवित्र धनम् ।

सुपात्रदान देने वाला दान धुरधर मरने के बाद परलोक मे ही सुखोपभोग प्राप्त करता हो, यहाँ उसे अपने दान के फलस्वरूप कुछ भी सुफल न मिलता हो। हालांकि श्रेष्ठ-दाता किसी भी प्रकार के इहलौकिक या पारलौकिक ही नही, लोकोत्तर फल की भी इच्छा और आकाक्षा अपने दान के पीछे नही रखता, वह तो निष्काम और नि स्वार्थ होकर ही सुपात्र को दान देता है, किन्तु उसके दानादि शुभ कार्य उसका फल तो अवश्य ही देते हैं। 'रयणसार' मे इस विषय मे विशद वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि—"सुपात्र को दान देने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और क्रमश मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य उत्तम खेत मे अच्छे बीज बोता है, उसे उसका मनोवाछित फल पूर्णरूप से मिलता है, इसी प्रकार उत्तम पात्र मे जो विधिपूर्वक दान देता है उसे सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है।[1] 'जिन जीवो ने एक बार भी सुपात्र को आहारदान दिया है, वे मिथ्यादृष्टि होते हुए भी भोगभूमि के सुखो का उपभोग कर स्वर्ग सुख को प्राप्त करते हैं।'[2] सुपात्रदान के फल के सम्बन्ध जैनशास्त्रो मे अनेक उदाहरण मिलते हैं, कुछ का उल्लेख तो हम पहले कर चुके हैं। फिर भी यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जिससे पाठक इसे भली-भाँति हृदयगम करलें।

दान का महाफल

महाविदेह क्षेत्र मे हर समय तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं। उनके अनुयायी श्रमण-श्रमणी भी रहते हैं। एक बार मुनियो का एक समुदाय विहार करता हुआ चला जा रहा था। उनमे से एक मुनि पीछे रह गये। वे मार्ग भूल गये। पशुओ के पदचिन्हो को देखते-देखते वे चलने लगे। परन्तु आगे चलकर वह रास्ता भी बन्द हो गया। मुनि एक भयकर जगल मे फँस गये। रास्ता भूल जाने की परेशानी के साथ ही असह्य गर्मी के कारण उनका कण्ठ प्यास से सूखा जा रहा था। थकान भी थी। पैर भी चलने से जवाब दे रहे थे। निर्जन वन मे कोई मनुष्य भी नही दिखाई दे रहा था, जिससे वे रास्ता पूछ लें। मुनि ने सोचा—'अब यह शरीर रहने वाला नही। इसलिए समाधिमरणपूर्वक ही इसे छोडना उत्तम है। उन्होने एक वृक्ष के नीचे भूमि का प्रमार्जन (सफाई) किया और सथारा (अनशन) करने का विचार किया। जड-चेतन के भेद की बातें करने वाले बहुत हैं, पर देहाध्यास छोडने वाले बिरले हैं। देहा-

---

१ दिण्णइ सुपत्तदाण विससतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुह कमसो णिद्दिट्ठ जिणवरिंदेहि॥
खेत्तविसमे काले वविय सुबीय फल जहा विउल।
होइ तहा त जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफल॥ —रयणसार १६-१७

२ वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गता।
देवालय सुमुक्त्वाऽपि भोगभूम्यादिज सुख॥ —प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

ध्यास तो दूर, शिष्याध्यास, पात्रादि साधनाध्यास छोडना भी दुष्कर है। अचानक एक बढई उधर से आ निकला। उसने भयकर वन मे मुनि को देखा तो सोचा—'यहाँ यह मुनि कैसे बैठे है ?' देखते ही उसका हृदय हर्षित हो उठा। पास मे आकर वन्दन करके बोला—'स्वामिन् ! आप यहाँ कैसे पधार गये ? पधारिए मेरे साथ शुद्ध आहार-पानी ग्रहण करिए।' मुनि बोले—'भाई ! मैं रास्ता भूल गया। इस घोर जगल मे फँस गया। मैं तो अब अनशन करने ही वाला था, इतने मे तुम आ गये। तुम कौन हो ? यहाँ कैसे आए ?' बढई बोला—'मुनिवर ! मैं बढई हूँ। यहाँ जगल मे लकडियाँ काटने आया हूँ। मेरे साथ बहुत बडा काफला है। आप मेरे डेरे पर पधारिये और अपने लिए लाए हुए हमारे भोजन मे से कुछ ग्रहण कीजिए।' मुनि उसके साथ उसके डेरे पर पहुँचे और शुद्ध आहार-पानी ग्रहण किया। बढई ने भक्ति-भावपूर्वक आहार-पानी दिया। दान के बदले उसे कुछ भी पाने की भावना न थी। दान देकर बदले मे कुछ न चाहना बहुत कठिन है। जैन साधु न तो आशीर्वाद देते हैं और आहारादि न मिलने पर पश्चात्ताप भी नही करते। लेने-देने वाला शुद्धभाव से ले-दे तो सुपात्रदान दाता ससारपरित्त करके कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी हो जाता है, मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व मे आ जाता है।

मुनि ने आहार किया और पेड के नीचे बैठकर उस श्रद्धालु बढई को उपदेश दिया। उपदेश क्या था—शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान का बोध था—त्याग मे ही सुख है, तृष्णा मे दु ख है। आत्मा को समझ कर अपने आत्मस्वरूप मे रमण करने से ही भवभ्रमण मिट सकता है। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ अधर्म है, वीतरागता ही धर्म है। समस्त प्राणियो को आत्मभूत समझो। किसी भी जीव की हिंसा, असत्य, चोरी, आदि करना अपने पैरो पर कुल्हाडी मारना है।'' ''''' मुनि का उपदेश सुनते-सुनते बढई तन्मय हो गया। वह उनकी हितैषिता, नि स्पृहता, त्यागभाव, अपरिग्रहवृत्ति आदि पर मुग्ध हो गया। मन ही मन कहा—'सच्चे साधु तो ये हैं। जो बिना कुछ पैसा लिये यथार्थ मार्ग बताते हैं।' अत भावविभोर होकर बढई ने कहा—पधारो मुनिराज ! मैं आपके साथ रास्ता बताने चल रहा हूँ। यह पहाडी मार्ग है। बिना बताए आप पार नही कर सकेंगे।' मोक्षमार्ग बताने वाले मुनि को द्रव्यमार्ग बताने बढई साथ मे चला। काफी दूर चलने के बाद मुनि ने कहा—'भाई ! अब आगे मैं स्वय चला जाऊँगा। अब तुम्हे मेरे साथ आने की जरूरत नही। मैंने मार्ग समझ लिया है। इस भयानक जगल मे जैसे तुमने मुझे मार्ग बताया है, वैसे मैं भी तुम्हे संसारसागर से तिरने का मार्ग बताता हूँ। सम्यग्दर्शन रूपी बीज देता हूँ। इसे सुरक्षित रखना। इससे तुम्हारा भवभ्रमण मिट जाएगा, हृदय मे सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म की शरण लेना, तुम्हारा उद्धार हो जाएगा।' मुनि ने बोध देकर बढई के हृदय मे सुधर्म के बीज बो दिये।

इस सुपात्रदान के फलस्वरूप बढई सम्यग्दर्शन पाकर वहाँ से शरीर छोडकर

इसी प्रकार पात्रदान का माहात्म्य पद्मनन्दिपचविंशतिका मे भी स्पष्टत बताकर पात्रदान की प्रेरणा दी गई है—[1]'सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, सौन्दर्य, विवेक, बुद्धि, आदि विद्या, शरीर, धन और महल तथा उत्तम कुलो मे जन्म होना यह सब पात्रदान के द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्यजन! तुम इस पात्रदान के विषय मे प्रयत्न क्यो नही करते ?'

सचमुच सुपात्रदान से लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार के सुख साधन प्राप्त होते हैं। सुपात्रदान देने वाला व्यक्ति उस समय अल्प धन होते हुए मन मे निर्धनता महसूस नही करता। जैसे बादल एकदम बरस कर खाली हो जाते हैं, सारे का सारा पानी वर्षा कर देने पर भी वे अपने मे भरे के भरे रहते हैं, उसी प्रकार सुपात्रदान देने वाला प्रचुर दान या सर्वस्व दान दे देने पर भी जीवन मे रिक्तता या अभाव का अनुभव नही करता। इसीलिए ऐसे महान् सुपात्रदाता को दान देने के पश्चात् कभी ग्लानि या पश्चात्ताप नही होता, और न ही अपने आपका कष्ट महसूस होता है, क्योकि वह दूसरो को भरा देखकर स्वय प्रसन्न होता है। इसीलिए अमित गति श्रावकाचार मे कहा है—जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे अगर उच्च भावो से सुपात्र को विधिपूर्वक दान करते हैं तो वे समाधिपूर्वक मरकर अच्युतपर्यन्त देवलोक की दिव्यभूमि मे उत्पन्न होते हैं।[2]

[3]इस प्रकार सुखदायिनी लक्ष्मी का उपभोग करके दो-तीन भवो मे समस्त कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर वह पुण्यात्मा आपत्तियो से रहित (निराबाध) मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि के द्वारा प्रदत्त सुपात्रदान निराला ही होता है। उसकी हृदयभूमि मे उदारता की उत्तुग तरगें उछलती रहती हैं।[4] किन्तु जिसने मिथ्यात्व अवस्था मे ही पहले मनुष्यायु का बध कर लिया है, बाद मे जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। ऐसे मनुष्य पात्रदान देने से तथा ऐसे ही तिर्यञ्च पात्रदान की अनुमोदना करने से निश्चय

---

१ सौभाग्य-शौर्य-सुखरूप-विवेकिताद्या, विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिद किल पात्रदानात्, तस्मात् किमत्र सतत क्रियते न यत्नः ?
—पद्मनन्दिपचविंशति २।४४

२ पात्राय विधिना दत्त्वा दान मृत्वा समाधिना।
अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टय ॥
—अमितगति श्रावकाचार ११।१०२

३ निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणी, प्रथीयसी द्वि-त्रिभवेषु कल्मषम्।
प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाखिल श्रयन्ति सिद्धि विधुतापद सदा ॥१२३॥
—अमित श्रा०

४ बद्धाउगा सुदिट्ठी अणुमोयणेण तिरिया वि।
णियमेणुववज्जति य ते उत्तमभोगभूमीसु ॥वसु० श्रा० २४६॥

ही भोगभूमियो मे उत्पन्न होते हैं।" उत्कृष्ट पात्र वलभद्र मुनि को जगल मे आहार की दलाली करने वाला पुण्यात्मा मृग इसी कारण शुभ भावो से मरकर देवलोक मे गया था। "जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देश सयत (श्रावक व्रती) जीव होते हैं, वे तीनो प्रकार के पात्रो को दान देने के फलस्वरूप स्वर्ग मे महर्द्धिक देव होते हैं। उक्त प्रकार सभी जीव यदि मनुष्य भव मे आते हैं तो चक्रवर्ती आदि होते हैं। तब कोई वैराग्य का निमित्त पाकर प्रतिबुद्ध हो जाते हैं, कोई राज्यलक्ष्मी को छोडकर सयम ग्रहण करते हैं और क्रमश केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुन-पुन. प्राप्त कर सात-आठ भवो मे नियम से कर्मक्षय कर लेते हैं।"[1] उत्तम पात्र को दान देने या उनको दान देने की अनुमोदना करने से जिस भोगभूमि मे उत्पन्न होते हैं, वहाँ जीवन पर्यन्त नीरोग रहकर सुख से बढते रहते हैं।[2]

यह है सुपात्रदान के फलो का लेखा-जोखा! असल मे सुपात्रदान देने वाला स्वय तो इन फलो के चक्कर मे पडता नही, न वह फल प्राप्ति के लिए उतावला और अधीर ही होता है, वह तो कर्मयोगी की तरह सुपात्र को देखते ही जो उनके ग्रहण करने योग्य होता है, वह सब कुछ उनको दे देता है, फल की ओर आँखें उठा कर नही देखता। किन्तु ज्ञानी पुरुष तो उस सुपात्र दान का फल बताते ही हैं।

सुपात्र की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन कोटियाँ और उनमे भी कई स्तर होते हैं। इसलिए विविध धर्मग्रन्थो मे बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है। तीनो कोटि के सुपात्रो को मिथ्यादृष्टि द्वारा दान देने का अलग-अलग फल भी अमित गति-श्रावकाचार एव वसुनन्दिश्रावकाचार मे बताया है—"जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्र को दान देता है, वह दानी महोदय उत्कृष्ट भोग भूमियो मे जाता है।[3]" जो मिथ्यादृष्टि मध्यम पात्र को दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमि मे उत्पन्न

---

१ जे पुण समाइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स।
जायति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा ॥२६५॥
पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं, सजम च छित्तूण।
उप्पाइऊण णाण, केई गच्छति णिव्वाण ॥२६८॥
अण्णे उ सुदेवत्त सुमाणुसत्त पुणो पुणो लहिऊण।
सत्तट्ठभवेहि तओ तरति कम्मक्खय णियमा ॥२६९॥

—वसुनन्दी श्रावकाचार

२ दानाद् दानानुमोदनाद् वा यत्र पात्रसमाश्रितात्।
प्राणिन सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामया ॥

—महापुराण ९।८५

३ पात्रेभ्यो य प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टि प्रयच्छति।
स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदय ॥६२॥ अमित० श्रा०

होता है। और जो उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि मनुष्य जघन्य पात्र को भी दान देता है, वह जीव उस दान के फलस्वरूप जघन्य भोग भूमियो मे उत्पन्न होता है।"[1]

किन्तु इन सबके विपरीत अगर कोई कुपात्र को दान देता है तो उसका फल उसे मोक्षफल के रूप मे नही प्राप्त होता, अपितु वह पुण्य बन्धरूप फल को प्राप्त होता है। प्रवचनसार, हरिवशपुराण, अमितगतिश्रावकाचार तथा सुभाषित रत्न भाण्डागार आदि मे कुपात्रदान का इहलौकिक एव पारलौकिक फल भी विशदरूप से बताया गया है—'जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओ मे (छद्मस्थ देव-गुरु-धर्म आदि पात्रो) मे व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान मे रत होता है, वह मोक्ष प्राप्त नही करता। किन्तु सातात्मक (सातावेदनीय कर्म के पुण्य-फलस्वरूप) भाव को प्राप्त होता है।"[2] कुपात्रदान के प्रभाव से मनुष्य भोगभूमियो मे तिर्यञ्च होता है। अथवा कुमानुष कुलो मे उत्पन्न होकर अन्तर्द्वीपो का उपभोग करते हैं।"[3] "कुपात्रदान से जीव कुभोगभूमि को पाते हैं। खराब खेत मे बीज बोने पर कौन सुक्षेत्र का फल प्राप्त कर सकता है? कोई भी नही।"[4] "जो अन्तर्द्वीपो (५६ अन्तर्द्वीपो) के म्लेच्छ-खण्डो मे पैदा होते हैं या हुए हैं, समझ लो, वे सब कुपात्रदान के प्रभाव से होते हैं। जो मनुष्यलोक मे आर्यखण्ड मे दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ते आदि भोगवन्त जीव दिखाई देते हैं, समझ लो, उनका भोग प्रत्यक्षत कुपात्रदान का प्रभाव है। यहां

---

१ जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाण खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो, उपज्जइ भोगभूमीसु ॥२४६॥
जो पुण जहण्ण पत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्ण सुभोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७॥ —वसु० श्रा०

२ छद्मत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भाव, भाव सादप्पग लहदि॥ —प्रवचनसार मू० २५६

३ कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिसु।
समुज्जतेऽन्तर द्वीप कुमानुपकुलेपु वा॥ —हरिवशपुराण ७।११५

४ कुपात्रदानतो याति कुत्सिता भोगमेदिनीम्।
उप्ते क कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥८४॥
येऽन्तरद्वीपजा सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजा।
कुपात्रदानत सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥८५॥
दासीदास द्विप म्लेच्छ सारमेयादयोऽत्र ये।
कुपात्रदानतो भोगस्तेपा भोगवता स्फुटम् ॥८७॥
दृश्यन्ते नीचजातीना ये भोगा भोगिनामिह।
सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदया ॥८८॥
वर्यमध्यमजघन्यासु तिर्यञ्च सन्ति भूमिषु।
कुपात्रदानवृक्षोत्थ भुञ्जते तेऽखिला फलम् ॥८९॥ —अमित० श्रावकाचार

आर्यखण्ड मे नीच जाति के भोगी जीवो के महोदयरूप जो भोग दिखाई देते हैं, वे सब कुपात्रदान के प्रभाव से दिये जाते हैं। उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमियो मे जो तिर्यंच हैं, वे सब कुपात्रदानरूपी वृक्ष के फल भोग रहे हैं।

इसी प्रकार सुभाषित रत्न भाण्डागार मे कुपात्रदान का फल अत्यन्त निकृष्ट बताया गया है कि कुपात्रदान से प्राणी दरिद्र होता है। दरिद्र होकर पाप करता है और पाप करके नरक मे जाता है। इस प्रकार बार-बार कुपात्रदानी दरिद्र एव पापी बनता रहता है।

कुपात्र दान का निषेध नहीं !

श्वेताम्बर जैनागम भगवती सूत्र मे कुपात्रदान के विषय मे श्रमण भगवान् महावीर और गणधर गौतम का एक सवाद मिलता है। श्री गणधर गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा—"भते ! तथारूप असयत, अविरत, पापकर्म से अनिवृत्त व्यक्ति (पात्र) को प्रासुक, अप्रासुक, ऐषणीय या अनैषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चार प्रकार आहार देने से श्रावक को क्या फल होता है ?" श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम ! उसे एकान्त पाप होता है, उसे किसी प्रकार की कर्मों की निर्जरा नही होती।

सचमुच कुपात्रदान का फल बहुत कटु है। परन्तु जैनधर्म इतना निष्ठुर नही है, और न ही निष्ठुर बनना सिखाता है। उसका आशय कुपात्रदान के पीछे यही है कि कुपात्र को जहाँ गुरुबुद्धि से, धर्मबुद्धि से, या मोक्षफल प्राप्ति की दृष्टि से दिया जाता है, वही उसका फल एकान्त पाप कर्मबन्ध के रूप मे आता है। जहाँ अपात्र या कुपात्र भी सकट मे पडा हो, अथवा विषम परिस्थिति मे हो, रोगग्रस्त हो, दयनीय हालत मे हो, अत्यन्त निर्धन, अग-विकल, असहाय एव पराश्रित हो, वह सुधरना चाहता हो, पात्र या सुपात्र बनने की भूमिका पर हो, वहाँ उसे देने से एकान्त पाप नही होता। प्रमाण के लिए देखिये अभिधान राजेन्द्र कोष के वे श्लोक—

> शुद्ध वा यदशुद्ध वाऽसयताय प्रदीयते।
> गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म बन्धकृन्नानुकम्पया ॥
> अथवा यो गृही मुग्धो, लुब्धकज्ञातभावित ।
> तस्य तत् स्वल्पबन्धाय बहुनिर्जरणाय च ॥

—'आहारादि शुद्ध हो या अशुद्ध यदि असयमी को गुरुबुद्धि से दिया जाता है, तो वह कर्मबन्ध कारक होता है, अनुकम्पाबुद्धि से दिया जाता है तो वह कर्मबन्ध-कर्ता नही होता। अथवा जो भोलाभाला गृहस्थ किसी अपात्र या कुपात्र का भविष्य उज्ज्वल जान कर उसके गुणो से लुब्ध होकर उसे दान देता है, वह दान भी उसके लिए अल्पकर्मबन्धकारक तथा बहुत निर्जराकारक होता है।

इसी प्रकार जो असयती, अव्रती हैं, पापकर्मकर्ता हैं, वेशधारी मिथ्या दृष्टि हैं। उन अपात्रो या कुपात्रो को भी गुरुबुद्धि या धर्मबुद्धि से दान देना तो कर्मबन्ध कारक है ही, लेकिन उनको सकटग्रस्त देखकर अनुकम्पाबुद्धि से दान देने मे पापकर्म

का बन्ध नही होता। देखिये भगवतीसूत्र की वृत्ति मे तथा अन्यत्र भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है—

मोक्खत्थ च जे दाण एसवियस्स मोक्खाओ।
अणुकपादाण पण जिणेहिं कहिं वि न पडिसिद्ध॥

अर्थात्—मिथ्यात्वी या असयती कुपात्रो या अपात्रो को गुरुबुद्धि से या मोक्षफल की बुद्धि से यदि श्रमणोपासक दान देता है तो उसके सम्यक्त्व मे दोष लगता है और उस दान का फल भी अशुभ कर्मबन्ध होता है, किन्तु अगर वह सिर्फ अनुकम्पाबुद्धि से देता है, तो वहाँ वह पुण्योपार्जन ही करता है। इसलिए अनुकम्पादान (अपात्रो या कुपात्रो को) देने का जिनेश्वरो ने कही निषेध नही किया है।

इस वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है कि सयमी, व्रती, साधु तथा गुरुजनो को गुरुबुद्धि अथवा श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए, सार्धमिक देशविरत सद्गृहस्थ, सम्यकत्वी श्रमणोपासक को वात्सल्यभाव के साथ देना चाहिए, और अन्य (अव्रती आदि) को अनुकम्पा बुद्धि से दान देना चाहिए।

वीतराग भगवन्तो ने तो कुपात्रो या अपात्रो को गुरुबुद्धि अथवा मोक्षबुद्धि से दान देने का फल पापबन्ध बताया है किन्तु अनुकम्पाबुद्धि से नही। उन्होंने मनुष्य की मानवता नही निकाल दी है कि कोई अपात्र या कुपात्र सकट मे पडा हो, दयनीय स्थिति मे हो उस समय उस पर दया भी न करो, उसे कुछ भी न दो, उसे मरने दो, रुग्णशय्या पर पडा-पडा सडने दो, उसे आर्तध्यान मे पीडित देखकर उसकी पुकार भी न सुनो, उससे बात भी न करो, उसकी दर्द की कराह सुनी-अनसुनी कर दो, मरने दो या अपने कुकर्मों का फल भोगने दो! जो जिनेश्वर मनुष्यो ही नही, समस्त प्राणियो के प्रति दयालु हैं, वे ऐसा कदापि नही कह सकते, न कदापि मानवता और दया निकाल कर जनता को क्रूरता का पाठ सिखा सकते हैं।

हाँ, जो मिथ्यादृष्टि सशक्त, स्वस्थ, सम्पन्न हो, जो वेश धारण करके भी व्रतो का पालन न करता हो, दम्भ और ढोग करके भोलीभाली जनता को ठगता हो, जो मिथ्यात्व या पापकर्म का प्रसार करता हो, स्वय पापाचरण-करता हो, लोगो को पापकर्म मे प्रेरित करता हो, किसी प्रकार की दयनीय स्थिति मे न हो, ऐसे धर्मध्वजी, पाखण्डी (कुपात्र) या पापीकर्मी (अपात्र) को देना तो एकान्त पाप है ही, और फिर गुरुत्वबुद्धि से या मोक्ष बुद्धि से देना तो और भी ज्यादा गुनाह है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति मे बताया है—

न वार्यपि प्रयच्छेत् वैडालवृत्तिके द्विजे।
न वकवृत्तिके विप्रे, नावेदविदि धर्मवित्॥ ४-१९२॥

अर्थात्—धर्मज्ञ पुरुष को विडालवृत्ति वाले दम्भी को, वकवृत्ति वाले ढोगी एव पाखण्डी व्यक्ति को और वेदो (धर्मशास्त्रो) को नही जानने वाले ब्राह्मण को पानी भी नही पिलाना चाहिए।

कई लोग कुपात्र या अपात्र को दान का अत्यन्त निकृष्ट फल जानकर कुपात्र या अपात्र को देखते ही भडक उठते हैं, वह दयनीय स्थिति मे पडा हो तो भी पापकर्म के लगने के डर से या तथाकथित गुरुओ की उलटी प्रेरणा से, वहाँ से भाग खडे होते हैं भोजन करते समय भी द्वार बद कर लेंगे, किन्तु वे जिनेन्द्रो के आशय से अनभिज्ञ हैं। आचार्यों ने उनके आशय को स्पष्ट किया है—

नेव दार पिहावेइ भुजमाणो सुसावओ।
अणुकपा जिणेहि सड्ढाण न निवारिआ॥
सव्वेहिपि जिणेहि दुज्जयजिय राग-दोस-मोहेहि।
अणुकंपादाण सड्ढयाण न कहि वि पडिसिद्ध॥

अर्थात्—सुश्रावक को भोजन करते समय द्वार बद नही करना चाहिए, जिनेन्द्रो ने श्रावको के लिए अनुकम्पा का कही निषेध नही किया है। दुर्जय राग-द्वेष-मोह के विजेता समस्त जिनेश्वरो ने श्रावको के अनुकम्पादान का कही भी निषेध नही किया है। यहाँ तक कि विशेष परिस्थिति (अवस्था विशेष) मे साधुओ को असयती को दान देना भी दोष युक्त नही है, जैसे भगवान् महावीर प्रभु ने दीन ब्राह्मण को वस्त्रदान दिया था।

फिर भी जो कुपात्र या अपात्र को दान का अशुभ फल बताया है, वह अनुकम्पाबुद्धि से देने का नही बताया है। यह तो उपर्युक्त दृष्टि से बताया है। समुच्चय मे अपात्रदान का फल भी देखिए—"जिन्होने परमार्थ को नही जाना है, और जो विषय-कषायो मे अधिक रचेपचे हैं, ऐसे पुरुषो के प्रति उपकार, सेवा या दान का फल कुदेव रूप मे या कुमानुष रूप मे आता है।[1] सर्प के मुख मे पडे हुए दूध या ऊषर खेत मे बोये हुए बीज के समान अपात्र को दिया हुआ दान विपरीत फल लाता है। परन्तु अपात्र या कुपात्र को विषशोधन या ऊषर भूमि से शुद्धि की तरह शुद्ध कर लेने पर उसे देने का यह अनिष्ट फल नही है।

पात्र-अपात्र-विवेक के विषय मे एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

'ज्ञान, विवेक, शक्ति और भक्ति परमात्मा सत्पात्र को देता है, अज्ञ और अन्धकार मे डूबे हुओ को नही।"—'रव्बीजोसे बेन' के इतना कहते ही एक महिला झल्लाकर बोली—'इसमे परमात्मा की क्या विशेषता रही ? होना तो यह चाहिए था कि वह असभ्य व्यक्तियो को यह सब देता, उनसे ससार मे अच्छाई का विकास तो होता।" रव्बीजोसे उस समय तो मौन हो गए। बात जहाँ थी, वही समाप्त कर दी।

बडे सवेरे उन्होने मुहल्ले के एक मूर्ख व्यक्ति को बुलाकर कहा—'अमुक स्त्री से जाकर आभूषण माग लाओ।' मूर्ख वहाँ गया और आभूषण मागे तो उसने न

---

१ अविदिदपरमत्थेसु य विसय-कसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठ कद व दत्त, फलदि कुदेवेसु मणुवेसु॥ —प्रवचनसार मू० २५७

केवल आभूषण देने से इन्कार कर दिया, वरन् उसे झिडक कर वहाँ से भगा भी दिया ।

थोडी देर बाद रब्बी जोसे स्वय उस महिला के यहाँ पहुँचे और बोले—'मुझे आप एक दिन के लिए अपने आभूषण दे दें । आवश्यक काम करके हम लौटा देंगे ।' महिला ने सन्दूक खोली और खुशी-खुशी उतने बहुमूल्य आभूषण जोसे बैन को सौंप दिये । आभूषण हाथ मे लिये बेन ने पूछा—'अभी-अभी एक दूसरा व्यक्ति आया था, उसे आपने आभूषण क्यो नही दिये ?'

महिला छूटते ही बोली—'असभ्य और मूर्खों को अच्छी वस्तुएँ भी कही कोई देता है ?' इस पर तुरन्त ही रब्बीजोसे बोल पडे—'तब फिर परमात्मा ही अपनी अच्छी वस्तुएँ कुपात्रो को क्यो देने लगा ?' महिला अपने प्रश्न का सतोषकारक उत्तर पाकर बडी प्रसन्न हुई ।

यह है पात्र-अपात्र के विवेक की प्रेरणा ।

अत विभिन्न स्वरूप वाले पात्र, सुपात्र, कुपात्र और अपात्र को दान देने का फल जानकर एव उनके रहस्यो तथा आशयो को भलीभाँति हृदयगम करके दान मे प्रवृत्त होना चाहिए ।

कई लोग विविध पात्रो के दान का पूर्वोक्त फल जानकर इस भ्रान्ति के शिकार हो जाते हैं कि कुपात्र और अपात्र को दान देने का फल बहुत ही भयकर है और सुपात्र और पात्र का पता नही लगता, किसी के सिर पर साइन बोर्ड नही लगा होता कि यह सुपात्र है या कुपात्र ? पात्र है या अपात्र ? ऐसी दशा मे इस चक्कर से बचने के लिए किसी को भी दान न देकर चुपचाप घर मे बैठना अच्छा है । ऐसा करके दान देकर 'अन्धा नौतें दो जिमाएँ' वाली कहावत क्यो चरितार्थ की जाये ? परन्तु यह एक प्रकार का वहम है । जब सुपात्र-कुपात्र या पात्र-अपात्र को दान देने का फल बता दिया है । साथ ही परिस्थिति विशेष मे कुपात्र या अपात्र को भी दान देने का शुभ फल भी है, इसे जानकर दान देने से हाथ नही खीचना चाहिए । जरा-से बौद्धिक व्यायाम से बचकर महालाभ को खोना कौन-सी बुद्धिमानी है ? यह घाटे का सौदा तो हर्गिज नही है । अपनी बुद्धि की तराजू पर तौलकर सुपात्र, या पात्र को दान देना ही चाहिए, कुपात्र या अपात्र को भी गुरु या धर्म की दृष्टि से नही, अपितु सकटग्रस्त हो तो अनुकम्पाबुद्धि से दान देना चाहिए ।

कई लोग सुपात्र के तीन भेदो मे से सबसे उत्कृष्ट सुपात्र महाव्रती साधु को दान देने का उत्तम फल जानकर मन मे यह गाँठ बाध लेते हैं कि दान देना हो तो उत्कृष्ट सुपात्र को ही देना चाहिए, मध्यम सुपात्र या जघन्य सुपात्र का उत्तरोत्तर निकृष्ट फल मिलता है, इसलिए इन्हे दान देने से क्या लाभ ? अपनी चीज दें भी और लाभ भी पूरा न मिले, इससे तो अच्छा है कि उत्कृष्ट सुपात्र को ही हमे तो दान देना है । मध्यम या जघन्य सुपात्र को नही और न ही अनुकम्पापात्र आदि को

दान देना है। हम तो अपना सौदा बेचेंगे तो सर्वोत्तम ग्राहक (पात्र) को ही बेचेंगे। परन्तु ऐसे लोग एक प्रकार से सौदेबाज हैं, फलाकाक्षी हैं और बहुत बड़े लाभ से वचित रह जाते हैं। क्योकि उत्कृष्ट सुपात्र तीर्थंकरो, गणधरो, आचार्यों, उपाध्यायों या सुसाधुओ का योग तो प्रत्येक क्षेत्र मे सदा सर्वदा नही मिलता। कई क्षेत्रो (गाँवो या कस्बो) मे तो साधुसाध्वी पहुँच ही नही पाते। ऐसा सकल्प करने वाला दाता अन्य सुपात्रो या पात्रो को दान देने के लाभ से वचित हो जाता है।

व्यापारिक जगत् का यह अनुभव सूत्र है कि दूकान पर सर्वोत्तम और प्रचुर माल लेने वाले ग्राहक विरले ही और कभी-कभी आते हैं। हमेशा सौदा लेने आने वाले ग्राहक या तो मध्यम दर्जे के आते हैं या नीचे दर्जे के बहुत थोडा सौदा लेने वाले खुदरा और सस्ते माल के ग्राहक आते हैं। बल्कि अधिकतर सख्या तो सस्ता और खुदरा माल लेने वाले तीसरे दर्जे के ग्राहको की होती है। यदि दूकानदार यही सोच ले कि मैं तो अपना माल ऊँचे दर्जे को थोक और बढिया माल लेने वाले ग्राहक को ही बेचूंगा, मध्यम दर्जे के या नीचे दर्जे के ग्राहको को नही, तो उसका माल बहुत कम बिकेगा और मुनाफा भी बहुत कम होगा। इसलिए विवेकशील रिटेल का दूकानदार हर तरह का कीमती, कम कीमती सभी किस्म का माल रखता है, बल्कि कम कीमत का माल ज्यादा खपने के कारण अधिक मात्रा मे रखता है। तभी वह साल भर मे खर्च निकाल कर काफी अच्छा मुनाफा कमाता है। यही बात दानदाता के सम्बन्ध मे है—उसे भी यह जिद्द ठानकर नही बैठना चाहिए कि मैं दूंगा तो उत्कृष्ट सुपात्र को ही दूंगा, अन्य कम लाभ वाले मध्यम दर्जे के या निम्न दर्जे के पात्रो को हर्गिज दान नही दूंगा। क्योकि ऐसा करने से वह अपनी जिन्दगी मे बहुत-से महालाभ से वचित रह जायेगा। उसे पात्र के अनुरूप हर किस्म के साधन अपने यहाँ रखने चाहिए और पात्र की योग्यता, आवश्यकता तथा उसके कल्प-नियम, मर्यादा के अनुरूप श्रद्धा, सत्कार एव विधिपूर्वक देना चाहिए। अगर कोई दाता केवल उत्कृष्ट सुपात्र की खोज मे ही बैठा रहेगा तो वह अन्य सुपात्रो से तो वचित रहेगा ही साथ ही, उत्कृष्ट सुपात्र के सुयोग से भी वचित रहेगा, क्योकि उत्कृष्ट का सुयोग भी सदा नही मिलता। फिर एक बात यह भी है कि जहाँ अन्य याचको या पात्रो को दान देने का सिलसिला जारी रहता है, वहाँ उत्कृष्ट सुपात्र भी उसकी दानवृत्ति की प्रशसा या महिमा सुनकर अनायास ही कभी-कभी आ पहुँच सकता है। अन्यथा एकमात्र उत्कृष्ट सुपात्र की प्रतीक्षा मे चुपचाप बैठा रहने वाले की उदारता, दानवृत्ति या भावना का उत्कृष्ट सुपात्र को पता न लगने के कारण वे प्रसिद्ध दाता के यहाँ ही अनायास पहुँचेंगे, और ऐसा होना स्वाभाविक है। जैसे—अन्तकृद्दशागसूत्र मे वर्णित वे छहो मुनि और कही न जाकर देवकी महारानी के यही नाम प्रसिद्धि एव दानवृत्ति सुनकर पधारे थे। वे अन्यत्र नही गये, इसके पीछे भी यही रहस्य होना सम्भव है। वर्तमान युग के साधु-साध्वी भी किसी अपरिचित या परिचित शहर या कस्बे मे पहुँचते हैं तो जो विशेष उदार और प्रसिद्ध व परिचित

गृहस्थ (दाता) होता है, उसी के यहाँ भिक्षा के लिए पहुँच जाते हैं। कोई अप्रसिद्ध व्यक्ति कस्बे या शहर मे होता भी है तो वह कोने मे दुबका पडा रहता है, वहाँ साधु-साध्वी सहज मे पहुँच भी नही पाते।

भौंरा उसी फूल के पास जाता है, जिस फूल के पास कुछ सुगन्ध, पराग या रस हो, वह उस फल के पास नही जाता, जहाँ न सुगन्ध हो, न पराग हो और न ही रस हो। और यह बात भी है, जहाँ अन्य पुष्पग्राहक उडने वाले जानवर जिस फूल पर सदा बैठते होगे, वही भौंरा भी पहुँच जायेगा। अन्यथा वह भी उस पुष्प के पास नही पहुँचता। राजहस प्राय वही पहुँचता है, जहाँ दूसरे पक्षी दाने चुग रहे हो।

इस सम्बन्ध मे एक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए—

एक राजा था। उसकी हथेली मे एक जहरीला छाला हो गया। राजा पीडा से कराह उठा। उसने अनेक नामी-गिरामी वैद्यो का इलाज कराया। किन्तु फोडा ठीक न हुआ। आखिर एक बूढे अनुभवी वैद्य ने कहा—"राजा का फोडा तभी ठीक हो सकता है, जब इस फोडे को राजहस चोच मारकर फोड दे।" अब समस्या यह खडी हुई कि राजहस कैसे आये ? और राजा के छाले पर चोच कैसे मारे ? किसी बुद्धिमान ने सलाह दी कि राजहस तभी आ सकता है, जब पहले दूसरे पक्षी आयें। इसके लिए एक छत पर जुआर के दाने डाले जायँ और साथ मे मोती भी डाले जायँ तो दूसरे पक्षियो को देखकर सम्भव है, कभी राजहस भी चला आये। फिर एक काम करो। राजा की खाट इसी छत के नीचे डाल कर उन्हे लिटा दिया जाय। छत मे एक सुराख ऐसा बनाया जाय जिसमे राजा की सिर्फ हथेली टिक सके। ताकि राजहस आकर वहाँ मोती के बहाने हथेली पर चोच मार दे। राजा के आदेश से फौरन यह सब काम हो गया। राजा के लेटने की व्यवस्था उसी छत के नीचे कर दी गई और राजा की हथेली एक सूराख के ठीक नीचे टिका दी गई। रोजाना जुआर डालने से अब पक्षी आने लगे और चुगने लगे। एक दिन उडता-उडता एक राजहस भी जा रहा था। राजमहल की छत पर ज्यो ही उसने अन्य पक्षियो को दाने चुगते हुए देखा और वहाँ सफेद-सफेद जुआर के साथ चमकते हुए मोती देखे तो उसने उधर ही उडान भरी और राजमहल की छत पर उतरा। राजहस को देखकर लोगो को तसल्ली हो गई कि राजहस आ गया है तो वह मोती चुगता-चुगता मोती-सरीखे फोडे पर भी चोच मार सकता है। हुआ ऐसा ही। राजहस मोती चुगता हुआ आगे बढता-बढता झट राजा की हथेली के पास पहुँचा। उसने हथेली मे पडे हुए सफेद चमकते हुए छाले को मोती समझकर अपनी चोच मारी। चोच मारते ही राजा का फोडा फट गया। राजहस तो उड गया। राजा का फोडा फूटने से पीडा शान्त हो गई और दो-चार दिनो मे ही घाव ठीक हो गया।

यह दृष्टान्त है। ठीक यही स्थिति साधु रूपी राजहस के आने की है। साधुरूपी राजहस मुक्तारूपी भिक्षा के लिए तभी आ सकता है, जब उस द्वार पर

मध्यम और जघन्य सुपात्र हो, या पात्र खडे हो, उन्हे दान उपलब्ध होता हो, उसे देखकर ही साधुरूपी राजहस विचरण करता-करता दाता के यहाँ आ सकता है। अन्यथा, स्वाभिमानी एव अमीरी भिक्षा करने वाला साधु कैसे आ सकता है? इसीलिए केवल उत्कृष्ट सुपात्र को अपने द्वार पर बुलाना हो तो पहले जघन्य और मध्यम सुपात्रो को प्रतिदिन दान का क्रम चालू रखना चाहिए, अनुकम्पापात्रो को भी प्रतिदिन उसके घर से दान दिया जाना चाहिए। तभी राजहस मय उत्कृष्ट सुपात्र उसके द्वार पर भिक्षा के लिए घूमता-घूमता आ सकता है और मोह-ममता के छाले को फोड सकता है। अपनी वाणी से प्रेरणा करके आपका मोह-ममत्व कम करा सकता है।

इस प्रकार हमने सुपात्रदान के महाफल तथा पात्रो को दिये जाने वाले दान के फल पर एक विहगम चर्चा यहाँ की है। वास्तव मे तो इसका फल पात्र से भी अधिक भावना पर अवलम्बित है, किन्तु विवेकी व्यक्ति पात्र का भी विचार रखता ही है। ☆

12

पात्रापात्र-विवेक

पूर्वोक्त विवेचन के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किसे सुपात्र समझा जाय, किसे कुपात्र ? किसे पात्र माना जाय और किसे अपात्र ? तथा इन चारो के क्या-क्या लक्षण हैं। इन्हे किन व्यवहारो से पहिचाना जाय ? क्या अपात्र भी पात्र हो सकता है ? क्या अपात्र और कुपात्र को भी किसी परिस्थिति मे दान दिया जा सकता है ? अथवा अपात्र और कुपात्र को दान का सर्वथा निषेध है ? जब तक इन सब प्रश्नो का समुचित समाधान नही हो जाता, तब तक सम्भ्रान्त और विवेकी व्यक्ति सहसा दान मे प्रवृत्त होते हुए हिचकिचाता है। इसलिए अब हम क्रमश इनके स्वरूप और लक्षणो पर प्रकाश डालेंगे। सर्वप्रथम पात्र शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ देखिये—

> पाकारेणोच्यते पाप, त्रकारस्त्राणवाचक ।
> अक्षरद्वयसयोगे, पात्रमाहुर्मनीषिण ॥

अर्थात्—'पा' पाप का और 'त्र' रक्षण का वाचक है। इन दोनो अक्षरो के सयोग से विचारक लोग पात्र को पात्र कहते हैं। आशय यह है कि जो अपनी आत्मा को पापो से बचाता है, वह पात्र है।

वास्तव मे जो व्यक्ति मोक्ष के कारणभूत गुणो से सयुक्त तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र एव तप से सम्पन्न होकर अपनी आत्मा को पापो से बचाता है, वही पात्र है।[1] ऐसा पात्र किसी भी जाति, वर्ण, रग, कुल, प्रान्त, देश या महाद्वीप मे हो सकता है। जो लोग अमुक जाति सम्प्रदाय, कुल या अमुक देश आदि मे ही पात्रता को सीमित कर देते हैं, वे पात्र लक्षण के ज्ञान से बिलकुल दूर हैं। या वे जान-बूझकर पात्र को अपने सकीर्ण साम्प्रदायिक या जातीय दायरे मे बन्द कर देना चाहते हैं। जैनधर्म इतना अनुदार नही है कि वह अमुक सम्प्रदाय जाति-कुल आदि के दायरे मे ही पात्रता को बन्द कर दे। यहाँ तो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल को मिथ्यादृष्टि

---

१ (क) मोक्षकारणगुण सयोग पात्रविशेष (सर्वार्थसिद्धि ७।३९)
(ख) पात्रविशेष सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतप सम्पन्नता। (तत्वार्थभाष्य ७।३४)

चक्रवर्ती से भी बढकर उच्च माना है, पात्र माना है। मुँह देखकर तिलक निकालने वाली बात को यहाँ जरा भी स्थान नही है। जो व्यक्ति योग्य पात्र को देखकर जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि के बाँटो से उसे तौलकर दान के अयोग्य ठहराता है, वह दाता स्वय सम्यग्दृष्टि नही है। जो इस प्रकार की सकीर्णता को स्थान देता है, वह स्वय अपने हाथो से दान मे इन विषो को मिलाकर विषाक्त बना देता है, दान के प्राण निकाल देता है, ऐसा दान भी सफल नही होता। अपने माने हुए सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त या राष्ट्र के अतिरिक्त किसी को भी पात्र न कहना तो सरासर अन्याय है। अगर पात्र का लक्षण ऐसा ही होता तो तीर्थंकरो के हाथ से सुसाधु के सिवाय अथवा व्रतधारी श्रावक के सिवाय कोई भी अन्य व्यक्ति दान नही ले सकता था, परन्तु तीर्थंकर एक वर्ष तक जो दान देते हैं, उसमे सभी प्रकार के पात्रो को दान मिलता है, उसमे किसी विशिष्ट जाति, धर्मसम्प्रदाय या राष्ट्र-प्रान्तादि का भेद नही करते। इसलिए किसी जाति, कुल, धर्मसम्प्रदाय, प्रान्त या राष्ट्र मे पैदा हो जाने मात्र से पात्रता नही आ जाती, किन्तु जो व्यक्ति अज्ञान, हिंसा, असत्य, व्यभिचार, चोरी, हत्या आदि पापो से विरत होकर धर्म का पालन करता है, उसे ही पात्र कहना चाहिए। इसीलिए महाभारत मे कहा गया है—'केवल विद्या पढे हुए होने से, विद्वान् बन जाने मात्र से कोई पात्र नही कहलाता, और न ही कोरी तपस्या या अज्ञानपूर्वक क्रियाकाण्ड करने से ही कोई पात्र कहला सकता है, प्रत्युत जिस व्यक्ति मे विद्या (ज्ञान) और चारित्र हो उस ज्ञान-चारित्र सम्पन्न व्यक्ति को ही पात्र कहा जा सकता है। ऐसे पात्र को दान न देकर अथवा ऐसा योग्य व्यक्ति अन्य जाति-कुल-सम्प्रदायादि मे पैदा होने के कारण उसे दान न देकर अपने माने हुए तथाकथित धर्म-सम्प्रदाय-जाति कुल आदि मे समुत्पन्न अयोग्य अथवा धन-वैभव सम्पन्न, साधन सम्पन्न व्यक्ति को दान देने मे जो प्रवृत्त होता है, वह कल्पवृक्ष को छोडकर ऊपरी चमक-दमक वाले वृक्ष को सीचता है, अथवा ऐसा अविवेकी पुरुष पानी से लबालब भरे खारे समुद्र मे वर्षा करता है, तृप्त मनुष्य को भोजन कराता है, दिन के चिलचिलाते सूर्य के प्रकाश को दीपक दिखाता है। इसलिए पात्र की परीक्षा किसी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त राष्ट्र आदि के आधार पर नही करनी चाहिए। ऐसा करने से उसके दान मे अहत्व-ममत्व एव स्वार्थ के आने का बहुत बडा खतरा है।

पात्र-परीक्षा

पात्र शब्द मे से ही सुपात्र, कुपात्र और अपात्र शब्द निष्पन्न हुए हैं। इसलिए पात्र शब्द का लक्षण भलीभाँति समझ लेने पर सुपात्र, अपात्र और कुपात्र का लक्षण भी शीघ्र ही समझ मे आ जाएगा। फिर भी आचार्यों ने सुपात्र, कुपात्र और अपात्र के पृथक्-पृथक् लक्षण सर्वसाधारण के समझने के लिए दिये हैं। जैसे सुपात्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है—'सु=अतिशयेन, पापात् त्रायते इति सुपात्रम्।' अर्थात्—जो अपनी आत्मा की पाप से भलीभाँति रक्षा करता है, वह सुपात्र है। जहाँ-जहाँ पापकर्मों के आने का अदेशा होता है, वहाँ-वहाँ वह अपने

आपको सावधानीपूर्वक बचा लेता है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—[1] जो पाप मे पडते हुए सघ (समाज) के व्यक्तियो को धर्म का मार्गदर्शन, प्रेरणा या उपदेश देकर पाप से बचा लेता है, वह सुपात्र है। इसीलिए एक आचार्य ने सुपात्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

'सु=शोभन पात्रं=स्थानं ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-क्षमा-प्रशमशील-दया-सयमादीनां गुणानाम्।' अर्थात्—जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा, दया, शम, शील, सयम आदि गुणो का उत्तम स्थान है, वह सुपात्र है। वास्तव मे मोक्ष के कारणभूत गुणो से युक्त व्यक्ति सुपात्र कहलाता है।[2]

---

१ इसी से मिलता जुलता अर्थ—

सम्यग्दर्शनसशुद्ध तपसाऽपि विवर्जितम्॥
पात्र प्रशस्यते मिथ्यादृष्टि कायस्य शोषनात्॥५४॥
आपद्भ्य पाति यस्तस्मात्पात्रमित्यभिधीयते।
सम्यग्दर्शनशक्त्या च त्रायन्ते मुनयो जनान्॥५५॥
दर्शनेन विशुद्धेन ज्ञानेन च यदान्वितम्।
चारित्रेण च यत्पात्र परम परिकीर्तितम्॥५६॥

—पद्म पुराण १४। ५४ से ५६

२ पउमचरिय (१४।३९-४०) मे साधु मुनिराजो या जिनेद्र भगवान् को ही सुपात्र कहा है—

ये नाण-सजयरया अणन्न दिट्ठी जिइदिया धीरा।
ते नाम होति पत्त समणा सवुत्तमा लोए॥३९॥
सुहदुक्खेसु च समया जेसि माणे तहेव अवमाणे।
लाभालाभे य समा ते पत्त साहवो भणिया॥४०॥
पच महव्वयकलिया निच्च सज्झायझाण तवनिरया।
घण सयण-विगयसगा ते पत्त साहवो भणिया॥१०२।१३४

अर्थात्—जो ज्ञान और सयम मे रत है, सम्यग्दृष्टि हैं, जितेन्द्रिय हैं, धीर हैं, वे ही श्रमण लोक मे सर्वोत्तम पात्र हो सकते हैं। जो सुख और दुःख मे, मान और अपमान मे, लाभ और अलाभ मे जो सम हैं, वे साधु ही पात्र कहलाते हैं। जो पाँच महाव्रतो से युक्त हैं, नित्य स्वाध्याय, ध्यान और तप मे रत हैं, धन, स्वजन आदि की आसक्ति से दूर हैं, वे सयमी पुरुष ही पात्र कहलाते हैं।

इसी प्रकार वरागचरित्र मे मुनियो को ही सुपात्र कहा है—

व्यपेत मात्सर्य मदाभ्यसूया सत्यव्रता क्षान्ति दयोपपन्ना।
सन्तुष्टशीला शुचयो विनीता निर्ग्रन्थशूरा इह पात्रभूता॥

उत्तराध्ययन-सूत्र मे सुपात्र को सुक्षेत्र कहा है और तदनुसार हरिकेशीय अध्ययन मे यक्ष और ब्राह्मणो के सवाद के रूप मे सुक्षेत्र और कुक्षेत्र का स्फुट लक्षण दिया गया है—

—'जो ब्राह्मण अथवा साधक जाति (चारित्र) और विद्या (ज्ञान) से युक्त हैं, वे ही क्षेत्र सुन्दर-शोभन क्षेत्र हैं। सयम के आग्नेय एव उच्चावचपथो पर जो मुनि विचरण करते हैं, वे क्षेत्र सुशोभन क्षेत्र हैं।'[1]

—जिनके जीवन मे क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रहवृत्ति घर की हुई है, वे जाति (चारित्र) और विद्या (ज्ञान) से विहीन तथाकथित माहण (ब्राह्मण या साधक) पापयुक्त कुक्षेत्र हैं।[2]

निष्कर्ष यह है कि जो साधक (गृहस्थ या साधु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अहिंसा सत्यादि सम्यक्चारित्र से युक्त हो, वह सुपात्र है, चाहे वह अणुव्रती हो या महाव्रती। किन्तु इसके विपरीत जिसमे क्रोध, मान, माया, लोभ तीव्र है, हिंसादि अव्रत हैं, अज्ञान और मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) से युक्त है, वह बाहर से चाहे जितना

ज्ञान तु येषा हि तपो धनाना त्रिकालभावार्थसमग्रदर्शि।
त्रिलोकधर्मक्षपणप्रतिज्ञो, यान् दग्धुमीशो, न च कामवह्नि ॥
येषा तु चारित्रमखण्डनीय मोहान्धकारश्च विनाशितो यै।
परीषहेभ्यो न चलन्ति ये च, ते पात्रभूता यतयो जिताशा ॥

—वरांगचरित्र ७।५०-५२

अर्थात्—जो मात्सर्य, मद, असूया से रहित हैं, सत्यव्रती हैं, क्षमा और दया से सम्पन्न हैं, सतुष्टशील हैं, पवित्र और विनीत हैं, वे निर्ग्रन्थ शूर ही यहाँ पात्र रूप हैं। जिन तपोधनियो का ज्ञान त्रिलोक के भावार्थ को समग्र प्रकार से देख लेता है, तीन लोक को धर्म से युक्त हैं, कर्मक्षय करने मे दृढप्रतिज्ञ है, जिन्हे कामाग्नि जला नही सकती, जिनका चारित्र अखण्ड है, जिन्होंने मोह तिमिर का नाश कर डाला है, जो परीषहो से विचलित नही होते, ऐसे आशा-विजयी साधु ही पात्ररूप हैं।

१ जे माहणा जाइ-विज्जोववेया,
ताइ तु खेत्ताइ सुपेसलाइ।
उच्चावयाइ मुणिणो चरंति,
ताइ तु खेत्ताइ सुपेसलाइ।'

२ कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोस अदत्त च परिग्गह च।
ते माहणा जाइ-विज्जा-विहीणा,
ताइ तु खेत्ताइ सुपावयाइ ॥

आडम्बर रच ले, वढिया कपडे पहन ले, तिलक छापे लगाकर चाहे भक्त का स्वाग रच ले, चाहे वह दिन मे १० बार मन्दिर या धर्मस्थान मे क्यो न जाता हो, वह उपर्युक्त लक्षण के अनुसार सुपात्र या सुक्षेत्र नही है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि ऐसे व्यक्ति को, जो कि हिंसा आदि पापो से ओतप्रोत है, तीव्र कषायो से युक्त है, वह सुपात्र तो नही है, किन्तु अपात्र और कुपात्र इन दोनो मे से क्या है ? अत हम 'दान शासन' के एक श्लोक द्वारा उत्कृष्ट पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र, अपात्र और कुपात्र का पृथक्करण करके इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

—"महाव्रती अनगार उत्कृष्ट पात्र हैं, अणुव्रती मध्यम पात्र हैं, व्रतरहित सम्यक्त्वी जघन्य पात्र हैं और सम्यग्दर्शनरहित व्रतो से युक्त व्यक्ति कुपात्र है तथा सम्यक्त्व और व्रत दोनो से रहित मनुष्य अपात्र है, यह समझना चाहिए।"[1]

अपात्र के सम्बन्ध मे आचार्य अमितगति का एक स्पष्टीकरण और लीजिए—

"जो निर्दयी होकर प्राणियो की हिंसा करता है, कठोर वचन एव झूठ बोलता है, विना दिये हुए धन को अनेक प्रकार से हरण करता है, कामवाण से पीडित होकर स्त्री-प्रसग करता है। अनेक दोषो के जनक परिग्रह से युक्त है, स्वच्छन्द होकर शराब पीता है, जीव-जन्तुओ से व्याप्त मास को खाता है, पापकर्म करने मे चतुर है, कुटुम्ब-परिग्रह के मजबूत पीजरे मे जकडा हुआ है, शम, शील और गुणव्रतो से रहित है, और जो तीव्र कषायरूपी सर्पो से घिरा हुआ है ऐसे विषयलोलुपी को आचार्य ने 'अपात्र' कहा है।"[2]

पात्रादि के विविध प्रकार

पिछले पृष्ठो के विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पात्र शब्द पर से

---

१ उत्कृष्ट पात्रमनगारगुणव्रताढ्यम् ।
मध्य व्रतेन रहितं सुदृश जघन्यम् ॥
निदर्शन व्रत निकाय-युत कुपात्रम् ।
युग्मोज्झित नरमपात्रमिद तु विद्धि ॥ —दान शासन

२ गत कृप प्रणिहन्ति शरीरिणो, वदति यो वितथ परुष वच ।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा, मदनवाणहतो भजतेऽगनाम् ॥३६॥
विविध दोषविधायिपरिग्रह, पिवति मद्यमयन्त्रितमानस ।
कृमिकुलाकुलितंग्रंसते पल, कलुपकर्मविधान विशारद ॥३७॥
दृढ कुटुम्ब परिग्रहपजर प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः ।
गुरुकपायभुजगम सेवित, विपय लोलमपात्रमुशति तम् ॥३८॥
—अमितगति श्रावकाचार अ १०

ही 'सु', 'कु' और 'अ' लगकर सुपात्र, कुपात्र और अपात्र शब्द बनते हैं। किन्तु अपात्र के सिवाय ये सब पात्रो के ही भेद समझने चाहिए।

इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे पात्र के ही मुख्यतया तीन भेद बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

> पात्रंत्रिभेदमुक्तं सयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
> अविरतसम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥

अर्थात्—मोक्ष के कारणभूत गुणो के सयोग से दान लेने के योग्य भव्यात्मा पात्र तीन प्रकार के कहे हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम पात्र सर्वचारित्री (साधु) हैं, मध्यम पात्र विरताविरत देशचारित्री श्रावक है और जघन्य पात्र अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि है। ये तीनो ही सुपात्र कहे जाते हैं। इन तीनो के तीन-तीन भेद करने से सुपात्र के ९ भेद हो जाते हैं—

(१) उत्तम-उत्तम पात्र—श्री तीर्थंकर भगवान्।
(२) उत्तम-मध्यम पात्र—छद्मस्थकालीन तीर्थंकर, गणधर या आचार्य।
(३) उत्तम-जघन्य पात्र—निर्ग्रन्थ साधु मुनिराज।
(४) मध्यम-उत्तम पात्र—प्रतिमाधारी श्रावक।
(५) मध्यम-मध्यम पात्र—बारह व्रतधारी श्रावक।
(६) मध्यम-जघन्य पात्र—यथाशक्ति थोड़े व्रत प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक
(७) जघन्य-उत्तम पात्र—क्षायिक सम्यग्दृष्टि
(८) जघन्य मध्यम पात्र—क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि
(९) जघन्य-जघन्य पात्र—उपशम-सम्यक्त्वी

इन नौ ही पात्रो को यथायोग्यरीति से यथायोग्य वस्तुओ का दान देकर सन्तुष्ट करना चाहिए, ऐसी जिनेन्द्र देवो की आज्ञा है।

अपात्र के नौ प्रकार

इसी प्रकार कुपात्र या अपात्र के भी ९ भेद हो सकते हैं—

(१) उत्तम-उत्तम पात्र—जैन लिंगधारी साधु तो है, परन्तु मोहनीयकर्म की प्रकृतियो का क्षयोपशम आदि न हुआ हो, या अभव्यत्व नामक पारिणामिक भाव का परिणाम न होने से भावलिंग को प्राप्त न हुआ हो।

(२) उत्तम-मध्यम पात्र—जो जैन श्रावक तो है, लेकिन अभव्य है।

(३) उत्तम-जघन्य पात्र—जो व्रतादि का पालन न करते हुए केवल नाम-मात्र का श्रावक है।

(४) मध्यम-उत्तम पात्र—जो मिथ्यात्वी है, लेकिन अज्ञानतप से आत्मदमन करता है।

(५) मध्यम-मध्यमपात्र—मिथ्यात्वी तो है, परन्तु लौकिक व्यवहार मे शुद्धता के लिए कुछ व्रत-नियमो का पालन करता है और लोगो को उपदेश देता है।

(६) **मध्यम-कनिष्ठ-पात्र**—मिथ्यात्वी होकर भी अपने प्रयोजन के लिए सम्यक्त्वी का गुणानुवाद करता है।

(७) **कनिष्ठ-उत्तम पात्र**—अनाथ, अपाहिज, विधवा, असहाय भिक्षुक आदि।

(८) **कनिष्ठ-मध्यमपात्र**—कसाई आदि, जिसे धन देकर जीववध आदि का त्याग कराया जाय।

(९) **कनिष्ठ-कनिष्ठपात्र**—वेश्या, कसाई आदि पापात्मा

ये नौ प्रकार कुपात्र एव अपात्र के होते हैं। इन्हे दान देने से भी पुण्य प्राप्ति, लौकिक व्यवहार की शुद्धि तथा यश आदि फल की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ ग्रन्थो मे द्रव्य पात्रो की उपमा देते हुए भावपात्रो का दूसरी दृष्टि से स्वरूप बताया है। ग्रन्थकारो ने (१) उत्तम सुपात्र को रत्न के पात्र की उपमा दी है। जैसे रत्न का पात्र सभी प्रकार के पात्रो मे उत्तम माना जाता है, वैसे ही तीर्थंकर केवलज्ञानी भगवान सब पात्रो मे परमोत्तम पात्र माने जाते हैं। (२) लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वो मे समभाव की वृत्ति रखने वाले तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र से युक्त महाव्रती साधु-साध्वी मुनिराज स्वर्णपात्र के समान हैं। (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न प्रतिमाधारी या व्रतधारी श्रावक रजतपात्र (चादी के पात्र) के समान हैं। (४) जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के तो धारक हैं, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म के उदय के कारण व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण नही कर सके, सिर्फ देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्चे हृदय से श्रद्धा-भक्ति रखते है, वे ताम्रपात्र के समान हैं। (५) जो सम्यक्त्वगुण से तो रहित है, लेकिन मार्गानुसारी होने के कारण नीति, न्याय, मानवता, दया, दान आदि किंचित् गुणो के धारक हैं, गुणानुवादक हैं, वे लोहपात्र के समान हैं। (६) जो दीन-दु खी, अग-विकल, अनाथ, असहाय, क्षुधा आदि दु खो से पीडित हैं, वे अनुकम्पापात्र प्राणी मृत्तिकापात्र के समान हैं। (७) पाच आश्रव तो सेवन करते हैं, लेकिन कोमल हृदय होने से उपदेश से श्रद्धापूर्वक छोडने के लिए तत्पर हो गये हैं, ऐसे व्यक्ति कास्यपात्र के समान है। और (८) जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और प्रचुर परिग्रह (पचाश्रव) का सेवन करते हैं, जिन पर सदुपदेशो का कोई असर नही होता, ऐसे मिथ्यादृष्टि, कदाग्रही, दुर्व्यसनी, अधर्मी, पापी एव देव-गुरु-धर्म के निन्दक प्राणी अपात्र एव कुपात्र हैं, वे दान के योग्य पात्र नही हैं।

दान लेने का अधिकारी कैसा हो?

मोटे तौर पर प्रत्येक दाता को अपने दान को सफल बनाने के लिए पात्रापात्र का विचार तो करना ही चाहिए। बौद्ध धर्मशास्त्र 'सयुत्तनिकाय' के इस्सत्थसूत्र (३/३/४) मे एक सवाद इस सम्बन्ध मे मिलता है। तथागत बुद्ध से कौशलराज प्रसेनजित् ने श्रावस्ती मे पूछा—'भते ! किसे दान देना चाहिए?'

बुद्ध—'राजन् ! जिसके मन मे श्रद्धा हो।'

प्रसेनजित—'भते ! किसको दान देने से महाफल होता है?'

बुद्ध—'राजन्! शीलवान को दिये गए दान का महाफल होता है।'

इस सवाद पर से यह फलित होता है कि योग्य पात्र को दान देने से महाफल की प्राप्ति होती है।

महाभारत मे भी युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे बताया गया है कि—'हे युधिष्ठिर! जो व्यक्ति अयाचक (भिखारी नही) हैं, उत्तम आचरण-युक्त हैं, व्रत आदि से दीक्षित हैं, तपस्वी हैं, अहिंसक हैं, परिग्रहत्यागी हैं, उन व्यक्तियो को तुम (दान देकर) पोषण करो। तथा जो अपने पास द्रव्य नही रखते, योग्य हैं, दीक्षित, हैं, तपस्वी हैं, ब्रह्मचारी हैं, भिक्षाजीवी हैं, उनका तू पोषण कर। किन्तु जो व्रतादि दीक्षा से रहित है, परिग्रहधारी होते हुए भी जो विप्र भिक्षा करके खाता है, नि सन्देह वह अपने आप को नरक मे ले जाता है, साथ ही दाता को भी ले जाता है।

अतिथि के रूप मे पात्र की व्याख्या करते हुए धर्मसर्वस्वाधिकार मे कहा है—'जो महानुभाव तप, शील (सदाचार) और समता से युक्त हैं, दृढ ब्रह्मचर्यधारी हैं, निर्लोभी, नि स्पृह और ममत्वरहित है, उसे अतिथि जानो। जो श्रृ गार की दृष्टि से स्नान और भोगविलास से दूर है, अपनी पूजा के प्रति निरपेक्ष है, आभूषण से रहित है, उग्रतपस्वी है, शम (शान्ति) से युक्त है, उसे अतिथि (सुपात्र) समझो। जिसे सोने, रत्नराशि, धन और धान्य का जरा भी लोभ नही है, उसे भी अतिथि (सुपात्र) समझना चाहिए। ऐसा अतिथि ही दान का सच्चा अधिकारी है।

पहले कहे अनुसार सुपात्रदान के अधिकारी तो केवल साधु-साध्वी ही होते हैं। किन्तु—जो व्रतबद्ध-समाजसेवक या सद्गृहस्थ भाई-बहन होते हैं, वे भी सुपात्र दानपात्र हैं। इसके अतिरिक्त जो व्रत से रहित हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि हैं, वे भी दानपात्र हैं। कई लोग सुपात्रदान के योग्य उन्हे ही समझते है, जिन पर अपने धर्मसम्प्रदाय, पथ, जाति, कौम अथवा अपने प्रान्त या राष्ट्र का लेबल चिपका हो। स्वार्थ या स्वत्वमोह से घिरे ऐसे लोग अपने माने हुए सम्प्रदायपथादि के लोगो को या उन्ही सस्थाओ को दान देने मे धर्म या पुण्य बताते हैं, उन्हे ही पुण्य बताते हैं। उनके अतिरिक्त धर्म-सम्प्रदाय, पथ, जाति, प्रान्त, राष्ट्र आदि का कोई कितना ही अच्छा, उत्तम गुणी व्यक्ति हो, उसे, या उसकी सस्था को देने मे धर्म या पुण्य नही मानते, उन्हे देने से हिचकिचाते हैं। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। सुपात्रदान में सम्प्रदाय, पथ, जाति, कौम या प्रान्त की दीवारें नही खीचनी चाहिए। अन्यथा, वह दान भी सुपात्रदान न रहकर स्वसम्प्रदाय आदि सकीर्णपात्रयुक्त बन जाएगा।

कई लोग इस भ्रान्ति के भी शिकार हैं कि साधु-साध्वी वर्ग के सिवाय और उसमे भी हमारे पथ, मत या सम्प्रदाय के, हमारे माने हुए तथाकथित साधु वर्ग के सिवाय अन्य सब कुपात्र हैं, और गृहस्थ तो कोई सुपात्र हो ही नही सकता। परन्तु यह भी सम्प्रदाय मोह के नशे का परिणाम है। ऐसी सकीर्णवृत्ति के लोग अपने हृदय की अनुदारता पर धर्म-सम्प्रदाय के वचनो का मुलम्मा चढाकर अपने ही साधु वर्ग

को सुपात्र ठहराकर उन्हे ही पोसने को सुपात्रदान मानते या कहा करते हैं, परन्तु तीर्थंकरो की दृष्टि ऐसी सकीर्ण नही थी। उन्होने कही भी ऐसी सकीर्णवृत्ति का विधान नही किया है। तीर्थंकरो की ऐसी सकीर्ण दृष्टि होती तो तीर्थंकर बनने से पूर्व एक वर्ष तक स्वय अपने हाथो से उनके माने हुए तथाकथित सकीर्ण दायरे के गृहस्थ वर्ग के अतिरिक्त समस्त सुयोग्य पात्रो (गृहस्थो) को दान कैसे देते ? वे दान देते समय ही कह देते—'गृहस्थ तो कुपात्र है, जहर का कटोरा है, इसे दान देना मेरे लिए हितकर नही है।" सभी गृहस्थो को एकान्त असयती और अव्रती मानना और कुपात्र सिद्ध करना भी दिगम्बर एव श्वेताम्बर सभी शास्त्रो से विरुद्ध है, भगवद्-व्यवहार से भी सगत नही है। क्योकि जो गृहस्थ, व्रती या सम्यक्त्वी है, उसे सूत्रकृतागसूत्र मे 'आर्यस्थान' कहा है। उसे शास्त्रो मे एकान्त असयती, अव्रती नही कहकर सयमासयमी, व्रताव्रती, विरताविरती, देशचारित्री, सम्यकत्वी आदि कहा है, तब फिर वह एकान्त असयमी, अव्रती, कुपात्र या अपात्र कैसे हो सकता है ? जबकि जैनाचार्यों एव जैनशास्त्रो के मन्तव्य के अनुसार व्रती श्रावक (व्रतबद्ध सद्गृहस्थ साधक) को मध्यम सुपात्र और अविरतिसम्यग्दृष्टि श्रावक को जघन्यसुपात्र कोटि मे परिगणित किया गया है।

इतने शास्त्रीय प्रमाणो और आचार्यों के चिन्तन के अनुसार पात्र, सुपात्र, कुपात्र और अपात्र का स्पष्ट निर्णय होने के बावजूद भी कोई योग्य पात्र को या सुपात्र को अपनी सकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण कुपात्र या अपात्र ठहराकर योग्य पात्र या सुपात्र को दान न दे या दान का निषेध करे और उसके बदले अपात्र को देने के लिए उत्साहित हो, वहाँ साम्प्रदायिक व्यामोह ही समझना चाहिए। विदुर-नीति मे इसे न्यायार्जित धन व्यय-सम्बन्धी व्यतिक्रम (वैपरीत्य) बताया गया है—

> न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोधव्यौ द्वावतिक्रमौ।
> अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम्॥ १।६४

—न्याय से उपार्जित धन के व्यय सम्बन्धी ये दो अतिक्रम हैं, अर्थात् दुरुपयोग हैं—अपात्र को देना और पात्र को न देना।

एक बात और भी है कि जो सप्रदायवादी आज तक अपने साधु के (अपनी सम्प्रदाय के तथा वह भी अपने आचार्य की निश्रायवर्ती) सिवाय सभी को कुपात्र मानते आये हैं और कुपात्र को दान देने मे एकान्त पाप की स्थापना करते आये हैं वे भी आज अपनी सस्थाओ, जोकि गृहस्थो के द्वारा सचालित हैं उनको लाखो रुपयो का दान करवाते हैं। अगर एकान्त पाप है तो फिर वे अपने श्रावको को पैसा भी खर्च करते हैं और बदले मे जहर का टुकडा देते हैं—यह दुहरी मार क्यो मारते है ? इससे यह ध्वनित होता है कि भले ही वे साम्प्रदायिक व्यामोहवश आज तक पाप आये हो, लेकिन अब अपनी मान्यताओ मे, मिथ्या धारणाओ मे सुधार कर रहे हैं मानव-मानस विज्ञान के अनुसार अपनी दान मनोवृत्ति का परिष्कार कर रहे हैं

चूंकि पात्र, सुपात्र या अनुकम्पा पात्र ही दान का अधिकारी है, इसलिए पात्र या सुपात्र के लक्षणो मे सकीर्णता बरती जानी उचित नही है। यह बात दूसरी है कि किसी को या अपने माने-जाने सम्प्रदायादि से इतर पात्रो या सुपात्रो को देने की अपनी हैसियत न हो, परन्तु उसको लेकर अपनी मान्यता न बिगाडो, अपनी रुचि या श्रद्धा की ओट मे सिद्धान्त की उस पर मुहर छाप न लगाओ, अन्य धर्मसम्प्रदाय, जाति आदि के सुयोग्य पात्रो या सुपात्रो को सकीर्ण दृष्टि के अनुसार अपात्र या कुपात्र मत ठहराओ।

कुपात्र या अपात्र भी सुपात्र या पात्र हो सकता है

कई व्यक्ति यह कह देते हैं कि कुपात्र या अपात्र सुपात्र या पात्र कदापि नही बन सकता। गधे को कितना ही मल-मलकर नहलाया जाय, वह कभी घोडा नही बन सकता, नीम को कितना ही गुड और घी से सीचा जाय, वह कभी मीठा नही हो सकता, कुत्ते की पूंछ को बारह वर्ष तक तेल लगा-लगाकर सीधी की जाय, वह पुन टेढी की टेढी हो जाती है। मुस्लिम बादशाह अकबर ने जब हिन्दूधर्म अपनाकर मुस्लिम से हिन्दू बनना चाहा तो बीरबल ने इसी कुसस्कारवश कह दिया था कि गधा घोडा नही हो सकता, इसी तरह मुसलमान कभी हिन्दू नही हो सकता। परन्तु भारतीय इतिहास के भी विद्यार्थी या प्राध्यापक से पूछने पर पता लग जाएगा कि भारत मे बहुत-से हिन्दू राजपूत मुस्लिम बने हुए हैं, कई हरिजन या अन्य वर्ण के लोग भी ईसाई, मुस्लिम आदि बने हैं, कई रहीम, रसखान आदि मुस्लिम कवियो ने हिन्दू अवतारो की स्तुति, भक्ति की है। कई मुस्लिम भी हिन्दू बने हैं। गधे का घोडा बनना तो योनि परिवर्तन है, नीम भी मीठा हो सकता है, बशर्ते कि उसके अमुक पर्यायों को पलटा जाय। सुबुद्धिप्रधान ने एक खाई का गन्दे, सडे हुए पानी को शुद्धिकारक द्रव्य डालकर सुगन्धित और पेय जल बना दिया था। आज भी खराब पानी को फिल्टर करके पेयजल के रूप मे परिवर्तित किया जाता है। हिन्दू का मुसलमान बनना या मुस्लिम का हिन्दू बनना कोई योनिपरिवर्तन नही है, वह तो प्रकृति-परिवर्तन है। प्रकृति-परिवर्तन होना कोई असम्भव नही है, असाध्य नही है, दु साध्य या दुष्कर अवश्य है। इसी प्रकार कुपात्र या अपात्र का सुपात्र या पात्र बन जाना असम्भव अथवा असाध्य नही है, दु साध्य या दुष्कर हो सकता है।

उदाहरण के तौर पर—आज एक व्यक्ति चोर या डाकू है, बहुत ही खूंख्वार व हत्यारा है, लेकिन कल को उसे किसी महात्मा या सत का उपदेश लग गया, या उसे अपने जीवन मे किसी आकस्मिक सकट विपत्ति पर से बोध प्राप्त हो गया, और वह चोर या डाकू से सन्त बन गया। और यह बात नामुमकिन नही है। प्राचीनकाल मे भी चिलातीपुत्र अर्जुनमाली प्रभव आदि ५०० चोर जैसे कई चोर हत्यारे सन्त बन गये थे, रोहिणेय जैसे चोर भी बदल कर सद्गृहस्थ बन गये थे। वर्तमान काल मे भी सन्त विनोबा और सर्वोदय नेता जयप्रकाश बाबू, आदि विशिष्ट व्यक्तियो की प्रेरणा

13

दान और भिक्षा

दान या भिक्षा लेने के पात्र

भारतीय सस्कृति मे दान लेने या भिक्षाग्रहण करने के पात्र के सम्बन्ध मे काफी विचार किया गया है। यहाँ हर व्यक्ति को दान लेने या भिक्षा ग्रहण करने के लिए पात्र नही बताया गया है। बल्कि जो व्यक्ति आरम्भ-परिग्रह से युक्त हो, गृहस्थाश्रम मे हो, सशक्त, अगोपागसहित, सबल और कमाने-खाने लायक हो, उसे दान लेने (मुफ्त मे किसी से लेने) या भिक्षा ग्रहण करने का बिलकुल अधिकार नही दिया गया है। अगर वह भिक्षा माँगता है, हट्टाकट्टा होकर भी किसी से याचना करता है, भिखमगापन करता है, भीख का पेशा अपनाता है, गिडगिडाकर दान लेता है, तो उसे यहाँ निन्दनीय, नीच और घृणा का पात्र माना गया है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो धर्म की धाराओ मे इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि दान लेने या भिक्षा ग्रहण करने का जिसे अधिकार है, वही भिक्षा या दान स्वीकार करे, अन्यथा वह निन्द्य है और भारतीय धर्मों की आचार सहिताओ, या स्मृतियो मे उसे दण्डनीय भी बताया गया है।

इसीलिए जैन, बौद्ध और वैदिक तीन धर्मों मे घरबार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि सर्वस्व का त्याग करके अनगार, मुनि, श्रमण, भिक्षु निर्ग्रन्थ या सन्यासी बने हुए साधक को ही भिक्षा-जीवी बनने और भिक्षा माँगने या दान ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था।

किन्तु एक युग ऐसा आया कि सन्यासियो से पूर्व ऋषि-मुनि जो गृहस्थाश्रमी या वानप्रस्थाश्रमी बन कर रहते थे, जो समाज या शासक के दान पर और कुछ अपनी कृषि, गोपालन या उञ्छवृत्ति अथवा जगल के कद-मूल, फल आदि पर ही निर्वाह कर लेते थे वे दान लेने के अधिकारी थे। लेकिन जब इसप्रकार के वैदिक ऋषि-मुनि भयकर दुष्कालो के कारण नाभ शेष हो गए, उसके बाद चिरकाल तक वैदिक ऋषि-मुनि या सन्यासी वर्ग प्रकाश मे नही आया। वैदिक ऋषि-मुनियो की व्यवस्था को कुछ अशो मे ब्राह्मण सम्भालते रहे। लेकिन वे वानप्रस्थी न रहकर बस्ती मे अन्य गृहस्थाश्रमियो की तरह ही रहने लगे। समाज के हित-चिन्तन के बदले अपने पूजापाठ, पौरोहित्यकर्म, विवाह जन्मादि सस्कार आदि कराने लगे और उसके

बदले मे दान-दक्षिणा आदि लेने लगे। राजाओ, सेठो, धनिको आदि से ही नही, प्रत्येक वर्ण और वर्ग के पीछे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ब्राह्मण वर्ग लगा रहा और बात-बात मे पद-पद पर दान-दक्षिणा, भेंट पूजा से अपना घर भरने लगा। धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्ग मे सन्तोषवृत्ति के बदले लोभवृत्ति प्रविष्ट हो गई। मृत्यु के बाद भी पितृ-तर्पण करने, मृत पूर्वजो या पारिवारिक जनो को सद्गति पहुँचाने और प्रतिवर्ष मृत व्यक्ति के पीछे श्राद्ध करने के नाम पर भोजन और दान-दक्षिणा दोनो लेने लगा। गाय तथा मृतक के पीछे के कर्म के नाम पर अन्य चीजे बटोरने लगा। इस प्रकार रोम मे पोप लोगो द्वारा स्वर्ग की हुडी लिखकर धनिक से प्रचुर धन प्राप्त कर लेने की तरह भारत मे भी मृत स्वजनो के पाप अपने सिर पर ओढ कर ब्राह्मण प्रभूत धन यजमान से लेने लगे।

यही मुफ्त मे धन बटोरने का तरीका ब्राह्मण युग से यज्ञ, पूजापाठ, तर्पण, पर्व, श्राद्ध, विविध सस्कार (जन्म से मरण और मरणोत्तर काल तक) के द्वारा दान-दक्षिणा की प्रणाली चली आ रही है। साथ ही ब्राह्मणो ने अपने लिए भिक्षावृत्ति भी सुरक्षित रखी। इस प्रकार कर्तव्यच्युत, समाज के धर्म और हितो की रक्षा के दायित्व से दूर रह कर ब्राह्मण वर्ग दान और भिक्षा का पात्र न रहते हुए भी दान और भिक्षा पर डटा रहा।

फलत समाज का विवेक लुप्त हो गया, अधिकारी के बदले अनधिकारी दान और भिक्षा के बल पर जीने लगा इसीलिए आद्य शकराचार्य ने सन्यासीपरम्परा कायम करके सिर्फ सन्यासियो को ही भिक्षा लेने का अधिकार बताया। जैनधर्म के तीर्थंकरो और उनके अनुगामी आचार्यों ने तथा बौद्धधर्म के बुद्धो और उनके अनुगामी श्रमणो एव भिक्षुओ ने भिक्षा ग्रहण करने का मुख्य अधिकार उन्ही का बताया, जो घरबार, जमीन-जायदाद या धन सम्पत्ति से मुक्त हो। परन्तु इस नियम मे ब्राह्मणकाल से विकृतियाँ प्रविष्ट हो चुकी थी, आचार्य हरिभद्र के युग मे भी शिथिलाचारी एव अवसरवादी लोग धन एव साधन होते हुए भी भिक्षा का आश्रय ले रहे थे। अत उन्होने उस युग के अनुसार भिक्षा के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार बताए, जिनमे अनधिकारी की भिक्षा को पौरुषघ्नी कह कर सख्त शब्दो मे निन्दा की। देखिए उनके उद्गार—

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राद्या, सर्वसपत्करी मता।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तयान्तिमा॥

—भिक्षा तीन प्रकार की होती है—'प्रथम सर्वसपत्करी भिक्षा मानी गई है, दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी होती है, और तीसरी है—वृत्ति भिक्षा।

सर्वसम्पत्करी भिक्षा वह है, जो साधु-सन्यासियो और त्यागियो द्वारा एव निरपेक्षभाव से यथालाभ-सतोषवृत्ति से की जाती है। इसे अमीरी एव भिक्षा कह सकते हैं।

पौरुषघ्नी भिक्षा वह है, जो हट्टे-कट्टे, धन-धान्य सम्पन्न, सशक्त, अगोपागयुक्त कमाने-खाने की शक्ति वाले तथाकथित लोगो द्वारा केवल कुल-परम्परा के नाम पर की जाती है। ऐसी भिक्षा भिक्षाकर्ता के पुरुषार्थ का हनन करने वाली होने से पौरुषघ्नी बताई है। वृत्तिभिक्षा वह है—जो अन्धे, लूले, लॅगडे, अगविकल, अशक्त, असहाय, असाध्य रोगग्रस्त अतिनिर्धन दयनीय लोगो द्वारा की जाती है। क्योकि ऐसे लोग जो किसी भी तरह से कमाने-खाने लायक नही रहते, समाज की दया पर जीते हैं। इनमे भी जिनके परिवार मे कोई पालन-पोषण करने वाला नही रहता, जो एकाकी और असहाय हैं, वे ही ऐसी भिक्षा पर जीते हैं। जिनका वस चलता है, वे ऐसी भिक्षा पर जीना नही चाहते।

वास्तव मे भिक्षावृत्ति बहुत ही पवित्र और निर्दोष जीवन प्रणाली है। और इसका अधिकार सिर्फ त्यागियो और अकिंचन भिक्षुओ के लिए ही था। त्यागी श्रमणो, सन्यासियो और भिक्षुओ ने भिक्षावृत्ति के साथ कुछ ऐसी आचारसहिता जोड दी, जिससे त्यागियो की भिक्षा किसी के लिए बोझरूप न रहे, गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपनी रोटी मे से थोडा-सा अश भावना और श्रद्धापूर्वक दे सके। यो तो भिक्षा की आचार सहिता बहुत लम्बी है, किन्तु भिक्षा के कुछ प्रमुख नियम ये हैं, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि सर्वसपत्करी भिक्षा न किसी पर बोझरूप है और न ही किसी के लिए अश्रद्धा भाजन—

(१) साधुओ की भिक्षावृत्ति पाप-रहित कही है।[1]

(२) निरवद्य एव निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना सुदुष्कर है।[2]

(३) अकल्पनीय, अनैषणीय वस्तु न ले, कल्पनीय एषणीय ही ले।[3]

(४) भगवान् महावीर ने श्रमणो निर्ग्रन्थो के लिए नवकोटि विशुद्ध भिक्षा कही है।[4]

(५) ऊँच, नीच, मध्यम सभी कुलो मे भिक्षाटन करते हुए विचरे।[5]

---

१ अहो! जिणेहिं असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया। —दश० ५।१।९२

२ अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्कर। —उत्त० १९।२७

३ अकप्पिय न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिय। —दश० ५।१।२७

४ समणेण भगवया महावीरेण, समणाण निग्गथाण नवकोडीपरिसुद्धेभिक्खे पण्णत्ते, तजहा—न हणइ, न हणावेइ, हणत नाणुजाणइ। न पयइ, न पयावेइ, पयत नाणुजाणइ। न किणइ, न किणावेइ, किणत नाणुजाणइ। —स्थानाग ९/६८१

५ (क) उच्चनीय मज्झिम कुलेसु अडमाणे .. —अन्तकृद्दशाग सूत्र व ६ अ १५

(ख) आण्णादमणुण्णाद भिक्ख णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घनयत्तिहिं हिंडति य मोणेण मुणी समादिति॥४७॥
—मूलाचार अनगारभावनाधिकार

(६) साधु अदीन होकर सिंहवृत्ति से वस्तुओ की गवेषणा करे।[६]

(७) भिक्षा मे ईष्टवस्तु मिलने पर गर्व न करे न मिलने पर शोक न करे।[७]

(८) आहार कम मिलने या न मिलने पर खेद न करे।[८]

(९) औद्देशिक आदि ४२ दोषो से रहित निर्दोष भिक्षा ग्रहण करे।[९]

(१०) प्रतिदिन एक ही घर से भिक्षा न ले और न ही दिन मे बार-बार उसी घर मे भिक्षा के लिए जाए, तथा न ही एक घर से ही सारा का सारा आहार ले।

(११) साधु एक ही ग्राम, नगर या कस्बे मे रहकर ग्रामपिंडोलक, नगर-पिंडोलक न बने।

(१२) किसी को भी कष्ट न हो किसी जीव को क्लेश न हो, इस प्रकार का विवेक करते हुए ही भिक्षा ग्रहण करे।

भिक्षा की उपर्युक्त आचारसहिता को देखते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि त्यागी श्रमणो, सन्यासियो एव भिक्षुओ की भिक्षा किसी के लिए भी कष्टकारक नही है, न बोझरूप ही है। इसीलिए इसे माधुकरी[१०] एव गोचरी भी कहते हैं।

इसलिए भारतीय सस्कृति के सूत्रो के अनुसार सर्वसपत्करी भिक्षा ही उपादेय है, वृत्तिभिक्षा को भिक्षा न कहकर समाज के द्वारा दयनीय व्यक्तियो का निर्वाह या पोषण कहना चाहिए। और पौरुषघ्नी भिक्षा तो स्पष्टत आलसियो की फौज बढाने वाली है, जो न तो समाज के लिए कोई उपयोगी सेवा या श्रम करते हैं और न ही समाज के सामने उत्तम मनुष्य-जीवन का कोई आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जबकि सर्वसम्पत्करी भिक्षा के अधिकारी अपना जीवन भी महाव्रती बनकर उच्च-चारित्रवान् के रूप मे बिताते हैं, और मानव जीवन का एक उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करते हैं। साथ ही वे समाज से कम से कम लेते हैं, वह भी उपकृत भाव से और बदले मे समाज को अधिक से अधिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्रेरणा देते हैं, वास्तविक सुख-शान्ति का राजमार्ग बताते हैं।

---

६ (क) अदीणमणसोविति भिक्खू दत्तेसण चरे। —उत्तरा० २
(ख) अदीणो वित्तिमेसिज्जा। —दश० ५।२।२६

७ (क) अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्। —मनुस्मृति ६।५७
(ख) लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोएज्जा। आचा० २।११४-११५

८ लद्धे पिंडे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज पडिए। —उत्तरा० २।३०

९ पिंडनिर्युक्ति गाथा ४०८-४०९ प्रवचन सारोद्धार गाथा० ५६७ से ५२० तक।

१० जैसे भौंरा अनेक फूलो पर जाकर थोडा-थोडा रस सबसे ले लेता है, जिससे फूलो की भी कोई हानि नही होती और भ्रमर का भी निर्वाह हो जाता है, यही माधकरी का तात्पर्य है।

संत विनोबाजी ने मनुष्य के जीवन निर्वाह के विश्व मे प्रचलित तीन प्रकार बताये हैं—भिक्षा, पेशा और चोरी।

भिक्षा का अर्थ है—समाज की अधिक से अधिक सेवा करके समाज से केवल शरीरयात्रा चलाने के लिए कम से कम लेना और वह भी लाचारीवश तथा उपकृत भाव से।

पेशा का अर्थ है—समाज की कोई विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला माँग लेना। पेशे मे व्यक्ति उतना ही लेता है, जितनी मेहनत करता है। इससे अधिक कोई देना चाहे और अनुचित काम कराना चाहे तो वह इन्कार कर देता है। एक उदाहरण लीजिए—अहमदाबाद मे हरिलाल सीतलवाड एक उच्च सरकारी अधिकारी थे। एक दिन एक भाई अपने फायदे के लिए उनसे अनुचित कार्य कराने हेतु उनके पास आया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद वह बोला—'आप सरकारी अधिकारी हैं। मेरे लाभ के लिए अगर आप इतना-सा काम कर देंगे तो मैं आपका एहसान कभी नही भूलूंगा। उसके बदले मे मैं आपको गाडी भर रुपये भी दूंगा, जो साथ मे लाया हूँ।' हरिलाल बोले—'भाई! मुझसे यह काम नही होगा। जिसकी बात सच्ची होगी, मैं तो उसी के पक्ष मे कहूँगा। अत तुम अपने रुपये वापिस ले जाओ। मुझे कतई नही चाहिए, ये रुपये।' वह व्यक्ति फिर आग्रहपूर्वक कहने लगा—'साहब! समझ जाइए। ये रुपये कोई थोडे-से नही, गाडी भर रुपये हैं। ऐसा लाभ मुफ्त मे न जाने दें।' भले ही ऐसी २५ गाडी भरकर रुपये ले आएँ, मुझे रिश्वत लेकर अप्रामाणिक काम नही करना है। मुझे हराम की कमाई नही चाहिए।' इस पर आवेश मे आकर आगन्तुक बोला—'अच्छा, तब याद रखना, इतनी बडी अर्थ राशि देने वाला आपको और कोई नही मिलेगा।' हरिलाल शान्त स्वर मे बोले—'इतनी रकम देने वाला तो फिर भी कोई मिल सकता है, पर इसे लेने से इन्कार करने वाला मिलना मुश्किल है।

सचमुच प्रामाणिकता से पेशा करने वाला इस प्रकार का अनैतिक द्रव्य नही ले सकता। न इस प्रकार के द्रव्य के ग्रहण को दान लेना कहा जा सकता है।

चोरी का अर्थ है—समाज की कम से कम सेवा करके अथवा सेवा करने का ढोल दिखाकर या बिलकुल सेवा किए बिना और किसी समय तो समाज की प्रत्यक्ष हानि करके भी समाज से अधिक से अधिक भोग विलास के साधन ले लेना। यह तो निर्विवाद है कि भिक्षा का अधिकार अनधिकृत लोगो ने जबरन लेकर धाधली मचा रखी है। यही कारण है कि भारत मे ऐसे निठल्ले, समाज के लिए निकम्मे तथा समाज मे दुर्व्यसन फैलाने वाले लगभग ७० लाख लोगो की फौज खडी हो गई है। इनमे कुछ योग्य एव सच्चे माने मे भिक्षा के अधिकारी भी होंगे, परन्तु हकीकत यह है कि अधिकाशत, भिक्षा के अनधिकारी भिक्षाजीवी बन गए। इसी कारण भिक्षा भी बदनाम और भारभूत बन गई।

इसीलिए सदाचारपरायण मर्यादाशील सद्गृहस्थ भूखा रह लेगा, किन्तु किसी से भिक्षा नही मागेगा। भारतीय सस्कृति की मर्यादा उसके रग-रग मे भरी होती है। भिक्षा भी एक प्रकार का दान लेना है, इसलिए इस सन्दर्भ मे हमने इसकी चर्चा कर दी।

अब आइये, दान के अधिकारी की चर्चा पर। दान लेने के पूर्ण अधिकारी तो पूर्णत्यागी सन्त, साधु-सन्यासी ही हैं, इन पूर्वोक्त भारतीय सस्कृति के सुसस्कारो के कारण सहसा कोई भी सद्गृहस्थ दान लेना अच्छा नही समझता। उच्चकुल के व्यक्ति 'प्रदान प्रच्छन्नम्' चुपचाप दान देने के सस्कार से ओत-प्रोत होने के कारण दान लेना भी नही चाहता। यही कारण है कि कोई भी कुलीन सद्गृहस्थ किसी भी चीज को मुफ्त मे लेना नही चाहता। दान मे लेने का अर्थ ही मुफ्त मे लेना है। इसी कारण कुछ विद्वान् और विवेकी ब्राह्मण भी दान लेना ठीक नही समझते थे। इसलिये वे दान मे प्राप्त होने वाली रकम लेने से इन्कार देते हैं।

एक गाँव मे एक निःस्पृही पण्डित थे। आसपास के गाँव मे कही भी शास्त्र-सम्बन्धी कोई शका होती तो लोग उनके पास आकर समाधान कर लेते, किन्तु वह महापण्डित बडे दरिद्र थे। उन्हे एक टाइम खाने को मिलता और एक टाइम निराहार रहना पडता। उनकी यह हालत देखकर गाँव के प्रमुख व्यक्ति ने राजा से कहा—"महाराज! आपके शासन मे वैसे तो प्रजा सुखी है, प्रसन्न है, लेकिन हमारे गाव मे एक महापण्डित हैं, उन्हे एक जून खाने को मिलता है, एक जून फाका ही करना पडता है। आपके लिए यह कलक की बात होगी कि आपके राज्य मे एक विद्वान भूखा रहे।" राजा ने प्रमुख व्यक्ति की बातें सुनकर शीघ्र स्वर्णमुद्राओ की थैली अपने सिपाहियो को उक्त महापण्डित को दे आने का आदेश दिया। सिपाही महापण्डित के घर पहुँचे और निवेदन किया—"पण्डित जी, राजाजी ने आपकी विद्वत्ता और अभाव पीडा को देखकर आपके लिए यह थैली उपहार मे भेजी है, आप इसे स्वीकार कीजिए।" महापण्डित बोले—मैंने राजा का कृपापात्र बनने का कोई कार्य नही किया, इसलिए यह उपहार आप राजा को ही वापिस दे दीजिए।" सिपाही उस उपहार को लेकर वापिस लौट आए। पण्डितानी यह सब सुन रही थी। उसने उपालम्भ के स्वर मे पण्डित जी से कहा—"आपने ऐसा क्यो किया? आए हुए धन को यों ठुकराना उचित था?" महापण्डित—"राजा ने किसी से मेरी प्रशसा सुनकर यह उपहार भेजा है, कल को किसी ने उसके सामने मेरी निन्दा कर दी तो वह मेरा सिर भी कटवा सकता है, क्योंकि वह राजा है। उसके रुष्ट और तुष्ट होते देर नहीं लगती। दया और क्रोध दोनो उसमे समान रूप से रहते हैं।" महापण्डित की विवेकपूर्ण बात सुनकर पण्डितानी समझ गयी। उसने कहा—"हमे राजा की दी हुई मुफ्त की चीज न रखना ही ठीक था। आपने उपहार लौटा कर अच्छा किया। हमारे जब हाथ पैर चलते हैं तो हम क्यो किसी से दान लें?" पण्डित जी ने उसकी बात का समर्थन किया।

यह है, विद्वान् ब्राह्मण का दान लेने से इन्कार का ज्वलन्त उदाहरण। यह उदाहरण हमारे सामने भारतीय सस्कृति का स्पष्ट आदर्श प्रस्तुत करता है कि किसी का कार्य किये बिना कोई भी चीज मुफ्त मे या दान मे न लो। इसी प्रकार जो व्यक्ति स्वावलम्बी और सशक्त व पुरुषार्थी हैं, वे भी किसी से दान लेना परावलम्बन समझते हैं। वे लोग किसी से दान लेकर परावलम्बी बनना नही चाहते।

हातिमताई ने एक बार प्रीतिभोज दिया। उसमे सारा गाँव भोजन करने आया, पर एक लकडहारा नही आया। शाम को जब लकडहारा हातिमताई से मिला तो उन्होने पूछा—"भाई! आज सारा गाँव मेरे यहाँ भोजन करने आया था, लेकिन तुम नही आये, इसका क्या कारण है ?" लकडहारे ने कहा—"जिसकी भुजाएँ सही सलामत हैं, वह हातिमताई के यहाँ क्यो जाये ?" एक दिन हातिम से किसी ने पूछा— 'इस गाँव मे श्रेष्ठ दाता कौन है ?" उत्तर मिला—लकडहारा, क्योकि उसे अपने लिए दूसरो के सामने हाथ पसारना नही पडता। अत वही श्रेष्ठ दाता और स्वावलम्बी है। वह किसी को लूटता नही तो किसी से स्पृहा भी नही रखता।"

यह है—स्वावलम्बी एव सशक्त व्यक्ति का किसी से दान न लेने का आदर्श! एक स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बुढिया लन्दन के एक उपनगर मे पार्सलो का बोझ उठाये घूम रही थी और मुश्किल से रास्ता काट रही थी। सम्राट् सप्तम एडवर्ड उसकी यह दशा देखकर दयार्द्र हो उठे। उन्होने पास जाकर कहा—"माँजी! तुम्हारी उम्र इस लायक नही कि तुम इतना बोझ उठाकर चल सको, फिर इतना कष्ट क्यो उठाती हो ?" बुढिया ने उत्तर दिया—"मेरा पुत्र पार्सल पहुँचाने का काम करता था। अचानक उसकी मृत्यु हो गई। उसका कार्य मुझे करना पड रहा है। मुझे अपने पौत्र का भरणपोषण करना है, इसलिए मैंने सकल्प किया है कि मैं ही उसका भरणपोषण पूर्ववत् करती रहूँगी।" "माँ! तुम अपने पौत्र को अनाथालय मे भर्ती क्यो नही करा देती ?"—सम्राट् ने पूछा! बुढिया—"अनाथालय मे वे ही बच्चे भर्ती किये जाते है, जो वास्तव मे अनाथ हो। मेरा पौत्र अनाथ नही है। मेरे हाथ-पाँव अभी काम देते है। मैं उसे अनाथ बनाना नही चाहती, इसीलिए स्वय श्रम से उसका भरणपोषण करती हूँ।" सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ। ऐसी सस्कारी बुढियाएँ ही बच्चो मे मुफ्त मे न लेने और स्वावलम्बनपूर्वक जीने के सस्कार डाल सकती हैं।

जो स्वाभिमानी एव स्वावलम्बी होते हैं, वे कष्ट मे अपना जीवन गुजार देते हैं, लेकिन किसी से दान नही लेते, बल्कि वे दूसरो से मुफ्त मे न माँगने की प्रेरणा देते हैं।

महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रणेता थे। वे खेतो मे वैसे ही पडे हुए अन्न-कणो को बीनकर उनसे गुजारा चलाते। एक बार राजा को यह मालूम पडा कि मेरे राज्य मे एक विद्वान् ऋषि कण बीन कर गुजारा चलाता है तो उसने अपने कर्म-

चारियो को बहुत-सा धन देकर कणाद के पास भेजा । नि स्पृह ऋषि ने कहा—"तुम्हारे राजा का भेजा हुआ धन किसी गरीब को दे दो । मुझे उनका धन नही चाहिए ।" कर्मचारी सुनकर चकित हो उठे । उन्होने जाकर राजा से कहा । राजा ने पहले से दुगुना धन देकर कर्मचारियो को भेजा, लेकिन इस बार भी उन्होंने ठुकरा दिया । तीसरी बार चौगुना धन व शाल-दुशाले लेकर राजा स्वय आया । नि स्पृह कणाद ने पुन कहा—"यह किसी कगाल को दे दो, राजन् ।" राजा ने हाथ जोडकर कहा—"महाराज ! अपराध क्षमा करे । आप से बढकर और कगाल कौन होगा ?"... "महात्मा ने तर्क न करके वही वाक्य दोहराया । लाचार होकर राजा महल की ओर चल दिया । रात को जब रानी से यह वृत्तान्त सुनाया तो समझदार रानी ने पति को उपालम्भ दिया—"आपने द्रव्य ले जाकर बडी भूल की । आपको ऋषि से कोई रसायन विद्या सीखनी चाहिए थी, जिससे गरीबो का भला होता । आप अभी जाइए ।" राजा आधी रात को ही कणाद ऋषि की झोपडी मे पहुँचे । राजा ने ऋषि से अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की । और फिर उसने ऋषि से रसायन विद्या देने के लिए कहा । ऋषि ने कहा—"राजन् ! मैं तेरे घर दिन मे भी कभी माँगने नही गया, परन्तु तू मेरी कुटिया पर आधी रात को भीख माँगने आया है । बता कगाल कौन है ? तू या मैं ?" राजा ने ऋषि से क्षमा माँगी । ऋषि ने राजा के मस्तक पर हाथ रखकर ऐसी ब्रह्मविद्या सिखाई, जो नर को नारायण बना दें ।

इसी प्रकार के और भी कई तेजस्वी विद्वान् ब्राह्मण हुए हैं, जिन्होने कभी दूसरो के सामने हाथ नही फैलाया, राजा सामने चलाकर आया तो भी उन्होने स्पष्ट इन्कार कर दिया दान लेने से ।

सस्कृत के प्रखरपण्डित कैयर की विद्वत्ता और उनकी खराब आर्थिक स्थिति देखकर तत्कालीन काश्मीर नरेश ने स्वय उनकी सेवा मे उपस्थित होकर निवेदन किया—"महाराज ! आप विद्वान हैं और आप जानते है कि जिस राजा के राज्य मे विद्वान् ब्राह्मण कष्ट मे रहे, वह पापभागी होता है । अत आप मुझ पर कृपा करें ।" कैयरजी ने कमण्डलु उठाया और चटाई समेट कर बगल मे दबाते हुए पत्नी से कहा—"चलो और कही चलें । हम यहाँ रहते हैं, इससे राजा को पाप लगता है । तुम ये मेरी पुस्तकें उठा लो ।" महाराजा ने उनके चरणो मे पडकर कहा—'मेरे अपराध के लिए मुझे क्षमा कीजिए ।' मै तो सिर्फ मुझसे कोई सेवा हो सके तो करने की अपेक्षा से आपको निवेदन करने आया था । "तुम सेवा करना चाहते हो न ! सबसे बडी सेवा यह होगी कि अब कभी मेरे पास न आना और न कभी अपने किसी कर्मचारी को भेजना । मुझे किसी वस्तु की जरूरत नही है । मेरे अध्ययन मे विक्षेप न पडे, यही मेरी सबसे बडी सेवा होगी ।"

तात्पर्य यह है कि स्वाभिमानी, स्वावलम्बनजीवी एव सशक्त व्यक्ति दान की कभी अपेक्षा नही रखते, वे मुफ्त मे किसी से लेने मे हिचकिचाते हैं । ...

14

विविध कसौटियाँ

पात्र की और दाता की परीक्षा

प्राचीनकाल मे दान के योग्य पात्र अपने दाता की पूरी परीक्षा करने के बाद ही दान लेता था। अगर दाता उसकी कसोटी पर खरा नही उतरता था, तो वह उससे दान लेने से इन्कार कर देता था।

उपनिषद् काल मे कैकय देश मे अश्वपति नाम के राजा थे, जिन्हे प्रजा अपने हृदय मन्दिर का देव समझती थी। वे बडे ही सद्गुणी थे। एक बार उनके यहाँ ऋषियो की एक मडली आ गई। मडली की अगवानी के लिए स्वय अश्वपति नृप पधारे। राजा ने महर्षियो को महल मे पधार कर भोजन करने की प्रार्थना की। परन्तु महर्षियो का राजा के अन्न खाने से इन्कार कर दिया। ऐसे समय मे महाराजा अश्वपति ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा—

"न कुम्भिलो, न कृपणो, न मद्यपो न यज्ञहीनो न बुधतरो जन।
न मेऽस्ति राज्ये व्यभिचारी नर्षय! कुतस्तदा स्त्री व्यभिचारिणी भवेत्?

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपी।
नानाहिताग्निर्नवाऽविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुत॥

—ऋषिवरो! मेरे राज्य मे न तो कोई मोटी तोंद वाला है न कोई कृपण है, न कोई शराबी है और न ही कोई व्यक्ति यज्ञ से रहित है। न कोई मदबुद्धि है। मेरे राज्य मे कोई व्यभिचारी नही हे तो व्यभिचारिणी स्त्री कहाँ से होगी? मेरे जनपद मे कोई चोर नही है, न दुष्ट है, न मद्यपायी है, न कोई ब्राह्मण अनाहिताग्नि है और न ही अविद्वान्। मेरे जनपद मे कोई स्वच्छन्दी पुरुष नही हे तो स्वच्छन्दिनी स्त्री कहाँ से होगी?

जब यह अश्वपति ने कहा तो ऋषियो ने प्रसन्नतापूर्वक राजा के यहाँ भोजन करना स्वीकार किया। कितनी कठोर कसोटी पात्र की ओर से दाता की की गई थी? कई बार पात्र दाता आश्रित या परावलम्बी और पराधीन बन जाने की आशका से दान के रूप मे बडी से बडी चीज लेने से इन्कार कर देता था।

उदयपुर राणा अपने दीवान चम्पालालजी को जागीरी देना चाहते थे, लेकिन

उन्होने यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया कि 'जागीरी ले लेने पर मुझे आपका गुलाम बनकर रहना पडेगा, आपकी हाँ मे हाँ मिलानी पडेगी। फिर मैं आपकी किसी भी गलत बात का विरोध नही कर सकूँगा।'

कई व्यक्तियो की परमात्मा पर इतनी अटल श्रद्धा हो जाती है कि उन्हे फिर कोई बडी से बडी चीज भी राजा आदि देने लगें तो वह नही लेता। एक राजा ने किसी दूसरे राजा का राज्य जबरन छीनकर अपने कब्जे मे कर लिया। कुछ अर्से बाद विजेता राजा ने अपने कर्मचारियो को पता लगाने भेजा कि उक्त राजा का कोई उत्तराधिकारी हो तो मैं उसे जीता हुआ राज्य वापिस देना चाहता हूँ। पर राज-कर्मचारियो ने पता लगाने के बाद राजा से कहा—'महाराज! उस राजा का कोई निकट सम्बन्धी तो है नही। एक दूर का सगोत्री है, जो श्मशान मे रहता है।' राजा ने श्मशान मे रहने वाले उस सगोत्री को बुला लाने को कहा। राजकर्मचारी उसके पास सन्देश लेकर गये, मगर वह नही आया। तब राजा स्वय उसके पास पहुँचा और उसे राज्य ले लेने को कहा। परन्तु उसने राज्य लेने से साफ इन्कार कर दिया। राजा ने बहुत आग्रह किया तब उसने कहा—'मुझे राजगद्दी नही चाहिए।' इस पर राजा ने कहा—'और कुछ मागो।' उसने कहा—'मुझे आपसे कुछ भी मागना नही है।' राजा ने जब बहुत ही अनुरोध किया तो उसने कहा—मुझे तीन चीजें चाहिए, अगर दे सकते हो तो दे दें—

"(१) मुझे ऐसा जीवन चाहिए, जिसे पाने पर फिर मृत्यु न हो।
(२) मुझे ऐसा आनन्द चाहिए, जिसे पाने पर कभी दिलगीर न होना पडे।
(३) मुझे ऐसी अवस्था चाहिए, जिससे कभी बुढापा न आए।"

सुनकर राजा ने कहा—'ये तीनो चीजें देना, मेरी शक्ति से बाहर है। ये सब (कुदरत) के हाथ मे हैं, मैं नही दे सकता।' उसने कहा—इसीलिए तो मैंने ईश्वर का आश्रय लिया है। तब मैं तुम्हारा राज्य लेकर क्या करूँ?'

सचमुच पात्र के द्वारा दाता की परीक्षा की यह मुह बोलती घटना है। इसी-लिए दाता को कई बार कई अग्नि-परीक्षाओ मे से पार होना पडता है।

कई बार दाता जबरन आदाता के पास जाकर दान के रूप मे धन की थैली रख आते या कोई सामान रख आते या अपने आदमी के साथ भेज देते, मगर स्वाभि-मानी एव नि स्पृही व्यक्ति उसे लेने से साफ इन्कार कर देते थे। वे दान की चीज को और उसमे भी धन को लेना बहुत बुरा समझते थे।

एक धनी पुरुष श्रीरामकृष्ण परमहस के पास गये और कहने लगे—'मैं आप को निजी खर्च के लिए एक बडी रकम देना चाहता हूँ। यह लीजिए चैक।' यद्यपि उस धनिक ने अच्छी भावना से यह इच्छा प्रगट की थी। किन्तु परमहस ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—'जी नही, आपसे इतना पैसा लेने के बाद तो मैं उसी की चिन्ता मे फँस जाऊँगा। अत मैं इसे नही चाहता।' धनी ने फिर आग्रह करते हुए

कुछ मांगते हुए सकोच करता है। किन्तु उस समय सद्गृहस्थ कुलीन दाता को बिना मांगे ही किसी बहाने से या सार्धामि-वात्सल्य के नाते ही उसे मदद देना आवश्यक है। ऐसे पात्र को—चाहे वह सुपात्र की कोटि मे हो या अनुकम्पा पात्र की कोटि मे, हाथ से नही जाने देना चाहिए। वास्तव मे मध्यम या जघन्य सुपात्रो मे या अनुकम्पा पात्रो मे ऐसे ही विपन्न व्यक्ति तत्काल दान के अधिकारी हैं। उनको दान देने मे विलम्ब, टालमटूल या बहानेबाजी नही करनी चाहिए। वे यो सीधे दान न लेते हो तो गुप्त दान के रूप मे भी उन्हे देना चाहिए।

याचक और पात्र

कई बार पात्र को मागने वाला याचक और भिखारी समझ लिया जाता है, उसका अपमान भी होता है, कई दाता तो पात्र की कडी कसौटी करते हैं, उसे जली-कटी सुनाते हैं। इसीलिए एक कवि ने याचक के लिए कहा था—"सृष्टिकर्ता ने याचक और मशक (मच्छर) की वृत्ति एक सरीखी बना दी है। प्राय दोनो प्रहार-भागी होते हैं, आहार भागी तो कभी-कभार मौका मिल जाता है तो हो पाते हैं।"[1]

याचक के लिए एक कवि ने व्यग्य कसा है—"तिनका बहुत हल्का होता है, किन्तु तिनके से भी हल्की रुई होती है, मगर रुई से भी हल्का याचक होता है। प्रश्न होता है—जब याचक इतना हल्का होता है तो हवा उसे उडाकर क्यो नही ले जाती ? कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि हवा इस डर से उसे उडाकर नही ले जाती कि मेरे सम्पर्क मे आने पर शायद याचक मुझसे ही याचना करने लगे अथवा मुझे ही माग ले।"[2]

सचमुच याचना करना बडा कठिन काम है। याचना करते समय अपने अहकार को तो एक तरफ रख देना होता है। दाता अगर दो बात कहे भी तो मन मसोस कर उसे सहनी पडती है। बौद्ध धर्म के भिक्षुओ का एक सम्मेलन सिंगालकोट मे हुआ था। तब एक प्रश्न प्रस्तुत किया था—'कौन भिक्षु ऐसा है जो उस विपरीत दृष्टि भिक्षुद्वेषी ब्राह्मण का हृदय-परिवर्तन कर सके ?' यह सुन सब भिक्षु एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। आखिर एक भिक्षु ने इस बात का बीडा उठाया। किन्तु वह लगातार एक दो दिन नही, दस-दस महीने तक प्रतिदिन उस ब्राह्मण के यहाँ जाता और केवल अपनी उपस्थिति प्रगट कर आता। उसे इन १० महीनो मे केवल घृणा और उपेक्षा के सिवाय कुछ नही मिला। आखिरी दिन ब्राह्मणी ने मौन तोडा—'भिक्षु ! यहाँ तुम्हे कुछ नही मिलेगा। पण्डितजी ने मनाही कर रखी है।' सयोगवश

---

१ याचके मशके तुल्यावृत्ति सृष्टिकृता कृता।
प्राय प्रहारभागित्व क्वचिदाहारभागिता॥
तृण लघु तृणात्तूल तूलादपि च याचक।
वायुना किं न नीतोऽसौ, मामय याचयिष्यति॥

सहज मिला सो दूध-बराबर, मांग लिया सो पानी ।
खींच लिया सो रक्त-बराबर, कह गए गोरख बानी ॥

इस दृष्टि से अत्यन्त असहाय, पराश्रित, विपन्न या विकलाग अवस्था के सिवाय सद्गृहस्थ व्रती या सम्यक्त्वी श्रावक या लोकसेवक का अपने लिए मागना उचित नही है । अगर कोई दाता सहजभाव से उनकी स्थिति देखकर अपना कर्तव्य समझकर देता है तो लेने मे कोई हर्ज भी नही है ।

यह तो हुई अपने लिए मागने की बात । समाज सेवा के कार्यों के लिए, सार्वजनिक सस्थाओ के लिए तथा धर्मसस्थाओ के लिए मागना पडता है,—परमार्थ के लिए मागने मे कोई हानि भी नही है। परन्तु उसके लिए भी मागने का एक तरीका होता है । जो तेजस्वी सार्वजनिक सस्थाएँ होती हैं, उनके लिए अगर नि स्पृही व्यक्ति मागता है—या अपील करता है तो दाताओ की थैलियो का मुँह झटपट खुल जाता है । अगर स्वार्थी, अविश्वासी या बेईमान, मुफ्तखोर आदमी मागता है तो लोगो का विश्वास उठ जाता है, कई दफा तो सदा के लिए लोग दान देने से हाथ खीच लेते हैं । इसलिए दानवृत्ति पर चलने वाली सस्थाओ के कार्यकर्ता प्रामाणिक होने चाहिए, जो पाई-पाई का हिसाब जनता के सामने प्रस्तुत कर सके । अन्यथा, वे सस्थाएँ, जिनमे आर्थिक घोटाला होता है, चाहे सार्वजनिक ही क्यो न हो, ठप्प हो जाती हैं । लोग ऐसी सस्थाओ को दान नही देते । ऐसी भ्रष्ट सस्थाओ की बदौलत दूसरी अच्छी ईमानदार सस्थाओ के प्रति भी दाताओ का विश्वास उठ जाता है, उनकी श्रद्धा किसी भी सस्था को दान देने की नही रहती ।

दूसरी बात यह है कि ऐसी सस्थाओ के दान लेने का सही तरीका तो यह है कि सस्थाओ के नि स्वार्थ, नि स्पृह कार्यकर्ता आम सभा मे अपनी सस्था का उद्देश्य और कार्य प्रणाली तथा विशेषता लोगो को समझाएँ और आवश्यकता की बात प्रगट करें । उसके बाद दाताओ से अपील करे, उन्हे कर्तव्य समझाएँ, तब उनमे से जिसकी रुचि, श्रद्धा और भक्ति जगे, जो खुशी से जितना दे, उतना सहर्ष स्वीकार करे, उसकी प्राप्ति की रसीद दे ।

ऐसी सस्थाओ के कार्यकर्ता किसी दाता का रवैया ऐसा देखें कि वह सस्था की या कार्यकर्ता की निन्दा करके, झिडक कर या अपमानित करके देना चाहता है तो उससे न ले । तभी सार्वजनिक सस्थाओ की तेजस्विता और पात्रता रह सकती है । यदि सार्वजनिक सस्थाओ के तेजस्वी कार्यकर्ता ही दाता के सामने दीन वचन कहने लगेंगे, झूठी लल्लोचप्पो करने लगेंगे या गिडगिडाने लगेंगे तो वहाँ न तो उस सस्था की दानपात्रता ही रहेगी, और न ही तेजस्विता । ऐसी सार्वजनिक सस्थाओ पर कीर्ति के भूखे, प्रशसा और प्रसिद्धि के लोलुप कुछ थोडे-से लोग हावी हो सकते हैं । और धीरे-धीरे वे ऐसी सार्वजनिक सस्थाओ को भी साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता या अन्य किसी सकीर्ण दायरे मे बन्द करके मलिन एव दूषित बना सकते

हैं। ऐसी दशा मे सार्वजनिक सस्था की तेजस्विता समाप्त हो जाएगी। इसलिए सार्वजनिक सस्थाओ या धर्मसस्थाओ को इस दूषण से बचाने के लिए अदीनवृत्ति से दान ग्रहण करना चाहिए।

माना कि ऐसी सार्वजनिक सस्थाएँ और धर्मसस्थाएँ दान की पात्र हैं, दान लेने की अधिकारी हैं, और नि स्वार्थी, नि स्पृह व्यक्ति उनके लिए अपील भी कर सकता है, परन्तु जहाँ उनकी तेजस्विता खत्म होती हो या स्वाभिमान मरता हो, वहाँ उन्हे उस दाता से दान नही लेना चाहिए।

बौद्ध धर्म मे धार्मिक क्षेत्र मे जिसे दान देना हो, वह सघ को दान दे, यह मुख्य विधान है। व्यक्ति के बदले वहाँ सघ को मुख्यता दी गई है।

वैशाली के राजा महासमन की पालितपुत्री आम्रपाली यौवन की देहली पर पैर रखते-रखते मगधसम्राट् बिम्बिसार की प्रणयिनी बन गई थी। राजा महासमन की मृत्यु के बाद आम्रपाली के पास सुख-सामग्री, वैभव विलास के साधन होते हुए भी उसे अपना जीवन नीरस लगता था। एक बार वैशाली मे तथागत बुद्ध का पदार्पण हुआ। 'सघं सरण गच्छामि' का नारा सुनते ही आम्रपाली का हृदय आनन्द से नाच उठा। वह महात्मा बुद्ध के चरणो मे पहुँची और अश्रु-अभिषेक करती हुई बोली—"भते ! मेरा उद्धार करें ? मैं अपने आपको आपके चरणो मे समर्पित करती हूँ।" तथागत ने कहा—"बोल, सन्नारी ! तेरी क्या इच्छा है ?" उसने स्वस्थ होकर कहा—"भते ! सघ सहित भिक्षा के लिए कल मुझ गरीबनी के यहाँ आपका पदार्पण हो।" तथागत ने स्वीकार किया और आम्रपाली की श्रद्धा और भक्ति को नया मोड दिया। उसे अपने जीवन को पवित्र बनाने की दीक्षा दी।

इससे मालूम होता है कि व्यक्तिगत दान की अपेक्षा धार्मिक क्षेत्र मे सघ को दान देने का महत्त्व बौद्ध सघ मे अधिक था। जो भी हो, मध्यम और जघन्य सुपात्र जैसे व्रतबद्ध सद्गृहस्थ श्रावक है, वैसे ही जनता या जनसेवको की नीतिमय या व्रतनिष्ठ सार्वजनिक सेवाभावी संस्थाएँ भी दान लेने की अधिकारी हैं। समाज के उदार और सम्पन्न दाताओ को ऐसी सस्थाओ को दान देना चाहिए। ऐसी सस्थाओ को दान देने का मतलब है—उत्तम नीतिमान नागरिक, चारित्रवान व्रतबद्ध धर्मात्मा सद्गृहस्थ तैयार करना, उनका जीवननिर्माण करने मे सहयोग देना, ऐसे व्रतबद्ध लोकसेवको का पोषणा करके उनके सेवा कार्यों को प्रोत्साहन देना।

दानपात्र के चार प्रकार

इससे पूर्व अध्याय मे दाता की विशुद्धि दान के सन्दर्भ मे आवश्यक बताई है, वैसे ही पात्र की विशुद्धि भी आवश्यक है। इस दृष्टि से कही दाता शुद्ध होता है तो दानपात्र इतना शुद्ध नही होता, कही दानपात्र शुद्धता होता है, तो दाता इतना शुद्ध नही होता। कही दोनो ही शुद्ध होते हैं और कही दोनो ही अशुद्ध। अत दाता और दानपात्र की उत्कृष्टता-निकृष्टता की दृष्टि से बौद्ध धर्मशास्त्र मे चार प्रकार प्रस्तुत

नाते) बताकर उसमे सरस भोजन लेने की लालसा नही होती। वह जो भिक्षा पर निर्भर रहता है, वह तो सिर्फ धर्म के साधनभूत देह के पालन एव सयमयात्रा के निर्वाह के लिए ही। मुधाजीवी साधक मे रसलोलुपता, या स्वादिष्ट भोजन पाने की लालसा नही होती और इसीलिए वह गृहस्थो से परिचयादि का ससर्ग न रखकर यथालाभ सन्तुष्ट रहता है। आचार्य जिनदास ने मुधाजीवी की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'जो जाति, कुल आदि के सहारे नही जीता, उसे ही मुधाजीवी कहा जा सकता है,'[1] ऐसा मुधाजीवी नि स्पृहभाव से धर्मोपदेश, धर्मप्रेरणा देता है, अपनी धर्म-साधना करता है और इसी उद्देश्य से भिक्षा लेता है। उसके मन मे यह विकल्प पैदा नही होता कि मैं अमुक लाभ गृहस्थ को बता दूं या अमुक कार्य सिद्ध करा दूं तो बदले मे मेरी सेवा-पूजा अच्छी होगी, सरस स्वादिष्ट भोजन मिलेगा, वस्त्रादि साधन भी प्राप्त होगे। मतलब यह है कि मुधाजीवी नि स्वार्थभाव से किसी भी प्रकार की कामना से रहित होकर सिर्फ कर्तव्यभाव से जीता है, उसी भाव से वह श्रद्धालु गृहस्थो से आहारादि ग्रहण करता है।

मुधाजीवी के सम्बन्ध मे दशवैकालिक सूत्र की टीका मे एक सुन्दर दृष्टान्त आया है—

एक राजा था। एक दिन उसके मन मे धर्म के सम्बन्ध मे जिज्ञासा पैदा हुई कि 'कौन-सा धर्म श्रेष्ठ है?' उसने अपने मन्त्री से यही प्रश्न किया तो तटस्थ द्रष्टा मन्त्री ने निवेदन किया—'महाराज! वैसे तो प्रत्येक धर्मगुरु अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ और मोक्ष का साधन बताते हैं, किन्तु हमे इसकी परीक्षा करके देखना चाहिए। धर्म की पहिचान धर्मगुरु पर से होती है। जो धर्मगुरु नि स्पृह, निष्काम एव दुनियादारी से दूर, एव अनासक्त होगा, वही उत्तम होगा और उसका बताया हुआ धर्म सच्चा तथा उत्कृष्ट होगा।' मन्त्री की बात राजा के गले उतर गई। उसने धर्मगुरुओ को बुलाने के लिए नगर मे घोषणा करवाई—'राजा सभी धर्मगुरुओ से धर्म सुनना चाहता है और उन्हे मोदक-दान देना चाहता है। अत आज सभी धर्मगुरुओ से राज-सभा मे उपस्थित होने की प्रार्थना है।'[1]

राजा की घोषणा सुनकर बहुत-से धर्मगुरु राजसभा मे पहुंचे। राजा ने दान के इच्छुक उन धर्मगुरुओ से पूछा—'आप लोग अपना जीवन निर्वाह किस तरह से करते हैं?'

उपस्थित भिक्षुओ मे एक भिक्षु बोला—'मैं अपना जीवन-निर्वाह मुख से करता हूं।' दूसरे ने कहा—'मैं पैरो से निर्वाह करता हूं।' तीसरे ने बताया—'मैं हाथो से निर्वाह करता हूं।' और चौथे ने कहा—'मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूं।' सबसे अन्त में एक भिक्षु ने कहा—'मेरा क्या निर्वाह? मैं तो मुधाजीवी हूं।'

---

१ 'मुधाजीवी नाम ज जातिकुलादीहिं आजीवण विसेसेहिं पर न जीवति।'

राजा ने कहा—'आप लोगो के उत्तर से मैं पूरा समझ नही पाया। अतः स्पष्ट करके समझाइए।'

पहले भिक्षु ने कहा—'मैं कथावाचक हूँ। लोगो को कथा सुनाकर उससे निर्वाह करता हूँ।' दूसरे ने स्पष्टीकरण किया—'मैं सन्देशवाहक हूँ। यात्रा करता रहता हूँ। लोगो के सन्देश इधर से उधर पहुँचाकर अपना निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने बताया—'मैं लिपिक (लेखक) हूँ। अत हाथ से ग्रन्थो की प्रतिलिपि करके निर्वाह करता हूँ।' चौथे भिक्षु ने कहा—मैं लोगो को प्रसन्न करके लोकरजन करके उनका अनुग्रह प्राप्त करता हूँ। उसी से मेरा गुजारा चल जाता है। सबसे अन्त मे मुधाजीवी भिक्षु बोला—'मैं ससार से विरक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु हू। मुझे जीवन निर्वाह की क्या चिन्ता? नि स्वार्थ बुद्धि से लोगो को उपदेश सुनाता हूँ और सयम निर्वाह के लिए थोडा-सा आहार शुद्ध रीति से लेता हूँ। मैं भोजन पाने के लिए किसी की स्तुति-प्रशसा नही करता, न अपनी जाति-कुल आदि बताकर लेता हूँ, और न ही किसी प्रकार लोकरजन करता हूँ। कर्तव्य के नाते जो हितकर प्रेरणा या उपदेश होता है, उसे सुनाता हूँ। अत मैं मुधाजीवी हूँ।'

मुधाजीवी भिक्षु का कथन सुनकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने सिर झुकाकर नमस्कार किया और कहा—'वास्तव मे सच्चे धर्मगुरु आप ही हैं। मुझे धर्म का बोध दीजिए।' मुनि ने राजा को धर्म का उपदेश दिया। राजा प्रतिबुद्ध होकर उनका शिष्य बन गया।

वस्तुत मुधाजीवी—निस्वार्थ भाव से लोगो का कल्याण करके भिक्षा प्राप्त करने वाला भिक्षु—ही आदर्श दानपात्र होता है। ऐसे मुधाजीवी भिक्षु की दुर्लभता बताते हुए ही आगम मे कहा है—मुधादायी (किसी प्रकार के प्रतिफल की इच्छा के बिना नि स्वार्थभाव से योग्य पात्र को देने वाला) तथा मुधाजीवी निष्कामभाव से दान प्राप्त करके जीने वाला) दोनो ससार मे दुर्लभ हैं। ऐसे मुधादायी और मुधाजीवी दोनो ही सद्गति मे जाते हैं।[1]

इस प्रकार के मुधाजीवी सुपात्र भिक्षु सिर्फ अपने शरीर को निभाने के लिए थोडा सा आहार, सादे अल्प वस्त्र एव कुछ पात्रादि धर्मोपकरण लेते है। उन्हे अगर कोई धन या हीरे-पन्ने देने लगे या बहुमूल्य वस्तु देने लगे तो वे उसे कदापि ग्रहण नही करते। वह वस्तु उनके लिए अयोग्य, अकल्प्य, अग्राह्य एव अस्वीकार्य है। जो उसे ले लेता है, उसे मुधाजीवी समझना भूल है।

एक बार एक बादशाह कुछ उलझन मे था। अत उसने मनौती की कि यदि मुझे इस कार्य मे सफलता मिली तो मैं इतना धन फकीरो मे बांट दूंगा। सयोगवश

---

१ दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छति सुग्गइ॥

कार्य सफल हो गया। अत बादशाह ने इस मनौती के पूर्ण होने के उपलक्ष्य मे अपने एक विश्वासपात्र नौकर के हाथ मे अशर्फियो से भरी एक थैली देते हुए कहा—"इसे फकीरो मे बांट आओ।" नौकर सारे दिन सर्वत्र घूमा, फकीरो की तलाश की, शाम को घूम-फिर कर थैली लिये वापिस आया और बोला—'मुझे तो कही ऐसा फकीर नही मिला, जिसे मैं अशर्फियां दे देता। इसलिए इस थैली को ज्यो की त्यो वापस ले आया हूँ।" बादशाह ने कहा—"इस नगर मे सौ से ऊपर फकीरो को तो मैं खुद पहिचानता हूँ। तुम उन्हे देकर क्यो नही आए?" नौकर ने जवाब दिया—"जहाँपनाह! जो फकीर हैं वे तो इस धन को छूते भी नही और जो धन लेते हैं, उन्हे फकीर समझना अनुचित है।"

यह है—मुधाजीवी की धन के प्रति पूर्ण नि स्पृहता का आदर्श! इसी प्रकार कई बाबा (वानप्रस्थी) जो समाज सेवा के कार्यों के लिए जनता से धन लेते भी हैं तो नि स्पृह भाव से। उस धन से एक भी पाई अपने निजी शारीरिक कार्य के लिए बिलकुल नही लेते, न उपभोग करते हैं।

इटावा मे यमुनातट पर एक बाबा खटखटानन्द रहते थे। उनका यह नियम था कि वह एक सार्वजनिक पुस्तकालय के लिए एक रुपये से अधिक दान किसी से स्वीकार नहीं करते थे। और उसके साथ यह शर्त भी होती थी कि दाता पहले उनके पैर छुए और तब रुपया दान दे या भेंट करे, तो वे ग्रहण करते थे। सुनते हैं, एक बार ग्वालियर-नरेश बाबा के पास पहुँचे। उन्होने पांव छुए और हाथ जोड कर दस हजार रुपये देने लगे।" इस पर बाबा खटखटानन्द बोले—"तू तो हमारा पुस्तकालय मोल लेना चाहता है। पर हम उसे बेचते नही। एक रुपया चढाना हो तो चढा दे।" और बाबा ने एक रुपये से ज्यादा नही लिया।

अब बताइए—दानी बडा या दान लेने वाला? दान देने वाला ही कोई बडा नही होता। देने-लेने वालो मे जिसकी मन स्थिति जितनी ज्यादा उदारता, त्याग और नि स्पृहता को लिए हुए होगी, उतना ही वह बडा होगा, फिर चाहे वह किसी भी तरह का दान दे या किसी भी तरह का दान ले।

साधु मे मुधाजीवी सुपात्र सद्गृहस्थो के बजाय अधिक मिल सकते हैं। परन्तु सद्गृहस्थो मे भी कई ऐसे मुधाजीवी भी मिलते हैं, जो किसी सस्था के लिए दान लेते हैं, तो श्रद्धा और कर्तव्य भाव से देने पर ही निर्लेपभाव से लेते हैं।

वास्तव मे मुधाजीवी पात्र ही दाता को मुधादायी बना देते हैं। उनका प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है, कि दाता मे आदाता की नि स्पृहता की झलक आने लगती है। जैसाकि पिछले पृष्ठ मे एक बौद्धकथा दी गई थी कि एक मुधाजीवी भिक्षु ने अन्ततोगत्वा दस महीने के कठोर प्रयत्न के बाद आदाता को भी दाता बना दिया। यह मुधाजीवी की अद्भुत शक्ति का परिचायक है।

दान-दर्शन का निष्कर्ष

प्रस्तुत खण्ड मे दान की विशिष्टता एव तेजस्विता के लिए जिन चार बातो पर जोर दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) दान की विधि की शुद्धि।
(२) दान देने के लिए देय वस्तु की शुद्धता।
(३) दानदाता की विशुद्धि।
(४) दान के योग्य पात्र की विशुद्धि।

इन चारो का सयोग ही दान को चमका देता है। जैनशास्त्रो मे जहाँ भी ऐसे सद्दान का वर्णन आता है, वहाँ इन चारो--(कही-कही तीनो) की शुद्धता अवश्य बताई है और उस विशिष्ट दान का फल भी उच्च स्वर्ग अथवा अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है। जो भी वर्णन मिलते हैं, वे सब इसी दृष्टिकोण से उल्लिखित हैं। इससे कोई यह न समझले कि विशिष्ट दान के इन चारो अगो मे से एक या दो अगो से ही दान विशिष्ट बन जायगा। जैसे खीर के लिए चावल, दूध, चीनी और आग का सयोग आवश्यक है, इनमे से एक भी चीज कम हो तो खीर नही बन सकती, वैसे ही विशिष्ट फलदायक परिपक्व दान के लिए विधि, द्रव्य, दाता और पात्र विशेष ये चारो आवश्यक हैं।

वस्तुत दान को सार्थक करना और उसे विशेष शक्तिशाली (Powerfull) बनाना दाता पर निर्भर है। दाता अगर विवेकवान है तो अपनी देय वस्तु का, विभिन्न प्रकार के पात्रो के अनुरूप विभिन्न विधि का, अपना और विभिन्न पात्रो का पूरा विश्लेषण और विवेक करेगा।

अगर व्यक्ति के पास और कोई शक्ति नही है, कोई अन्य क्षमता नही है तो कोई हर्ज नही, अगर पिछले अध्यायो मे बताये हुए विवेक और दान विज्ञानपूर्वक एकमात्र दान की साधना-आराधना ही कर ले तो उसका बेडा पार हो सकता है, वह क्रमश मोक्षपद-परमात्मपद तक प्राप्त कर सकता है। इसीलिए इतने विस्तार से दान के सभी पहलुओ पर सागोपाग विवेचन किया गया है। ☆

- ग्रन्थगत विशिष्ट शब्द सूची
- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

शब्दानुक्रमणिका

☆

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अ

अभिधान राजेन्द्रकोष

अत्रि संहिता

अमरकोष

अमितगति श्रावकाचार

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

अनगार धर्मामृत

आ

आचारांग सूत्र

आवश्यकनिर्युक्ति

आवश्यकभाष्य

आदिपुराण—आचार्य जिनसेन

आवश्यकचूर्णि

आत्मानुशासन

आचारांगसूत्र टीका

इ

इष्टोपदेश

ई

ईशावस्य उपनिषद

उ

उपदेश तरंगिणी

उत्तराध्ययनसूत्र

उपासकदशांग

उपासकाध्ययन

उपदेशमाला

ऋ

ऋग्वेद

अं

अंगुत्तरनिकाय

अंतकृद्दशांग

क

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

क्रियाकोष

कुरल (तमिल भाषा का वेद)

कल्पसूत्रवृत्ति

कठोपनिषद

कथासरित्सागर

कुरान-शरीफ (मुस्लिम धर्मग्रन्थ)

ग

गच्छाचार पइन्ना

गुणभद्र श्रावकाचार

च

चाणक्यनीति

चन्दचरित्रम्

चारित्रसार

चारित्रपाहुड

ज

जैन कथाएं, भाग २२

जैन-सिद्धान्त दीपिका

त

तत्त्वार्थ सूत्र

तैत्तिरीय उपनिषद

तत्त्वार्थ राजवार्तिक

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक

तत्त्वार्थ भाष्य

तत्त्वार्थ सिद्धसेनीयावृत्ति

तत्त्वार्थसार

तत्त्वार्थ श्रुतसागरीयावृत्ति

तत्त्वार्थसूत्रहारिभद्रीया वृत्ति

द

दानषट्त्रिंशिका
दीघनिकाय
दशवैकालिकसूत्र
दान-प्रदीप
दक्षस्मृति
दानशासन
दशवैकालिकसूत्र टीका

ध

धम्मपद अट्ठकथा
धवला, पु० १३,
धर्मरत्न
धर्म सर्वस्वाधिकार

न

निशीथचूर्णि
नीतिवाक्यामृतम्—सोमदेवसूरि
नवतत्वप्रकरण—उमास्वाति
नवतत्वप्रकरण—देवेन्द्रसूरि
नवपदार्थ—आचार्य भिक्षु
नवतत्वप्रकरण (सुमगला टीका)
नीतिशतक—भर्तृहरि

प

पद्मनंदिपचविंशतिका
परमात्मप्रकाश टीका
पचाशक विवरण
पद्मपुराण
पचतन्त्र
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
प्रवचन-सारोद्धार
पाराशर स्मृति
परमात्मप्रकाश
पिंडनिर्युक्ति
प्रसग रत्नावली
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
प्रवचनसार
पउमचरिय
पद्मपुराण
पचाध्यायी

ब

बाइबिल
बोस्तां (ईरान के महाकवि शेखशादी की रचना)

भ

भगवतीसूत्र
भागवत् (श्रीमद्)
भगवद्गीता
भगवान महावीर एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवतीसूत्रवृत्ति

म

महाभारत
महापुराण—आचार्य जिनसेन
मनुस्मृति
मार्कण्डेयपुराण
मिदराश निर्गमन (रब्ब) [यहूदी धर्मग्रन्थ]
मूलाचार

य

योगशास्त्र
याज्ञवल्क्य स्मृति
यालकतशिमे ओनी (यहूदी धर्मग्रन्थ)
योगविंशिका—आचार्य हरिभद्र

र

रयणसार
रत्नाकर पच्चीसी
रायप्पसेणिय सुत्त
रत्नकरड श्रावकाचार
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
रत्नसार

ल

लाटी संहिता

व

विसुद्धिमग्गो
वसुनन्दीश्रावकाचार
विपाकसूत्र
व्यासस्मृति
वरागचरित्र
विदुरनीति

ष

षट्खडागम

स

सप्ततिस्थानप्रकरण
सिन्दूरप्रकरण
स्थानागसूत्र
सुत्तनिपात
सर्वार्थसिद्धि
सूत्रकृतागसूत्र
सूत्रकृतागवृत्ति
सुखविपाकसूत्र
सागारधर्मामृत
स्थानाग टीका
सयुत्त निकाय
सूत्रकृतागसूत्र टीका
सुभाषित रत्न भाडागार

ह

हरिवशपुराण

त्र

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र

ज्ञ

ज्ञातृ धर्मकथागसूत्र
ज्ञानसार